डॉ. हाजरा श्रीकृष्ण के ऋषि उपमन्यु के आश्रम में जाने और वहाँ पाशुपत व्रत की दीक्षा लेने की कूर्मपुराण वर्णित कथा पर पाशुपत प्रभाव देखते हैं, किन्तु यह कथा इसी रूप में महाभारत के अनुशासन पर्व (१४-१८ अ.) में भी वर्णित है। वहाँ के और यहाँ के अनेक श्लोकों की आनुपूर्वी भी एक जैसी है। वास्तव में महाभारत और पुराणों की रचना वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मतों के समन्वित दृष्टिकोण को सामने रखकर की गई है। अतः इस तरह की कथाओं का पुराणों में समावेश किसी साम्प्रदायिकता का द्योतक न होकर उनकी संग्राहिका वृत्ति का परिचायक है। कूर्मपुराण के उपमन्यु उपाख्यान में भी केवल शिव की ही नहीं, श्रीकृष्ण की भी जगत् के मूलकारण, महायोगी और सनातन पुरुष के रूप में स्तुति और पूजा की गई है (१।२४।१४-१८)।

वैष्णवागम, शैवागम और शाक्तागम के नाम से प्रसिद्ध त्रिविध आगमों अथवा तन्त्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है। प्रत्येक आगम के कई अवान्तर सम्प्रदाय भी हैं, जैसे वैष्णवागम में वैखानस, पांचरात्र और भागवत सम्प्रदाय। शैवागम में सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख, कापालिक, भैरव, वाम आदि सम्प्रदाय तथा शाक्तागम में दस महाविद्या आदि के सम्प्रदाय। इन सभी सम्प्रदायों का उल्लेख पुराणों में सामान्य-विशेष रूप से मिलता है तथा प्रत्येक मत की अंशतः स्वीकृति और अस्वीकृति (हेय और उपादेय कह कर, वैदिक और वेदबाह्य मानकर) भी पुराणों में मिलती है। वेद के विषय में (तथा श्रौत धर्म के विषय) में भी प्रत्येक सम्प्रदाय की दृष्टियाँ नाना प्रकार की हैं और उनमें स्तरभेद भी हैं। सर्वान्तिम स्तर में वैदिक और अवैदिक धाराएं एक रूप में मिल गई हैं। वैदिक-तान्त्रिक विशिष्टता का परिहार कर एक समन्वित स्वरूप की निगमागम धारा का नाम ही पुराण धारा है।

सनातन धर्म की दृष्टि में वेद और स्मृति के बाद इस पुराण धारा का प्रामाण्य माना गया है। प्रामाण्य के प्रसंग में आगम और तन्त्रशास्त्र का चतुर्थ स्थान है। अनेक स्थानों पर उद्धृत[1] एक श्लोक में बताया गया है कि सत्य युग में वेद, त्रेता में स्मृति, द्वापर में पुराण और कलियुग में तन्त्रागम संमत आचार को प्रधानता दी जाती है। यहाँ जो क्रम दिया गया है, उससे उक्त क्रम की पुष्टि होती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि कलियुग में तन्त्रशास्त्र को प्रधानता देनी चाहिये।

पुराणगत योग

योग का लक्षण

कर्म, ज्ञान और भक्ति के समान योग को भी परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन माना गया है। पुराणों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। कूर्मपुराण (२।११।१-४) में योग

---

१. कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः।। (पुराणविमर्श, पंचम संस्करण, पृ. ७६३ पर उद्धृत)

की महिमा बताने के बाद अभावयोग और महायोग के भेद से योग के दो प्रकार तो लिखे हैं (२।११।१५-१२), किन्तु योग का लक्षण नहीं बताया गया। योगसूत्रकार पंतजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। लिंगपुराण (१।८।७) भी योग का यही लक्षण बताता है। शिवपुराण (७।२।३७।६) इसमें इतना जोड़ता है कि चित्तवृत्ति का निरोध हो जाने के बाद शिव के प्रति निरन्तर निश्चल वृत्ति ही योग है। अग्नि० (३७६।२४-२५), नारद० (१।४७।७) और विष्णु० (६।७।३१) का कहना है कि अपने प्रयत्न से, यम-नियम आदि के अभ्यास से मन की गति को बाह्य विषयों से विमुख कर ब्रह्म के प्रति नियोजित कर देना ही योग है। देवीभावगत (७।३५।२) का कहना है कि योग के लिये आकाश, पाताल को एक नहीं करना पड़ता, यह तो वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा का संयोग है। अग्निपुराण (१६५।७-१०) इस विषय में अधिक विस्तार से विचार करता है। उसका कहना है कि जब व्यक्ति अपने से भिन्न किसी दूसरे को नहीं देखता, तो उसकी यह सर्वत्र ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि ही योग है। कुछ लोग विषयों के साथ इन्द्रियों के संयोग को ही योग मानते हैं, किन्तु वे अपने अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान बैठते हैं। अन्य लोग आत्मा और मन के संयोग को योग मानते हैं, यह मत भी ठीक नहीं है। वस्तुतः मन को वृत्तिहीन कर जब योगी जीवात्मा को परमात्मा में विलीन कर देता है, तो वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। योग की यही उत्तम अवस्था है। अग्निपुराण में ही अन्यत्र (३७२।१-२) कहा गया है कि ज्ञान से ब्रह्म प्रकाशित होता है और योग से वहाँ चित्तवृत्ति स्थिर होती है। चित्तवृत्ति के स्थिर हो जाने से जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है।

योग के भेद

कूर्मपुराण वर्णित अभावयोग और महायोग की ऊपर चर्चा हुई है। यहाँ उनके लक्षण भी बताये गये हैं (१।११।५-११)। शिवपुराण वायवीयसंहिता (२।२७।७) में इसके पांच भेद वर्णित हैं। उनके नाम हैं— मन्त्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग और महायोग। इनके लक्षण भी वहाँ वर्णित हैं। अभावयोग और महायोग का लक्षण कु०पु० से मिलता-जुलता ही है। नारदपुराण (१।३३।३१-३५) में कर्मयोग और ज्ञानयोग के भेद से योग के दो प्रकार बताये गये हैं और कहा गया है कि क्रियायोग के बिना ज्ञानयोग सिद्ध नहीं हो सकता। क्रियायोग द्वारा पहले श्रद्धापूर्वक विष्णु की पूजा करनी चाहिये। ब्राह्मण, भूमि, अग्नि, सूर्य, जल, धातु, हृदय और चित्र— इन सबमें भगवान् की प्रतिमा की भावना कर पूजा की जाती है। अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनीर्ष्या और दया नामक गुण ज्ञानयोग और क्रियायोग दोनों के लिये आवश्यक है। कर्मयोग और ज्ञानयोग का वर्णन मत्स्यपुराण में भी मिलता है। वहाँ कहा गया है कि कर्मयोग का महत्त्व ज्ञानयोग से हजार गुना अधिक है। यह उक्ति मत्स्यपुराण में दो स्थानों पर (५२।१५, २५७।१) मिलती है। कर्मयोग की महत्ता भागवत में भी बताई गई है (११।३।४१)। वहाँ (११।२७।७) यह भी बताया गया

है कि भगवान् की आराधना ही क्रियायोग है। इसके तीन प्रकार हैं— वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। अग्निपुराण (३७२।३४) में भी इसकी चर्चा है। वहाँ यह भी कहा गया है कि इनमें से किसी एक विधि से भगवान् की उपासना करनी चाहिये। कर्मयोग के अन्तर्गत मत्स्यपुराण में ४८ संस्कारों का उल्लेख हुआ है। इनमें से आठ आत्मा के संस्कार हैं, गुण हैं। इनकी चर्चा स्मृति-ग्रन्थों में ही नहीं, शैवागमों में भी विशेष रूप से मिलती है।

योग के अंग

पुराणों में अष्टांग और षडंग दोनों प्रकार के योगों का वर्णन मिलता है। बौद्ध तन्त्रों को दृष्टि में रखकर म.म.पी.वी. काणे ने षडंग योग की समीक्षा की है, किन्तु हमें स्मरण रखना है कि षडंग योग आगम अथवा तन्त्रशास्त्र में ही नहीं, योगशास्त्र के ग्रन्थों, उपनिषदों और पुराणों में भी मिलता है। भास्कर के गीताभाष्य (पृ. १२७) में तथा बोधायन धर्मसूत्र (४।४।२६) की व्याख्या में भी षडंग योग उल्लिखित है। स्वयं कूर्मपुराण में भी योगांगों की गणना के समय षडंग योग की पद्धति ही अपनाई गई है। मार्कण्डेय पुराण में (३६ अ.) भी यही क्रम अपनाया गया है। शिवपुराण में दोनों ही योग वर्णित हैं (वाय० १।३७।१४-१८)। वायु० तो पांच ही योगांगों की चर्चा करता है (१०।७६)। न्यायभाष्य (४।२।४६) में भी तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणा नामक पांच अंग ही प्रतिपादित हैं। यहाँ यमों और नियमों का सूत्रों में उल्लेख हुआ है।

योगांगों का विवरण

यम और नियम-छः अथवा आठ योगांगों के विवरण में भी पुराणों में विविधता मिलती है। पातंजल योग की पद्धति से अधिकांश पुराणों में यम और नियमों की संख्या पाँच-पाँच ही बताई गई है, तथापि कहीं-कहीं नाम और क्रम में अन्तर मिलता है। नारदपुराण में यमों की संख्या सात और नियमों की छः बताई है (१।३३।७५, ८७)। लिंगपुराण (१।८) में यमों की संख्या तो पांच ही है, किन्तु नियम दस हैं। देवीभागवत (७।३५।६-८) में यम और नियम दोनों की संख्या दस-दस है। श्रीमद्भागवत (११।१९।३३-३५) में इनकी संख्या बारह-बारह दी गई है। कूर्मपुराण (२।११।२८) के समान गरुड़ पुराण (१।२१८।१२-१३, २२६।१-२२) में भी द्विविध शौच की चर्चा की गई है, किन्तु इसका विस्तार हमें नारदपुराण (१।३३।१००-१०८) में मिलता है।

आसन-कूर्मपुराण में स्वस्तिक, पद्म और अर्धासन नामक तीन आसन लक्षणों के साथ वर्णित हैं। मार्कण्डेयपुराण (३६।२७-३२), लिंगपुराण (१।८।८६-८९) और वायुपुराण (११।१२-१६) में भी ये ही तीन आसन और इनके लक्षण बताये गये हैं। गरुड़पुराण (१।२२६।१२३) में केवल इन तीनों के नाम हैं। देवीभागवत पुराण (७।३५।८-१५) में पद्मासन, स्वस्तिक, भद्र, वज्र और वीर नामक पांच आसन लक्षणों के साथ वर्णित हैं। शिवपुराण वायवीयसंहिता में (२।३७।३०) आठ आसनों के नाम गिनाये हैं, किन्तु यहाँ का

पाठ कुछ भ्रष्ट लगता है। नारदपुराण (१।३३।११२-११५) में ३० आसनों के नाम मिलते हैं, किन्तु वहाँ उनका लक्षण नहीं दिया गया। विष्णुपुराण (६।७।३९) में केवल भद्रासन की चर्चा आई है। ठीक ऐसा ही पाठ नारदपुराण (१।४७।१५) में भी उपलब्ध है। योगसूत्र में आसन से सम्बद्ध तीन सूत्र हैं (२।४६-४८)। यहाँ किसी आसन का नाम नहीं गिनाया है, किन्तु योगभाष्य (२।४६) में ये नाम मिलते हैं— १. पद्मासन, २. भद्रासन, ३. स्वस्तिक, ४. दण्डासन, ५. सोपाश्रय, ६. पर्यंक, ७. क्रौंचनिषदन, ८. हस्तिनिषदन, ९. उष्ट्रनिषदन, १०. समसंस्थान, ११. स्थिरसुख और १२. यथासुख। योगाभ्यास के प्रारम्भ में बिना किसी परेशानी के स्थिरतापूर्वक बैठने का अभ्यास करना आवश्यक है। आसनों के द्वारा शरीर को इसीलिये तैयार किया जाता है। शरीर की स्थिरता के बाद मनुष्य का मन भी स्थिर हो सकता है और उसमें गर्मी-सर्दी जैसे द्वन्द्वों को सहने की शक्ति भी आ जाती है।

प्राणायाम-प्राणायाम के रेचक, पूरक, कुम्भक नामक तीन प्रसिद्ध भेदों के अतिरिक्त सगर्भ-अगर्भ तथा अधम, मध्य और उत्तम प्राणायामों का निरूपण प्रायः कूर्मपुराण (२।११।३०-३७) की पद्धति से ही सर्वत्र मिलता है। देवीभागवत पुराण (७।३५।१५-२१) के अनुसार इडा नाड़ी (वाम नासापुट) से १६ मात्रा पर्यन्त खींचा गया श्वास पूरक, ६४ मात्रा पर्यन्त सुषुम्ना नाड़ी में स्थिर किया गया कुम्भक और ३२ मात्रा पर्यन्त पिंगला नाड़ी (दक्षिण नासापुट) से निकला प्रश्वास रेचक कहलाता है। नारदपुराण (१।३३।११८-१२८) में रेचक आदि तीन भेदों के अतिरिक्त शून्यक नामक चौथा भेद भी बताया गया है और इनके लक्षण भी वहाँ वर्णित हैं। सगर्भ और निगर्भ (अगर्भ) के स्थान पर सबीज और निर्बीज शब्द भी मिलते हैं। जप के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ तथा बिना जप का अगर्भ कहा जाता है। कुछ पुराणों में सगर्भ प्राणायाम में जप के साथ ध्यान को भी जोड़ा है। मन्द, मध्य और उत्तम प्राणायाम में से पहले के लिये पुराणों में लघु, कन्यक, अधम, नीच आदि; दूसरे के मध्यम आदि तथा तीसरे के उत्तरीय आदि भेद मिलते हैं। योगभाष्य (२।५०) में इनको मृदु, मध्य और तीव्र नाम दिया गया है। शिवपुराण (७।२।३७-३९) में इन तीन के अतिरिक्त चौथा भेद भी माना गया है। प्रायः सभी पुराणों में १२ मात्रा का लघु, २४ मात्रा का मध्य और ३६ मात्रा का उत्तम प्राणायाम कहा गया है। गरुड़पुराण (१।२१८।१४-१५) में इनकी कालगणना १०, २०, तथा ३० मात्रा बताई गई है।

मात्रा का काल मार्कण्डेय (३९।१५) में निमेषोन्मेष काल अथवा ह्रस्व स्वर के उच्चारण के काल के तुल्य माना गया है। शिवपुराण (७।२।३७।३१) में इसकी दूसरी परिभाषा दी है। वहाँ कहा गया है कि अपने घुटने के चारों तरफ, बिना देरी या जल्दी किये, हाथ फेर कर चुटकी बजाने में जो समय लगता है, उसको मात्रा कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य की अपनी व्याख्या (२।५०) में इसी परिभाषा को माना है।

यह श्लोक अतिप्रसिद्ध है कि जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं के दोष दूर हो जाते हैं, उसी तरह से प्राणायाम के अभ्यास से सारे इन्द्रियगत दोष दूर हो जाते

हैं। गरुड़पुराण (११।३६।३) और लिंग० (१।८।५५-५६) का कहना है कि प्राणायाम से मन, वाणी और शरीर के दोष दूर हो जाते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से योगी को ध्वस्ति, प्राप्ति, संवित् और प्रसाद नामक चार अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। इनका स्वरूप मार्क० (३९।२१-२६) में देखना चाहिये। वायु० (१०।४-१०) में शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद नामक प्राणायाम के चार प्रयोजन बताये हैं। लिंगपुराण (१।८।५७-७५) और शिवपुराण (७।२।३६।११-१३) वायुपुराण का अनुसरण करते हैं। इनके लक्षणों को देखने से ऐसा लगता है कि चारों पुराणों में एक ही विषय वर्णित है।

प्रत्याहार-इसके विषय में कूर्म की अपेक्षा अन्य पुराणों में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। मार्कण्डेय पुराण (३६।४४) में इतना अवश्य कहा गया है कि प्रत्याहार के लिये बाह्य और आन्तर पवित्रता (शौच) अति आवश्यक है। प्राणायाम से पवन को तथा प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करने की चर्चा विष्णुपुराण (६।७।४५) और नारदपुराण (१।४७।२१) में मिलती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास पूरा हो जाने के बाद ही धारणा, ध्यान और समाधि की योग्यता योगी को प्राप्त होती है। मार्कण्डेयपुराण (३६।१०) और वायुपुराण (१०।६३) का कहना है कि प्राणायाम से योगी को अपने शारीरिक दोषों को दूर करना चाहिये, धारणाओं से सारे पाप कर्मों को, प्रत्याहार से सारे बाह्य विषयों को और ध्यान से योग के अन्तरायभूत गुणों को भी धो डालना चाहिये। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिंगपुराण (१।८।७५-७७) में कहा गया है कि योगी को प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा अपने सारे दोषों को जला डालना चाहिये। धारणाओं के द्वारा अपने सारे पापों को और प्रत्याहार द्वारा विषयों को विष समझ कर उनका परित्याग कर देना चाहिये। ध्यान के द्वारा योग के अन्तरायभूत प्रातिभ ज्ञान आदि गुणों का भी योगी को मोह छोड़ देना चाहिये और अन्त में समाधि में स्थित होकर अपनी प्रज्ञा की निर्मलता को बढ़ाना चाहिये।

धारणा-कूर्म आदि सभी पुराणों में पातंजल योग की पद्धति से धारणा के बाद ही ध्यान का लक्षण बताया गया है, किन्तु अग्निपुराण में ध्यान के बाद धारणा को स्थान दिया गया है। यहाँ ३७४ वें अध्याय में ध्यान का विवरण दे लेने के बाद ३७५ वें अध्याय में धारणाओं का वर्णन किया गया है। कूर्म, पातंजल योगसूत्र तथा अन्य पुराणों में प्रतिपादित क्रम के अनुसार हम यहाँ धारणा की ही पहले चर्चा करना चाहते हैं। धारणा की कूर्मपुराण में केवल एक श्लोक (२।११।३६) में संक्षिप्त चर्चा है, किन्तु अन्य पुराणों में इसका बहुत विस्तार मिलता है।

अग्निपुराण (३७५।४) में धारणा, ध्यान और समाधि विषयक एक श्लोक मिलता है। वही श्लोक कूर्मपुराण (२।११।४२), लिंगपुराण (१।८।१३-१४) और शिवपुराण (७।२।३७।६०) में भी मिलता है। उसका हमें यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि १२ प्राणायामों के बराबर माहात्म्य धारणा का, १२ धारणाओं के बराबर ध्यान का और १२ ध्यानों के बराबर समाधि

का महत्त्व है। धारणा के विषय में मार्कण्डेय (३६।३५) का भी यही कथन है। मार्कण्डेयपुराण का यह वचन गरुड़पुराण (१।२१८।२०) में भी मिलता है, किन्तु "दश द्वौ च" के स्थान पर "दशाष्टौ च" का पाठ ठीक नहीं लगता। यहाँ (३६।३५-४२) प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा का समवेत विवरण दिया गया है।

अग्निपुराण के ३७५वें अध्याय में आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृता नामक चार धारणाएं वर्णित हैं। योग-ग्रन्थों में इनका अतिविस्तार मिलता है। श्रीमद्भागवत (११।१४-१५ अ.) में विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार की धारणाएं वर्णित हैं। धारणाओं का यह तीसरा प्रकार है। विज्ञानभैरव नामक कश्मीरी योगशास्त्र के ग्रन्थ में ११२ धारणाओं का वर्णन है। मार्कण्डेयपुराण (४०।१७-२८) और वायुपुराण (१२।१८-३३) में सात सूक्ष्म धारणाएं वर्णित हैं। कूर्मपुराण (२।८।१२) में भी सात सूक्ष्मों और षडंग महेश्वर की चर्चा है। यही प्रसंग वायुपुराण (१२।३२-३३) एवं महाभारत अनुशासन पर्व (१४।४२३) में भी मिलता है। स्पष्ट है कि कूर्मपुराण में महा० अनु० और वायु० निर्दिष्ट इन्हीं सात सूक्ष्म धारणाओं की चर्चा है और वे ही मार्कण्डेयपुराण में भी वर्णित हैं। अन्तर इतना ही है कि मार्कण्डेयपुराण में षडंग महेश्वर की चर्चा नहीं है।

गरुड़ (१।२१८।२१-२२) में कहा गया है कि प्राणनाड़ी, हृदय, उरःस्थल, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रूमध्य, मूर्धा और तत्पर (शिखान्त) नामक दस स्थानों में धारणा लगाने से योगी अक्षरस्वरूप हो जाता है। ये श्लोक मार्कण्डेयपुराण (३६।४४-४६) में भी मिलते हैं। किन्तु वहाँ "प्राणनाड्यां" के स्थान पर "प्राङ्नाभ्यां" पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। देवीभागवत (७।३५।२२-२४) में बताया है कि धारणा के द्वारा अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, मूलाधार, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भ्रूमध्य, मस्तक, मूर्धा और द्वादशान्त नामक १६ स्थानों में पवन को स्थिर किया जाता है। नाथयोग के ग्रन्थों में १६ आधारों की सूचना मिलती है, उनसे इनकी तुलना की जा सकती है। नारदपुराण (१।४७।२१-६५) और विष्णुपुराण (६।७।४६-८८) दोनों में शुभाश्रय-विषयक धारणा का निरूपण है। वायुपुराण (११।५१-५८) में रोगनिवारक धारणाएं वर्णित हैं। शिवपुराण (७।२।३७।५०-५१) का कहना है कि प्रथमतः धारणा के द्वारा ही मन स्थिर हो सकता है, अतः धीर योगी को धारणा के अभ्यास से मन को स्थिर करना चाहिये।

ध्यान-कूर्मपुराण (२।११।४०) में ध्यानविषयक भी एक ही श्लोक है, किन्तु आगे (२।५३-६७) दो प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया है और इनको पाशुपत योग की संज्ञा दी है। अग्निपुराण (३७४।१-३४) में इन सबका एक साथ वर्णन किया है। वहाँ कहा गया है ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान के प्रयोजन को भलीभाँति जानने के बाद ही साधक को योग का अभ्यास करना चाहिये। यही बात नारदपुराण (१।३३।१४१-१४२) और शिवपुराण (७।२।३७।५७, ३८।१४-१५) में भी कही गई है। "ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः" ध्यान शब्द की व्युत्पत्ति बताने वाला यह श्लोक अग्निपुराण और शिवपुराण दोनों में मिलता है, किन्तु अग्निपुराण में विष्णु के तथा शिवपुराण में शिव के ध्यान से उसको जोड़ा गया

है। नारदपुराण (१।३३।१५३-१६२) में ध्यानान्तर के नाम से प्रतिमा आदि का ध्यान वर्णित है। शिवपुराण (७।२।३७।५६) ध्यान के दो प्रयोजन बताता है। पहला ध्यान अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति के लिये और दूसरा मुक्तिलाभ के लिये किया जाता है। ध्यान के सबीज और निर्बीज नामक दो भेद भी शिवपुराण (७।२।३६।६-१०) में वर्णित हैं। शिवपुराण (७।२।३७।५६) और अग्निपुराण (३७४।३३) में यह भी बताया गया है कि ध्यान करते-करते योगी जब थक जाय, तो वह जप करे और जप करते-करते थक जाय, तो पुनः ध्यान में लग जाय। अग्निपुराण (३७४।३४) में जप के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि अन्य यज्ञ इसकी १६वीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते। रोग, ग्रह आदि जप करने वाले के पास नहीं आते। ध्यानी व्यक्ति भक्ति और मुक्ति तो पाता ही है, मृत्यु को भी वह जीत सकता है। प्राणायाम के प्रसंग में यह बताया गया है कि सगर्भ प्राणायाम में मन्त्रजप और ध्यान भी किया जा सकता है। कहीं-कहीं जप को भी योग का अंग माना गया है, इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

समाधि-समाधि के विषय में कूर्मपुराण (२।११।४१) में एक श्लोक है। यहाँ बताया गया है कि समाधि में केवल अर्थमात्र की प्रतीति होती है। योगसूत्र (१।४३) में निर्वितर्क समापत्ति का यह लक्षण दिया है कि इसमें केवल ध्येय अर्थ की प्रतीति बच रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि समाधि दशा में योगी का अपना स्वरूप ओझल हो जाता है और अपने ध्येय इष्टदेव का स्वरूप केवल बचा रहता है, अर्थात् वह तदाकार हो जाता है। इस स्थिति को भगवद्गीता (६।१६) में दीपक के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि जैसे पवनरहित स्थान में दीपक की लौ एकाकार हो जाती है, उसी तरह से समाधिस्थ योगी का चित्त भी निरन्तर ध्येयाकार बना रहता है। प्रायः सभी पुराणों ने इन दोनों स्थितियों का इस प्रसंग में उल्लेख किया है। इस प्रसंग में विष्णुपुराण का एक श्लोक (६।७।६६)प्रायः सभी पुराणों में मिलता है कि भेद उत्पन्न करने वाले अज्ञान के सर्वथा नष्ट हो जाने पर ब्रह्म और जीवात्मा में अविद्यमान भेद को कौन पैदा कर सकता है ? इसका अभिप्राय यह है कि समाधि दशा में सभी प्रकार के भेद विलीन हो जाते हैं। तब जीवात्मा और परमात्मा का भेद भी नहीं रहेगा और इस तरह से समाधि दशा में पहुँचने तक योग का यह लक्ष्य पूरा हो जायगा कि उस स्थिति में जीवात्मा का परमात्मा में योग हो जायगा, वह तदाकार बन जायगा। चित्त की वृत्तियों के ऊपर नियन्त्रण करने पर ही यह सम्भव हो सकता है। इस तरह से योग की इस पुराण-प्रतिपादित पद्धति में योग के सभी लक्षण समन्वित हो जाते हैं।

पाशुपत योग

समाधि पर्यन्त योगांगों का निरूपण करने के बाद कूर्मपुराण (२।११।५२-५७) में योग की दो पद्धतियाँ वर्णित हैं और वहाँ इनको पाशुपत योग बताया गया है। इस प्रकरण का प्रारम्भ तो भगवद्गीता (६।११-१५) की पद्धति से हुआ है, किन्तु आगे का विवरण

भिन्न प्रकार का हो जाता है। यहाँ आगम और तन्त्रशास्त्र वर्णित कुण्डलिनी योग के आन्तर स्थानों और चक्रों की एक झलक मिलती है। ठीक इसी तरह का वर्णन लिंगपुराण (१।८।८५-११३) और शिवपुराण (७।२३८।५४-७७) में कुछ अधिक विशद रूप में मिलता है। अग्निपुराण के ३७४ वें अध्याय में भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन है। इन सभी पुराणों में अनेक श्लोकों की आनुपूर्वी भी मिलती है।

मन्त्रयोग

शिवपुराण में जो पाँच प्रकार का योग वर्णित है, उनमें एक मन्त्रयोग भी है। अग्निपुराण २१४ अ., देवीभागवत (७।३५।२६-६३), नारदपुराण (१।६५।७६-६४), लिंगपुराण (१।८ अ.) और शिवपुराण (७।२।३८।६१-६३) में इसका विवरण मिलता है। इसके अन्तर्गत नाड़ी, वायु (१० प्राण), अजपा जप (हंस गायत्री), आधार (चक्र), कुण्डलिनी-जागरण, भूतशुद्धि आदि विषय वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त योग की चर्या, योगाभ्यास के उपयुक्त स्थान, योगाभ्यास के नियम, आहार-शुद्धि, योग के उपसर्ग या अन्तराय, योग के दोष, जप की महिमा, योग की विभूतियाँ अथवा सिद्धियाँ, योगसिद्धि प्राप्त पुरुष के लक्षण, योगाभ्यास विधि, रोग परिहार के उपाय आदि विषय भी यहाँ वर्णित हैं।

जप की योगांगता

कूर्मपुराण (२।११।२३-२६) ने स्वाध्याय के प्रसंग में त्रिविध जप का भी निरूपण किया है। मनुस्मृति (२।८५) में भी कहा गया है कि विधि-यज्ञ से जप-यज्ञ (वाचिक जप) दस गुना बढ़कर है और उपांशु जप वाचिक जप से सौ गुना और मानस जप हजार गुना बढ़ कर है। प्रायः सभी पुराण इन त्रिविध जपों का निरूपण करते हैं। शैव और वैष्णव आगमों में तो जप को भी योग का एक अंग माना गया है। मृगेन्द्रागम के योगपाद (श्लो. ३) और जयाख्यसंहिता (३३।११) में इस विषय को देखा जा सकता है। लक्ष्मीतन्त्र (३६।३५) ने तो उक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त जप का एक चौथा प्रकार भी बताया है। ध्यान को ही यहाँ जप का चौथा भेद माना गया है। जयाख्यसंहिता के जपविधान नामक १४वें पटल में इस विषय को विस्तार से समझाया गया है। जिन पुराणों में जप के अतिरिक्त ध्यान को भी सगर्भ प्राणायाम का अंग माना है, उसकी सार्थकता हम इस प्रकार स्थापित कर सकते हैं और यह भी कि ध्यान के बाद जप और जप के बाद ध्यान करने के लिये क्यों कहा गया है। लिंगपुराण में एक वचन मिलता है— 'जपः शिवप्रणीधानम्'' (१।८।३१)। इससे ऐसा लगता है कि यह पुराण भी जप की योगांगता को स्वीकार करता है, क्योंकि यहाँ योगांगों का ही निरूपण किया गया है।

देश-काल

कूर्मपुराण (२।११।४७-५१) ने उचित देश और काल में ही योग सिद्ध हो सकता है, यह कह कर योग के लिये निषिद्ध देश-काल का निरूपण कर उचित देश-काल का

उल्लेख किया है। यहाँ के सभी श्लोक लिंगपुराण (१।८।७७-८४) और वायुपुराण (११।३२-३५) में भी पाठभेद के साथ मिलते हैं। एक दो श्लोक दोनों ही पुराणों में अधिक हैं। मार्कण्डेय (३६।४७-५१) और शिवपुराण (७।२।३८।४६-५४) में भी अपने ढंग से यह विषय आया है। इन सभी स्थलों पर योगाभ्यास के लिये निषिद्ध और विहित स्थानों का निरूपण किया गया है। पुराणों में ही नहीं, ऋग्वेद (८।६।२८) और यजुर्वेद (२६।१५) के एक मन्त्र में भी पर्वतशिखर, नदीसंगम आदि स्थानों की प्रशंसा की गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

उपह्वरे गिरीणां संगथे नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत।।

यजुर्वेद के मन्त्र में "संगथे" के स्थान पर "संगमे" पाठ है। इस तरह के देश और काल का निरूपण आगम और तन्त्रशास्त्र ही नहीं, बौद्ध और जैन साहित्य में भी मिलता है।

२८ योगाचार्यावतार

कूर्मपुराण पूर्व विभाग के ५०वें अध्याय में २८ व्यासावतारों और उनके द्वारा किये गये वेद-पुराण विभाग का वर्णन करने के बाद वहाँ ५१वें अध्याय में महादेव के २८ अवतारों (योगाचार्यों) और उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों (कुल ११२ शिष्यों) का वर्णन किया गया है। इनमें से अन्तिम योगाचार्य लकुलीश का अवतार कायावतरण नामक तीर्थ में हुआ था, जो कि आजकल कायावरोहण महातीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है और गुजरात की विद्यानगरी बड़ौदा से बहुत दूर नहीं है। २८ योगाचार्यों के नाम आत्मसमर्पण[1] और स्कन्दपुराण (१।२।४०।२१२-२१५) में भी मिलते हैं। लिंगपुराण (१।७।३७-५१), वायुपुराण (२३।११७-२२४), शिवपुराण (३।४।६-५।५०, ७।२।९।८-२०) में योगाचार्यों के अतिरिक्त उनके ११२ शिष्यों के भी नाम मिलते हैं। वायु और शिवपुराण का विवरण अधिक विस्तृत है।

डॉ. कत्रे[2] के अवतार सम्बन्धी लेख में योगाचार्यावतारों का मात्र संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। योगाचार्यों और उनके शिष्यों का विस्तृत परिचय हमारे पितृचरण के

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदरा से सन् १९६६ में पुनः मुद्रित ग्रन्थ गणकारिका के परिशिष्ट (पृष्ठ २५-२६) में विशुद्धमुनिकृत आत्मसमर्पण नामक लघु ग्रन्थ के १-४ श्लोक द्रष्टव्य।

२. इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज, भा. १०, सन् १९३४ में स. ल. कत्रे लिखित "अवताराज् आफ गॉड" शीर्षक निबन्ध (पृ. १२८-१२९) में शिवावतार शीर्षक से इनकी चर्चा हुई है।

"पुराणवर्णिताः पाशुपता योगाचार्याः"[1] शीर्षक संस्कृत निबन्ध में दिया गया है। योगाचार्यों और उनके शिष्यों की नामावली में भी विभिन्न पुराणों में पर्याप्त पाठभेद मिलते हैं। इन सभी योगाचार्यों और उनके शिष्यों की नामावली हमने अपने "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" शीर्षक महानिबन्ध (पृ. १२२-१३०) में प्रस्तुत कर दी है।

द्विविध पाशुपत

ये योगाचार्य पाशुपत मत के प्रतिष्ठापक और प्रचारक माने गये हैं। ये निवृत्ति मार्ग के अनुयायी थे[2]। इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण (१।१३।३१) में महापाशुपतोत्तम श्वेताश्वतर ऋषि का उल्लेख मिलता है। ये श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रवक्ता माने गये हैं, जो कि पाशुपत मत का प्राचीनतम ग्रन्थ है। श्रीकृष्ण को पाशुपत योग की दीक्षा देने वाले मुनि उपमन्यु की चर्चा पहले आ चुकी है। कूर्मपुराण के उपरि विभाग के ३५वें अध्याय में कालंजर तीर्थ के माहात्म्य के प्रकरण में राजर्षिप्रवर [3]श्वेत का उपाख्यान आता है। त्रिशूलधारी भगवान् शिव के प्रसाद से ये काल के पाश से मुक्त हो जाते हैं। यद्यपि उपमन्यु का नाम पाशुपत योगाचार्यों की सूची में उपलब्ध नहीं है, किन्तु श्वेताश्वतर की श्वेताश्व से और राजर्षि श्वेत की प्रथम योगाचार्य अथवा उनके शिष्य श्वेत से अभिन्नता की कल्पना की जा सकती है। वामनपुराण (६।८६-६१) में बताया गया है कि क्षत्रिय पाशुपत विधि से शिव की आराधना करें[4] इसीलिये महाभारत, पुराण आदि में वर्णित राजर्षियों की नामावली में अनेक योगाचार्यों के नाम मिलते हैं[5]।

तन्त्रालोक (३७।१४-१५) में शैवागम की दो परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। पहली परम्परा श्रीकण्ठ[6] से तथा दूसरी लकुलीश से प्रवृत्त हुईं। महाभारत (१२।३४६।६७)

---

१. "पुराणम्" व. २४, अ. २, सन् १६८२ काशीराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी, संस्कृत खण्ड, पृ. १-२१ द्रष्टव्य।

२. पाशुपत योगाचार्य निवृत्ति मार्ग के और पांचरात्र मतावलम्बी प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी थे, इसके लिये देखिये उपर्युक्त—"पुराणवर्णिताः पाशुपता योगाचार्याः" शीर्षक निबन्ध, पृ. ४-५ (मूल एवं टिप्पणी)।

३. महाभारत (आदि. १।२३३, शान्तिपर्व १५३।६८, अनु.पर्व ११५।१६, १५०।५२), लिंगपुराण (पूर्वार्ध २६-३०), स्वच्छन्दोद्योत (१०।२००) में उद्धृत पराख्यतन्त्र और मृगेन्द्रागम (वि. १।१६) में भी यह प्रसंग आया है। श्रीकण्ठभाष्य के व्याख्याकार अप्पय दीक्षित अपने मंगलाचरण श्लोक में श्वेत को नाना आगम शास्त्रों के रचयिता के रूप में नमन करते हैं।

४. यहाँ बताया गया है कि ब्राह्मण सिद्धान्तशैव पद्धति से, क्षत्रिय पाशुपत, वैश्य कालामुख और शूद्र कापालिक विधि से शिव की आराधना करे। "शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया", "कापालिक्स एण्ड कालामुखम्" नामक ग्रन्थों में इन चतुर्विध शैवों का विस्तृत विवरण दिया गया है। 'तन्त्रयात्रा' में प्रकाशित "शिवपुराणीयं दर्शनम्" और "कालदमनः कालवदनो वा" शीर्षक निबन्ध भी इस प्रसंग को स्पष्ट करते हैं।

५. ऊपर उद्धृत "पुराणवर्णिताः पाशुपता योगाचार्याः" शीर्षक निबन्ध (पृ. ४-८) द्रष्टव्य।

६. डॉ. वी. एस. पाठक श्रीकण्ठ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। डॉ. डेविड एन लोरेंजन इस मत से सहमत नहीं हैं। इस विषय में लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, उपोद्घात, पृ. ११७ की टिप्पणी देखिये।

ने श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का प्रथम प्रवक्ता माना है। लकुलीश दूसरी परम्परा के प्रवर्तक हैं। इनका मत लकुलीश पाशुपत के नाम से प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित पंचाध्यायी नामक पाशुपतसूत्र आज भी कौण्डिन्य के पंचार्थभाष्य के साथ उपलब्ध है [1]। हम अभी बता चुके हैं कि कायावरोहण महातीर्थ में इनका अवतार हुआ था। ये निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं [2]। इनके कुशिक आदि चार शिष्यों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। राजशेखर[3] कृत षड्दर्शनसमुच्चय में और हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकृत[4] व्याख्या में ईश्वर (शिव) के १८ अवतारों की नामावली दी गई है, जो इस प्रकार है — १. लकुलीश, २. कौशिक, ३. गार्ग्य, ४. मैत्र्य, ५. कौरूष्य, ६. ईशान, ७. पारगार्ग्य, ८. कपिलाण्ड, ९. मनुष्यक, १०. कुशिक, ११. अत्रि, १२. पिंगल, १३. पुष्पक, १४. बृहदार्य, १५. अगस्ति, १६. सन्तान, १७, राशीकर और १८. विद्यागुरु[5]। राजशेखर के ग्रन्थ में १०वाँ नाम अपरकुशिक, १२वाँ पिंगलाक्ष और १४वाँ बृहदाचार्य है। पाशुपतसूत्र की प्रस्तावना में भी ये नाम उद्धृत हैं। वहाँ चौथा नाम मैत्रेय दिया गया है। इनमें से पहले न(ल)कुलीश पाशुपतसूत्रों के रचयिता और १७वें राशीकर भाष्यकार कौण्डिन्य से अभिन्न माने जाते हैं।

स्वच्छन्दतन्त्र और तन्त्रालोक में तथा क्षेमराज और जयरथकृत इनकी टीकाओं में लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक पाशुपत सम्प्रदायों का तथा उनके मन्तव्यों का उल्लेख मिलता है। क्षेमराज[6] का कहना है कि लकुलेश के शिष्य मुसुलेन्द्र का भी अवतार कारोहण स्थल में ही हुआ। मुसुलेन्द्र के हृदयप्रमाण नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख रामकण्ठकृत परमोक्षनिरासकारिकाव्याख्या (श्लो. ३) में मिलता है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है

---

१. यह ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम् से सन् १९४० में प्रकाशित हुआ है।

२. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय कृत शैवदर्शनबिन्दु, पृ. २७-२९ देखिये।

३. गणकारिका, परिशिष्ट, पृ. ३५ द्रष्टव्य।

४. गणकारिका, परिशिष्ट, पृ. २९ देखिये। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि गणकारिका के द्वितीय परिशिष्ट (पृ. २९-३०) में उद्धृत अंश आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का न होकर उसके व्याख्याकार गुणरत्न की व्याख्या का है। इस ग्रन्थ के ज्ञानपीठ, वाराणसी संस्करण (पृ. ७६-७७) में प्रथम दो नाम नकुली और शोष्यकौशिक मिलते हैं। "नकुलीशोऽथ कौशिकः" इस पद्य खण्ड में लेखक और सम्पादक की असावधानी से यह पाठ कल्पित हुआ प्रतीत होता है। इससे एक सम्प्रदाय के आधुनिक विद्वानों की दूसरे सम्प्रदाय से अपरिचय की भी सूचना मिलती है।

५. पाशुपताचार्यों की यह नामावली जैन ग्रन्थों में मिलती है। परमार्थसार के व्याख्याकार योगराज "एको भावः सर्वभावस्वभावः" इत्यादि श्लोक को शंभुभट्टारक के नाम से उद्धृत करते हैं (पृ. ५८-५९)। यही श्लोक उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १२१) और द्वादशारनयचक्र नामक प्राचीन जैन ग्रन्थ (पृ. ११९९) में उद्धृत है। कर्णाटक, गुजरात आदि प्रदेशों में शैव और जैन धर्म का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। इनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

६. लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, उपोद्घात, पृ. ११५-११६ द्रष्टव्य।

कि लकुलीश पाशुपत मत के प्रतिष्ठापक एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और इनकी शिष्य मण्डली ने गुजरात, राजस्थान आदि में पाशुपत मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की। साथ ही यह भी सत्य है कि श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत लकुलीश से पहले भी विद्यमान था।

ज्ञान और कर्म का समुच्चय

प्रधानतः ज्ञानयोग का प्रतिपादन करने वाली ईश्वरगीता के अन्त में ऋषिगण वेदव्यास से सनातन कर्मयोग का उपदेश करने की बात कहते हैं। इस कर्मयोग का उपदेश वे व्यासगीता (२।१२-३३ अ.) के रूप में करते हैं। व्यासगीता (कूर्मपुराण १।१२।१) का प्रारम्भ करते हुए महामुनि व्यास ऋषियों से कहते हैं कि ब्राह्मणों को मोक्षप्रद सनातन कर्मयोग का आचरण करना चाहिये। पूर्वकाल में प्रजापति मनु ने ऋषियों को ब्रह्मा द्वारा प्रदर्शित वेदविहित, समस्त पापों को दूर करने वाले एवं ऋषि-समूह से सेवित इस कर्मयोग को बताया था।

कृष्ण द्वैपायन व्यास ईश्वरगीता के अन्त में जैसे कर्मयोग का उपक्रम करते हैं, वैसे ही व्यासगीता (कूर्मपुराण २।३३।१४५) के अन्त में वे ज्ञानयोग का माहात्म्य बताते हैं। वे कहते हैं कि मैंने आप लोगों को इस मानव धर्म का और महेश की आराधना-हेतु शाश्वत ज्ञानयोग का भी वर्णन किया है। जो इस विधि से ज्ञानयोग का अनुष्ठान करता है, वह महादेव का दर्शन करता है। इसके सिवाय सैकड़ों कल्पों में भी महादेव का दर्शन पाने का कोई उपाय नहीं है। जो श्रेष्ठ धर्म (कर्म) एवं परमेश्वर संबन्धी ज्ञान की स्थापना करता है, संसार में उससे बढ़ कर कोई नहीं है। उसे श्रेष्ठ योगी माना जाता है। धर्म एवं ज्ञान की स्थापना करने में समर्थ होने पर भी जो मनुष्य मोह वश ऐसा नहीं करता, वह योगयुक्त मुनि होने पर भी भगवान् का प्रिय नहीं होता। अतः सदा धर्मयुक्त, शान्त एवं श्रद्धालु ब्राह्मणों के मध्य कर्म एवं ज्ञान का उपदेश करते रहना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कूर्मपुराण ज्ञान के ही समान कर्म को भी मोक्ष का साधन मानता है। इन्द्रद्युम्न से श्री (लक्ष्मी) कहती हैं कि जो व्यक्ति भगवान् पुरुषोत्तम की ज्ञानयोग और कर्मयोग द्वारा आराधना करते हैं, उन पर मेरी माया नहीं चल सकती। इसलिये मोक्ष के इच्छुक कर्मयोगपरायण व्यक्ति को ज्ञानयोग का भी अवश्य ही सहारा लेना चाहिये (१।१।५६-६०)। यह भी वहाँ (१।२।६१-६७) कहा गया है कि कर्म और ज्ञान दोनों से धर्म की प्राप्ति होती है, अतः ज्ञान के साथ ही कर्म का भी सहारा लेना चाहिये। (धर्म शब्द यहाँ मोक्ष का भी सूचक है।)

यहाँ दो प्रकार का कर्म बताया गया है। उनके नाम हैं— प्रवृत्त कर्म और निवृत्त कर्म। ज्ञानरहित कर्म प्रवृत्त और ज्ञानसहित कर्म निवृत्त माना जाता है। निवृत्त कर्म का अनुष्ठान करने वाला परम पद को प्राप्त करता है। उसके लिये क्षमा, दया, दान, अलोभ, त्याग, ऋजुता (सरलता), अनसूया, तीर्थसेवा, सत्य, सन्तोष, आस्तिक्य, श्रद्धा, इन्द्रियनिग्रह,

देवार्चन, ब्राह्मणार्चन, अहिंसा, प्रियवादिता, अपैशुन्य और अकल्कता नामक धर्म के अंगों का पालन करना आवश्यक है, ऐसा मनु ने कहा है। प्रवृत्त और निवृत्त कर्मों की चर्चा उत्तर भाग के ३७वें अध्याय के आरम्भ में भी मिलती है। वहाँ प्रवृत्तिपरायण ब्राह्मणों को निवृत्ति धर्म का उपदेश करने के लिये भगवान् शिव दारुवन में जाते हैं।

भगवद्गीता में ब्रह्मार्पण दृष्टि से निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया गया है। तिलक महाराज ने गीतारहस्य की भूमिका (पृ. १०) में प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का विश्लेषण करते हुए बताया है कि महाभारत के शान्तिपर्व के अन्त में स्थित नारायणीयोपाख्यान में प्रवृत्ति धर्म का और भगवद्गीता में निवृत्ति धर्म का विधान है। इसके लिये वे वहाँ के (३४७।८२-८३) एक श्लोक को और भगवद्गीता की निवृत्तिधर्मपरकता के लिये भी वहीं (३४८।५३) के दूसरे वचन को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ जीवनपर्यन्त संन्यास न लेकर चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म करते रहना और निवृत्ति धर्म का अर्थ है यतियों द्वारा लिया गया संन्यास। गीता में प्रवृत्ति धर्म के साथ ही यतियों का निवृत्ति धर्म भी वर्णित है। गीता की मनु, इक्ष्वाकु इत्यादि की तथा जनक इत्यादि की परम्परा प्रवृत्ति मार्ग की है, निवृत्ति मार्ग की नहीं। विष्णुपुराण (१।६।३०-३१) ने प्रवृत्ति मार्ग का विरोध करने वाले को वेदनिन्दक कहा है। इसके विपरीत पाशुपत योगाचार्यों की परम्परा में निवृत्ति मार्ग की प्रधानता है। इन योगाचार्यों को सर्वत्र निवृत्तिपरायण बताया गया है। लिंगपुराण (१।२९।७-८) में बताया गया है कि प्रवृत्तिपरायण मुनियों को निवृत्ति मार्ग का उपदेश देने के लिये महामुनि श्वेत दारुवन में गये थे।

पुराणों में अतिप्रसिद्ध श्रीमद्भागवत (१।३।८) में केवल कर्म की मोक्षसाधनता वर्णित है। मत्स्यपुराण (५२।५, २५७।१) में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग का महत्त्व हजार गुना अधिक बताया है। कर्मयोग की महत्ता भागवत में अन्यत्र (११।३।४१) भी बताई गई है। वहाँ (११।२७।७) यह भी बताया गया है कि भगवान् की आराधना ही क्रियायोग है। यहाँ 'क्रियायोग' शब्द प्रवृत्ति मार्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पांचरात्र-धर्म प्रवृत्ति-लक्षण और पाशुपत-धर्म निवृत्ति-लक्षण है। पुराणों में हमें इन दोनों का यथास्थान समन्वय मिलता है।

कूर्मपुराण (१।३।१४-२७) में भी इस विषय को समझाया गया है और कहा गया है कि कर्म सहित ज्ञान से ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। कर्म की सहायता से ही ज्ञान में निर्मलता आ सकती है और इसके प्रसाद से व्यक्ति को नैष्कर्म्य की प्राप्ति हो सकती है।

श्रीमद्भागवत का "नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः" (१।३।८) यह वाक्य तो केवल कर्म की मोक्ष-साधनता को बताता है। कुछ टीकाकारों ने यहाँ कर्मयोग को संसार (बन्धन) का ही हेतु माना है, किन्तु श्रीधर जैसे विज्ञ टीकाकारों ने यहाँ कर्म की मोक्ष-साधनता का ही प्रतिपादन किया है। भगवान् पतंजलि भी क्रियायोग के तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान नामक अंगों का निरूपण कर चित्त की एकाग्रता में और मानसिक एवं शारीरिक क्लेशों को दूर करने में इनका विनियोग मानते हैं।

मनुस्मृति (१२।८८-९०) में प्रवृत्त और निवृत्त दोनों ही को वैदिक कर्म माना गया है। आभ्युदयिक ऐहिक सुख को देने वाले काम्य कर्मों को प्रवृत्त और ज्ञानपूर्वक किये गये निष्काम कर्म को निवृत्त कहा है। प्रवृत्त कर्म से स्वर्ग की और निवृत्त कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्मयोग के अन्तर्गत यहाँ (१२।८३) वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा और गुरुसेवा की गणना की गई है। इन द्विविध कर्मों की हम "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१।१।२) धर्म के इस वैशेषिक सूत्र वर्णित स्वरूप से तुलना कर सकते हैं।

इस प्रकार पुराणों में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों के समन्वय के रूप में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का निरूपण किया गया है। कर्म और ज्ञान हंस के दो पंखों के समान हैं। हंस एक पँख से उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार कर्म अथवा ज्ञान में से किसी एक से मुक्ति नहीं मिल सकती। दोनों का समुच्चय अपेक्षित है।

म. म. पण्डित गोपीनाथ कविराज ने ब्रह्मसूत्र के हिन्दी अनुवाद की भूमिका (पृ. ४२-४४) में बताया है कि वेदान्त के प्राचीन आचार्य ब्रह्मदत्त और भर्तृप्रपंच ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। मण्डनमिश्र ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। [1]सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा ग्रन्थ के लेखक डॉ. चन्द्रशेखर महा स्वामी शिवाचार्य ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि भट्ट कुमारिल और प्रभाकर भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे (पृ. २७४-२८०)। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार श्रीधर भट्ट "किं ज्ञानमात्रान्मुक्तिः, उत ज्ञानकर्मसमुच्चयात्? ज्ञानकर्मसमुच्चयादिति वदामः" (पृ. ६८३) इतना कहकर विस्तार से अनेक शास्त्रीय प्रमाणों से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को स्थापित करते हैं। ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्यकार आचार्य भास्कर तो ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद की स्थापना के लिये प्रसिद्ध ही हैं। आचार्य शंकर अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति में कर्मों का विनियोग मानते हैं। उनका मत है कि मुक्ति तो ज्ञान से ही मिलती है। आचार्य भास्कर ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में तथा ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद में उक्त मत का खण्डन कर मुक्ति के उपाय के रूप में कर्मों का भी ज्ञान के ही समान साक्षात् उपयोग माना है। केवल कूर्मपुराण ही नहीं, प्रायः सभी पुराण इस समुच्चयवाद को ही मान्यता देते हैं। केवल कर्मों को भी मुक्ति का साधन मानने में इनको कोई हिचक नहीं है। लोककल्याण पुराणों का मुख्य लक्ष्य है। कर्म और ज्ञान के समुच्चय में ही लोककल्याण निहित है। अन्यथा—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गये सबके दाता राम ॥

जैसे समाज को पंगु बना देने वाले सिद्धान्तों का प्रचलन बढ़ जाय, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पुराणों ने पुरुषार्थ और भाग्य को तराजू के दो पलड़ों के समान बराबर-बराबर रखा है।

---

१. शैवभारतीभवनम्, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से सन् १९९६ में प्रकाशित।

भक्ति और प्रपत्ति

आगमों और पुराणों ने भक्ति पर अधिक बल दिया है। यों भक्ति-सिद्धान्त के संकेत ऋग्वेदीय सूक्तों एवं मन्त्रों में भी मिल जाते हैं, जिनमें कुछ ईश्वर-भक्ति से परिपूर्ण से लगते हैं, विशेषतः वरुण और इन्द्र की स्तुति वाले सूक्त। "भक्ति कल्ट इन एंश्येन्ट इण्डिया" नामक ग्रन्थ में इन स्थानों का विशेष विवरण देखा जा सकता है।

यद्यपि प्रमुख उपनिषदों में भक्ति शब्द नहीं आया है, किन्तु कठ एवं मुण्डक उपनिषदों में भक्ति सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त पाया जाता है कि यह केवल भगवान् की ही महिमा है, जो भक्त को बचाती है। वहाँ बताया गया है कि यह परम आत्मा गुरु के प्रवचन से नहीं प्राप्त होती और न मेधा (बुद्धि) से और न बहुश्रुतता से ही। परमात्मा की प्राप्ति तो उसी को होती है, जिसपर उसका अनुग्रह होता है। उसी के सामने यह परम आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करती है[1]। यह कथन इस सिद्धान्त का द्योतक है कि परमात्मा का अनुग्रह ही भक्तों को मुक्ति प्रदान करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ने भक्ति शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है, जो भगवद्गीता तथा अन्य भक्तिविषयक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है कि जो परमात्मा में परम भक्ति रखता है और भगवान् की जैसी ही भक्ति गुरु में भी रखता है, उस उच्च कोटि के व्यक्ति के मन में सारे दार्शनिक रहस्य अपने आप प्रकाशित हो जाते हैं[2]।

इसी उपनिषद्[3] ने भक्ति सम्प्रदाय के इस दृष्टिकोण (सिद्धान्त) पर बल दिया है कि मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को परमात्मा की शरण में जाना चाहिये। यहाँ 'प्रपद्ये' शब्द का प्रयोग किया गया है। रामानुज जैसे वैष्णव सम्प्रदायों में वर्णित प्रपत्ति-सिद्धान्त का यह मुख्य आधार है। छान्दोग्य उपनिषद् (७।२६।२१) में वर्णित "ध्रुवा स्मृति" को ही रामानुज वेदान्त में भक्ति का नाम दिया गया है। शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र में ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति कहा गया है— "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (१।१।२)। ईश्वर में परम अनुरक्ति रहने पर ही उसके प्रति हमारी स्मृति ध्रुव (स्थिर) हो सकती है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि भक्तियोग के मूल सिद्धान्तों की स्थापना उपनिषदों में हो चुकी थी।

उपनिषदों के बाद भक्ति-सम्प्रदाय के आरंभिक उल्लेख शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान एवं भगवद्गीता में पाये जाते हैं। ये दोनों ही महाभारत के अंगभूत हैं। भगवद्गीता में चतुर्व्यूहवाद का उल्लेख न होने से उसको नारायणीय उपाख्यान की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है। नारायणीय उपाख्यान (शान्तिपर्व ३४६।६२) और विष्णुधर्मोत्तर

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। (कठो. १।२।२३, मुण्डक. ३।२।३)

२. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। (श्वे. उ. ६।२३)

३. तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। (श्वे. उ. ६।१८)

पुराण (१।७४।३४) में सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत नामक पांच सिद्धान्तों का उल्लेख है। कृतान्तपंचक के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। भगवद्गीता को पांचरात्र सिद्धान्त से प्रभावित माना जाता है। यहाँ सांख्य, योग, वेद और पांचरात्र सिद्धान्तों का तो संग्रह किया गया है, किन्तु कहीं भी पाशुपत मत का उल्लेख नहीं है। नारायणीय उपाख्यान में पाशुपत मत का उल्लेख हुआ है। महाभारत के अनुशासनपर्व में इसकी विशेष महिमा प्रतिपादित है।

पांचरात्र और पाशुपत, ये दोनों मत भक्ति-प्रधान हैं। एक में विष्णु की और दूसरे में शिव की भक्ति का सविशेष प्रतिपादन हुआ है। भक्ति-सिद्धान्त का विकास वैष्णव मत में ही हुआ, ऐसा मानना उचित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् विशेषण विष्णु के लिये ही नहीं, शिव के लिये भी प्रयुक्त होता था। श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।११) ने शिव को भगवान् कहा है। पतंजलि ने अपने भाष्य (५।२।७६) में शिव-भागवतों का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि उस समय शिव के आयुध त्रिशूल को लेकर चलने वाले शिव के भक्त विद्यमान थे। शैव आगमों में भक्ति की पराकाष्ठा को ही मोक्ष कहा गया है[1]। शैव और वैष्णव आगमों में क्रमशः पाशुपत और पांचरात्र मत का ही विस्तार हुआ है और पुराणों में उक्त पांचों सिद्धान्तों का समन्वित रूप हमें दृष्टिगोचर होता है। यहाँ शिव और विष्णु की भक्ति का एक साथ अथवा अलग-अलग रूप हमें देखने को मिलता है।

वैष्णव और शैव आगमों में ईश्वर-भक्ति में शक्तिपात को भगवदनुग्रह का कारण माना गया है। ईश्वर के तिरोधान व्यापार को समेटने के लिये उसी के अनुग्रह की अपेक्षा रहती है, जैसा कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में उद्धृत कठ और मुण्डक उपनिषदों के वचनों में कहा गया है। भागवत आदि पुराणों में इसी अर्थ में 'पोषण' शब्द प्रयुक्त है। वहाँ कहा गया है — "पोषणं तदनुग्रहः"। आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग का यही प्रधान आधार है।

भक्ति साहित्य का परिचय देते समय काणे महोदय ने विष्णुभक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है (भा. ४, पृ. ४५६-४६०), किन्तु हमें स्मरण रखना है कि दक्षिण में वैष्णव भक्त आलवारों के ही समान शैव सन्तों की भी लम्बी परम्परा रही है। पुष्पदन्त का महिम्नस्तव, अवधूत सिद्ध का भक्तिस्तोत्र, भट्ट नारायण की स्तवचिन्तामणि, भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली, जगद्धर की स्तुतिकुसुमांजलि जैसे सैकड़ों ग्रन्थ शिव की भक्ति में समर्पित हैं। हम कह सकते हैं कि आगम और तन्त्र साहित्य में शिव और विष्णु की भक्ति का साथ-साथ विकास हुआ और पौराणिक साहित्य में इनका हमें समन्वित रूप देखने को मिलता है। यह अलग बात है कि अन्योन्याभिभव-न्याय से किसी पुराण में विष्णु-भक्ति का तो अन्यत्र शिव की भक्ति का सविशेष वर्णन हो। कूर्मपुराण में अनेक स्थलों पर भक्ति का समन्वित स्वरूप ही उजागर हुआ है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि शैव पुराणों में शिव की भक्ति को वरीयता मिली है।

---

१. "भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते" (त. वि. १३।२१६)

गरुड़ पुराण (२१६।१) में बताया गया है कि भगवान् हरि को संतुष्ट करने के लिये भक्ति से बढ़कर कोई उपाय नहीं है। आगे गरुड़पुराण (२१६।६-१०) का कहना है कि विष्णु-भक्ति का अनुसरण कर म्लेच्छ और चाण्डाल भी ब्राह्मण से बढ़कर पूजनीय हो जाते हैं। इसके उदाहरण स्वरूप हम कबीर, रविदास, रसखान आदि भक्त कवियों के नाम ले सकते हैं। संसार[1] रूपी विषसदृश वृक्ष में दो अमृत फल लगे हैं। एक है केशव के प्रति भक्ति और दूसरा है भक्तों का सत्संग। गरुड़पुराण (२२२।४६) का कहना है कि भक्त भले ही शूद्र, निषाद अथवा चाण्डाल हो, उसको द्विजों के समान ही सम्मान प्राप्त होता है।

भक्ति का निरूपण करते हुए देवीभागवत (७।३७।१-४५) में कूर्मपुराण की पद्धति से देवी पार्वती हिमवान् को मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग नामक तीन मार्गों का उपदेश करती हैं। गुणभेद से भक्ति के तीन भेद— तामसी, राजसी और सात्त्विकी हैं। भक्ति की पराकाष्ठा ही ज्ञान है। इसी को वैराग्य की सीमा कहा है, क्योंकि ज्ञान में भक्ति और वैराग्य दोनों निहित हैं। देवीभावगत के इस प्रकारण की कूर्मपुराण से इतनी ही विशेषता है कि कूर्मपुराण में उक्त तीनों मार्गों का समान महत्त्व बताया गया है, जबकि देवीभावगत ज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

नारदपुराण (१।४।३२) में भक्ति, कर्म और ज्ञान के क्रम को इस तरह से निश्चित किया गया है कि भक्तिपूर्वक किये गये कर्म सफल होते हैं, अर्थात् विधिपूर्वक संपादित कर्मों से भगवान् संतुष्ट होते हैं, जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इस प्रकार यहाँ भी देवीभागवत की पद्धति से ज्ञान को श्रेष्ठ माना गया है। आगे नारदपुराण (२।३।२) का कहना है कि धन आदि से भगवान् को वश में नहीं किया जा सकता, वे तो भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति-भाव से पूजित विष्णु मनुष्य के सारे मनोरथों को पूरा करते हैं। भगवद्गीता (६।३२) में बताया गया है कि भक्ति-मार्ग का अनुसरण कर स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को पाते हैं। विष्णुपुराण (१।२०।२७) में बताया गया है कि समस्त जगत् के मूल कारण भगवान् विष्णु में जिसकी भक्ति निश्चल हो गई है, उसकी मुट्ठी में मुक्ति भी रहती है, अर्थ, काम और धर्म से तो उसे लेना ही क्या है।

श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के २६वें अध्याय में भी तामसी, राजसी और सात्त्विकी भक्ति का निरूपण मिलता है। श्रीमद्भागवत (३।२६।११-१२) में बताया गया है कि अन्तरात्मा में निवास करने वाले उस परमात्मा के गुणों का मात्र श्रवण कर जिसकी चित्तवृत्ति निरन्तर भगवान् में ही लगी रहती है, उस स्थिति को निर्गुण भक्ति कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे गंगा का जल निरन्तर समुद्र की तरफ ही बहता रहता है, समुद्र से मिलने को आकुल रहता है, उसी तरह जिस भक्त की चित्तवृत्ति निरन्तर

---

१. संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे।
कदाचित् केशवे भक्तिस्तद्भक्तैर्वा समागमः।। (गरुड़पुराण, १।२१६।३३)

भगवत्प्रवण रहती है, उनसे मिलने को आकुल रहती है, यह आकुलता ही, भगवन्मिलन की उत्कंठा ही वस्तुतः भक्ति है।

इस प्रकार कर्मयोग और भक्तियोग में से किसी एक मार्ग से भी भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। भागवतपुराण (७।५।२३) में नवधा भक्ति का भी वर्णन मिलता है। जैसे— १. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पादसेवन, ५. अर्चन, ६. वन्दन, ७. दास्य, ८. सख्य तथा ९. आत्मनिवेदन। भक्ति-शास्त्र के ग्रन्थों में इनका अत्यन्त विस्तार मिलता है।

भक्ति के ही प्रसंग में अनेक शास्त्रों में प्रपत्ति और प्रपन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रपत्ति शब्द का अर्थ है शरणागति और प्रपन्न शब्द का अर्थ है भगवान् को अत्यन्त समर्थ और परमश्रेष्ठ समझकर उनके प्रति अपने को समर्पित कर देना। इसी को वैष्णव आगमों में आत्मनिक्षेप या आत्मसमर्पण कहा गया है। भक्ति का अन्तिम लक्ष्य प्रपत्ति या शरणागति ही है। भक्त अपनी भक्ति के द्वारा अपने इष्टदेव की शरण ग्रहण कर सर्वतोभाव से आत्मसमर्पण करता है। इस प्रकार की शरणागति का निर्देश भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के सांख्ययोग प्रकरण में है। जिसका कार्पण्य, दैन्यदोष से ग्रस्त स्वभाव नष्ट हो गया है, वह अर्जुन भगवान् कृष्ण की शरणागति को स्वीकार करता है— "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" (२।७)। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१८) में भी इसी प्रपत्ति का उपदेश मिलता है। कूर्मपुराण (२।११।१३३-१३४) में भी इस प्रपत्ति, शरणागति का निर्देश है। यहाँ व्यास जी ने ऋषियों को भगवान् ईश्वर की शरण में जाने को कहा है (प्रपद्यध्वम्)।

रामानुजीय एवं अन्य वैष्णव शाखाओं के ग्रन्थों में प्रपत्ति (आत्मसमर्पण) को भक्ति से भिन्न माना है। यतीन्द्रमतदीपिका (पृ. ६४) के अनुसार इसके पांच अंग हैं — १. अनुकूलता का संकल्प, २. प्रतिकूलता का त्याग, ३. यह विश्वास कि परमात्मा भक्त की रक्षा करेगा, ४. अपनी रक्षा के लिये भगवान् के प्रति समर्पण-भावना और ५. आत्मनिक्षेप कर देने पर असहायता के भाव का प्रदर्शन। गीता (२।७) में अर्जुन ने अपने को 'प्रपन्न' (जो मोक्ष के लिये आ पहुँचा हो, या जिसने मोक्ष के लिये आत्मसमर्पण कर दिया हो) कहा है। गीता एवं अन्य ग्रन्थों में भक्ति का जो स्वरूप प्रतिपादित है, वह यही है कि भक्ति से भगवान् का प्रसाद (अनुग्रह या कृपा) प्राप्त होता है, जिससे भक्त मोक्ष प्राप्त करता है। यतीन्द्रमतदीपिका (पृ. ६५) में भक्तिपूर्वक प्रपत्ति को मोक्ष का साधन माना है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार द्वारा उद्धृत प्रपत्ति के पाँच अंग बताने वाला श्लोक लक्ष्मीतन्त्र में भिन्न रूप से मिलता है। वहाँ तीसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है— "आत्मनिक्षेपकारुण्ये षड्विधा शरणागतिः" (१७।६१)। यहाँ आत्मनिक्षेप और कारुण्य को अलग-अलग मानकर शरणागति (प्रपत्ति) के छः अंग माने हैं।

यतीन्द्रमतदीपिका (पृ. ६१-६५) में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के लक्षण और भेदों का वर्णन करने के बाद केवल भक्ति और प्रपत्ति को ही मोक्ष का उपादान माना है।

कर्मयोग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग की चर्चा करते हुए डॉ. पी. वी. काणे भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग के विषय में कहते हैं कि ये दोनों मार्ग हमें एक ही लक्ष्य, अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किन्तु दोनों की पहुँच के ढंग भिन्न हैं। ज्ञानमार्ग (या अव्यक्तोपासना) में निर्गुण ब्रह्म के केवल पुस्तकीय ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, इसके लिये ब्राह्मी स्थिति परमावश्यक है। ज्ञानमार्ग में व्यक्ति जो कुछ करता है, वह ब्रह्मार्पित होता है (भगवद्गीता ४।१८-२४)। इसके विपरीत भक्तिमार्ग में भक्त ईश्वर के प्रसाद के लिये आत्मसमर्पण कर देता है, वह जो कुछ करता है, उसे अपने आराध्यदेव को समर्पित कर देता है। इस प्रकार भगवद्गीता के नवें अध्याय में भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरल बताया है।

ईश्वरगीता एवं पुराणों में शक्ति तत्त्व

कूर्मपुराण की ईश्वरगीता का धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि से वही महत्त्व है, जो महाभारत की भगवद्गीता का। ईश्वरगीता की इस विशिष्टता को देखते हुए गीता-साहित्य में भगवद्गीता के साथ इसको महत्त्व का स्थान दिया जाय, तो यह उचित ही होगा। भारतीय वाङ्मय में वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत कृतान्तपंचक के नाम से प्रसिद्ध हैं। भगवद्गीता पर पांचरात्र मत का, तो ईश्वरगीता पर पाशुपत मत का विशेष रूप से प्रभाव परिलक्षित होता है। कूर्मपुराण उपरि विभाग के पहले ११ अध्याय ईश्वरगीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। ईश्वर (भगवान् शिव) के द्वारा उपदिष्ट होने से इसको ईश्वरगीता कहा गया है।

भोजदेवकृत शैवसिद्धान्त के ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश की कुमारकृत तात्पर्यदीपिका टीका में ईश्वरगीता के कुछ श्लोक उद्धृत हैं[१]। इसको ईश्वरगीता का प्राचीनतम उल्लेख माना जा सकता है। ये कुमार रुद्रमहालय के संस्थापक गुजरात के राजा मूलराज के गुरु कुमारदेव से अभिन्न प्रतीत होते हैं। अघोर शिवाचार्य[२] इस टीका पर वेदान्त का प्रभाव मानते हैं। वस्तुतः यह टीका शैव दृष्टिकोण की अपेक्षा स्मार्त दृष्टि के अनुसार शैव तत्त्वों की व्याख्या करती है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्रीकण्ठ द्वारा अपने भाष्य में इसी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इसीलिये तात्पर्यदीपिका[३] प्रमाण के रूप में विष्णुपुराण का उद्धरण देने में कोई संकोच नहीं करती। ईश्वरगीता (२।१।४०) का भी उपदेश ईश्वर (शिव) भगवान् विष्णु की साक्षी में ही करते हैं। ईश्वरगीता में यही (स्मार्त) दृष्टिकोण उभर कर सामने आया है।

शैव और शाक्त दर्शन में चिच्छक्ति अथवा चिति को ही परम तत्त्व माना गया है। यहाँ भी देवी इस नाम से सम्बोधित है। इसी तरह से शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामक पाँच कलाओं की चर्चा शैव-शाक्त दर्शन की षडध्वप्रक्रिया में आती है।

---

१. द्रष्टव्य—अष्टप्रकरण, संस्कृत विश्वविद्यालय संस्करण, पृ. ४-६, ४३, ५८, ७२

२. अद्वैतवासनाविष्टैः सिद्धान्तज्ञानवर्जितैः। व्याख्यातोऽत्रान्यथाऽन्यै..... (वहीं, पृ. ६)

३. द्रष्टव्य—वहीं, पृ. ७२, १०३

वहाँ बताया गया है कि कलाध्वा ही अन्य पाँच अध्वाओं का आधार है। यहाँ इन नामों के अतिरिक्त षडध्वपरिवर्तिका जैसे नामों से भी देवी संबोधित है। कूर्मपुराण के काशिराज न्यास के पाठान्तर वाले संस्करण (पृ. ८४२) में श्रीप्रश्नसंहिता के आधार पर इस शब्द की व्याख्या देने का प्रयत्न अधिक सार्थक नहीं है। रत्नत्रय (श्लोक ८४-८८) में उक्त पाँच कलाओं को बिन्दु, अर्थात् महामाया कुण्डलिनी का विस्तार बताया गया है। नाद की भी उत्पत्ति बिन्दु से ही होती है। वहीं महामाया कुण्डलिनी को शब्दयोनि भी कहा गया है। शब्दयोनि, नादविग्रहा, अनाहता, कुण्डलिनी, बिन्दुनादसमुत्पत्ति आदि नाम इसी ओर इंगित करते हैं। आगमों में मल, माया और कर्म नामक तीन पाशों की चर्चा आती है। कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इन तीनों को मल नाम से ही जाना जाता है। यहाँ आये मलवर्जिता, मलत्रयविनाशिनी, मलातीता जैसे नाम इसी ओर इंगित करते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में "सकृद्विभातोऽयमात्मा" यह श्रुति बहुधा उद्धृत है। देवी का 'सकृद्विभाविता' नाम उस आत्मतत्त्व की ओर ही संकेत करता है।

मुद्रा, पंचब्रह्मसमुत्पत्ति और शवासना शब्द भी शैव-शाक्त तन्त्रों की प्रक्रिया को ही बताते हैं। अनेक प्रकार की मुद्राओं का न केवल शैव-शाक्त तन्त्र, अपितु वैष्णव, बौद्ध और जैन तन्त्रों में भी वर्णन मिलता है। पाशुपत मत के ईशान, तत्पुरुष, अघोर आदि पांच मन्त्रों को पंचब्रह्म नाम दिया गया है। इन पांच मन्त्रों की लकुलीश-विरचित पंचाध्यायी (पांच अध्याय वाले) पाशुपतसूत्रों में क्रमशः व्याख्या की गई है। देवी को यहाँ पंचब्रह्मसमुत्पत्ति, अर्थात् इन पांच मन्त्रों की जननी कहा है। शैवागमों में शिव को 'पंचमन्त्रतनु' कहा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर रूपी चार पायों से बने मंच पर देवी सदाशिव रूपी शव पर आसन बनाकर बैठती है। अतः इसे शवासना कहा गया है। देवी को यहाँ विन्ध्यपर्वतवासिनी कहा गया है। यह देवी भेदाभेदविवर्जिता है, अर्थात् भेद और अभेद दोनों से रहित है। इस शब्द से हम द्वैताद्वैतवाद का ग्रहण कर सकते हैं। भास्कर आदि आचार्यों के मत से कर्म और ज्ञान के समुच्चय से ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होता है और उनका दर्शन भेदाभेदवादी है, अर्थात् उनके मत से जीव और ब्रह्म का न तो पूरी तरह से भेद है और न अभेद ही। इस तरह से वह भेदाभेदविवर्जित है। देवी को यहाँ हृल्लेखा और कामेश्वरेश्वरी भी कहा है। हृल्लेखा से ही देवी का बीज-मन्त्र बनता है। त्रिपुरा सम्प्रदाय में शिव को कामेश्वर तथा शक्ति को कामेश्वरी कहा जाता है। कामेश्वरेश्वरी शब्द कश्मीर के क्रम नामक शाक्त सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ कामेश्वरी कामेश्वर की स्वामिनी मानी जाती है।

डॉ. हाजरा का कहना है कि कूर्मपुराण के दो अध्यायों को छोड़ कर अन्य स्थानों से वैष्णव चिह्न हटा दिये गये, किन्तु यहाँ देवी को महालक्ष्मीसमुद्भवा, गरुड़ासना, चाणूरहन्तृतनया, वासुदेवसमुद्भवा और महापुरुषपूर्वजा जैसे शब्दों से संबोधित किया गया है। महापुरुषपूर्वजा शब्द मूल रूप से पांचरात्र सम्प्रदाय का है। इस सम्प्रदाय का "जितन्ते

स्तोत्र" अति प्राचीन है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान (शान्ति. ३३६।४४) में यह शब्द मिलता है। सात्वतसंहिता जैसी प्राचीन पांचरात्र संहिताओं (७।२८) में भी यह प्रयुक्त है। इस शब्द से यहाँ देवी को भी संबोधित किया गया है। इतना ही नहीं, धर्मोदया शब्द तो हमें बौद्ध तन्त्रों की भी झलक दिखाता है। विविध अर्थों में यह शब्द वहाँ प्रयुक्त है। हम त्रिपुरा सम्प्रदाय में वर्णित कामकला से इसे अभिन्न मान सकते हैं। तारिणी शब्द बौद्ध और शाक्त दोनों ही तन्त्रों में तारा का प्रतिनिधित्व करता है।

मनोन्मनी और भ्रूमध्यनिलया जैसे शब्द योग-सम्प्रदाय का संदेश हमें सुनाते हैं। उन्मनी योगाभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाली मन की एक विशिष्ट दशा है। संस्कृत के ही नहीं, विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के योग-सम्बन्धी ग्रन्थों में भी इसका पर्याप्त वर्णन मिलता है।

पुराण किसी एक सम्प्रदाय से प्रभावित न होकर सभी सम्प्रदायों का यथायोग्य अनुसरण करते हैं। ब्रह्मेशविष्णुजननी, वासुदेवसमुद्भवा, महालक्ष्मीसमुद्भवा, त्रिमूर्ति, लक्ष्म्यादिशक्तिजननी जैसे नाम इसी की सूचना देते हैं। यहाँ देवी को त्रिमूर्ति भी कहा गया है और इनकी जननी भी। वासुदेव और लक्ष्मी से इसकी उत्पत्ति होती है और यह महालक्ष्मी की माता भी हैं। इन सब शब्दों की संगति त्रिगुणन्याय से "अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुन" पद्धति से ही बैठ सकती है।

देवीभागवत के १२वें स्कन्ध के आठवें अध्याय में परा शक्ति का स्वरूप बताया गया है। अध्याय के आरम्भ में वैष्णव, गाणपत्य, कापालिक, चीन-मार्गरत, दिगम्बर, बौद्ध, चार्वाक जैसे वेदविरोधी मतों का उल्लेख है। वेद-बाह्य पद्धति से भगवती तारा के उपासक चीन-मार्गरत कहे जाते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के प्रथम (४।१८६) और द्वितीय (१८।१८, ३८।२) खण्ड में इनका उल्लेख मिलता है। यहाँ केनोपनिषद् की पद्धति से यक्ष से पराजित इन्द्र के सामने भगवती प्रकट होती है और माया-बीज का जप करने का परामर्श देती है। यहाँ देवी अपने दो स्वरूपों का वर्णन करती है। एक रूप सच्चिदानन्दात्मक और दूसरा माया(प्रकृति)मय है। माया को ही यहाँ शक्ति कहा गया है और स्वयं देवी शक्तिमती। शक्ति और शक्तिमती में यहाँ चन्द्र और चन्द्रिका के समान अभेद माना गया है। माया शक्ति जब बहिर्मुख होती है, तो वह अव्यक्त, तम आदि शब्दों से अभिहित होती है। गुणत्रयात्मिका यह प्रकृति ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का रूप धारण करती है। इस प्रकार यहाँ भगवती परम तत्त्व के रूप में वर्णित है। अध्याय के अन्त में बताया गया है कि विष्णु अथवा शिव की उपासना नित्य करनी चाहिये, ऐसा वेदों में कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत गायत्री की उपासना यहाँ नित्य-कर्म के रूप में वर्णित है। अतः व्यक्ति को सर्वतोभावेन शक्ति की ही उपासना करनी चाहिये।

पति, पशु और पाश

ईश्वरगीता के सातवें अध्याय के प्रारम्भ के १७ श्लोकों में ईश्वर की विभूतियों का वर्णन करने के बाद भगवान् शिव शैवागम-संमत पति, पशु और पाश नामक तत्त्वों का

वर्णन करते हुए कहते हैं कि संसार में वर्तमान सभी जीवों को पशु कहा जाता है। ज्ञानी लोग उन जीवरूपी पशुओं के पतिस्वरूप मुझको पशुपति कहते हैं। मैं अपनी लीलावश पशुओं को मायारूपी पाश से बाँधता हूँ। मुझ अव्यय परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी मायारूपी पाश में बंधे हुए लोगों को मुक्त करने वाला नहीं है। प्रकृति, महदादि चौबीस तत्त्व, माया, कर्म, गुण— ये पशुपति के पाश जीवरूपी पशुओं को बाँधने वाले क्लेश हैं। मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी ये आठ प्रकृतियां हैं और इनसे भिन्न संसार के अन्य समस्त पदार्थ विकार हैं। श्रवण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा एवं नासिका, गुदा, लिंग, दोनों हाथ, दोनों पैर एवं दसवीं इन्द्रिय वाणी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध— ये तेईस तत्त्व प्राकृत, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं।

आदि, मध्य एवं अन्त से रहित जगत् का परम कारण स्वरूप एवं सत्त्वादि गुणों से लक्षित होने वाला अव्यक्त प्रधान चौबीसवाँ तत्त्व है। सत्त्व, रज एवं तम ये तीन गुण कहे गये हैं। इनकी साम्यावस्था को अव्यक्त, प्रकृति कहा जाता है। सत्त्व गुण को ज्ञान, तमोगुण को अज्ञान, एवं रजोगुण को मिश्र, अर्थात् ज्ञान एवं अज्ञान दोनों से युक्त कहा गया है। धर्म और अधर्म नामक दो पाश ही बन्धन के कारण हैं। मुझे अर्पित किये गये कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते, उनसे मुक्ति मिलती है। इस सन्दर्भ में यह भी याद रखना है कि मार्कण्डेयपुराण (३९।७-८) में भी कर्म को बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण बताया है। इसका अभिप्राय यह है कि सामान्यतः पाशात्मक कर्म बन्धन के कारण बनते हैं और ईश्वरार्पित कर्म मोक्ष के।

आत्मा का बन्धन करने के कारण क्लेश नामक अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश को अचल पाश कहा जाता है। माया को इन पाशों का कारण कहा गया है। वह अव्यक्त स्वरूपा प्रकृति मुझमें रहती है। वस्तुतः मैं ही मूलप्रकृति, प्रधान एवं पुरुष हूँ। महत्त्व आदि विकार एवं देवाधिदेव सनातन हैं। वे ही बन्धन, बन्धन करने वाले; वे ही पाश एवं वे ही पशु हैं। वे सब को जानते हैं, किन्तु उन्हें जानने वाला कोई नहीं है। वे आदिपुरुष हैं।

इस प्रकार यहाँ ईश्वरगीता के सातवें अध्याय के शेष १८-३२ श्लोकों में शैवागम-संमत पति, पशु और पाश नामक तीन तत्त्वों का वर्णन किया गया है। इन तत्त्वों का निरूपण अन्य पद्धति से दूसरे अध्याय में भी हो चुका है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि सांख्यसंमत पचीस तत्त्व ही यहाँ वर्णित हैं, शैवागमों के छत्तीस तत्त्व नहीं। पाश के अन्तर्गत यहाँ २४ तत्त्वों और माया, कर्म, गुण की गणना है। शैवागम-संमत पाँच, चार या तीन पाशों की नहीं। शैवागम की सभी शाखाएं मल, माया और कर्म नामक तीन पाश मानती हैं। तिरोधान शक्ति को लेकर चार तथा महामाया को भी सम्मिलित करने पर पाशों की संख्या पांच हो जाती है। यहाँ जिन आठ प्रकृतियों को गिनाया है, वे भगवद्गीता (७।४)

में भी वर्णित हैं। अचल पाश के रूप में वर्णित पांच क्लेश[1] योगसूत्र में भी निर्दिष्ट हैं। २४ तत्त्वों का निरूपण यहाँ सांख्यदर्शन की पद्धति से किया गया है।

पुराणगत तन्त्र

पुराणगत योग का निरूपण हम विस्तार से कर चुके हैं। पुराणों में तन्त्रशास्त्रगत सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। पुराण और उपपुराण साहित्य के गंभीर अध्येता डॉ. हाजरा इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके इस मत का उल्लेख अभी हम पृष्ठ ५०१-५०२ पर कर चुके हैं। हम यहाँ उनके इस मत की असारता को दिखाते हुए यह बताना चाहते हैं कि सभी पुराणों में तन्त्रशास्त्र की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। यहाँ हम पद्मपुराण और स्कन्दपुराण को उनकी विशालता के कारण छोड़कर अन्य पुराणों में उपलब्ध सामग्री का संकलन करना चाहते हैं, जिससे कि यह स्पष्ट हो सके कि पुराण वेदों के समान ही आगम और तन्त्रशास्त्र के भी उपबृंहक हैं। यहाँ हम क्रमशः अकारादि क्रम से उक्त दो महापुराणों को छोड़कर सभी पुराणों में प्राप्त इस प्रकार की सामग्री का दिग्दर्शक करा रहे हैं।

अग्नि पुराण

अग्निपुराण के विषय में डॉ. आर.सी. हाजरा का कहना है कि यह पांचरात्रों से अत्यन्त प्रभावित है, इस पर शैव तथा शाक्त तन्त्रों का कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। उनका यह कथन इसलिये सही नहीं है कि इसमें पांचरात्र आगम के साथ ही शैव और शाक्त आगमों की भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इसके ३९ से ७० अध्याय तक की सामग्री हयशीर्ष पांचरात्र से ली गई है और ३९वें अध्याय के प्रारम्भ में २५ पांचरात्र संहिताओं के नाम भी दिये गये हैं, जो कि हयशीर्ष पांचरात्र के प्रारम्भिक प्रकरण में मिलते हैं। १० भागवत संहिताओं के नाम वहाँ छोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार डॉ. हाजरा के अनुसार ७० अध्याय तक के अंश पर पांचरात्र का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है, किन्तु इसके साथ ही यहाँ ७१ से १०६ अध्याय तक की सामग्री लीलावती नामक शिवागम से ली गई है और यह पूरी सामग्री आनुपूर्वी से सोमशम्भु की कर्मकाण्डक्रमावली में मिल जाती है। दीक्षा, अभिषेक, पवित्रारोपण, मुद्राप्रदर्शन जैसे विषयों का यहाँ वर्णन मिलता है। शैवागमों में वर्णित विज्ञानाकल, प्रलयाकल, सकल जैसे जीवों का भी यहाँ वर्णन मिलता है। पूर्ववर्णित कृतान्तपंचक का भी यहाँ उल्लेख है, इतना ही नहीं त्रैलोक्य-विजय, संग्राम-विजय, महामारी आदि विद्याओं का, तान्त्रिक षट्कर्मों का, कुब्जिका का तथा ६४ योगिनियों की पूजा का भी यहाँ विस्तार से वर्णन मिलता है। इस प्रकार यहाँ केवल पांचरात्र (वैष्णव) मत का ही नहीं, शैव और शाक्त मतों के साथ स्कन्द, गणपति और सूर्य की पूजा का भी, उनके मन्त्र-मुद्रा आदि के साथ पूरा विधान मिलता है।

---

१. "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः" (२।३)।

सप्तम अध्याय

योग

जो साधक शरीर, इन्द्रिय एवं मन के समस्त बन्धनों से रहित, शुद्ध आत्मा का दर्शन करना चाहते हैं उनके लिये योग एक महान् साधन है। आत्मोन्नति के साधनरूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहां तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराण—सभी में योगविषयक चर्चा समुपलब्ध है[1]। जब तक प्राणियों का चित्त अथवा अन्तः-करण पूर्ण स्वच्छ अथ च सुस्थिर नहीं होता तब तक वे धर्म अथवा दर्शन के वास्तविक रहस्य को नहीं जान सकते। कोई भी व्यक्ति शुद्ध हृदय एवं सुस्थिर मन से ही इन गूढ रहस्यों का पता लगाने में समर्थ हो सकता है। आत्म-शुद्धि के लिये योग ही सर्व-श्रेष्ठ उपाय है। इसके द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर-उभय-विध-शरीर शुद्ध हो जाता है। यही करण है कि समग्र भारतीय दर्शन केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तों का यौगिक रीति से, ध्यान, धारणा आदि के द्वारा प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट अनुभव करने के लिये साधक को प्रेरित करते हैं।

शैव धर्म के चार पाद

शिव महापुराण में शैवधर्म के चार पाद बतलाये गये हैं - ज्ञान, क्रिया चर्या और योग[2]। पशु, पाश एवं पति का ज्ञान ही ज्ञान कहा गया है। गुरु के उपदेश के अनुसार षडध्व शुद्धि की विधि से की गई क्रिया ही 'क्रिया' है। पशुपति-शिव (परमात्म-शिव) के द्वारा विहित, वर्णाश्रमप्रयुक्त उनके (पशुपति के) अर्चनादि का अनुष्ठान ही चर्या कही गई है[3]।

योग की परिभाषा

पशुपति शिव (परमात्म-शिव) के द्वारा कथित मार्ग से अन्तःकरण की वृत्तियों को (चित्तवृत्तियों को) विषयान्तर से निरुद्ध कर, एकमात्र पशुपति शिव में ही, निश्चल रूप से लगाने की जो क्रिया है उसी का नाम योग है।

---

१. देखिये—कठोपनिषद् २, ११, १८।। श्वेताश्व० २, ८–२, ११।

२. ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति सुरेश्वरि।
चतुष्पादः समाख्यातो मम धर्मः सनातनः ।। शिव० ७, २, १०, ३०।

३, देखिये—वही, ७, २, १०, ३१-३२।

योग के प्रकार

योग का वर्गीकरण द्विधा किया जाता है। प्रथम वर्गीकरण के अनुसार योग पाँच प्रकार का होता है :—१. मन्त्रयोग, २. स्पर्श योग, ३. भाव योग, ४. अभाव योग, ५. महायोग। इनमें महायोग सबसे परे है।

१. मन्त्रयोग – मन्त्रों के अभ्यासवश, जो मन की वृत्ति, मन्त्र के वाच्यार्थ गोचर होकर स्थिर हो जाती है उसी का नाम मन्त्रयोग है[५]।

२, ३ स्पर्श योग एवं भावयोग –प्राणायामयुक्त उक्त मनोवृत्ति स्पर्शयोग कही जाती है। और यदि यही स्पर्शयोग मन्त्र के स्पर्श से रहित हो तो भावयोग कहा जाता है[६]।

४. अभावयोग – जिसमें सारा विश्व तिरोहित रूप हो जाता है, उसे अभाव योग कहते हैं, क्योंकि उसमें (उस अवस्था में) विद्यमान वस्तु का भी आभास नहीं रहता[७]।

५. महायोग :—जिसमें उपाधिरहित, शिवस्वभाव का ही चिन्तन किया जाता है वही मनोवृत्ति महायोग कही जाती है :-

श्लोक :—शिवस्वभाव एवैकश्चिन्त्यते निरुपाधिकः।
यथा शैवमनोवृत्तिर्महायोग इहोच्यते॥ शिव० ७, २, ३७,११।

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार योग त्रिधा होता है :—१. ज्ञानयोग, २. क्रियायोग, ३. भक्तियोग।

१. ज्ञानयोग :—चित्त का आत्मा के साथ संयोग ही ज्ञानयोग कहा गया है[८]।

---

४. मदुक्तेनैव मार्गेण मय्यवस्थितचेतसः।
वृत्यन्तरनिरोधो यो योग इत्यभिधीयते॥ शिव०, ७, २, १०, ३३।
निरुद्धवृत्यन्तरस्य शिवे चित्तस्य निश्चला।
या वृत्तिः सा समासेन योगः स खलु पंचधा॥ वही, ७, २, ३७, ६।
तुलना कीजिये—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। योगसूत्र।

५. मन्त्राभ्यासवशेनैव मन्त्रवाच्यार्थगोचरः।
अव्याक्षेपा मनोवृत्तिर्मन्त्रयोग उदाहृतः॥ शिव० ७, २, ३७, ८।

६. प्राणायाममुखा सैव स्पर्शयोगोऽभिधीयते।
स मन्त्रस्पर्शनिर्मुक्तो भावयोगः प्रकीर्तितः॥ वही, ७, २, ३७, ९।

७. विलीनावयवं विश्वं रूपं सम्भाव्यते यतः।
अभावयोगः संप्रोक्तोऽनाभासाद्वस्तुनः सतः॥ वही, ७, २, ३७, १०।

८. ज्ञानयोगस्तु संयोगश्चित्तस्यैवात्मना तु यः॥ वही, ५, ५१, ८।

२. भक्तियोग :—अभीष्ट देव के साथ (शिव अथवा शक्ति के साथ) आत्मा का एकीकरण ही भक्तियोग कहा गया है[९]।

३. क्रियायोग :—चित्त का बाह्यार्थसंयोग (किसी मूर्ति आदि से संयोग) ही क्रियायोग कहा गया है[१०]। शास्त्रों के अनुसार कर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर योग पूर्व-पूर्व योग के उपकारक होते हैं। इनमें ज्ञानयोग ही सर्वश्रेष्ठ निर्दिष्ट किया गया है।

अष्टांग एवं षडंग योग

यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही विद्वानों के द्वारा योग के आठ अङ्ग माने गये हैं[११]।

आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, संक्षेप में ये ही योग के षडङ्ग कहे गये हैं[१२]। इन सब का पृथक् पृथक् लक्षण शिव-शास्त्र, शिवागम, विशेष करके 'कामिक' आदि में, योगशास्त्र तथा कुछ पुराणों में भी वर्णित है।

१. यम :—योग का प्रथम अङ्ग है यम। इसके निम्नलिखित अङ्ग हैं—(१) अहिंसा (अर्थात् किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना); (२) सत्य (अर्थात् किसी से किसी तरह का झूठ न बोलना); (३) अस्तेय (अर्थात् चोरी न करना); (४) ब्रह्मचर्य (अर्थात् विषयवासना की ओर न जाना); (५) अपरिग्रह (अर्थात् लोभवश अनावश्यक वस्तु का ग्रहण न करना) ये सब साधन सर्वविदित हैं, अतः इनकी विशेष व्याख्या नहीं की गई है। साधक के लिये इनका साधन अनिवार्य है, यतः मन को सबल बनाने के लिए शरीर का सशक्त बनाना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं करते, उनका मन एवं शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी प्रकार जब तक मानव का मन पापवासनाओं से परिपूर्ण अथ च चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। अतः

९. भक्तियोगो मतो देव्या आत्मनश्चैक्यभावनम्। शिव० ५, ५१, ६।

१०. यस्तु बाह्यार्थसंयोगः क्रियायोगः स उच्यते॥ वही, ५, ५१, ८।

११. यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाद्यं तथासनम्।
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च।
समाधिरिति योगाङ्गान्यष्टावुक्तानि सूरिभिः॥ वही, ७, २, ३७, १४-१५।

१२. आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ध्यानं समाधिर्योगस्य षडंगानि समासतः॥ वही, ७, २, ३७, १६।

योग या समाधि के साधक को सभी आसक्तियों और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

२ नियम :—योग का दूसरा अंग है नियम या सदाचार पालन। इसके निम्नलिखित अंग हैं:—(१) शौच बाह्यशुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि, जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा तथा आभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता, आदि के द्वारा), (२) सन्तोष (अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उससे संतुष्ट रहना); (३) तप (जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास, कठिनव्रत का पालन करना आदि), (४) स्वाध्याय (नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना; (५) ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर का ध्यान और उन पर अपने को छोड़ देना)।

३. आसन :—आसन शरीर का साधन है। इसका अर्थ है शरीर को ऐसी अवस्था में रखना जिससे निश्चल होकर सुख के साथ देर तक रह सकते हैं। आसन नाना प्रकार के होते हैं। शिवमहापुराण में आठ प्रकार के आसन बतलाये गये हैं—(१) स्वस्तिक, (२) पद्म, (३) मध्येन्दु, (४) वीर, (५) योग, (६) प्रसाधित (७) पर्यङ्क और (८) यथेष्ट[१३]। इनका अभ्यास एकमात्र पुस्तकों के ही आधार पर न होकर, किसी योग्य गुरु के निर्देशन में होना चाहिये। चित्त के स्थैर्य के लिये शरीर का भी अनुशासन उतना ही आवश्यक है जितना कि मनका, यदि शरीर किसी प्रकार की व्याधि से आक्रान्त है तो समाधि लगाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यही कारण है कि योग सम्बन्धी वाङ्मय आरोग्य साधन के लिये बहुत से नियम निर्धारित करता है, जिससे शरीर समाधि क्रिया के योग्य बन सके। शरीर एवं मन को शुद्ध तथा सबल बनाने के लिये तथा दीर्घायुष्य के लिये ग्रन्थों में नाना प्रकार के नियम उपनियम उपदिष्ट हैं। योगासन शरीर को निरोग एवं सबल बनाये रखने के लिये उत्तम साधन हैं। इन आसनों के द्वारा सभी अङ्ग, विशेषतः स्नायुमण्डल, इस प्रकार वश में किये जा सकते हैं कि वे मन में किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न कर सकें।

शिवमहापुराण का कथन है कि योगी जब ध्यान करने के लिये बैठे तब अपनी ग्रीवा मस्तक और वक्षःस्थल को सीधा रक्खे। ओष्ठ और नेत्र अधिक सटे हुये न हों। शिर कुछ ऊँचा हो। दाँतों से दाँतों का स्पर्श न हो[१४]। दाँतों के अग्रभाग में स्थित हुई जिह्वा को अविचल भाव से रखते हुये, एड़ियों से दोनों

---

१३. स्वस्तिकं पद्म मध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्।
पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा॥ शिव० ७, २, ३७, २०।

१४. ऋजुग्रीवशिरोवक्षा नातिश्लिष्टोष्ठलोचनः।
किंचिदुन्नमितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत्॥ वही, ७, २, ३८, ५६।

अण्डकोशों और प्रजननेन्द्रिय की रक्षापूर्वक दोनों जांघों के ऊपर बिना किसी यत्न के अपनी दोनों भुजाओं को रखे। पुनः दक्षिण हस्त के पृष्ठ भाग को वामहस्त की हथेली पर रखकर धीरे से पीठ को ऊंची करे और छाती को आगे की ओर से सुस्थिर रखते हुये नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाये। अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करें[१५]। प्राण का संचार रोक कर पाषाण के समान निश्चल हो जाय। पुनः अपने मानस-मन्दिर में सकल शिव का ध्यान करे।

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि योगी के उपर्युक्त यौगिक आसन का विवरण देते हुये शिव महापुराण में यह निर्देश नहीं किया गया है कि स्वस्तिक, पद्म आदि आसनों में यह कौन सा आसन है। विशिष्ट मुद्राओं के कारण इसे आसनों का सामान्य नियम नहीं कहा जा सकता।

४. प्राणायाम:—स्वदेहज वायु ही प्राण कहा गया है। इसका निरोधन ही आयाम है। अर्थात् प्राणायाम का अर्थ है श्वास का नियन्त्रण। इस क्रिया के तीन अंग होते हैं—(१) पूरक, (पूरा श्वास भीतर खींचना), (२ कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना) और (३) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। प्राणायाम करने में न तो शीघ्रता करनी चाहिये और न विलम्ब ही। योग-साधक को चाहिये कि वह क्रमयोग (क्रमशः) से उद्यत होकर इसका अभ्यास करे। और हितकर तो यह होगा कि इन क्रियाओं का ज्ञान सिद्ध गुरु से ही प्राप्त किया जाय। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है। इस बात को चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है। किन्तु योग इससे भी आगे बढ़कर प्राणायाम को चित्त की एकाग्रता के लिये निर्देश करता है, क्यों कि इसके द्वारा शरीर एवं मन में दृढ़ता आती है। जब तक श्वास की क्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वास वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन में भी स्थिरता आ जाती है अथवा निष्पन्दता आ जाती है। इस तरह प्राणायाम के अभ्यास से योगी बहुत देर तक अपना श्वास रोक सकता और समाधि की अवधि को बढ़ा सकता है।

प्राणायाम के द्विविध भेद

प्राणायाम द्विविध होता है—अगर्भ और सगर्भ। जप एवं ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम अगर्भ एवं जप तथा ध्यानपूर्वक किया गया प्राणायाम

---

१५. उन्नाम्य शनकैः पृष्ठमुरो विष्टम्य चाग्रतः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोयन्॥ शिव० ७, २, ३८, ५६।

सगर्भ कहा जाता है। अगर्भ की अपेक्षा सगर्भ प्राणायाम शतगुणा अधिक महत्त्वशाली बतलाया गया है। अतः योगी लोग सगर्भ प्राणायाम ही करते हैं[१६]। प्राण को वश में कर लेने पर देह के अन्य वायु भी जीत लिये जाते हैं।

शिवमहापुराण में योगविधि के गर्भ में प्राणायाम की विस्तृत महिमा गाई गई है और कहा गया है कि प्राणयाम की विधि से व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार शरीर का त्याग कर सकता है।

प्राणायाम के चार भेद

प्राणायाम के प्रसंग में कहा गया है कि रेचक आदि का अभ्यास न तो द्रुत ही होना चाहिये और न विलम्बित ही। योग के साधक को चाहिये कि वह क्रमशः इनका अभ्यास करे। यह अभ्यास वायु के स्वेच्छा उत्क्रमण (स्वाभाविक विनिर्गमन) पर्यन्त ही होना चाहिये। इस प्रकार यहाँ प्राणायाम के चार विभिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। इनके नाम हैं—कन्यक, मध्यम, उत्तम और पर। प्राणायाम का यह विभाग मात्रा एवं गुण के विभाग के आधार पर होता है। यहाँ पर इन चारों की मात्रा आदि के विषय में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा हैः—

१. कन्यक :—

कन्यक अथवा कनिष्ठ प्राणायाम द्वादश-मात्रक एवं एक उद्घात वाला होता है। यह प्रस्वेदजनक कहा गया है अर्थात् इसके अभ्यास के समय साधक के शरीर से प्रस्वेद प्रादुर्भूत होने लगता है।

२. मध्यम :-

मध्यम प्राणायाम में दो उद्घात होते हैं। यह चतुर्विंशतिमात्रक (चौबीस मात्रावाला) कहा गया है। इसके अभ्यास के समय साधक के शरीर में कम्प होने लगता है।

३. उत्तमः—

उत्तम प्राणायाम में तीन उद्घात होते हैं। यह षट्त्रिंशत् मात्रक (छत्तीस मात्रावाला) कहा गया है। अर्थात् षट्त्रिंशत् मात्रा के काल तक इसका अभ्यास होना चाहिये। इसी प्रकार कनिष्ठ एवं मध्यम का भी अभ्यास

---

१६. अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ।।
अगर्भाद्गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात् सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ।। शिव० ७, २, ३७, ३३-३४।

क्रमशः द्वादश एवं चतुर्विंशति मात्रा के काल तक कहा गया है। इसके अभ्यास के समय आनन्द, निद्रा, रोमांच एवं नेत्राश्रु-विमोचन होता है[१७]।

४. परप्राणायाम

'पर' प्राणायाम के समय योगी को जल्प, भ्रमण एवं मूर्च्छा आदि होता है। यह कितनी मात्रा और उद्घात का होता है इसके विषय में शिव महापुराण में कोई उल्लेख नहीं है। क्रम को देखते हुए यह अष्ट चत्वारिंशत् (४८) मात्रा का होगा। इसमें उद्घात भी चार होने चाहिये[१८]।

---

१७. कन्यकस्तु चतुर्द्वा स्यात् स च द्वादशमात्रकः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः ॥ शिव० ७, २, ३७, २८।
उत्तमस्तु त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्रकः परः। वही, ७, २, ३७, २९।

(क) तुलना कीजिये—कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ हठ,० २, श्लो० १२।

(ख) तुलना कीजिये—प्राणायामस्य मानं तु मात्रा द्वादशकं स्मृतम्।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥
प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्। लिंग०, हठ०, २, १२, की टीका से।

(ग) तुलना कीजिये—सकृदुद्घातः स वै द्वादशमात्रिकः।
मध्यमश्च द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः ॥
उत्तमश्च त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशत्तालमात्रिकः।
स्वेदकम्पाभिघातानां जननश्चोत्तमोत्तमः ॥ अग्नि०, ३७३, ११

(घ) तुलना—मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रालघ्वक्षरा मता।
मध्यमो द्विगुणः पूर्वादुत्तमस्त्रिगुणस्ततः।
स्वेदकंपविषादं च जनयेत् क्रमशस्त्वसौ। काशी०, ४१, ७६-७७।

१८. जल्पभ्रमणमूर्च्छाद्यं जायते योगिनः परम्। शिव० ७, २, ३७, ३०।

टिप्पणीः—अग्निपुराण, लिङ्गपुराण, हठयोग प्रदीपिका एवं गोरक्षनाथ (इनके मत का उल्लेख हठयोग-प्रदीपिका के उपदेश २, श्लोक १२ की टीका में हुआ है) आदि के मत से प्राणायाम के कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम ये तीन ही भेद हैं, किन्तु शिव महापुराण प्राणायाम के उक्त तीनों भेदों से पूर्ण सहमत होते हुये भी उनमें एक और 'पर' नामक भेद जोड़ता है; किन्तु इसकी मात्रा और उद्घात का इसमें उल्लेख नहीं हुआ है।

'क'-मात्रा

शिव महापुराण के अनुसार मात्रा का वही काल है जितनी देर में जानु की प्रदक्षिणा कर (जानु के चतुर्दिक् हाथ घुमा कर) अंगुलिस्फोटन (चुटकी बजाना) किया जाता है। इस क्रिया में न तो शीघ्रता करनी चाहिए और न विलम्ब ही[१९]।

(ख) उद्घातः—

जब उत्सर्पमाण (ऊपर उठने वाले) प्राण के द्वारा अपान वायु पीडित होकर ऊपर की ओर चढ़ता है और वहाँ से पुनः निर्वर्तित होता है तो वही

१९. जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रेति प्रकीर्तिता ॥ शिव० ७, २, ३७, ३१।

टिप्पणी:—अग्नि पुराण के अनुसार मात्रा तालमात्रिक, अर्थात् एक ताल बजाने के काल की होती है:—

श्लोकः—उत्तमश्च त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशत्तालमात्रिकः। ३७३, ११।
किन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार मात्रा का काल इससे भी बड़ा होता है, उनके अनुसार जो समय तीन बार अंगुष्ठाङ्गुलिमोक्ष (चुटकी बजाना), तीन बार जानुपरिमार्जन तथा तीन ताल बजाने में लगता है वही मात्रा है:—

श्लोकः—अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम्।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥ याज्ञ०।
स्कन्दपुराण में मात्रा के विषय में दो मत उल्लिखित किये गये हैं। प्रथम मत के अनुसार मात्रा एक श्वासमयी कही गई है—'एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते' (काशीखण्ड, ४१, ९०)। द्वितीय मत के अनुसार जानु की प्रदक्षिणा करके चुटकी बजाने (छोटिका) का जो काल है वही मात्रा कही गई है, किन्तु इस क्रिया में न तो शीघ्रता होनी चाहिये और न विलम्ब ही :—'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्। प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते। (हठयोगप्रदीपिका, २, श्लो० १२ की टीका से)। योगचिन्तामणि में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सुप्त पुरुष का श्वास जितने काल में जाता एवं आता है वही काल प्राणायाम की मात्रा कही गई है। (हठयोगप्रदीपिका के उक्त स्थल से)।
इस प्रकार मात्रा के विषय में शिवमहापुराण का ही वचन, बहुमत सम्मत होने के कारण, प्रमाणभूत जान पड़ता है। इस तरह छोटिकावच्छिन्न (चुटकी बजाने का) काल ही मात्रा का परिमाण है।

उद्घात कहा जाता है। यही उद्घात का लक्षण है[२०]।

प्रस्वेद आदि आभ्यन्तर के उपलक्षक

प्राणायाम के समय प्रादुर्भूत प्रस्वेद, कम्प एवं जल्प, मूर्च्छा आदि लक्षणों से योगी के अन्तःकरण के भाव परिलक्षित होते हैं।

अन्य वायु का विवरण

प्राणायाम के विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुये कहा गया है कि "प्राण" के जीत लिये जाने पर प्राण (अर्थात् प्राण के भेद एवं उपभेद, अपान, समान, उदान एवं व्यान नामक देह वायु) स्वयं जीत लिये जाते हैं[२१]। प्राण के अन्तर्गत ही नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय नामक पंचवायु, समाहित होते हैं और ये प्राण के विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं। प्रयाण (शीघ्र गति) करने के कारण ये प्राण कहे जाते हैं। जो कुछ आहारादिक खाया जाता है, उसे अवाङ् नयन (नीचे ले जाने) के कारण ही वायु को अपान वायु कहते हैं। व्यान उस वायु को कहते हैं जो सम्पूर्ण अंगों का व्याप्त एवं वर्धित करता है। मर्म स्थानों को उद्वेजित (To affect) करने वाले वायु को "उदान" एवं सम्पूर्ण अंगों में समान रूप से रक्त आदि का संचार करने वाले वायु को समान कहते हैं[२२]।

क्रमशः अभ्यास किया जाता हुआ यह प्राणायाम सम्पूर्ण दोषों को विनष्ट कर कर्ता (योगी) के शरीर की रक्षा करता है। जिसने प्राणों को सम्यक् रूप से विजित कर लिया है उसके शरीर में विष्ठा, मूत्र और श्लेष्मा का अल्पभाव

---

२०. प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥ हठयोग० २, श्लोक० १२ की टीका से।

२१. प्राणस्य विजयादेव जीयन्ते देहवायवः।
प्राणोऽपानः समानश्च ह्युदानो व्यान एव च ॥ शिव० ७, २, ३७, ३५।

२२. नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः।
प्रयाणं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणोऽभिधीयते ॥
अवाङ्नयत्यपानाख्यो यदाहारादि भुज्यते।
व्यानो व्यानशयत्यंगान्यशेषाणि विवर्धयन् ॥
उद्वेजयति मर्माणीत्युदानो वायुरीरितः।
समं नयति सर्वाङ्गं समानस्तेन गीयते ॥ शिव० ७, २, ३७, ३६-३८।

हो जाता है और उसके भोजन का सामर्थ्य बढ़ जाता है। उसका शरीर लघु हो जाता है उसमें शीघ्रगामिता एवं उत्साह आ जाता है। उसका स्वर सौष्ठव पूर्ण हो उठता है। उस योगी के सम्पूर्ण रोग विनष्ट हो जाते हैं। उसमें बल, तेज, सुरूपता, धृति, मेधा युवत्व, स्थिरता तथा प्रसन्नता आ जाती है। तपस्या, पापक्षीणता, यज्ञ, दान, व्रतादि ये सभी मिलकर भी प्राणायाम की षोडशी कला की तुलना भी नहीं कर सकते हैं।

५. प्रत्याहार :—

सांसारिक वस्तुओं में लगे हुये मन का प्रत्यावर्तन ही प्रत्याहार कहा गया है, अर्थात् प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को अपने अपने बाह्यविषयों से खींच कर हटाना और उन्हें मन के वश में रखना। जब इन्द्रियां पूर्णतः मन के वश में आजाती हैं तब वे अपने स्वाभाविक विषयों से हटकर मन की ओर लग जाती हैं। इस अवस्था में, आंख, कान के सामने सांसारिक विषयों के रहते हुये भी हम उन्हें देख सुन नहीं सकते। रूप, रस, गन्ध, शब्द या स्पर्श का कोई भी प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। यह अवस्था बहुत ही कठिन है, तथापि असंभव नहीं। एतदर्थ अत्यन्त दृढसंकल्प ओर घोर इन्द्रिय निग्रह की साधना आवश्यक है।

६. धारणा

संक्षेप में चित्त का स्थानबन्ध ही धारणा है। चित्त को स्थिरता पूर्वक लगाने के लिये एकमात्र परमात्म-शिव ही स्थान हैं, दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि शिवातिरिक्त सभी वस्तुयें दोषत्रयात्मक हैं। धारणा से मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है। अतः धारणा के अभ्यास से मन को धीर करना चाहिये। यही योग की असल कुञ्जी है। इसी को सिद्ध करने वाला समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है[२३]। धारणा की उचित अवस्था में मन एकक्षण के लिए भी अपने लक्ष्य शिव, से विचलित नहीं होता है।

७. ध्यान :—

'ध्यै' चिन्तायां, अर्थात् चिन्तार्थक 'ध्यै' धातु से ध्यान शब्द की निष्पत्ति हुई है। अतः अव्याक्षिप्त मन से शिव-विषयक, मुहुर्मुहुः चिन्ता का ही नाम ध्यान है। ध्येयमें अवस्थित चित्त का प्रत्ययान्तर रहित सदृश प्रत्यय (अपने को

---

२३. धारणा नाम चित्तस्य स्थानबन्धः समासतः। शिव०, ७, २, ३७, ४८।

तुलना—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, योगसूत्र।

शिव समान मानना) ही ध्यान कहा गया है [२४]। इस संसार में सब कुछ छोड़ कर देवाधिदेव शिव ही परम ध्येय (ध्यान करने योग्य) कहे गये हैं।

ध्यान के द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है, तदनन्तर अविराम ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन हो जाता है। इस तरह योगी के मन में ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का प्रयोजन, इन चारों बातों को जानकर ही योग वेत्ता को योगाभ्यास करना चाहिये। ध्यान करने वाले पुरुष को ज्ञानवैराग्यसंपन्न, श्रद्धालु, क्षमावान्, निर्मम एवं सदा उत्साही होना चाहिये। जप से श्रान्त होने पर ध्यान करना चाहिये और ध्यान से श्रान्त होने पर पुनः जप करना चाहिये। इस प्रकार जप एवं ध्यान में लीन रहने वाले व्यक्ति को शीघ्र ही योग की सिद्धि होती है।

परमात्म-शिव का तत्तत्स्थानों में आसन एवं ध्यान

साधक को नासाग्र, नाभि, कण्ठ, तालुरन्ध्र, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्द्धा आदि स्थानों में कमलासन पर विराजमान शिव एवं शक्ति की कल्पना कर उनका ध्यान करना चाहिये। उनका परमासन सावरण तथा निरावरण भी होता है। परमात्म-शिव का यह कमलासन द्विदल, षोडशार, द्वादशार, दशार, षडस्र अथवा चतुरस्र होना चाहिये। भ्रू (भौंह) के मध्य का कमलासन द्विदल एवं विद्युत की भाँति उज्ज्वल होना चाहिये। इसी प्रकार से अन्य, विभिन्न रूप से पत्रसंख्या वाले, कई कमलासनों की कल्पना की गई है यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इन कमलों के पर्ण मूल से लेकर अवसान तक वर्ण (ककारादि अक्षर) से अंकित होने चाहिये, अर्थात् ये अक्षर ही उन कमलों के पर्ण रूप में कल्पित होने चाहिये। किसी कमलासन पर ककरादि टकारान्त वर्ण होने चाहिये तो किसी पर डादि फान्त वर्णों का उल्लेख कल्पित होना चाहिये। इसी प्रकार बहुत सी विधियाँ वहाँ लिखी हैं।

---

२४. अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते ।
ध्येयावस्थितचित्तस्य सदृशः प्रत्ययश्च यः ।। शिव० ७, २, ३७, ५२।
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तप्रवाहो ध्यानमुच्यते ।
सर्वमन्यत् परित्यज्य शिव एव शिवङ्करः ।। वही, ७, २, ३७, ५३।
तुलना कीजिये–'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' ।। योगसूत्र ।

षट्चक्र

कैलाससंहिता के अनुसार ऊपर निर्दिष्ट कमलासनों की संख्या छह है। इन्हीं को षट्चक्र भी कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूरक, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध और (६) आज्ञा-चक्र[२५]। ये षट्चक्र विद्युत् कोटि के समान प्रकाशनमान, सर्वतेजोमय एवं उत्कृष्ट बतलाये गये हैं। इन्हीं के बीच सच्चिदानन्दविग्रह, परमात्म-शिव का ध्यान करना चाहिये।

यहाँ इन षट्चक्रों का विवरण, जो कि शिव महापुराण में सूत्र रूप से निर्दिष्ट है, ग्रन्थान्तर की सहायता से किञ्चिद् विस्तार के साथ दिया जा रहा है। इससे शिवमहापुराण के अभिप्राय को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

(१) मूलाधार

सुषुम्णा नाडी के मुखभाग से संलग्न, लिंगमूल के नीचे, गुदा के ऊपर, मूलाधार पद्म की स्थिति होती है। इस कमल के सुवर्णाभ, चार, व, श, ष, स, वर्णरूप पत्र बतलाये गये हैं[२६]। वर्णों की स्थिति दक्षिणावर्त रूप से कल्पित की गई है[२७]। यहाँ पर शिशुरूप चतुर्भुज ब्रह्मा के ध्यान का विधान किया गया है[२८]। इस चक्र में स्वयम्भु नामक शिवलिंग की स्थिति बतलाई गई है। यहाँ डाकिनी नामक शक्ति पंकजाधिप के रूप में निर्दिष्ट है। अन्य चक्रों के मूलाधार होने के कारण इसे मूलाधार चक्र कहते हैं।

(२) स्वाधिष्ठान

इस पद्मासन की कल्पना लिङ्गमूल स्थान में की गई है। यह सिन्दूर-वर्णाभ बतलाया गया है। इसकी स्थिति सुषुम्णा नाडी के मध्य में है। इसके

---

२५. मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्चक्रं परिचिन्तयेत् ।
विद्युत्कोटिसमप्रख्यं सर्वतेजोमयं परम् ॥ शिव० ६, ४, ७ ।
तन्मध्ये चिन्तयेन्मां च सच्चिदानन्दविग्रहम् । वही, ६, ४, ८ ।

२६. आधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम् ।
अधोवक्त्रमुद्यत् सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥ षट्चक्र० ।

तुलना कीजिये—मूलाधारारविन्दस्य हेमाभस्य यथाक्रमम् ।
वकारादिसकारान्ता वर्णाः पर्णमयाः स्थिताः ॥ वही, ७, २, ३८, ६९ ।

२७. सर्ववर्णात्मकं पत्रं पद्मानां परिकीर्तितम् ।
दक्षिणावर्तयोगेन लिखितं चिन्तयेद्धिया ॥ षट्चक्र०, श्लो० ४ की टीका में उद्धृत "विश्वासतन्त्र" का वचन ।

तुलना—पूर्वादीनि क्रमात् ………॥ शिव० ७, २, ३८, ६६ ।

२८. सदा शिवान्ता ब्रह्माद्या ………॥ वही, ७, ३८ ७४ ।

बिजली की भाँति चमकीले षट्-ब, भ, म, य, र, ल-वर्ण पत्र के रूप में कल्पित हैं। यहाँ पर युवा विष्णु के ध्यान का विधान किया गया है। इस कमल की शक्ति का नाम है "राकिणी"[२९]।

(३) मणिपूरक :-

स्वाधिष्ठान के ऊपर, नाभि के मूल में, मणिपूरक-कमलासन की स्थिति बतलाई गई है। इसका वर्ण मेघ की कान्तिवाला है अर्थात् मेघ की भांति यह श्याम वर्ण का है। इसमें दश—ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—वर्ण रूप-पत्रों की कल्पना की गई है। इसमें वृषारूढ, रक्तवर्ण, द्विभुज, भस्मलेपन एवं शुक्लाभरण से धवलशरीर वाले, वृद्ध, रुद्र का ध्यान करना चाहिये। यहाँ की शक्ति का नाम 'लाकिनी' है[३०]।

(४) अनाहत

इसे हृदय-कमल भी कहते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति हृदय में बतलाई गई है। यहाँ पर अनाहतशब्द (शुद्ध ब्रह्ममय) का साक्षात्कार होता है, अतः इसे अनाहत कहते हैं[३१]। हृत्पद्म बन्धूक पुष्प के वर्ण का बतलाया गया है। इसके द्वादशवर्ण—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ—पत्र के रूप में कल्पित हैं। इस पद्म में हंसाभ, द्विभुज, त्रिनेत्र, ईश का ध्यान करना चाहिए। इसकी शक्ति का नाम है 'काकिनी'।

---

२९. सिन्दूरपूररुचिरारुणपद्ममन्यत् सौषुम्णमध्यघटितं ध्वजमूलदेशे।
अङ्गच्छदैः परिवृतं तडिदाभवर्णैर्बाद्यैः सबिन्दुलसितैश्च पुरन्दरान्तैः॥
षट्चक्र० १४।

तुलना—दशारे वा षडस्रे वा चतुरस्रे शिवं स्मरेत्। शिव० ७, २, ३८, ६४।

३०. तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे नीलाम्भोजप्रकाशैरुपहितजठरे डादिफान्तैः सचन्द्रैः॥ षट्चक्र० १९॥
ध्यायेन्मेषाधिरूढं नवतपननिभं वेदबाहूज्वलांगं तत्क्रोडे रुद्रमूर्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दूररागः। षट्चक्र० २०॥

तुलना—दशारे वा षडस्रे वा चतुरस्रे शिवं स्मरेत्। शिव० ७, २, ३८, ६४।
गोक्षीरधवलस्योक्ता डादिफान्ता यथाक्रमम्। वही, ७. २, ३८, ६८।

टिप्पणी—इससे प्रतीत होता है कि पुराणकार को मणिपूरक पद्म का रंग धवल अभीष्ट है।

३१. षट्चक्र०, श्लो० २२ से २७ तक।

तुलना—ककारादिठकारान्ता वर्णाः पर्णान्यनुक्रमात्।
भानुवर्णस्य पद्मस्य ध्येयं तद्धृदयान्तरे॥ शिव० ७, २, ३८, ६७।

(५) विशुद्ध चक्र

विशुद्ध चक्र की स्थिति कण्ठदेश में बतलाई गई है। जीव की विशुद्धि का विस्तार करने के कारण ही इसे विशुद्ध चक्र कहा गया है। विशुद्ध पंकज का वर्ण धूम्र बतलाया गया है। सम्पूर्ण अकारादि विसर्गान्त षोडश स्वर इसके पत्र कहे गये हैं। यहां अर्द्धनारीश्वर, हिमाभ, शुक्लवर्ण, त्रिनेत्र, पंचमुख, दशभुज, व्याघ्रचर्म से आच्छन्न, परमात्म-शिव का ध्यान विहित है। इसकी शक्ति का नाम 'शाकिनी' है[३२]।

(६) आज्ञाचक्र

इस चक्र की स्थिति दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में बतलाई गई है। यहीं से भ्रुकुटियों को प्रेरणा प्राप्त होती है, अतः इसे आज्ञा चक्र कहते हैं[३३]। इस कमल का वर्ण चन्द्रमा की भांति शुक्ल बतलाया गया है। इसके विद्युत् के समान वर्ण वाले दो वर्ण—ह, क्ष—पर्ण के रूप में कल्पित किये गये हैं। इसमें परमात्म-शिव (सशक्तिक शिव) निवास करते हैं, अतः उनका ध्यान करना चाहिये। यहीं पर परमात्म-शिव से नीचे सूक्ष्मरूप मन और इसके भी नीचे विद्युदाकार, प्रणवाकृति, प्रदीपाभज्योति, अपने तेज से मूलादि ब्रह्मरन्ध्र तक का प्रकाशक अन्तरात्मा रहता है। चक्राधिप शक्ति का नाम है 'हाकिनी'[३४]।

उपर्युक्त कमलासनों में जहाँ भी मन अभिरत हो जाय वहीं पर बुद्धि को शान्त करके देव एवं देवी का अर्थात् सशक्तिक शिव का ध्यान करना चाहिये[३५]।

ध्यान का क्रम

योग मार्ग पर आगे की ओर बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि ध्यान-कर्ता शिवशास्त्र में विनिश्चित विभिन्न प्रकार की स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं

---

३२. षट्चक्र० ३२ से ३८ तक।

तुलना—षोडशारस्य पत्राणि स्वराः षोडश तानि वै।
पूर्वादीनि क्रमादेतत् पद्मं कन्दस्य मूलतः ।। शिव० ७, २, ३८, ६६ ।।

३३. आज्ञासंक्रमणं तत्र भ्रुवो राज्ञेति कीर्तितम्। षट्चक्र०, श्लो० ३२ की टीका से।

३४ षट्चक्र० श्लोक, ३२ से ३८ तक।

तुलना—भ्रुवोरन्तरतः पद्मं द्विदलं तडिदुज्ज्वलम्।
भ्रूमध्यस्थारविन्दस्य क्रमाद्वै दक्षिणोत्तरे।
विद्युत्समानवर्णे च पर्णे वर्णावसानके ।। शिव० ७, २, ३८, ६५।

३५. एतेष्वरविन्देषु यत्रैवाभिरतं मनः।
तत्रैव देवं देवीं च चिन्तयेद्धीरया धिया ।। वही, ७, २, ३८, ७६।

सूक्ष्मतम शिव की मूर्तियों का पहले ध्यान करे। ध्यान का यह क्रम उत्तरोत्तर सूक्ष्मावस्था की ओर बढ़ता है। ये मूर्तियां चारों ओर से दीप्यमान, शुद्धदीप-शिखाकार, अपनी शक्ति से पूर्णमण्डित, अंगुष्ठमात्र, अथवा इन्दुरेखा-समाकार अथवा तारारूप अथवा नीवार शूकशदृश (तिन्नी धान की नोक की तरह), विससूत्राभ (कमल-दण्ड के सूत की तरह आभावाला) अथवा कदम्ब-गोलकाकार अथवा तुषारकणिकासदृश होनी चाहिये। ब्रह्मादि सदाशिवान्त, जैसा कि तत्तत् चक्रनिरूपण के प्रसङ्ग में बतलाया गया है, अथवा भव आदि शिव की अष्ट-मूर्तियां भी पहले ध्यान का विषय हो सकती हैं, क्योंकि ये भी परमात्म-शिव की स्थूल-मूर्तियां ही कही गई हैं। मन की स्थिरता के लिये, कुछ लोग स्थूल ध्यान करते हैं। जब मन स्थूल वस्तु पर निश्चल हो जाता है तब वह सूक्ष्म पर स्थिर होता है। अतः साधक को सर्वप्रथम स्थूल लक्ष्य पर ही मनको लगाना चाहिये।

सविषय एवं निर्विषय ध्यान

इस प्रकार आदि में ध्यान सविषय (With an object) होना चाहिए। सविषय ध्यान में प्रवीण होने पर निर्विषय (Objectless) ध्यान का अवलम्बन करना चाहिए[३६]। किन्तु शिव महापुराण का कहना है कि विद्वान् पुरुषों का मत तो यही है कि "निर्विषय ध्यान" होता ही नहीं[३७]। ध्यान के विषय में कहा गया है कि बुद्धि की कोई सन्तति (Stretching out) ही है, जिसे ध्यान कहा जाता है[३८]। अतः निर्विषयक ध्यान में केवल बुद्धि ही प्रवर्तित (प्रवाहित) होती है[३९]।

परमार्थतः जिसे निर्विषय ध्यान कहा जाता है वह सूक्ष्माश्रय ध्यान ही है न कि निर्विषय। अथवा परमात्म-शिव के किसी विशेष रूप का आश्रयण कर किया गया ध्यान सविषय एवं निराकारात्मसंवित्ति (Extension of the knowledge of self) ही निर्विषय ध्यान कहा गया है। यही सविषय एवं निर्विषय ध्यान क्रमशः सबीज एवं निर्बीज ध्यान भी कहा गया है।

ध्यान का महत्त्व

प्राणायाम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति एवं प्रसाद तथा शम की उपलब्धि होती है। ध्यान एवं प्राणायाम के परिणामस्वरूप मन एकदम निर्मल हो जाता है

---

३६. ध्यानमादौ सविषयं ततो निर्विषयं जगुः ॥ शिव० ७, २, ३६, ४।

३७. तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्। वही, ७, २, ३६, ५।

३८. बुद्धेर्हि सन्ततिः काचिद्ध्यानमित्यभिधीयते ॥ वही, ७, २, ३६, ५।

३९. तेन निर्विषया बुद्धिः केवलेह प्रवर्तते। वही, ७, २, ३६, ६।

और शिव सम्बन्धी विचार मुहुर्मुहुः इसमें तरंगित होने लगते हैं। जैसा पहले भी कहा गया है कि 'ध्यान' अन्य कुछ न होकर केवल बुद्धिप्रवाह रूप ही है। उक्त ध्यान के एकमात्र अवलम्बन ध्येय, स्वयं शम्भु शिव ही, विद्वानों के द्वारा कहे गये हैं[४०]। ध्यान के द्वारा प्रसन्नता और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं। अतः कल्याणार्थी को अवश्य ही ध्यान के अवलम्बन का प्रयत्न करना चाहिये। इस संसार में ध्यान से अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरी वस्तु नहीं है। ध्यान करने वाले साधक परमात्म-शिव को बहुत अधिक प्रिय हैं अपेक्षा उनके जो कि केवल धार्मिक कृत्य का ही संपादन करते हैं अर्थात् अन्य धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा-ध्यान बहुत श्रेष्ठ है। अतः शिव महापुराण का मत है कि निःश्रेयस्-सिद्धि के लिये प्राणी अवश्य ध्यान करे[४१]।

८. समाधि

योग साधन की अन्तिम सीढ़ी है समाधि। समाधि से सर्वत्र प्रज्ञालोक (Intuitive wisdom) प्रवर्तित होता है[४२]। समाधि में अर्थमात्र (ध्येय-मात्र) का अभास होता है। उस समय अपने स्वरूप का बिलकुल ही भान नहीं होता तथा योगी की स्थिति एकदम स्तिमित उदधि के समान होती है[४३]। समाधिस्थ योगी न कुछ सुनता है, न किसी वस्तु का आघ्राण करता है। वह न तो बोलता और न देखता ही है। उसे किसी भी स्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता और न तो उसका मन संकल्प एवं विकल्प ही करता है। वह अभिमान भी नहीं करता। उसकी स्थिति पूर्णरूप से काष्ठवत् होती है। इस प्रकार से परमात्म-शिव में आत्मा का विलीनीकरण ही समाधिस्थ होना है[४४]।

जिस प्रकार निर्वात् स्थान में स्थापित दीपक कभी भी स्पन्दित नहीं होता उसी प्रकार समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी उससे विचलित नहीं होता। इस प्रकार से उत्तम योग का अभ्यास करने वाले योगी के सम्पूर्ण विघ्न शनैः-शनैः विनष्ट हो जाते हैं।

---

४०. बुद्धिप्रवाहरूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम्।
ध्येयमित्युच्यते सद्भिस्तच्च शम्भुः स्वयं शिवः। शिव०, ७, २, ३९, १९।

४१. नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः।
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद्ध्यानं समाचरेत्॥ वही, ७, २, ३९, २८।

४२. समाधिर्नाम योगांगमन्तिमं परिकीर्तितम्।
समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोकः प्रवर्तते॥ वही, ७, २, ३७, ६१।

४३. यदर्थमात्रनिर्भासं स्तिमितोदधिवत् स्थितम्।
स्वरूपशून्यवद्भानं समाधिरभिधीयते॥ वही, ७, २, ३७, ६२।

४४. एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते॥ वही, ७, २, ३७, ६५,।

योगगत विघ्नों पर विजय आवश्यक है

यहाँ यह भी ध्यान देना है कि जब योगी योग का अभ्यास प्रारंभ करता है तब उसके मार्ग में बहुत से विघ्न उत्पन्न होकर उसे मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको विना वश में किये उद्देश्य-सिद्धि असम्भव है। अतः उनपर विजय प्राप्त करना योगी के लिये अनिवार्य है।

सामान्य विघ्न

योग में उत्पन्न होने वाले कुछ विघ्न ये हैं :– आलस्य, तीव्र व्याधियां, प्रमाद स्थानसंशय (ध्येयसन्देह), अनवस्थितचित्तत्व, अश्रद्धा, भ्रान्ति–दर्शन, दुःख, दौर्मनस्य, विषयों की ओर आकर्षण। ये दश योगाभ्यासी के लिए अन्तराय कहे गये हैं। आलस्य दैहिक एवं चित्तसम्बन्धी द्विविध होता है। दोष (सम्भवतः आलस्य) धातु–वात, पित्त, कफ–के वैषम्य से उत्पन्न होता है और व्याधियां कर्मदोष से उत्पन्न होती हैं[४५]।

योग साधना के उपायों का उपयोग न करना ही प्रमाद है। ध्येय के विषय में संशय होना ही स्थानसंशय कहा गया है। मन की अप्रतिष्ठा अनवस्थिति कही गई है। योगमार्ग में, भावरहित वृत्ति ही अश्रद्धा कही गई है। विपर्यस्त मति का ही नाम भ्रान्ति है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला, चित्त सम्बन्धी दुःख, आध्यात्मिक दुःख कहा गया है। पुराकृत कर्मों के परिणाम-स्वरूप शारीरिक दुःख ही आधिभौतिक दुःख कहा गया है। वज्र, अग्नि एवं विषादि से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिदैविक दुःख कहा गया है[४६]।

इच्छा के विघात से उत्पन्न होने वाला क्षोभ ही दौर्मनस्य कहा गया है। विचित्र विषयों में विभ्रम होना ही लोलता है।

सिद्धि-सूचक विघ्न

इन विघ्नों के शान्त होने पर योगासक्त योगी के मार्ग में सिद्धिसूचक दिव्य उपसर्ग प्रवर्तित होते हैं अर्थात् सिद्धिसूचक अन्य विघ्न उपस्थित होते हैं[४७]। ये विघ्न निम्न हैं : –प्रतिभा, श्रवण, वार्ता, दर्शन, आस्वाद, वेदना। ये षड् (छः) उपसर्ग योग के व्यय के लिये हुआ करते हैं।

१ प्रतिभा :—सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, विप्रकृष्ट, अनागत वस्तुओं का यथातथ प्रतिभास (ठीक-ठीक प्रतीति) ही प्रतिभा कही जाती है। एक स्थान

---

४५. धातुवैषम्यजा दोषा व्याधयः कर्मदोषजाः ।। शिव०, ७, २, ३८, ३।

४६. वही, ७, २, ३८, ७ ।।

४७. शान्तेष्वेतेषु विघ्नेषु योगासक्तस्य योगिनः।
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दिव्यास्ते सिद्धिसूचकाः ।। वही, ७, २, ३८, ९।

पर बैठा योगी अपनी प्रतिभा के बल पर संसार के किसी भी स्थान पर वर्तमान किसी भी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

२. श्रवण :- श्रवण के द्वारा बिना प्रयत्न के ही सम्पूर्ण शब्दों का श्रवण होता है।

३. वार्ता :—वार्ता के माध्यम से संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के विषय की बातें ज्ञात होती हैं।

४. दर्शन :—दर्शन के द्वारा प्रयत्न के बिना ही दिव्य वस्तुओं का दर्शन होता है।

५. आस्वाद :—आस्वाद के द्वारा, विना प्रयत्न के ही, दिव्य रसों का आस्वाद होता है।

६. वेदना :—संसार के सम्पूर्ण दिव्य गन्ध एवं दिव्य वस्तुओं के स्पर्श का ज्ञान वेदना के द्वारा होता है।

इस प्रकार योगी सम्पूर्ण आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त करता है, एवं अपनी इच्छानुसार संसार के सभी पदार्थों पर पूर्ण अधिकार रखता है[४८]।

इस तरह शिव महापुराण में योगियों की बहुत सी दिव्य सिद्धियां वर्णित हैं। उनका वर्णन अत्यधिक विस्तृत एवं अनावश्यक होने के कारण यहां नहीं किया जा रहा है। ये सिद्धियां, जिन्हें शिव महापुराण में उपसर्ग की संज्ञा दी गई है, योगी को योग से, महायोग से, जिसे शिवतादात्म्य कहते हैं, की ओर बढ़ने में बाधक होती हैं। इनके प्रलोभन में पड़कर साधक अपने चरम लक्ष्य से वंचित रह जाता है। यही कारण है कि योगदर्शन (पुराणवर्णित एवं पातंजल योगदर्शन) का कड़ा आदेश है कि साधक इन सिद्धियों के लोभ में कभी भी न पड़े। जो इन सिद्धियों को तृण के समान समझ कर इनका परित्याग कर देता है, उसे ही परायोगसिद्धि की प्राप्ति होती है[४९]। योग का लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति है। साधक को अलौकिक ऐश्वर्यों की चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिये, नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। साधक को चाहिये कि वह सिद्धियों के फेर में न पड़कर आगे बढ़ता जाय और अन्तिम लक्ष्य (पूर्ण मुक्ति) तक पहुँच जाय।

---

४८. पातंजल योगदर्शन में—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, यत्रकामावसायित्व—ये अष्ट सिद्धियां योगविघ्नकारिणी बतलाई गई हैं।

४९. तस्माद् गुणांश्च भोगांश्च देवासुरमहीभृताम्।
तृणवदद्यस्त्यजेत्तस्य योगसिद्धिः परा भवेत्॥ शिव० ७, २, ३८, ४४।

योग का अधिकारी

जिस व्यक्ति का मन दृष्ट एवं आनुश्रविक (वेदवर्णित) पदार्थों अथवा उपायों से विरक्त हो जाता है उसी का योग में अधिकार होता है, अन्य किसी का नहीं[५०]।

पातंजल योग से उक्त योग की तुलना

शिव महापुराण में वर्णित योगांगों एवं पातंजल योगसूत्र में वर्णित योगांगों की विधियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। शिव महापुराण योग की अधिकांश बातों के लिए पातंजल योगसूत्र का ऋणी है। इस बात की सूचना स्वयं शिवमहापुराण में ही उपलब्ध है। अन्य तात्त्विक समता के अतिरिक्त पातंजल योगसूत्र का स्पष्ट शब्दों में वहां निर्देश भी किया गया है[५१]।

किन्तु कहीं-कहीं शिवमहापुराण पातंजल योगसूत्र से एक भिन्न दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ शिव महापुराण में बतलाया गया है कि "पर" प्राणायाम के समय साधक को जल्प, भ्रमण एवं मूर्छा आदि होता है। इसी तरह कई शारीरिक विकार भी वहाँ बतलाये गये हैं। किन्तु पातंजल योगसूत्र में ऐसी बातें घटित नहीं होतीं और न इनका वहाँ वर्णन ही है।

शिव महापुराण और पातंजल योगसूत्र में दूसरा वैभिन्न्य वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर शिव महापुराण में कहा गया है कि योगी (साधक) जब योग की मुद्रा में बैठे तो वह अपनी दृष्टि को नासिकाग्र पर एकत्रित (Fixed) करे और इतस्ततः दिशाओं की ओर अपनी दृष्टि न ले जाय। पातंजलयोगसूत्र में योग की इस मुद्रा का वर्णन नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक उल्लेख्य अन्तर यह है कि पतंजलि का योगसूत्र, सर्वप्रथम, मन को स्थूल जागतिक पदार्थों पर केन्द्रित होने को कह कर, पुनः तन्मात्राओं, इन्द्रियों एवं अहङ्कार पर, क्रमशः बढ़ने (केन्द्रित होने) की सम्मति देता है तब शिव महापुराण के शैवयोग का योगी शिवस्वभाव का ही

---

५०. दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः।
यस्य तस्याधिकारोऽस्ति योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥ शिव० ७, २, ३७, १२।

५१. योगशास्त्रेष्वपि तथा पुराणेष्वपि केषु च। वही, ७, २, ३७, १८।
स्वेच्छोत्क्रमणपर्यन्तः प्रोक्तो योगानुशासने ॥ वही, ७, २, ३७, २६।

ध्यान करता है[५२]। योगशास्त्र में भी यह कहा गया है कि कोई योगी, इस क्रम से न बढ़कर, ईश्वर का ही ध्यान कर सकता है। और इस ईश्वर के ध्यान से ही कोई योगी मोक्ष लाभ कर सकता है। योगशास्त्र के अनुसार योगी का ध्यानाभ्यास द्विधा होता है। प्रथम तो यह कि वह सीधे ईश्वर का ध्यान कर सकता है और दूसरी पद्धति यह है कि योगी ध्यान की क्रमिक सीढ़ियों (श्रेणियों) से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम की ओर बढ़ता हुआ अन्त में अपने को पूर्णरूप से प्रकृति में विलीन कर देता है जिससे कि पुनः इस संसार में उसका आगमन न हो। मन के उक्त क्रमिक विकसित होते हुए ध्यान का परिणाम यह होता है कि मन पर पड़े सांसारिक प्रभाव शनैः शनैः समाप्त हो जाते हैं। इससे ईश्वर साक्षात्कार करने में सारल्य होता है।

विषय को समाप्त करते हुये यहाँ यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि शिव महापुराण की पूर्ववायवीय संहिता के ३२ वें अध्याय के ४५ वें श्लोक से ५६ श्लोक तक एक निश्चित एवं अस्पष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण का वर्णन प्रस्तुत किया गया है (जो योग की एक पद्धति ज्ञात होती है) जिसके अनुसार आचरण करने से प्राणी पाशुपतज्ञान को प्राप्त कर मुक्तिलाभ करता है अर्थात् शिव के स्वाभाविक अमरत्व को प्राप्त करता है।

नादानुसन्धान

उमासंहिता के षड्विंशति अध्याय में कालवंचन (कालविजय) के प्रसंग से नादानुसन्धान का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया गया है। यतः नादानुसन्धान-प्रक्रिया योग का एक अंग है, अतः यहाँ उसका वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

योग के जानकार मनुष्य को चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्रजा के सो जाने पर दीपकरहित अतः अन्धकाराच्छन्न, स्थान में, सुन्दर आसन पर आसीन हो, श्वास रोककर योग का अभ्यास करे[५३]। इस प्रसंग में योगी को चाहिये

---

५२. (क) समाधिपाद के सप्तदश सूत्र की व्याख्या।

(ख) चट्टोपाध्याय एवं दत्तकृत "भारतीयदर्शन" में 'योगदर्शन" (पृ० १९७), पुस्तक भण्डार पटना से प्रकाशित २ य संस्करण।

(ग) दासगुप्ताकृत—"भारतीयदर्शन का इतिहास" पंचम भाग।

श्लोक—(च) शिवस्वभाव एवैकश्चिन्त्यते निरुपाधिकः।
यथा शैवमनावृत्तिर्महायोग इहोच्यते ॥ शिव० ७, २, ३७, ११।

५३. (क) सुखासेन सुशय्यायां योगं युञ्जीत योगवित्।
दीपं विनान्धकारे तु प्रजाः सुप्तेषु धारयेत् ॥ वही, ५, २६, २४।

(ख) हठयोग० में मुक्तासन (सिद्धासन) से स्थित होने की बात कही गई है। देखिये—हठयोग० उपदेश ४, श्लोक ६७।

कि वह सर्वप्रथम एक मुहूर्त तक, तर्जनी नामक अंगुली से अपने कानों को खूब ढक कर रक्खे। ऐसा करने से वह्नि समुद्भव शब्द सुनाई पड़ता है[५४]। शास्त्रकारों के अनुसार यह अनाहत ध्वनि सुषुम्णा नाडी में सुनी जाती है। कहीं-कहीं तो अंगुष्ठ से कर्ण का, तर्जनी से नेत्र का, अन्य अवशिष्ट अंगुलियों से नासापुट एवं मुख के भी आच्छादन की बात कही गई है[५५]।

जो साधक नित्य इसी प्रकार दो घड़ी तक उक्त शब्द को सुनता है वह इच्छा और मृत्यु को जीतकर जगत् में मुक्त पर्यटन करता है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करता है।

उक्त वह्नि समुद्भव शब्द, वर्षाकालीन जल से परिपूर्ण, आकाश में विचरण करने वाले, मेघ के निनाद की भाँति बतलाया गया है। इस ध्वनि को सुनकर योगी शीघ्र ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है। जैसे जैसे योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे यह ध्वनि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होकर, उसके द्वारा, सुनी जाती है[५६]। यह ध्वनि ही शब्दब्रह्म कही जाती है। इसके जान लेने पर प्राणी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है[५७]।

प्राणज्ञ मनीषियों के द्वारा उक्त वह्नि-समुद्भव शब्द नव प्रकार का कहा गया है, अर्थात् वह नव प्रकार से सुना जाता है। सर्वप्रथम वह शब्द घोष की भांति सुनाई पड़ता है। यह नाद आत्मशुद्धिकारक, सम्पूर्ण व्याधियों का हरण करने वाला, साधक को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला कहा गया है। इसके बाद क्रमशः वह शब्द कांस्य, शृङ्ग, घण्टा, वीणा, वांशिक, दुन्दुभि, शंख, एवं मेघ की ध्वनि की भांति सुनाई पड़ता है[५८]।

किन्तु शिवमहापुराण का कहना है कि साधक को चाहिये कि वह इन नवविध शब्दों का परित्याग कर इनसे भी श्रेष्ठ एवं उदर्ध्वास्थित "तुङ्कार"

---

५४. यथा नदति खेऽब्दो हि प्रावृडद्भिः सुसंयतः ।। शिव० ५, २६, २८।

५५. हठयोग० उपदेश ४, श्लोक ६८।

५६. ततः स योगिभिर्नित्यं सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो भवेत्। शिव० ५, २६, २९।

तुलना कीजिये—श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमानो श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ।। हठयोग० उ० ४, श्लो० ८४।

५७. एष ते कथितो देवि शब्दब्रह्मविधिक्रमः। शिव० ५, २६, ३०।

५८. घोषं १ कांस्यं २ तथा शृगं ३ घण्टां ४ वीणा ५ दिवंशजान् ६।
दुन्दुभि ७ शंख ८ शब्दं तु नवमं मेघगर्जितम् ।। वही, ५, २६, ४०।

तुलना कीजिये—आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ।। हठयोग०, उ० ४, श्लोक ८५।
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ।। वही, ४, ८६।

नाद का अभ्यास करे। जो साधक अनन्य मन से नित्य ही ब्रह्मरूप "तुङ्कार" का अभ्यास करता है उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है[५९]।

शास्त्रान्तर से ज्ञात होता है कि जब साधक अपने हाथों से कानों को ढककर, श्वास का अवरोधन कर, अनाहत ध्वनि को सुनने का अभ्यास करता है, तब जैसे-जैसे प्राणवायु क्रमशः ऊपर की ओर स्थित ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि (यह कण्ठ में वर्तमान है), भ्रूमध्याकाश, रुद्रग्रन्थि (यह ग्रन्थि) आज्ञाचक्र में वर्तमान है) आदि स्थानों का भेदन कर ऊपर की ओर उठता है वैसे-वैसे सूक्ष्म-सूक्ष्म ध्वनियों का श्रवण होता है। सर्वप्रथम यह ध्वनि स्थूल रूप से सुनाई पड़ती है किन्तु साधक का जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसे सूक्ष्मध्वनि का श्रवण होने लगता है[६०]। एक एक ध्वनि के श्रवण से साधक योगी को एक एक सिद्धियां प्राप्त होती चलती हैं। जैसे दुन्दुभिशब्द के ध्यान से साधक जरा मृत्यु को जीत लेता है। शंखशब्द से वह कामरूप हो जाता है, आदि-आदि[६१]। किन्तु 'तुङ्कार' के अभ्यास से साधक सब कुछ कर सकता है। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, कामरूपी हो जाता है। उसे कभी किसी प्रकार का विकार नहीं होता और वह अन्त में साक्षात् शिव ही हो जाता है[६२]।

यह अनाहत ध्वनि ही शब्द ब्रह्म एवं परमतत्व के नाम से भी जानी जाती है। यही परम ब्रह्म भी है। व्यक्ति इस परमतत्त्व को जान लेने के अनन्तर जन्म एवं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यदि कोई सैकड़ों वर्ष का वृद्ध भी निद्रा एवं आलस्य रूप महाविघ्न को प्रयत्नपूर्वक जीतकर नित्य ही सुखासन पर स्थित हो शब्दब्रह्म का आयुपर्यन्त अभ्यास करता है तो वह भी रोगरहित, वीर्यशाली एवं मृत्युंजय होता है। जब वृद्धों के ऊपर अनाहत शब्द के अभ्यास का यह परिणाम है तो तरुणजनों के विषय में क्या कहना।

---

५९. नव शब्दान् परित्यज्य तुङ्कारं तु समभ्यसेत्। शिव० ५, २६, ४१।
यश्चैकमनसा नित्यं तुङ्कारं ब्रह्मरूपिणम्॥ वही, ५, २६, ५२

६०. देखिये—हठयोग० उप० ४, श्लो० ७०–७६।

६१. शिव० ५, २६, ४४–५३।

६२. यश्चैकमनसा नित्यं तुङ्कारं ब्रह्मरूपिणम्।
किमसाध्यं न तस्यास्ति यथामति वरानने॥ वही, ५, २६, ५२।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च कामरूपी व्रजत्यसौ।
न विकारैः प्रयुज्येत शिव एव न संशयः॥ वही, ५, २६, ५३।

बुद्धिमान् प्राणी ओंकार, मन्त्रविशेष, बीज आदि के अभ्यास पर बल न देकर अनुच्चार्य शब्दब्रह्म परमशिव रूप अनाहत का ही ध्यान करते हैं[63]।

जिस प्रकार मकरन्द का पान करने वाला भृङ्ग गन्ध की अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार नाद में आसक्तचित्त भी स्रक्, चन्दन एवं वनिता आदि विषयों की आकांक्षा नहीं करता। नादरूपबन्धन से बद्ध अतएव चापल्यशून्य मन उसी प्रकार से सुतरां स्थैर्य को प्राप्त करता है जैसे छिन्न पक्ष खग। अतः योग को चाहने वाले साधक को चाहिये कि वह सम्पूर्ण चिन्ताओं का परित्याग कर सावधान मन से नाद का ही अनुसन्धान करे।

जिस प्रकार काष्ठ में जलाई हुई अग्नि काष्ठ के ही साथ शान्त होती है उसी प्रकार नाद में प्रवर्तित चित्त भी नाद के ही साथ लीन हो जाता है[64]। अतः अभ्युन्नति के अभीप्सु साधक का परम कर्त्तव्य है कि वह एकाग्र मन से नाद का ही सेवन करे।

कालवंचन-योग

१. तेज-ध्यान

साधक को चाहिये कि वह आलस्य का परित्याग कर निर्जन स्थान में, सुखासन पर स्थित हो, शरीर के मध्यम देश में शशि एवं रवि के सम्मिलित तेज को प्रकाशित करते हुये भ्रू के मध्य में वह्निगत तेजको प्रकाशित करे। यह क्रिया दीपक के प्रकाश से अन्धकार रहित स्थान में करनी चाहिये। योगी को चाहिये कि वह हाथ की अंगुलियों से, प्रयत्नपूर्वक, दोनों नेत्रों को कुछ (हलके रूप से) ढंक कर कनीनिका को देखते हुये एकाग्र मन से अर्द्ध मुहूर्त तक भ्रूगत तेज का ध्यान करे[65]।

इसके बाद अन्धकार में ध्यान करने का विधान है। इस अवस्था में योगी ऐश्वर ज्योति को (भ्रूगत ज्योति को) श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण एवं इन्द्र-

६३. अनाहतमनुच्चार्यं शब्दब्रह्म शिवं परम्।
ध्यायन्ते देवि सततं सुधियो यत्नतः प्रिये ॥ शिव० ५, २६, ३८।

६४. काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ हठयोग० उप० ४, श्लो० ९८।
तुलना कीजिये—यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ॥
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ मैत्राय० उक्त श्लोक की टीका से उद्धृत।

६५. नेत्रे करशाखाभिः किंचित्संपीड्य यत्नतो योगी।
तारं पश्यन्ध्यायेन्मुहूर्तमर्द्धं तमेक (तदेक) भावोऽपि ॥ शिव० ५, २७, १८।

धनुष की कान्ति के तुल्य देखता है। इसके भी ऊपर जो साधक भ्रुकुटियों के मध्य ललाट में बालार्क की कान्ति वाले परम शिव का ध्यान कर उन्हें जानता है वह इस संसार में सब कुछ कर सकता है[६६]। परकायप्रवेशन, अणिमादि गुणोंकी प्राप्ति, मन से अवलोकन, दूर श्रवण आदि सिद्धियां उसे सहज में ही उपलब्ध हो जाती हैं। वह जब चाहे अदृश्य भी हो सकता है। वह इच्छानुसार बहुत से रूपों को भी धारण कर सकता है। उसमें आकाश गमन की भी शक्ति आजाती है। यही तेज की उत्तम विधि है। इसके अभ्यास से प्राणी काल को जीतकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

२. वायु-पान

नियतमानस योगी यथास्थान सुखासन पर स्थित हो अपनी शरीर को समुन्नत करे। इसके अनन्तर करसम्पुट को बाँधकर अपने मुख को पक्षी के चंचुकी भांति लम्बायमान कर उससे शनैः शनैः वायु को पिये। ऐसा करने से, एक क्षण के अनन्तर, तालु से जीवनदायी जल टपकने लगता है। योगी को चाहिये कि वह उक्त अमृततुल्य, शीतल जल का पान करे और नासिका के द्वारा निकलने वाले पूर्वपीत वायु से उसका आघ्राण भी करे[६७]।

प्रतिदिन ऐसा करने से योगी कभी भी मृत्यु के वश में नहीं होता। उसका शरीर दिव्य हो जाता है। वह महातेजस्वी एवं क्षुधा तथा तृषा विजयी हो जाता है। वह बल में हाथी के समान, वेग में तुरग के समान, दृष्टि में गरुड के समान बन जाता है। उसकी श्रवणेन्द्रिय भी दिव्य हो जाती है। वर्ण में वह गन्धर्व एवं विद्याधरों के समान हो जाता है। उसकी बुद्धि बृहस्पति के समान हो जाती है। वह अपनी इच्छानुसार सुख पूर्वक आकाश भ्रमण भी करता है। इस प्रकार योगी को बहुत सा आश्चर्यजनक सिद्धियां उपलब्ध हो जाती हैं।

---

६६. भ्रुवोर्मध्ये ललाटस्थं बालार्कसमतेजसम्।
तं विदित्वा तु कामांगी क्रीडते कामरूपधृक्॥ शिव० ५, २७, २०।

६७. समुन्नतशरीरोऽपि स बद्ध्वा करसम्पुटम्।
चंच्वाकारेण वक्त्रेण पिबन्वायुं शनैः शनैः॥ वही, ५, २७, २९।
प्रस्रवन्ति क्षणादापस्तालुस्था जीवदायिकाः।
ता जिघ्रेद्वायुनादायामृतं तच्छीतलं जलम्॥ वही, ५, २७, ३०।
तुलना कीजिये—काकचंचुवदास्येन शीतलं शीतलं पिबेत्।
प्राणं प्राणविधानज्ञो योगी भवति निर्जरः॥ काशी० ४१, १०५।

३. सुधापान

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत योगी अपनी रसना को समाकुंचित कर तालु में लगाता है। ऐसा करने से कुछ समय के अनन्तर रसना लम्बी हो जाती है। उसके बाद जब वह तालु से संस्पृष्ट होती है तब शीतल सुधा को टपकाती है। इस सुधा के पान से योगी अमरत्व को प्राप्त करता है[६८]। उसे क्षुधा एवं तृषा का भी कभी भान नहीं होता।

भक्तियोग

पौराणिक भक्ति का वैदिक उद्गम

भक्तिरस की मधुरधारा अति प्राचीन काल से ही भारत के जनमानस को सरस बनाती आ रही है। इस देश का प्रत्येक प्रान्त भक्ति-सुधा-धारा से पूर्ण आप्यायित रहा है। सर्वप्रथम यहां विचारणीय विषय यह है कि भारत में भक्ति का प्रादुर्भाव कब और कहां हुआ था ? भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में बहुतों का यह मत रहा कि – भारत में भक्ति का प्रचार ईसाई धर्म की देन है। ईसाई मत का मूल सिद्धांत है—भगवान् का अटूट प्रेम अथवा भगवान् की भक्ति। ये लोग यह भी कहते हैं कि संसार के इतिहास में सर्वप्रथम ईसाई मत में ही भक्ति का उदय हुआ था और वहीं से यह भारत में गई और चतुर्दिक् प्रसरित हुई। इस प्रकार भक्ति की कल्पना के लिये भारत ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परन्तु तथ्य का अन्वेषण करने पर पाश्चात्यमत पूर्णतया निराधार एवं अप्रमाणिक प्रतीत होता है।

वैदिक वाङ्मय के सूक्ष्म अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक साहित्य जिस प्रकार कर्म तथा ज्ञान का उत्पत्ति-स्थल है उसी प्रकार वह भक्ति अंकुर का भी औत्पत्तिक आधार है।

यद्यपि संहिताओं में कर्मकाण्ड की ही प्रबलता है; वैदिक यज्ञ का विधान एवं विचार प्रस्तुत किया गया है तथापि यह मानना कथमपि न्याय-संगत न होगा कि उसमें भक्ति-भाव का पूर्णतया अभाव ही है। मन्त्रों में तत्तद्देवों की

---

६८. समाकुंच्याभ्यसेद्योगी रसानां तालुकं प्रति।
किंचित्कालान्तरेणैव क्रमात्प्राप्नाति लम्बिकाम् ॥ शिव० ५, २७, ३५।
ततः प्रस्रवते सा तु संस्पृष्टा शीतलां सुधाम्।
पिबन्नेव सदा योगी सोऽमरत्वं हि गच्छति ॥ वही, ५, २७, ३६।
तुलना कीजिये—रसाना तालुविवरे निधायोद्ध्वर्मुखोऽमृतप।
चयन्निर्जरताङ्गच्छेदाषण्मासान्न संशयः ॥ गोरक्ष० ४७, १०६।

सरस तथा भावपूर्णस्तुतियां की गई हैं। उनकी स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्धबन्धु आदि का पूर्ण मनोरम एवं भावपूर्ण संबन्ध स्थापित करता है। क्या ऐसी भावपूर्ण स्तुतियां स्तोता के हृदय में देवताओं के प्रति प्रेम तथा अनुराग की सूचना नहीं देतीं। क्या इन काव्यमयी स्तुतियों में भक्ति की अलौकिक छटा का पूर्वाभास नहीं दृष्टिगोचर होता है? हाँ इतना अवश्य है कि उक्त स्थलों में अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति की स्थिति होने पर भी 'भक्ति' शब्द से उसका अभिधान कहीं नहीं किया गया है। परन्तु इसके यह माने नहीं होते कि उस समय भक्ति का अभाव ही था।

यहाँ कतिपय देवताओं की स्तुतियों का उद्धरण एवं अध्ययन कर उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया जा रहा है। सर्वप्रथम अग्निविषयक स्तुतियों की ही परीक्षा की जाय। अग्नि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रधान देवता हैं। उन्हीं के माध्यम से यज्ञ का सम्पादन होता है। अतः अग्निपरक स्तुतियों में अनुरागाभाव की कल्पना स्वाभाविक है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। वे विपत्तियों के पार ले जाने वाले त्राता के तटस्थ रूप में ही वर्णित नहीं किये गये हैं, अपितु पिता तथा माता जैसे रागात्मक सम्बन्धों के आधार भी कल्पित किये गये हैं:—

त्वां वर्धयन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मनुष्याणाम्॥
(ऋग्० ६, १, ५)

यह एक अस्वाभाविक बात होगी कि अग्नि को माता-पिता कहने वाले स्तोता के हृदय में अनुराग का संचार न हो, प्रेम का आविर्भाव न हो।

ठीक इसी प्रकार का मातृ-पितृ भाव सम्बन्ध इन्द्र के साथ भी स्थापित किया गया है:—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे। (ऋग्० ८, ९८, ११)॥

इसी प्रकार अन्य इन्द्र तथा वरुण विषयक सूक्त भक्त-हृदय के मधुर उद्गारों से भरे पड़े हैं, जिन्हें सख्य भक्ति का सुन्दर दृष्टान्त माना जा सकता है।

उक्त मन्त्रों एवं सूक्तों में तो परोक्षरूप से भक्ति की सत्ता है ही किन्तु प्राचीन आचार्यों की सम्मति में वैदिक मन्त्रों में प्रकट रूप से भक्तितत्त्व का समर्थन उपलब्ध होता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है—"भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः" (१, २, ९) = भक्ति श्रुतियों के द्वारा जानी जा सकती है।

इसकी व्याख्या में नारायण तीर्थ ने भक्ति एवं उसके नवधा प्रकारों के प्रदर्शक मन्त्रों का सव्याख्यान उद्धरण दिया है[६६]। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भंजनुषा पिपर्तन।
आस्थ जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥ ऋ० १, १५६, ३ ॥

इस मन्त्र का भाव है—"इस संसार के कारणरूप (पूर्व्यं) उस विष्णु की अपनी मति के अनुरूप स्तुति करो। वह वेदान्त वाक्यों (ऋत) का प्रतिपाद्य है। उसकी स्तुति करने से जन्म की प्राप्ति नहीं होती। स्तुति असम्भव होने पर उस विष्णु के नाम का ही कथन करो (अर्थात् नाम स्मरण करो)। हमलोग विष्णु के तेज तथा सर्वसाक्षी गुणातीत रूप की प्रेम लक्षण सेवा करते हैं।' इस मन्त्र में भगवान् की स्तुति तथा नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमंजानये विष्णवे ददाशति।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्
सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ॥ ऋ० १, १५६, २।

'अर्थात् जो पुरुष सबसे प्राचीन तथा नित्य नूतन, जगत् के स्रष्टा (वेधसे), स्वयं उत्पन्न होने वाले अथवा समस्त संसार में मद उत्पन्न करने वाली लक्ष्मी के पति (सुमज्जानये) विष्णु के लिये अपने द्रव्य को तथा स्वयं अपने आपको समर्पण करता है, जो महनीय विष्णु के पूजनीय जन्म तथा उपलक्षणात् कर्म को कहता है—कीर्तन करता है, वह दाता तथा स्तोता कीर्ति अथवा अन्न से सम्पन्न हो कर सबके गन्तव्य परमपद को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है।"

स्पष्ट ही यह श्रुति भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा भगवदर्पण का प्रतिपादन करती है।

भक्तिभाव का उक्त वैदिक अंकुर ब्राह्मण एवं आरण्यक युग में भी शनैः शनैः वृद्धि को ही प्राप्त होता रहा और औपनिषदिक युग में तो प्रत्यक्षरूप से

६६. द्रष्टव्य भक्तिचन्द्रिका पृ० ७७-८२ (सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, संख्या ६, काशी (१९२४)।

भक्ति का अभिधान किया जाने लगा था। निम्न मन्त्र में 'प्रसाद' अर्थात् अनुग्रह का सिद्धान्त स्पष्टरूप से निर्दिष्ट किया गया है:—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको ।
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ कठ० १, २, २० ।

'अर्थात् निष्काम पुरुष जगत्कर्त्ता के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा है और शोकरहित हो जाता है।' यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद (३, २०) तथा महानारायणोपनिषद् में भी आया है। श्वेताश्वतर के अन्य मन्त्र में तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है (६, ११)। इस उपनिषद् में भक्ति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है:—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वेता० ६, २३ ।

अर्थः—जिस पुरुष की देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है, उसीं महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं।*

इसके अनन्तर तो भक्ति की जो प्रबल धारा प्रवाहित हुई उससे रामायण, महाभारत तथा पुराण ग्रन्थ पूर्णरूप से आप्लावित हैं। भक्ति का पूर्ण परिपाक पुराणों में ही हुआ है। यहाँ शिवमहापुराण के अनुसार भक्ति योग का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शिवमहापुराण में भक्तियोग

शिवमहापुराण के अनुसार सर्वज्ञ जगत् के ईश्वर परमात्म शिव परम भक्ति से ही दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा इनका दर्शन नहीं होता। रुद्र, हरि, हर तथा और भी देवेश्वर परम भक्ति से ही उनके दर्शन की इच्छा करते हैं। मानव परमात्म-शिव में भक्ति करने मात्र से ही मुक्त हो जाता है[७०]।

---

* पुराण—विमर्श, लेखक— बलदेव उपाध्याय।

७०. एष देवो महादेवः सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अयं तु परया भक्त्या दृश्यते नान्यथा क्वचित् ॥
रुद्रो हरिर्हरश्चैव तथाऽन्ये च सुरेश्वराः ।
भक्त्या परमया तस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥
बहुनात्र किमुक्तेन शिवे भक्त्या विमुच्यते । शिव० १, ३, १२-१४ ।

किन्तु परमात्म-शिव की यह भक्ति भी परम दुर्लभ है। उनके प्रसाद के बिना किसी भी प्राणी के हृदय में इसका प्रादुर्भाव असम्भव है। परन्तु जिस भाँति बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ईश्वर भक्ति और प्रसाद में भी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परमात्म-शिव के प्रसाद से उनकी भक्ति एवं उनकी भक्ति से प्रसाद की प्राप्ति होती है।

भक्ति के द्विधा प्रकार

भक्ति दो प्रकार की होती है—सगुणा और निर्गुणा। जो वैधी (शास्त्र विधि से प्रेरित) और स्वाभाविकी (हृदय के सहज अनुराग से प्रेरित) भक्ति होती है, वह श्रेष्ठ है तथा इससे भिन्न जो कामना मूलक भक्ति होती है, वह निम्नकोटि की मानी गई है। पूर्वोक्त सगुणा और निर्गुणा ये दोनों प्रकार की भक्तियाँ नैष्ठिकी और अनैष्ठिकी के भेद से दो प्रकार की हो जाती हैं[७१]। नैष्ठिकी भक्ति षट्प्रकार की और अनैष्ठिकी एक प्रकार की कही गई है। विद्वान् पुरुष विहिता और अविहिता आदि भेद से उसे (भक्ति को) अनेक प्रकार की मानते हैं। इन द्विविध भक्तियों के और भी बहुत से भेद-प्रभेद होते हैं, जिनका वर्णन शिवपुराण में नहीं किया गया है। सगुणा और निर्गुणा इन दोनों भक्तियों के नव अंग बतलाये गये हैं[७२]। ये नवविध अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवन, दास्य, अर्चन, वन्दन, सख्य और आत्मसमर्पण[७३]। इनके अतिरिक्त भक्ति के उपांग भी बहुत से बतलाये गये हैं।

भक्ति के अंगों के लक्षण

भक्ति के नवविध अंगों के पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं—जो स्थिर आसन से बैठकर तन-मन आदि से परमात्म-शिव के कथा-कीर्तन आदि का नित्य सम्मान करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक अपने श्रवणपुटों से उसके अमृतोपम रस का पान करता है, उसके इस साधन को 'श्रवण' कहते हैं। जो हृदयाकाश के द्वारा परमात्म-शिव के दिव्य जन्म-कर्मों का चिन्तन करता हुआ प्रेम से वाणी द्वारा उनका उच्च स्वर से उच्चारण करता है, उसके इस भजन-

७१. सा भक्तिर्द्विविधा देवि सगुणा निर्गुणा मता।
वैधी स्वाभाविकी या वरा सा त्ववरा स्मृता॥
नैष्ठिक्यनैष्ठिकी भेदाद् द्विविधे द्विविधे हि ते। शिव० २, २, २३, १८-१९।

७२. ते नवांगे उभे ज्ञेये वर्णिते मुनिभिः प्रिये। वही, २, २, २३, २१।

७३. श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं सेवनं तथा।
दास्यं तथार्चनं देवि वन्दनं मम सर्वदा॥
सख्यमात्मार्पणं चेति नवाङ्गानि विदुर्बुधाः। वही, २, २, २३, २२-२३।

साधन को 'कीर्तन' कहते हैं। परमात्म-शिव को सदा और सर्वत्र व्यापक जान कर संसार में निरन्तर निर्भय रहना ही 'स्मरण' कहा गया है। अरुणोदय से लेकर हर समय सेव्य की अनुकूलता का ध्यान रखते हुये हृदय और इन्द्रियों से जो निरन्तर सेवा की जाती है, वही 'सेवन' नामक भक्ति है। अपने को प्रभु का किंकर समझ कर हृदयामृत के भोग से स्वामी का सदा प्रिय सम्पादन करना 'दास्य' कहा गया है। अपने धन-वैभव के अनुसार शास्त्रीय विधि से परमात्म-शिव को सदा पाद्य आदि षोडश उपचारों का समर्पण करना ही 'अर्चन' कहा गया है। मन से ध्यान और वाणी से वन्दनात्मक मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अष्टांग से भूतल का स्पर्श करते हुये इष्टदेव को नमस्कार करना ही 'वन्दन' कहा गया है। ईश्वर मंगल अथवा अमंगल जो कुछ भी करता है, वह सब मेरे मंगल के लिये ही है, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना 'सख्य' भक्ति का लक्षण है[७४]। देह आदि जो कुछ भी अपनी कही जाने वाली वस्तु है, वह सब भगवान् की प्रसन्नता के लिये उन्हीं को समर्पित करके अपने निर्वाह के लिये कुछ बचाकर न रखना अथवा निर्वाह की चिंता से भी रहित हो जाना 'आत्म-समर्पण' कहा गया है[७५]। ये ही ईश्वर की भक्ति के नव अंग हैं, जिनके साधन से भोग और मोक्ष दोनों का लाभ होता है। इन में ज्ञान का प्राकट्य होता है तथा ये सब साधन परमात्म-शिव को अत्यन्त प्रिय बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति के बहुत से उपांग भी कहे गये हैं, जैसे बिल्व आदि का सेवन आदि। शिव महापुराण इनको विचार से समझने की सम्मति देता है[७६]।

भक्ति का महत्त्व

इस प्रकार परमात्म-शिव की सांगोपांग भक्ति सबसे उत्तम कही गई है। यह ज्ञान-वैराग्य की जननी है। वैराग्य इसकी दासी बतलाई गई है। यह सम्पूर्ण साधनों में उत्तमोत्तम है। इसके द्वारा सम्पूर्ण कर्मों के फल की प्राप्ति होती है। जिसके चित्त में नित्य निरन्तर यह भक्ति निवास करती है, वह साधक परमात्म-शिव को अत्यन्त प्रिय है[७७]। शिवमहापुराण में कहा गया है

---

७४. मंगलामंगलं यद् यत् करोतीतीश्वरो हि मे।
सर्वं तन्मंगलायेति विश्वासः सख्यलक्षणम् ॥ शिव० २, २, २३, ३२।

७५. तुलना :—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ श्रीमद्भाग०, स्क० ७, अ० ५, श्लो० २३।

७६. उपांगानि च मद्भक्तेर्बहूनि कथितानि वै।
बिल्वादिसेवनादीनि समूह्यानि विचारतः ॥ शिव० २, २, २३, ३५।

७७. यच्चित्ते सा स्थिता नित्यं सर्वदा सोऽति मत्प्रियः। वही, २, २, २३, ३७।

कि तीनों लोकों और चारों युगों में भक्ति के समान दूसरा कोई सुखदायक मार्ग नहीं है। कलियुग में तो यह विशेष सुखद एवं सुविधाजनक कही गई है। जब ज्ञान और वैराग्य उत्साहशून्य और जर्जर हो जाते हैं तब प्राणियों को एकमात्र भक्ति का ही सहारा रहता है।

परमात्म-शिव का भक्त मुक्ति का अवश्य ही भाजन होता है। उसके लिये परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के हेतु किसी तीर्थ की अपेक्षा नहीं है। शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट विहित, अविहित कर्म उसके लिये समान हैं। वह जीवनन्मुक्त है। उसकी मृत्यु चाहे जहाँ हो वह अवश्य ही मुक्ति का भागी होता है[७८]।

अवश्य ही परमात्म-शिव की भक्ति मुक्तिदात्री है; किन्तु भक्ति की साधना से मुक्ति जितनी सुगम है; उतना ही प्राणी के हृदय में भक्ति का अंकुर उत्पन्न होना कठिन है। परमात्म-शिव के प्रसाद एवं भक्ति को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि प्राणी तपस्या से विविध शैवधर्मों से संयुक्त हो। तदनन्तर शनैः शनैः उसके प्रयोग एवं अभ्यास से हृदय में परमात्म-शिव की परा भक्ति उत्पन्न होती है। पुनः उस परम भक्ति से परम प्रसाद की उपलब्धि होती है और परमात्म-शिव के प्रसाद से ही सम्पूर्ण पाशों (मलों) से मुक्ति मिल जाती है। मुक्त को निर्वृति होती है[७९]।

इस प्रकार भक्ति और प्रसाद की प्राप्ति के लिये शैव-सिद्धांतों एवं मार्गों का अनुसरण परमावश्यक है। हां, इन दोनों की प्राप्ति के अनन्तर भक्त को भले ही कर्मों (कर्त्तव्यों) का विशेष या स्वल्प महत्त्व न हो, किन्तु प्रारम्भावस्था में तो प्राणी को निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना ही होगा।

ज्ञान और भक्ति की परस्परापेक्षा

कुछ लोग भक्ति की अपेक्षा ज्ञान को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, किन्तु शिव-महापुराण के अनुसार भक्ति और ज्ञान परस्पर भिन्न नहीं हैं। अतः उनमें भेद नहीं करना चाहिये। भक्ति के विरोधी को ज्ञान कभी नहीं होता, बल्कि इससे विपरीत शम्भु की भक्ति करने वाले को ज्ञानोदय भी शीघ्र ही होता है। अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी भगवान् शंकर की भक्ति सप्रयत्न करनी चाहिये।

---

७८. यो मे भक्तश्च विज्ञानी तावुभौ मुक्तिभागिनौ।
तीर्थापेक्षा च न तयोर्विहिताविहिते समौ॥
जीवन्मुक्तौ तु तौ ज्ञेयौ यत्र कुत्रापि वै मृतौ।
प्राप्नुतो मोक्षमाश्वेव मयोक्तं निश्चितं वचः॥ शिव० ४, २३, ११-१२।

ज्ञान की विरोधिनी होने के स्थान पर भक्ति उसकी जन्मदात्री ही है; क्योंकि अध्यात्म, ज्ञानमूलक कहा गया है और ज्ञान का मूल परमात्म-शिव की भक्ति ही है। भक्ति के मूल में प्रेम और प्रेम के मूल में श्रवण कहा गया है। इस प्रकार देखा जाय तो भक्ति के विना ज्ञान का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। अतः ज्ञानोद्रेक की दृष्टि से भी भक्ति का महत्त्व बढ़ जाता है।

परमात्म-शिव के प्रसाद और भक्ति की परस्परापेक्षा

भक्ति का प्रादुर्भाव भगवान् की कृपा से ही होता है और भक्ति से ही उनकी कृपा भी होती है। अवस्थाभेद का विचार करके विद्वान् पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होते। कृपाप्रसादपूर्वक जो यह भक्ति होती है, वह भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति कराने वाली है। उसे मनुष्य एक जन्म में नहीं प्राप्त कर पाता। अनेक जन्मों तक श्रौत-स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करके सिद्ध हुये विरक्त एवं ज्ञानसम्पन्न पुरुषों पर परमात्म-शिव प्रसन्न होते और कृपा करते हैं। परमात्म-शिव के प्रसन्न होने पर उस पशु (जीव) में बुद्धिपूर्वक थोड़ी-सी भक्ति का उदय होता है। तब वह यह अनुभव करने लगता है कि परमात्म-शिव मेरे स्वामी हैं। फिर तपस्यापूर्वक वह नाना प्रकार के शैवधर्मों के पालन में संलग्न होता है। उन धर्मों के पालन में बारम्बार लगे रहने से उसके हृदय में परा भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। उस पराभक्ति से परमात्म-शिव का परम प्रसाद उपलब्ध होता है। प्रसाद से सम्पूर्ण पापों से मुक्ति मिलती है और उसके बाद परमानन्द की प्राप्ति होती है; जिस मनुष्य का परमात्म-शिव में स्वल्प भी भक्तिभाव होता है, वह तीन जन्मों के बाद अवश्य मुक्त हो जाता है।

भक्ति की परिभाषा

साङ्गा (अंगसहित) और अनङ्गा (अंगरहित) जो सेवा है; उसी को भक्ति कहते हैं। उसके पुनः तीन भेद होते हैं—मानसिक, वाचिक और शारीरिक। शिव के रूप आदि का जो चिन्तन है, उसे मानसिक सेवा कहते हैं। जप आदि वाचिक सेवा है और पूजन आदि कर्म शारीरिक सेवा है। इन त्रिविध साधनों से सम्पन्न होने वाली जो यह सेवा है, इसे "शिवधर्म" भी

७९. तपसा विविधैः शैवैर्धर्मैः संयुज्यते नरः।
तत्प्रयोगे तदभ्यासस्ततो भक्तिः परा भवेत् ॥
परया च तया भक्त्या प्रसादो लभ्यते परः।
प्रसादात्सर्वपाशेभ्यो मुक्तिर्मुक्तस्य निर्वृतिः ॥ शिव० ७, २, ७, ३१-३२।

कहते हैं[८०]। परमात्म-शिव ने पांच प्रकार का शिवधर्म बतलाया है—तप, कर्म, जप, ध्यान, और ज्ञान। लिङ्गपूजन आदि को "कर्म" कहते हैं। चान्द्रायण आदि व्रत का नाम "तप" है। वाचिक, उपांशु और मानस—तीन प्रकार का जो शिवमन्त्र का अभ्यास (आवृत्ति) है, उसी को "जप" कहते हैं। शिव का चिन्तन ही "ध्यान" कहलाता है तथा शैव आगमों में जिस ज्ञान का वर्णन है, उसी को यहाँ 'ज्ञान' शब्द से कहा गया है। श्रीकण्ठशिव ने शिवा के प्रति जिस ज्ञान का उपदेश किया है, वही शिवागम है। शिव के आश्रित भक्तजनों पर कृपा करके कल्याण के एकमात्र साधक इस ज्ञान का शिव महापुराण में उपदेश किया गया है। अतः कल्याणकामी बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह परमात्म-शिव में भक्ति को बढ़ाये तथा विषयासक्ति का त्याग करे[८१]।

---

८०. सेयं त्रिसाधना सेवा शिवधर्मश्च कथ्यते। शिव० ७, २, ७, ३६।

८१. शिव० ७, २, ७, ४०।

टिप्पणी :—शिवचरित्र वर्णन की ही भांति तुलसी के "मानस" में ज्ञान और भक्ति के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के प्रतिपादक स्थलों का आधार शिवमहापुराण ही है।

योग

जो साधक शरीर, इन्द्रिय एवं मन के समस्त बन्धनों से रहित, शुद्ध आत्मा का दर्शन करना चाहते हैं उनके लिये योग एक महान साधन है। आत्मोन्नति के साधन रूप में योग की महत्ता को प्राय: सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहाँ तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराण सभी में योग विषयक चर्चा समुपलब्ध है।[1] जब तक प्राणियों का चित्त अथवा अन्त:करण पूर्ण स्वच्छ और सुस्थिर नहीं होता तब तक वे धर्म अथवा दर्शन के वास्तविक रहस्य को नहीं जान सकते। कोई भी व्यक्ति शुद्ध हृदय एवं सुस्थिर मन से ही इन गूढ़ रहस्यों का पता लगाने में समर्थ हो सकता है। आत्म-शुद्धि के लिये योग ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसके द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर-उभयविध-शरीर शुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि समग्र भारतीय दर्शन (केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तों का यौगिक रीति से, ध्यान, धारणा आदि के द्वारा प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट अनुभव करने के लिए साधक को प्रेरित करते हैं।

शिव पुराण में शैव धर्म के चार पाद बतलायें गये हैं—ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग।[2] पशु, पाश एवं पति का ज्ञान ही 'ज्ञान' कहा गया है। गुरु के उपदेश के अनुसार षडध्व शुद्धि की विधि से की गयी क्रिया ही 'क्रिया. है। पशुपति-शिव (परमात्म-शिव) के द्वारा विहित, वर्णाश्रमप्रयुक्त, उनके (पशुपति के) अर्चनादि का अनुष्ठान ही 'चर्या' कही गयी है।[3] पशुपति शिव (परमात्म शिव) के द्वारा कथित मार्ग से अन्त:करण की वृत्तियों को (चित्तवृत्तियों को) विषयान्तर से निरुद्ध कर, एकमात्र पशुपति शिव में ही, निश्चल रूप से लगाने की जो क्रिया है उसी का नाम 'योग' है।

---

1. कठोपनिषद् 2 : 11 : 18
2. ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति सुरेश्वरि।
   चतुष्पाद: समाख्यातो मम धर्म: सनातन:॥—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—10 : 30
3. वही—10 : 31-32

योग के प्रकार

योग का वर्गीकरण द्विधा किया जाता है। प्रथम वर्गीकरण के अनुसार योग पाँच प्रकार का होता है—1. मन्त्रयोग, 2. स्पर्शयोग, 3. भाव योग, 4. अभाव योग, 5. महायोग। इनमें महायोग सबसे परे है।

मन्त्रयोग—

मन्त्रों के अभ्यासवश, जो मन की वृत्ति, मन्त्र के वाच्यार्थ गोचर होकर स्थिर हो जाती है उसी का नाम 'मन्त्रयोग' है।[1]

स्पर्श योग एवं भाव योग—

प्राणायाम युक्त उक्त मनोवृत्ति 'स्पर्श योग' कही जाती है और यदि यही स्पर्शयोग मन्त्र के स्पर्श से रहित हो तो 'भाव योग' कहा जाता है।[2]

अभावयोग—

जिसमें सारा विश्व तिरोहित रूप हो जाता है, उसे 'अभाव योग' कहते हैं, क्योंकि उसमें (उस अवस्था में) विद्यमान वस्तु का भी आभास नहीं रहता है।[3]

महायोग—

जिसमें उपाधिरहित, शिवस्वभाव का ही चिन्तन किया जाता है वही मनोवृत्ति 'महायोग' कही जाती है।[4]

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार योग त्रिधा होता है—1. ज्ञानयोग, 2. क्रियायोग, 3. भक्ति योग।

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 8
2. वही—37 : 9
3. वही—37 : 10
4. वही—37 : 11

ज्ञान योग—

चित्त का आत्मा के साथ संयोग ही 'ज्ञानयोग' कहा गया है।[1]

भक्ति योग—

अभीष्ट देव के साथ (शिव अथवा शक्ति के साथ) आत्मा का एकीकरण ही 'भक्तियोग' कहा गया है।[2]

क्रियायोग—

चित्त का बाह्यार्थ संयोग (किसी मूर्ति आदि से संयोग) ही 'क्रियायोग' कहा गया है। शास्त्रों के अनुसार कर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर योग, पूर्वयोग के उपकारक होते हैं। इनमें ज्ञानयोग ही सर्वश्रेष्ठ निर्दिष्ट किया गया है।

अष्टांग एवं षडंग योग—

यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही विद्वानों के द्वारा योग के आठ अंग माने गये हैं।[3]

आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि संक्षेप में ये ही योग के षडंग कहे गये हैं।[4] इन सब का पृथक्-पृथक् लक्षण शिवशास्त्र, शिवागम, विशेष करके 'कामिक' आदि में, योगशास्त्र तथा कुछ पुराणों में भी वर्णित है।

1. यम—

योग का प्रथम अंक है 'यम'। इसके निम्नलिखित अंग हैं—1. अंहिसा, 2. सत्य, 3.

---

1. शि० पु०, उ० सं०—51 : 8
2. वही—51 : 9
3. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 14, 15
4. वही—37 : 16

अस्तेय, 4. अपरिग्रह, 5. ब्रह्मचर्य। साधक के लिये इनका साधन अनिवार्य है, अत: मन को सबल बनाने के लिए शरीर का सशक्त बनाना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं करते, उनका मन एवं शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी प्रकार जब तक मानव का मन पापवासनाओं से परिपूर्ण और चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। अत: योग या समाधि के साधक को सभी आसक्तियों और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

2. नियम—

योग का दूसरा अंग 'नियम' या सदाचार पालन है। इसके निम्नलिखित अंग हैं—1. शौच (वाह्य शुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा तथा आभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता, आदि के द्वारा), 2. सन्तोष (अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उससे सन्तुष्ट रहना), 3. तप (जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास), 4. स्वाध्याय (नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्यन करना), 5. ईश्वर प्राणिधान (ईश्वर का ध्यान और उन पर अपने को छोड़ देना)।

3. आसन—

'आसन' शरीर का साधन है। इसका अर्थ है शरीर को ऐसी अवस्था में रखना जिससे निश्चल होकर सुख के साथ देर तक रह सकते हैं। 'आसन' नाना प्रकार के होते हैं। शिव पुराण में आठ प्रकार के आसन बतलाये गये हैं—(1) स्वस्तिक, (2) पद्म, (3) मध्येन्दु, (4) वीर, (5) योग, (6) प्रसाधित, (7) पर्यंक, और (8) यथेष्ट।[1] इनका अभ्यास एकमात्र पुस्तकों के आधार पर न होकर, किसी योग्य गुरु के निर्देशन में होना चाहिए। चित्त के स्थैर्य के लिए शरीर का भी अनुशासन उतना ही आवश्यक है जितना कि मनका, यदि शरीर किसी प्रकार

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 20

की व्याधि से आक्रान्त है तो समाधि लगाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यही कारण है कि योग सम्बन्धी वांगमय आरोग्य साधन के लिए बहुत से नियम निर्धारित करता है, जिससे शरीर समाधि क्रिया के योग्य बन सके। शरीर एवं मन को शुद्ध तथा सबल बनाने के लिए तथा दीर्घायुष्य के लिए ग्रन्थों में नाना प्रकार के नियम उपनियम उपदिष्ट हैं। योगासन शरीर को निरोग एवं सबल बनाये रखने के लिए उत्तम साधन हैं। इन आसनों के द्वारा सभा अंग, विशेषत: स्नायुमण्डल, इस प्रकार वश में किये जा सकते है कि वे मन में किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न कर सकें।

4. प्राणायाम—

स्वदेहज वायु ही 'प्राण' कहा गया है। इसका निरोधन ही 'आयाम' है। अर्थात् 'प्राणायाम' का अर्थ है श्वास का नियंत्रण। इस क्रिया के तीन अंग होते हैं—(1) पूरक (पूरा श्वास भीतर खींचना), (2) कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना), और (3) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। 'प्राणायाम' करने में न तो शीघ्रता करनी चाहिये और न विलम्ब ही। योग साधक को चाहिये कि वह क्रमयोग (क्रमश:) से उद्यत होकर इसका अभ्यास करे। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है। इस बात को चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है। किन्तु योग इससे भी आगे बढ़कर प्राणायाम को चित्त की एकाग्रता के लिए निर्देश करता है, क्योंकि इसके द्वारा शरीर एवं मन में दृढ़ता आती है। जब तक श्वास की क्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वास वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन में भी स्थिरता आ जाती है अथवा निष्पन्दता आ जाती है। इस तरह 'प्राणायाम' के अभ्यास से योगी बहुत देर तक अपना श्वास रोक सकता है और समाधि की अवधि को बढ़ा सकता है।

'प्राणायाम' द्विविध होता है—अगर्भ और सगर्भ। जप एवं ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' एवं जप तथा ध्यानपूर्वक किया गया प्राणायाम 'सगर्भ' कहा जाता है। अगर्भ

की अपेक्षा सगर्भ प्राणायाम शतगुणा अधिक महत्त्वशाली बतलाया गया है। अतः योगी लोग सगर्भ प्राणायाम ही करते हैं।[1] प्राण को वश में कर लेने पर देह के अन्य वायु भी जीत लिये जाते हैं।

5. प्रत्याहार—

सांसारिक वस्तुओं में लगे हुए मन का प्रत्यावर्तन ही 'प्रत्याहार' कहा गया है, अर्थात् प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को अपने-अपने बाह्य विषयों से खींचकर हटाना और उन्हें मन के वश में रखना। जब इन्द्रियाँ पूर्णतः मन के वश में आ जाती हैं तब वे अपने स्वाभाविक विषयों से हटकर मन की ओर लग जाती हैं। इस अवस्था में, आंख, कान के सामने सांसारिक विषयों के रहते हुये भी हम उन्हें देख सुन नहीं सकते। रूप, रस, गंध, शब्द या स्पर्श का कोई भी प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। यह अवस्था बहुत ही कठिन है, तथापि असंभव नहीं। एतदर्थ अत्यन्त दृढ़ संकल्प और घोर इन्द्रिय निग्रह की साधना आवश्यक है।

6. धारणा—

संक्षेप में चित्त का स्थानबन्ध ही 'धारणा' है। चित्त को स्थिरतापूर्वक लगाने के लिये एकमात्र परमात्म शिव ही स्थान हैं, दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि शिवातिरिक्त सभी वस्तुयें दोष त्रयात्मक हैं। धरणा से मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है। अतः धारणा के अभ्यास से मन को धीर करना चाहिये। यही योग की असल कुंजी है। इसी को सिद्ध करने वाला समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है।[2] धारणा ही उचित अवस्था में मन एक क्षण के लिए भी अपने लक्ष्य शिव, से विचलित नहीं होता है।

---

1. अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
   जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥
   अगर्भाद्गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
   तस्मात् सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 33, 34

7. ध्यान—

ध्यै चिन्तायां, अर्थात् चिन्तार्थक 'ध्यै' धातु से ध्यान शब्द की निष्पत्ति हुई है। अतः अव्याक्षिप्त मन से शिव-विषयक, मुहुर्मुहः चिन्ता का ही नाम 'ध्यान' है। ध्येय में अवस्थित चित्त का प्रत्ययान्तर रहित सदृश प्रत्यय (अपने को शिव समान मानना) ही ध्यान कहा गया है।[1] इस संसार में सब कुछ छोड़कर देवाधिदेव शिव ही परम ध्येय (ध्यान करने योग्य) कहे गये हैं।

'ध्यान' के द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है, तदन्तर अविराम ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्त सामने आ जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन हो जाता है। इस तरह योगी के मन 'ध्यान' के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का प्रयोजन, इन चारों बातों को जानकर ही योग वेत्ता को योगाभ्यास करना चाहिए। 'ध्यान' करने वाले पुरुष को ज्ञानवैराग्यसंपन्न, श्रद्धालु, क्षमावान, निर्मम एवं सदा उत्साही होना चाहिए। जप से श्रान्त होने पर 'ध्यान' करना चाहिये और ध्यान से श्रान्त होने पर पुनः जप करना चाहिये। इस प्रकार 'जप' और 'ध्यान' में लीन रहनेवाले व्यक्ति को शीघ्र ही योग की सिद्धि होती है।

परमात्म-शिव का तत्तत्स्थानों में आसन एवं ध्यान—साधक को नासाग्र, नाभि, कण्ठ, तालुरन्ध्र, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्द्धा, आदि स्थानों में कमलासन पर विराजमान शिव एवं शक्ति की कल्पना कर उनका ध्यान करना चाहिए। उनका परमासन सावरण तथा निरावरण भी होता है। परमात्म-शिव का कमलासन द्विदल, षोडशार, द्वादशार, दशार, षडस्र अथवा चतुरस्र होना

---

2. धारणा नाम चित्तस्य स्थानबन्धः समासतः। श० पु०, वा० सं०, उ० खं०—37 : 48
1. अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते।
   ध्येयावस्थितचित्तस्य सदृशः प्रत्ययश्च यः॥—वही—37 : 52

चाहिये। भ्रू (भौंह) के मध्य का कमलासन द्विदल एवं विद्युत की भाँति उज्ज्वल होना चाहिये। इसी प्रकार से अन्य, विभिन्न रूप से पत्र संख्या वाले, कई कमलासनों की कल्पना की गयी है, यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इन कमलों के पर्ण मूल से लेकर अवसान तक वर्ण (ककरादि अक्षर) से अंकित होने चाहिये, अर्थात् ये अक्षर ही उन कमलों के पर्ण रूप में कल्पित होने चाहिये। किसी कमलासन पर ककरादि टकारान्त वर्ण होने चाहिये तो किसी पर डादि फान्त वर्णों का उल्लेख कल्पित होना चाहिए। इसी प्रकार बहुत सी विधियाँ वहाँ लिखी हैं।

षट्चक्र—कैलाश संहिता के अनुसार कमलासनों की संख्या छह है। इन्हीं को षट्चक्र भी कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—1. मूलाधार, 2. स्वाधिष्ठान, 3. मणिपूरक, 4. अनाहत, 5. विशुद्ध, और 6. आज्ञाचक्र।[1] ये षट्चक्र विद्युत कोटि के समान प्रकाशनमान्, सर्वतेजोमय एवं उत्कृष्ट बतलाये गये हैं। इन्हीं के बीच सच्चिदानन्द विग्रह, परमात्म-शिव का ध्यान करना चाहिये।

ध्यान का क्रम—योग मार्ग पर आगे की ओर बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि ध्यानकर्ता शिवशास्त्र में विनिश्चित विभिन्न प्रकार की स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम शिव की मूर्तियों का पहले ध्यान करे। ध्यान का यह क्रम उत्तरोत्तर सूक्ष्मावस्था की ओर बढ़ता है। ये मूर्तियाँ चारों ओर से दीप्यमान, शुद्धदीप—शिखाकार, अपनी शक्ति से पूर्णमण्डित, अंगुष्ठमात्र अथवा इन्दुरेखा समाकार अथवा तारारूप अथवा नीवार शूकसदृश (तिन्नी धान की नोक की तरह), विससूत्राभ (कमल-दण्ड के सूत की तरह आभावाला) अथवा कदम्बगोलकाकार अथवा तुषारकणिकासदृश होनी चाहिए। ब्रह्मादि सदाशिवान्त, जैसा कि तत्तत्, चक्रनिरूपण के प्रसंग में बतलाया गया है, अथवा भव आदि शिव की अष्टमूर्तियां भी पहले ध्यान का विषय हो सकती हैं, क्योंकि ये भी परमात्म-शिव की स्थूल-मूर्तियाँ ही कही गयी है। मन की स्थिरता के

---

1. शि० पु०, कै० सं०—4 : 7, 8

लिये, कुछ लोग स्थूल ध्यान करते हैं। जब मन स्थूल वस्तु पर निश्चल हो जाता है तब वह सूक्ष्म पर स्थिर होता है। अत: साधक को सर्वप्रथम स्थूल लक्ष्य पर ही मन को लगाना चाहिए।

सविषय एवं निर्विषय ध्यान—इस प्रकार आदि में ध्यान सविषय होना चाहिए। सविषय ध्यान में प्रवीण होने पर निर्विषय ध्यान का अवलम्बन करना चाहिए।[1] किन्तु शिव पुराण का कहना है कि विद्वान् पुरुषों का मत तो यही है कि 'निर्विषय ध्यान' होता ही नहीं।[2] ध्यान के विषय में कहा गया है कि बुद्धि की कोई सन्तति ही है, जिसे ध्यान कहा जाता है।[3] अत: निर्विषयक ध्यान में केवल बुद्धि ही प्रवर्तित (प्रवाहित) होती है।[4]

परमार्थत: जिसे निर्विषय ध्यान कहा जाता है वह सूक्ष्माश्रय ध्यान ही है न कि निर्विषय। अथवा परमात्म शिव के किसी विशेष रूप का आश्रयण कर किया गया ध्यान सविषय एवं निराकारात्मसंवित्ति ही निर्विषय ध्यान कहा गया है। यही सविषय एवं निर्विषय ध्यान क्रमश: सबीज एवं निर्बीज ध्यान भी कहा गया है।

प्राणायाम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति एवं प्रसाद तथा शम की उपलब्धि होती है। ध्यान एवं प्राणायाम के परिणामस्वरूप मन एकदम निर्मल हो जाता है और शिव सम्बन्धी विचार मुहुर्मुहु: उसमें तरंगित होने लगते हैं। जैसा पहले भी कहा गया है कि 'ध्यान' अन्य कुछ न होकर बुद्धि प्रवाह रूप ही है। उक्त ध्यान के एकमात्र अवलम्बन ध्येय, स्वयं शम्भु शिव ही, विद्वानों के द्वारा कहे गये हैं।[5] ध्यान के द्वारा प्रसन्नता और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं। अत: कल्याणार्थी को अवश्य ही ध्यान के अवलम्बन का प्रयत्न करना चाहिये। इस संसार में ध्यान से

---

1. ध्यानमादौ सविषयं ततो निर्विषयं जगु:—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—39 : 4
2. तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्।—वही—39 : 5
3. बुद्धेर्हि सन्तति: काचिद्ध्यानमित्यभिधीयते।—वही—39 : 5
4. तेन निर्विषया बुद्धि: केवलेह प्रवर्तते।—वही—39 : 6
5. वही—39 : 19

अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरी वस्तु नहीं है। ध्यान करने वाले साधक परमात्म-शिव को बहुत अधिक प्रिय हैं अपेक्षा उनके जो कि केवल धार्मिक कृत्य का ही संपादन करते हैं अर्थात् अन्य धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा ध्यान बहुत श्रेष्ठ है। अतः शिव पुराण का मत है कि निःश्रेयस्-सिद्धि के लिए प्राणी अवश्य ध्यान करे।[1]

8. समाधि—

योग साधन की अन्तिम सीढ़ी है 'समाधि'। 'समाधि' से सर्वत्र प्रज्ञालोक प्रवर्तित होता है।[2] समाधि के अर्थमात्र (ध्येयमात्र) का आभास होता है। उस समय अपने स्वरूप का बिल्कुल ही भाव नहीं होता तथा योगी की स्थिति एकदम स्तिमित उदधि के समान होती है।[3] समाधिस्थ योगी न कुछ सुनता है, न किसी वस्तु का आघ्राण करता है। वह न तो बोलता और न देखता ही है। उसे किसी भी स्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता और न तो उसका मन संकल्प एवं विकल्प ही करता है। वह अभिमान भी नहीं करता। उसकी स्थिति पूर्णरूप से काष्ठवत् होती है। इस प्रकार से परमात्म-शिव में आत्मा का विलीनीकरण ही समाधिस्थ होता है।[4]

जिस प्रकार निर्वात् स्थान में स्थापित दीपक कभी भी स्पन्दित नहीं होता उसी प्रकार समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी उससे विचलित नहीं होता। इस प्रकार से उत्तम योग का अभ्यास करने वाले योगी के सम्पूर्ण विघ्न शनैः शनैः विनष्ट हो जाते हैं।

योगगत विघ्न— जब योगी 'योग' का अभ्यास प्रारम्भ करता है तब उसके मार्ग में बहुत से विघ्न उत्पन्न होकर उसे मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको बिना वश में किये उद्देश्य सिद्धि असम्भव है। अतः उन पर विजय प्राप्त करना योगी के

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—39 : 28
2. वही—37 : 61
3. वही—37 : 62
4. एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते।—वही—37 : 65

लिए अनिवार्य है।

सामान्य विघ्न— योग में उत्पन्न होने वाले कुछ विघ्न ये हैं—आलस्य, तीव्र व्याधियाँ, प्रमाद, स्थानसंशय (ध्येय सन्देह), अनवस्थितचित्तत्व, अश्रद्धा, भ्रान्ति-दर्शन, दु:ख, दौर्मनस्य, विषयों की ओर आकर्षण। ये दश योगाभ्यासी के लिए अन्तराय कहे गये हैं। आलस्य दैहिक एवं चित्त सम्बन्धी द्विविध होता है। दोष (सम्भवत: आलस्य) धातु-वात, पित्त, कफ-के वैषम्य से उत्पन्न होता है और व्याधियाँ कर्मदोष से उत्पन्न होती हैं।[1]

योग साधना के उपायों का उपयोग न करना ही प्रमाद है। ध्येय के विषय में संशय होना ही स्थानसंशय कहा गया है। मन की अप्रतिष्ठा अनवस्थिति कही गयी है। योगमार्ग में, भावरहित वृत्ति ही अश्रद्धा कही गयी है। विपर्यस्त मति का ही नाम भ्रान्ति है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला, चित्त सम्बन्धी दु:ख, आध्यात्मिक दु:ख कहा गया है। पुराकृत कर्मों के परिणामस्वरूप शारीरिक दु:ख ही आधिभौतिक दु:ख कहा गया है। वज्र, अग्नि एवं विषादि से उत्पन्न होने वाला दु:ख आधिदैविक दु:ख कहा गया है।[2] इच्छा के विघात से उत्पन्न होने वाला क्षोभ ही दौर्मनस्य कहा गया है विचित्र विषयों में विभ्रम होना ही लोलता है।

सिद्धि सूचक विघ्न– इन विघ्नों के शान्त होने पर योगासक्त योगी के मार्ग में सिद्धिसूचक दिव्य उपसर्ग प्रवर्तित होते हैं अर्थात् सिद्धिसूचक अन्य विघ्न उपस्थित होते हैं।[3] ये विघ्न निम्न हैं—प्रतिभा, श्रवण, वार्ता, दर्शन, आस्वाद, वेदना। ये षड् (छ:) उपसर्ग योग के व्यय के लिये हुआ करते हैं।

इस तरह शिव पुराण में योगियों की बहुत सी दिव्य सिद्धियाँ वर्णित हैं। उनका वर्णन अत्यधिक विस्तृत एवं अनावश्यक होने के कारण यहाँ नहीं किया जा रहा है। ये सिद्धियाँ,

---

1. धातुवैषम्यजा दोषा व्याधय: कर्मदोषजा:।—शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—38 : 3
2. वही—38 : 7
3. वही—38 : 9

जिन्हें शिव पुराण में उपसर्ग की संज्ञा दी गयी है, योगी को योग से, महायोग से, जिसे शिवतादात्म्य कहते हैं, की ओर बढ़ने में बाधक होती हैं। इनके प्रलोभन में पड़कर साधक अपने चरम लक्ष्य से वंचित रह जाता है। यही कारण है कि योग दर्शन (पुराण-वर्णित एवं पातंजल योग दर्शन) का कड़ा आदेश है कि साधक इन सिद्धियों के लोभ में कभी भी न पड़े। जो इन सिद्धियों को तृण के समान समझ कर इनका परित्याग कर देता है, उसे ही परायोग सिद्धि की प्राप्ति होती है।[1] योग का लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति है। साधक को अलौकिक ऐश्वर्यों की चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिये, नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता हे। साधक को चाहिये कि वह सिद्धियों को फेर में न पड़कर आगे बढ़ता जाय और अन्तिम लक्ष्य (पूर्ण मुक्ति) तक पहुँच जाय।

पातंजल योग से शिव पुराण योग की तुलना—

शिव पुराण में वर्णित योगांगों एवं पातंजल योगसूत्र में वर्णित योगांगों की विधियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। शिव पुराण योग की अधिकांश बातों के लिए पातंजल योगसूत्र का ऋणी है। इस बात की सूचना स्वयं शिव पुराण में ही उपलब्ध है। अन्य तात्त्विक समता के अतिरिक्त पातंजल योगसूत्र को स्पष्ट शब्दों में वहाँ निर्देश भी किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं शिव पुराण पातंजल योगसूत्र से एक भिन्न दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ शिव पुराण में बतलाया गया है कि 'पर' प्राणायाम के समय साधक को जल्प, भ्रमण एवं मूर्छा आदि होता है। इसी तरह कई शारीरिक विकार भी वहाँ बतलाये गये हैं। किन्तु पातंजल योगसूत्र में ऐसी बातें घटित नहीं होतीं और न इनका वहाँ वर्णन ही है।

शिव पुराण और पातंजल योगसूत्र में दूसरा वैभिन्य वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर शिव पुराण में कहा गया है कि योगी (साधक) जब योग की मुद्रा में बैठे तो वह अपनी दृष्टि

---

1. शि० पु०, वा० सं०, उ० खं०—38 : 44

को नासिकाग्र पर एकत्रित करे और इतस्ततः दिशाओं की ओर अपनी दृष्टि न ले जाय। पातंजल योगसूत्र में योग की इस मुद्रा का वर्णन नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक उल्लेख्य अन्तर यह है कि पतंजलि का योगसूत्र, सर्वप्रथम, मन को स्थूल जागतिक पदार्थों पर केन्द्रित होने को कहकर, पुनः तन्मात्राओं, इन्द्रियों एवं अहंकार पर क्रमशः बढ़ने (केन्द्रित होने) की सम्मति देता है तब शिव पुराण के शैवयोग का योगी शिव स्वभाव का ही ध्यान करता है। योगशास्त्र में भी यह कहा गया है कि कोई योगी, इस क्रम से न बढ़कर, ईश्वर का ही ध्यान कर सकता है। और इस ईश्वर के ध्यान से ही कोई योगी मोक्ष लाभ कर सकता है। योगशास्त्र के अनुसार योगी का ध्यानाभ्यास द्विधा होता है। प्रथम तो यह है कि वह सीधे ईश्वर का ध्यान कर सकता है और दूसरी पद्धति यह है कि योगी ध्यान की क्रमिक सीढ़ियों (श्रेणियों) से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम की ओर बढ़ता हुआ अन्त में अपने को पूर्णरूप से प्रकृति में विलीन कर देता है जिससे कि पुनः इस संसार में उसका आगमन न हो। मन के उक्त क्रमिक विकसित होते हुए ध्यान का परिणाम यह होता है कि मन पर पड़े सांसारिक प्रभाव शनैः शनैः समाप्त हो जाते हैं। इससे ईश्वर साक्षात्कार करने में सारल्य होता है।

नादानुसन्धान—

उमा संहिता के षड्विंशति अध्याय में कालवंचन (कालविजय) के प्रसंग में नादानुसन्धान का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया गया है। यतः नादानुसन्धान-प्रक्रिया योग का एक अंग है, अतः यहाँ उसका वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

योग के जानकार मनुष्य को चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्रजा के सो जाने पर दीपक रहित अन्धकाराच्छन्न, स्थान में, सुन्दर आसन पर आसीन हो, श्वास रोककर योग का अभ्यास करे।[1]

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 24

इस प्रसंग में योगी को चाहिए कि वह सर्वप्रथम एक मुहुर्त तक, तर्जनी नामक अंगुली से अपने कानों को खूब ढक कर रक्खे। ऐसा करने से वह्नि समुद्भव शब्द सुनाई पड़ता है।[1] शास्त्रकारों के अनुसार यह अनाहत ध्वनि सुषुम्णा नाड़ी में सुनी जाती है। कहीं-कहीं तो अंगुष्ठ से कर्ण का, तर्जनी से नेत्र का, अन्य अवशिष्ट अंगुलियों से नासापुट एवं मुख के भी आच्छादन की बात कही गयी है।[2] जो साधक नित्य इसी प्रकार दो घड़ी तक उक्त शब्द को सुनता है वह इच्छा और मृत्यु को जीतकर जगत् में मुक्त पर्यटन करता है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करता है।

उक्त वह्नि समुद्भव शब्द, वर्षाकालीन जल से परिपूर्ण, आकाश में विचरण करने वाले, मेघ के निनाद की भाँति बतलाया गया है। इस ध्वनि को सुनकर योगी शीघ्र ही संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जैसे-जैसे योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे यह ध्वनि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होकर, उसके द्वारा, सुनी जाती है।[3] यह ध्वनि ही शब्द ब्रह्म कही जाती है। इसके जान लेने पर, प्राणी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[4]

प्राणज्ञ मनीषियों के द्वारा उक्त वह्नि-समुद्भव शब्द नव प्रकार का कहा गया है, अर्थात् वह नव प्रकार से सुना जाता है। सर्वप्रथम वह शब्द घोष की भाँति सुनाई पड़ता है। यह नाद आत्मशुद्धिकारक, सम्पूर्ण व्याधियों का हरण करने वाला, साधक को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला कहा गया है। इसके बाद क्रमशः वह शब्द कांस्य, शृंग, घण्टा, वीणा, वांशिक, दुन्दुभि, शंख, एवं मेघ की ध्वनि की भाँति सुनाई पड़ता है।[5]

किन्तु शिव पुराण का कहना है कि साधक को चाहिये कि वह इन नवविध शब्दों का

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 28
2. हठयोग, उपदेश 4, श्लोक—68
3. शि० पु०, उ० सं० 26 : 29
4. वही—26 : 30
5. वही—26 : 40

परित्याग कर इनसे भी श्रेष्ठ एवं उद्ध्र्वस्थित 'तुंकार' नाद का अभ्यास करे। जो साधक अनन्य मन से नित्य ही ब्रह्मरूप 'तुंकार' का अभ्यास करता है उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है।[1]

शास्त्रान्तर से ज्ञात होता है कि जब साधक अपने हाथों से कानों को ढककर, श्वास का अवरोधन कर, अनाहत ध्वनि को सुनने का अभ्यास करता है, तब जैसे-जैसे प्राणवायु क्रमशः ऊपर की ओर स्थित ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि (यह कण्ठ में वर्तमान है), भ्रूमध्याकाश, रुद्रग्रन्थि (यह ग्रन्थि आज्ञाचक्र में वर्तमान है) आदि स्थानों का भेदन कर ऊपर की ओर उठता है वैसे-वैसे सूक्ष्म-सूक्ष्म ध्वनियों का श्रवण होता है। सर्वप्रथम यह ध्वनि स्थूल रूप से सुनाई पड़ती है किन्तु साधक का जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसे सूक्ष्म ध्वनि का श्रवण होने लगता है।[2] एक-एक ध्वनि के श्रवण से साधक योगी को एक-एक सिद्धियाँ प्राप्त होती चलती हैं। जैसे दुन्दुभिशब्द के ध्यान से साधक जरा मृत्यु को जीत लेता है। शंख शब्द से वह कामरूप हो जाता है, आदि-आदि।[3] किन्तु 'तुङ्कार' के अभ्यास से साधक सब कुछ कर सकता है। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, कामरूपी हो जाता है। उसे कभी किसी प्रकार का विकार नहीं होता और वह अन्त में साक्षात् शिव ही हो जाता है।[4]

यह अनाहत ध्वनि ही शब्द ब्रह्म एवं परमतत्त्व के नाम से भी जानी जाती है। यही परम ब्रह्म भी है। व्यक्ति इस परमतत्त्व को जान लेने के अनन्तर जन्म एवं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यदि कोई सैकड़ों वर्ष का वृद्ध भी निद्रा एवं आलस्य रूप महाविघ्न को प्रयत्नपूर्वक जीतकर नित्य ही सुखासन पर स्थित हो शब्दब्रह्म का आयुपर्यन्त अभ्यास करता है तो वह भी

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 41, 52
2. हठयोग० उप० 4, श्लोक—70-76
3. शि० पु०, उ० सं०—26 : 44-53
4. वही—26 : 52

रोगरहित, वीर्यशाली एवं मृत्युंजय होता है। जब वृद्धों के ऊपर अनाहृत शब्द के अभ्यास का यह परिणाम है तो तरुणजनों के विषय में क्या कहना।

बुद्धिमान् प्राणी ओंकार, मन्त्रविशेष बीज आदि के अभ्यास पर बल न देकर अनुच्चार्य शब्दब्रह्म परमशिव रूप अनाहत का ही ध्यान करते हैं।[1] जिस प्रकार मकरन्द का पान करने वाला भृंग गन्ध की अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार नाद में आसक्त चित्त भी स्रक्, चन्दन एवं वनिता आदि विषयों की आकांक्षा नहीं करता। नादरूपबन्धन से बद्ध अतएव चापल्यशून्य मन उसी प्रकार से सुतरां स्थैर्य को प्राप्त करता है जैसे छिन्न पक्ष खग। अत: योग को चाहने वाले साधक को चाहिये कि वह सम्पूर्ण चिन्ताओं का परित्याग कर सावधान मन से नाद का ही अनुसन्धान करे।

शिव पुराण में भक्ति योग—

शिव पुराण के अनुसार सर्वज्ञ जगत् के ईश्वर परमात्म-शिव परम भक्ति से ही दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा इनका दर्शन नहीं होता। रुद्र, हरि, हर तथा और भी देवेश्वर परम भक्ति से ही उनके दर्शन की इच्छा करते हैं। मानव परमात्म-शिव में भक्ति करने मात्र से ही मुक्त हो जाता है।[2]

किन्तु परमात्म-शिव की यह भक्ति भी परम दुर्लभ है। उनके प्रसाद के बिना किसी भी प्राणी के हृदय में इसका प्रादुर्भाव असम्भव है। परन्तु जिस भाँति बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ईश्वर, भक्ति और प्रसाद में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परमात्म-शिव के प्रसाद से उनकी भक्ति एवं उनकी भक्ति से प्रसाद की प्राप्ति होती है।

---

1. शि० पु०, उ० सं०—26 : 38
2. शि० पु०, वि० सं०—3 : 12-14

छब्बीसवाँ अध्याय

योगियोंद्वारा कालकी गतिको टालनेका वर्णन

देवी बोलीं—हे देव! आपने यथार्थरूपसे कालज्ञानका वर्णन किया, योगिजन जिस प्रकार कालका वंचन करते हैं, आप उसे विधिपूर्वक कहिये। काल सभी प्राणियोंके सन्निकट घूमता है, किंतु योगी आये हुए कालको भी वंचित कर देता है, जिससे उसकी मृत्यु नहीं होती है। हे देव! मेरे ऊपर कृपा करके आप इसका वर्णन करें। हे सर्वसुखद! योगियोंके हितके लिये इसका वर्णन करें॥ १—३॥

शिवजी बोले—हे देवि! हे शिवे! तुमने मुझसे जो पूछा है, उसे मैं सभी मनुष्योंके हितार्थ संक्षेपमें कहूँगा, तुम सुनो। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश—इनका समायोग ही पांचभौतिक शरीर है॥ ४-५॥

आकाशतत्त्व सर्वव्यापी है तथा सभीमें सर्वत्र स्थित है। आकाशमें ही सभी लय हो जाते हैं एवं पुनः उसीसे प्रकट भी हो जाते हैं। हे सुन्दरि! आकाशसे वियुक्त हो जानेपर पंचभूत अपने-अपने स्थानमें मिल जाते हैं, उस सन्निपातकी स्थिरता नहीं है॥ ६-७॥

सभी ज्ञानी लोग तपस्या एवं मन्त्रके बलसे यह सब भलीभाँति जान लेते हैं। इसमें संशय नहीं है॥ ८॥

देवी बोलीं—आकाशतत्त्व उस घोररूप कालके द्वारा नष्ट हो जाता है; क्योंकि काल कराल एवं त्रिलोकीका स्वामी है। आपने उस कालको भी जला दिया था, किंतु स्तोत्रोंद्वारा स्तुति किये जानेपर आप उसपर सन्तुष्ट हो गये और उसने पुनः अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया॥ ९॥

आपने वार्तालापके माध्यमसे उससे कहा कि तुम लोगोंसे अदृश्य रहकर विचरण करोगे। उस समय आपने उसे महान् प्रभाववाला देखा और आप प्रभुके वरके प्रभावसे वह पुनः उठ खड़ा हुआ॥ १०॥

हे महेश! क्या इस जगत्में कोई साधन है, जिससे काल मारा जा सके, उसे मुझको बताइये; आप योगियोंमें श्रेष्ठ, प्रभावशाली तथा स्वतन्त्र हैं और परोपकारके लिये शरीर धारण किये हुए हैं॥ ११॥

शंकरजी बोले—हे देवि! बड़े-बड़े देवताओं, दैत्यों, यक्षों, राक्षसों, सर्पों एवं मनुष्योंसे भी काल नहीं मारा जा सकता है, किंतु जो ध्यानपरायण देहधारी योगी होते हैं, वे सरलतापूर्वक कालको मार डालते हैं॥ १२॥

सनत्कुमार बोले—तीनों लोकोंके गुरु शिवकी बात सुनकर पार्वतीने हँसकर कहा—आप मुझे सच-सच बताइये कि योगी किस प्रकार इस कालको अपने वशमें कर लेते हैं? तब शिवजीने उनसे कहा—हे चन्द्रमुखी! निष्पाप तथा एकाग्रचित्त जो योगीजन हैं, वे जिस प्रकार [निमेषादि] कलाओंवाले कालरूपी सर्पको शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं, उसे तुम सुनो॥ १३॥

शंकरजी बोले—हे वरारोहे! यह पंचभूतात्मक शरीर सदा उनके रूप-रसादि गुणोंसे युक्त होकर उत्पन्न होता है और पुनः यह पार्थिव शरीर उन्हींमें विलीन भी हो जाता है॥ १४॥

आकाशसे वायु उत्पन्न होता है, वायुसे तेज उत्पन्न होता है, तेजसे जल उत्पन्न होता है और जलसे पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये क्रमशः पृथ्वी आदि पंचभूत एक-दूसरेमें पूर्व-पूर्वके क्रमसे विलीन होते हैं। पृथ्वी पाँच गुणोंवाली कही गयी है। जल चार गुणोंवाला, तेज तीन गुणोंवाला तथा वायु दो गुणोंवाला है। इन पृथिवी आदिमें आकाशतत्त्व एकमात्र शब्द गुणवाला कहा गया है॥ १५—१७॥

जब पंचमहाभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध—अपने-अपने इन गुणोंको त्याग देते हैं तो प्राणीकी मृत्यु हो जाती है और जब अपने-अपने गुणोंको ग्रहण करते हैं, तब उसीको जीवका प्रकट होना कहा जाता है। हे देवेशि! इस प्रकार पाँचों भूतोंको ठीक-ठीक जानो॥ १८-१९॥

अतः हे देवेशि! कालको जीतनेकी इच्छावाले योगीको यत्नपूर्वक अपने-अपने कालमें उसके अंशभूत हुए गुणोंपर विचार करना चाहिये॥ २०॥

पार्वतीजी बोलीं—हे योगवेत्ता प्रभो! योगी लोग ध्यानसे अथवा मन्त्रसे किस प्रकार कालको जीतते हैं, वह सब मुझसे कहिये?॥ २१॥

शंकरजी बोले—हे देवि! सुनो, मैं योगियोंके हितके लिये इसे कहूँगा, जिस किसीको इस उत्कृष्ट ज्ञानका उपदेश प्रदान नहीं करना चाहिये। हे भामिनि! इसका उपदेश श्रद्धालु, भक्त, बुद्धिमान्, आस्तिक, पवित्र तथा धर्मपरायण व्यक्तिको ही करना चाहिये॥ २२-२३॥

योगीको चाहिये कि उत्तम आसनपर विराजमान हो प्राणायामके द्वारा योगका अभ्यास करे, विशेषकर सब लोगोंके सो जानेपर बिना दीपके अन्धकारमें ही योगाभ्यास करना चाहिये॥ २४॥

एक मुहूर्ततक तर्जनी अँगुलीसे दोनों कान दबाकर बन्द रखे, ऐसा करनेसे [कुछ देर बाद] अग्निप्रेरित शब्द सुनायी पड़ने लगता है॥ २५॥

इससे सन्ध्याके बाद खाया हुआ अन्न क्षणभरमें पच जाता है और वह ज्वर आदि समस्त रोग-उपद्रवोंको शीघ्र नष्ट कर देता है॥ २६॥

जो योगी नित्य दो घड़ीपर्यन्त इस तरहके आकारका ध्यान करता है, वह काम तथा मृत्युको जीतकर अपनी इच्छासे इस लोकमें विचरण करता है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होकर सम्पूर्ण सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है। वर्षाकालमें जिस प्रकार मेघ आकाशमें शब्द करते हैं, उसी प्रकारका यह शब्द है। उसे सुनकर योगी शीघ्र ही संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसके बाद वह योगियोंद्वारा प्रतिदिन [चिन्तन किया जाता हुआ शब्द] सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होता जाता है॥ २७—२९॥

हे देवि! इस प्रकार मैंने शब्दब्रह्मके ध्यानकी यह विधि तुमसे कह दी। जिस प्रकार धानको चाहनेवाला पुआलका त्याग कर देता है, वैसे योगीको सांसारिक बन्धनका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिये। इस शब्दब्रह्मको प्राप्तकर जो कोई भी लोग अन्य पदार्थोंकी इच्छा रखते हैं, वे मानो अपनी मुट्ठीसे आकाशका भेदन करना चाहते हैं और [इस अमृतोपम योगको पा करके भी] भूख-प्यासकी अपेक्षा रखते हैं॥ ३०-३१॥

[शब्दब्रह्म नामसे कहे गये] परम सुख देनेवाले, मुक्तिके कारणस्वरूप, अन्तःकरणमें स्थित, अविनाशी तथा सभी उपाधियोंसे रहित इस परब्रह्मको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाते हैं। जो इस शब्दब्रह्मको नहीं जानते, वे कालके पाशसे मोहित होकर मृत्युके वशमें होते हैं एवं वे पापी तथा कुबुद्धि हैं। वे संसारचक्रमें तभीतक भटकते रहते हैं, जबतक उन्हें धाम (सबका आश्रय) प्राप्त नहीं हो जाता। परमतत्त्वके ज्ञात हो जानेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूपी बन्धनसे छूट जाते हैं॥ ३२—३४॥

योगीको चाहिये कि वह निद्रा-आलस्यरूपी महाविघ्नकारी शत्रुको यत्नपूर्वक जीतकर सुखद आसनपर बैठ करके नित्यप्रति शब्दब्रह्मका अभ्यास करे। सौ वर्षकी आयुवाला वृद्ध मनुष्य इसे प्राप्त करके जीवनपर्यन्त इसका अभ्यास करे तो उसे आरोग्यलाभ होता है। उसकी वीर्यवृद्धि होती है और वह मृत्युको जीतकर अपने शरीरको स्थिर रखता है॥ ३५-३६॥

इस प्रकारका विश्वास जब वृद्धमें देखा जाता है, तब युवकजनमें इसकी बात ही क्या? यह शब्दब्रह्म न ॐकार है, न मन्त्र है, न बीज तथा न अक्षर ही है। हे देवि! यह शब्दब्रह्म अनाहत तथा उच्चारणसे रहित होता है और यह परम कल्याणकारी है, हे प्रिये! उत्तम बुद्धिवाले यत्नपूर्वक निरन्तर इसका ध्यान करते हैं॥ ३७-३८॥

उसी अनाहत नादसे [प्रकट होनेवाले] नौ प्रकारके शब्द कहे गये हैं, जिन्हें प्राणवेत्ताओंने परिलक्षित किया है। हे देवि! उन्हें तथा नादसिद्धिको यत्नपूर्वक कहता हूँ—घोष, कांस्य, शृंग, घण्टा, वीणा, बाँसुरी, दुन्दुभि, शंखशब्द और नौवाँ मेघगर्जन—[ये अनाहतसे प्रकट होनेवाले शब्द हैं। योगी] इन नौ शब्दोंका त्यागकर तुंकारशब्दका अभ्यास करे। इस प्रकार ध्यान करनेवाला योगी पुण्यों एवं पापोंसे लिप्त नहीं होता है॥ ३९—४१॥

हे देवि! जब योगाभ्याससे युक्त योगी सुननेका यत्न करते हुए भी नहीं सुन पाये तो भी मृत्युके समीप आनेपर भी योगी रात-दिन इसी प्रकारका अभ्यास करता रहे, तब उससे सात दिनोंमें मृत्युको जीतनेवाला शब्द उत्पन्न होता है। हे देवि! वह नौ प्रकारका होता है। मैं यथार्थरूपसे उसका वर्णन करता हूँ॥ ४२-४३॥

पहला घोषात्मक नाद होता है, वह आत्माको शुद्ध करनेवाला, श्रेष्ठ, सभी प्रकारकी व्याधियोंको दूर करनेवाला, मनको वशीभूतकर अपने प्रति आकृष्ट करनेवाला तथा उत्तम होता है॥ ४४॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत पाँचवीं उमासंहितामें कालवंचनवर्णन नामक छब्बीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय

अमरत्व प्राप्त करनेकी चार यौगिक साधनाएँ

देवी बोलीं—योगी योगाकाशसे उत्पन्न वायुपद कैसे प्राप्त करता है, हे प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो यह सब मुझे बताइये॥ १॥

शंकर बोले—[हे देवि!] योगियोंके हितकी कामनासे मैंने पहले सभी बातोंको कह दिया है, अब जिस प्रकार योगी कालको अच्छी तरह जीतकर वायुस्वरूप हो जाता है, उसको सुनो॥ २॥

हे सुन्दरि! उस [योगसामर्थ्य]-से [मृत्युके] दिनको जानकर प्राणायाममें तत्पर योगी आधे महीनेमें ही आये हुए कालको जीत लेता है॥ ३॥

हृदयमें स्थित रहनेवाला वायु सदा अग्निको प्रदीप्त करता है। अग्निके पीछे चलनेवाला वह महान् तथा सर्वगामी वायु भीतर और बाहर सभी जगह व्याप्त है। ज्ञान, विज्ञान एवं उत्साह—इन सबकी प्रवृत्ति वायुसे होती है, जिसने इस लोकमें वायुको जीत लिया, उसने इस सम्पूर्ण जगत्को जीत लिया॥ ४-५॥

योगपरायण योगी सम्यक् धारणा-ध्यानमें तत्पर रहे, उसे जरा-मृत्युके विनाशकी इच्छासे सदा धारणामें निष्ठा करनी चाहिये॥ ६॥

हे मुने! जिस प्रकार लोहार मुखसे वायुके द्वारा धौंकनीको फुलाकर कार्य सिद्ध करता है, उसी प्रकार योगीको भी अभ्यास करना चाहिये॥ ७॥

[प्राणायामके समय जिनका ध्यान किया जाता है] वे [आराध्य] देव [परमेश्वर] सहस्रों मस्तक, नेत्र, पैर और हाथोंसे युक्त हैं तथा समस्त ग्रन्थियोंको आवृतकर उनसे भी दस अंगुल आगे स्थित हैं। प्राणवायुको नियन्त्रितकर व्याहृतिपूर्वक तीन बार गायत्रीका शिरोमन्त्र-सहित जप करे, उसे प्राणायाम कहा जाता है॥ ८-९॥

चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह आते-जाते रहते हैं, किंतु प्राणायामपूर्वक ध्यानमें तत्पर योगी आजतक कभी नहीं लौटे अर्थात् कैवल्यको प्राप्त हो गये॥ १०॥

हे देवि! सौ वर्षतक तप करके ब्राह्मण कुशाके

अग्रभागके बराबर (बिन्दुमात्र) जलको पीकर जो फल प्राप्त करता है, उसे वह (योगी) एक प्राणायामके द्वारा ही प्राप्त कर लेता है। जो द्विज प्रात:काल उठकर एक प्राणायाम करता है, वह अपने सभी पापोंको नष्टकर शीघ्र ही ब्रह्मलोकको जाता है॥ ११-१२॥

जो सदा आलस्यरहित होकर एकान्तमें प्राणायाम करता है, वह जरा तथा मृत्युको जीतकर वायुके समान गतिशील होकर आकाशमें विचरण करता है। वह सिद्ध पुरुषका रूप; कान्ति, मेधा, पराक्रम तथा शौर्य प्राप्त कर लेता है और गतिमें वायुके समान होकर प्रशंसनीय सौख्य तथा परम सुख प्राप्त करता है॥ १३-१४॥

हे देवेशि! जिस प्रकार योगी वायुसे सिद्धि प्राप्त करता है, वह सब मैंने तुमसे कह दिया, अब जिस प्रकार उन्हें तेजसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है, उसे मैं तुमसे कहूँगा॥ १५॥

जहाँ दूसरोंकी बातचीतका कोलाहल न हो, ऐसे शान्त एकान्त स्थानमें सुखासनपर बैठकर चन्द्रमा और सूर्य (वाम और दक्षिण नेत्र)-की कान्तिसे प्रकाशित मध्यवर्ती देश अर्थात् भ्रूमध्यभागमें जो अग्निका तेज अव्यक्तरूपसे प्रकाशित होता है, उसे आलस्यरहित योगी प्रकाशरहित अन्धकारपूर्ण स्थानमें चिन्तन करनेपर निश्चय ही देख सकता है॥ १६-१७॥

योगी यत्नपूर्वक नेत्रोंको हाथकी अँगुलियोंसे कुछ दबाकर उनके तारोंको देखते हुए एकाग्रचित्तसे आधे मुहूर्ततक उनका ध्यान करे॥ १८॥

उसके बाद ध्यान करता हुआ वह अन्धकारमें श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण तथा इन्द्रधनुषके समान कान्तिवाले ईश्वरीय तेजको देखता है॥ १९॥

दोनों भौंहोंके मध्यमें ललाटस्थित बालसूर्यके समान उस तेजको जानकर वह इच्छानुसार कामरूपधारी होकर मनोवांछित शरीरसे क्रीडा करता है॥ २०॥

निरन्तर अभ्यासके योगसे उसमें कारणको शान्त करना, आवेश, परकायाप्रवेश, अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति, मनसे सारी वस्तुओंका अवलोकन, दूरसे सुननेकी शक्ति, स्वयं अदृश्य हो जाना, अनेक रूप धारण करना एवं आकाशमें विचरणकी शक्ति—यह सब (सामर्थ्य) उत्पन्न हो जाता है॥ २१-२२॥

वेदाध्ययनसे सम्पन्न तथा अनेक शास्त्रोंमें प्रवीण ज्ञानीलोग भी अपने पूर्व कर्मोंके वशीभूत होकर मोहित हो जाते हैं। पापसे मोहित हुए मूढ़ मनुष्य लोकमें देखते हुए भी अन्धेके समान नहीं देखते और सुनते हुए भी बहरेके समान नहीं सुनते हैं॥ २३-२४॥

सूर्यके समान वर्णवाले तथा अन्धकारसे परे उस परम पुरुषको मैं जानता हूँ, इस प्रकार जानकर योगी मृत्युका अतिक्रमण कर लेता है, मुक्त होनेके लिये इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है॥ २५॥

[हे देवि!] मैंने तेजस्तत्त्वके चिन्तनकी यह उत्तम विधि तुमसे कह दी, जिसके द्वारा कालको जीतकर योगी अमरत्वको प्राप्त हो जाता है। हे देवि! अब मैं इससे भी उत्कृष्ट बात कहूँगा, जिससे मृत्यु नहीं होती, तुम सावधानीपूर्वक एकाग्र मनसे सुनो॥ २६-२७॥

हे देवि! प्राणियोंकी तथा ध्यान करनेवाले योगियोंकी तुरीयावस्था होती है। स्थिर चित्तवाले योगीको सुखद आसनपर यथास्थान स्थित हो शरीरको ऊँचा उठाकर दोनों हाथ सम्पुटितकर चोंचके आकारवाले मुखसे धीरे-धीरे वायुका पान करना चाहिये। थोड़ी ही देरमें तालुमें स्थित जीवनदायी जो जलबिन्दु टपकने लगते हैं, उन अमृतके समान शीतल जलबिन्दुओंको वायुसे ग्रहण करके सूँघे। इस प्रकार प्रतिदिन उसे पीनेवाला योगी मृत्युके वशीभूत नहीं होता है और वह दिव्य शरीरवाला, महातेजस्वी और भूख-प्याससे रहित हो जाता है॥ २८—३१॥

वह मनुष्य बलमें हाथीके समान, वेगमें घोड़ेके समान, दृष्टिमें गरुड़के समान, दूरसे सुननेकी शक्तिवाला, कुण्डलके समान घुँघराले काले केशवाला और गन्धर्वों एवं विद्याधरोंके समान स्वरूपवाला होता है और बुद्धिमें बृहस्पतिके समान होकर देवताओंके सौ वर्षतक जीवित रहता है। ऐसा करता हुआ वह सुखपूर्वक स्वेच्छाचारी रहकर आकाशमें भ्रमण करता है॥ ३२-३३॥

हे वरानने! अब मैं दूसरी विधिका वर्णन करता हूँ,

जिसे देवगण भी नहीं जानते, तुम प्रयत्नपूर्वक उसका श्रवण करो॥ ३४॥

योगी अपनी जीभको सिकोड़कर तालुमें लगानेका अभ्यास करे तो कुछ समयके बाद वह लम्बिकाको प्राप्त कर लेती है। तब तालुसे स्पृष्ट हुई वह जिह्वा शीतल अमृतका स्राव करने लगती है, उसको निरन्तर पीता हुआ वह योगी अमरत्व प्राप्त कर लेता है॥ ३५-३६॥

जैसे हाथसे निचोड़नेसे गीली वस्तुसे रस टपकता है, उसी प्रकार रेफाग्र तथा लम्बिकाग्रसे निर्मल कमल-बिन्दुसे प्राप्त वह देवताओंको आनन्द देनेवाला अमृत परपदमें गिरता है। संसारको तारनेवाले, पापनाशक, कालसे बचानेवाले अमृतसारसे जिसने अपने शरीरको आप्लावित कर लिया, वह भूख-प्याससे रहित होकर अमर हो जाता है॥ ३७॥

हे पार्वति! यह सारा संसार जिस सुखके लिये सदा लालायित रहता है, उसे ये चार प्रकारके योगीजन सदा धैर्य धारण करते हुए अपने अन्त:करणमें धारण करते हैं। प्राणी स्वप्नमें भी स्वर्गमें अथवा भूमिपर जिसे सुख मानता है, वास्तवमें वह दु:ख ही है, इस प्रकारका सुख तो इन चारों योगियोंके लिये किंचिन्मात्र भी सुखकर नहीं है॥ ३८॥

अत: मन्त्र, तप, व्रत, नियम, नीतिविनयसे युक्त धर्मवेत्ता मनुष्योंसे और औषधियों तथा योगसे युक्त यह रागमयी पृथ्वी उत्तम फल देती है। भूतोंके आदि-देव शिवजी इन चार प्रकारके योगोंसे युक्त होकर विचलित नहीं होते। अत: अब मैं विधिसहित शिव नामक छायापुरुषका वर्णन करता हूँ, जो साक्षात् शिवस्वरूप हैं॥ ३९॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत पाँचवीं उमासंहितामें कालवंचनशिवप्राप्तिवर्णन नामक सत्ताईसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ २७॥

चौथा अध्याय

शिवकी मायाका प्रभाव

मुनिगण बोले—हे तात! हे तात! हे महाभाग! हे महामते! आप धन्य हैं; क्योंकि आपने परम भक्ति प्रदान करनेवाली यह अद्भुत शिवकथा सुनायी है॥ १॥

[हे सूतजी!] व्यासदेवके प्रश्नके अनुसार पुनः शिवकी कथा कहिये। आप सर्वज्ञ, व्यासजीके शिष्य और शिवतत्त्वके ज्ञाता हैं॥ २॥

सूतजी बोले—इसी प्रकार मेरे गुरु व्यासजीने सब कुछ जाननेवाले शिवभक्त मुनीश्वर ब्रह्मपुत्र सनत्कुमारजीसे पूछा था॥ ३॥

व्यासजी बोले—हे सनत्कुमार! हे सर्वज्ञ! आपने अनेक प्रकारसे लीलाविहार करनेवाले महेश्वर शंकरकी यह शुभ कथा सुनायी। आप पुनः महादेव शिवकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन करें। हे तात! मेरी बहुत अधिक श्रद्धा उसे सुननेके लिये बढ़ रही है॥ ४-५॥

विविध प्रकारसे लीलाविहार करनेवाले सदाशिवकी जिस महिमा तथा मायाके प्रभावसे ज्ञानरहित होकर लोकमें

जो-जो लोग विमोहित हुए, उनकी कथा सुनाइये॥ ६॥

सनत्कुमार बोले—हे व्यास! हे महामते! शंकरकी सुखदायिनी कथाको सुनिये, जिसके सुननेमात्रसे शिवजीके प्रति भक्ति उत्पन्न हो जाती है॥ ७॥

शिवजी ही सर्वेश्वर देवता, सर्वात्मा एवं सभीके द्रष्टा हैं, उनकी महिमासे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है॥ ८॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रके रूपमें भगवान् शिवकी ही त्रिलिंगात्मिका परामूर्ति अभिव्यक्त हो रही है और समस्त प्राणियोंकी आत्माके रूपमें उन्हींकी निष्कल मूर्ति स्थित है॥ ९॥

आठ प्रकारकी देवयोनियाँ, नौवीं मनुष्ययोनि एवं पाँच प्रकारकी तिर्यग् योनियाँ—इन सबको मिलाकर चौदह योनियाँ होती हैं। जो हो चुके हैं, विद्यमान हैं तथा आगे होनेवाले हैं—ये सभी [प्राणि-पदार्थ] शिवसे ही उत्पन्न होते हैं, वृद्धिको प्राप्त होते हैं और अन्तमें शिवमें ही विलीन हो जाते हैं॥ १०-११॥

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, चन्द्र, देवता, दानव, नाग, गन्धर्व, मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणियोंके बन्धु, मित्र, आचार्य, रक्षक, नेता, धनदाता, गुरु, भाई, पिता, माता एवं [वांछित फलोंको देनेवाले] कल्पवृक्षस्वरूप शिवजी ही माने गये हैं॥ १२-१३॥

शिव सर्वमय हैं, वे ही मनुष्योंके लिये जाननेयोग्य हैं तथा परसे भी परे हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता और जो पर तथा अनुपर हैं, उनकी माया परम दिव्य तथा सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली है और हे मुने! देवता, असुर एवं मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत् उसीके अधीन है॥ १४-१५॥

शिवजीकी मायाने मनसे उत्पन्न होनेवाले, अपने प्रबल सहयोगी कामके द्वारा विष्णु आदि सभी प्रबल वीर देवताओंको भी अपने अधीन कर लिया है॥ १६॥

हे मुनीश्वर! शिवकी मायाके प्रभावसे विष्णु भी कामसे मोहित हो गये। देवताओंके स्वामी दुष्टात्मा इन्द्र भी गौतमकी पत्नीपर मोहित होकर पापकर्ममें प्रवृत्त हुए, तब उनको मुनिने शाप दे दिया॥ १७-१८॥

जगत्में श्रेष्ठ अग्निदेव भी अहंकारके कारण शिवकी मायासे मोहित हो कामके अधीन हो गये, बादमें उन [शिवजी]-ने ही उनका उद्धार किया॥ १९॥

हे व्यास! जगत्के प्राणस्वरूप वायु भी शिवकी मायासे मोहित होकर कामके वशीभूत होकर प्रेममें आसक्त हो गये॥ २०॥

शिवकी मायासे मोहित हुए प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेवने भी घोड़ी [के रूपमें स्थित अपनी पत्नी संज्ञा]-को देखकर कामसे व्याकुल होकर घोड़ेका स्वरूप धारण किया॥ २१॥

शिवमायासे विमोहित होकर कामसे व्याकुल चन्द्रमाने भी आसक्त होकर गुरुपत्नीका अपहरण किया, बादमें उन शिवने ही उनका उद्धार किया॥ २२॥

पूर्व समयमें मित्र एवं वरुण—दोनों मुनि तपस्यामें स्थित थे, तब शिवकी मायासे मोहित हुए वे दोनों उर्वशी [अप्सरा]-को देखकर मुग्धचित्त तथा कामनायुक्त हो गये। तब मित्रने अपना तेज घड़ेमें और वरुणने जलमें छोड़ दिया। तत्पश्चात् उस कुम्भसे वडवाग्निके समान कान्तिवाले अगस्त्य उत्पन्न हुए और वरुणके तेजसे जलसे वसिष्ठका जन्म हुआ॥ २३—२५॥

पूर्वकालमें ब्रह्माके पुत्र दक्ष भी शिवमायासे मोहित हो गये और भाइयोंके साथ वे अपनी भगिनीसे सम्पर्ककी कामनावाले हो गये॥ २६॥

शिवमायासे मोहित होकर ब्रह्मा भी अनेक बार स्त्री-संगकी कामनावाले हो गये॥ २७॥

महायोगी च्यवन भी शिवकी मायासे मोहित हो गये और उन्होंने कामासक्त हो [अपनी पत्नी] सुकन्याके साथ विहार किया॥ २८॥

पूर्वकालमें [महर्षि] कश्यपने शिवमायासे मोहित होकर कामके अधीन हो मोहपूर्वक राजा धन्वासे उनकी कन्याकी याचना की। शिवकी मायासे मोहित हुए गरुड़ने भी शांडिली नामक कन्याको ग्रहण करनेकी इच्छा की, तब उनके अभिप्रायको जान लेनेके बाद उसने उनके पंखोंको भस्म कर दिया॥ २९-३०॥

मुनि विभांडक स्त्रीको देखकर कामके अधीन हो गये और शिवकी प्रेरणासे हरिणीसे ऋष्यशृंग नामक पुत्र

उन्हें उत्पन्न हुआ॥ ३१॥

शिवमायासे मोहित चित्तवाले महर्षि गौतम शारद्वतीको वस्त्रहीन देखकर क्षुब्ध हो गये और उन्होंने उसके साथ रमण किया॥ ३२॥

तपस्वी [भारद्वाज]-ने [घृताची अप्सराको देखकर] अपने स्खलित वीर्यको द्रोणीमें रख दिया, तब उस कलशसे शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य उत्पन्न हुए॥ ३३॥

शिवकी मायासे मोहित होकर महायोगी पराशरने भी निषादराजकी कुमारी कन्या मत्स्योदरीके साथ विहार किया॥ ३४॥

हे व्यास! विश्वामित्र भी शिवमायासे मोहित हो गये और उन्होंने कामके वशीभूत हो वनमें मेनकाके साथ रमण किया। नष्ट बुद्धिवाले उन्होंने वसिष्ठके साथ विरोध किया और शिवकी कृपासे ही पुनः वे [क्षत्रियसे] ब्राह्मण हो गये॥ ३५-३६॥

विश्रवाके पुत्र कामासक्त दुर्बुद्धि रावणने शिवकी मायासे विमोहित होकर सीताका अपहरण किया और अन्तमें उसकी मृत्यु हुई॥ ३७॥

शिवकी मायासे विमोहित हुए जितेन्द्रिय मुनिवर बृहस्पतिने अपने भाईकी पत्नीके साथ रमण किया, उसके फलस्वरूप महर्षि भरद्वाज उत्पन्न हुए॥ ३८॥

हे व्यास! इस प्रकार मैंने महात्मा शिवकी मायाके प्रभावका आपसे वर्णन कर दिया, अब आप आगे और क्या सुनना चाहते हैं?॥ ३९॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत पाँचवीं उमासंहितामें शिवमाया-प्रभाववर्णन नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ॥ ४॥

बाईसवाँ अध्याय

देहकी उत्पत्तिका वर्णन

व्यासजी बोले—हे मुनीश्वर! हे तात! रागनिवृत्तिके लिये इस समय विधिपूर्वक जीवके जन्म तथा गर्भमें उसकी स्थितिका वर्णन कीजिये॥ १॥

सनत्कुमार बोले—हे व्यास! अब मैं संक्षेपमें सम्पूर्ण शास्त्रोंके साररूप उत्तम वैराग्यका वर्णन करूँगा, जो मुमुक्षुजनके संसाररूप बन्धनको काटनेवाला है॥ २॥

पाकपात्रके मध्य स्थित अन्न और जल अलग-अलग रहते हैं। अग्निके ऊपर जल रहता है तथा जलके ऊपर अन्न रखा जाता है। जलके नीचे स्थित अग्निको वायु धीरे-धीरे प्रज्वलित करता है, वायुसे प्रेरित हुई अग्नि जलको उष्ण करती है॥ ३-४॥

गर्म हुए जलसे उस अन्नका भलीभाँति परिपाक होता है। पका हुआ अन्न खा लेनेपर दो भागोंमें विभक्त हो जाता है, किट्ट अलग और रस अलग हो जाता है। वह किट्ट बारह मलोंके रूपमें बँटकर शरीरसे बाहर निकलता है। रस देहमें फैलता है, वह देह उससे पुष्ट होता है। कान, नेत्र, नासिका, जिह्वा, दाँत, लिंग, गुदा, नख—ये मलाश्रय हैं तथा कफ, पसीना, विष्ठा और मूत्र—ये मल हैं, सभी मिलाकर बारह कहे गये हैं॥ ५—७॥

हृदयकमलमें चारों ओरसे समस्त नाड़ियाँ बँधी हुई हैं, उन्हें रसवाहिनियाँ जानना चाहिये। हे मुने! मैं उनकी [संचरण] विधि कहता हूँ। प्राणवायु उन नाड़ियोंके मुखोंमें उस सूक्ष्म रसको स्थापित करता है, इसके बाद प्राण रससे उन नाड़ियोंको सन्तृप्त करता है॥ ८-९॥

प्राणवायुसे समन्वित हो सभी नाड़ियाँ उस रसको सारे शरीरमें फैला देती हैं। इस प्रकार नाड़ियोंके बीचमें प्रवाहित हुआ वह रस अपने शरीरद्वारा पकाया जाता है, इसके पाक हो जानेपर पुनः वह दो भागोंमें बँट जाता है। सबसे पहले उससे त्वचा बनती है, जो शरीरको वेष्टित करती है, बादमें रक्त बनता है। रक्तसे लोम और मांस बनते हैं, मांससे केश और स्नायु बनते हैं, स्नायुसे अस्थियाँ और अस्थियोंसे नख एवं मज्जा बनते हैं। मज्जासे प्रसवका कारणस्वरूप शुक्र बनता है, अन्नका यह बारह प्रकारका परिणाम कहा गया है॥ १०—१३॥

अन्नसे शुक्र बनता है और शुक्रसे दिव्य देहकी उत्पत्ति होती है। जब ऋतुकालमें निर्दोष शुक्र योनिमें स्थित होता है, तब वायुके द्वारा वह स्त्रीके रक्तमें मिलकर एक हो जाता है। जब शुक्र शरीरसे स्खलित होकर स्त्रीकी योनिमें प्रविष्ट होता है, तब उसी समय कारणदेहसे संयुक्त होकर जीव अपने कर्मवश निगूढरूपसे स्त्रीयोनिमें प्रविष्ट हो जाता है। वह शुक्र और रक्त मिलकर एक दिनमें कलल बनता है। वह कलल पाँच रातमें बुद्बुदके आकारका हो जाता है और बुद्बुद सात रातमें मांसपेशी बन जाता है॥ १४—१७॥

इसके बाद ग्रीवा, सिर, दोनों कन्धे, पीठ (तथा मेरुदण्ड), पेट, हाथ, पैर, दोनों पार्श्व, कमर और गात्र क्रमशः दो महीनेके भीतर बन जाते हैं। तीन महीनेमें सभी अंकुरसन्धियाँ [जोड़] बन जाती हैं॥ १८-१९॥

चार महीनेमें क्रमानुसार अँगुलियाँ बन जाती हैं। पाँच महीनेमें मुख, नासिका तथा कान उत्पन्न हो जाते हैं, तत्पश्चात् दाँतोंकी पंक्ति, गुह्यभाग और नख प्रकट हो जाते हैं। छः महीनेके भीतर कानोंका छिद्र प्रकट हो जाता है॥ २०-२१॥

सात महीनेमें गुदा, मेह-उपस्थेन्द्रिय, नाभि और अंगोंमें जो सन्धियाँ हैं—ये सब उत्पन्न हो जाते हैं॥ २२॥

हे मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार अंग-प्रत्यंगसे पूर्ण वह जीव परिपक्व होकर जरायुसे लिपटा हुआ माताके उदरमें स्थित रहता है॥ २३॥

नाभिनालमें बँधा हुआ वह [जीव] माताके आहारसे प्राप्त छः प्रकारके रसोंसे प्रतिदिन बढ़ता रहता है॥ २४॥

तत्पश्चात् शरीरके पूर्ण हो जानेपर उस जीवको स्मृति प्राप्त होती है। वह अपने पूर्वजन्मके किये गये कर्मों, सुख, दुःख, निद्रा एवं स्वप्नको जानने लगता है॥ २५॥

मैं मरकर पुनः पैदा हुआ और पैदा होकर पुनः मरा, इस प्रकारसे जन्म लेते हुए मैंने हजारों योनियाँ

देखीं। अब मैं उत्पन्न होते ही संस्कारयुक्त होकर इस शरीरसे उत्तम कर्म करूँगा, जिससे पुन: गर्भमें न आना पड़े। गर्भमें स्थित वह जीव यही सोचता रहता है कि मैं गर्भसे निकलते ही संसारसे मुक्ति प्रदान करनेवाले शिवज्ञानका अन्वेषण करूँगा॥ २६—२८॥

इस प्रकार कर्मवश महान् गर्भक्लेशसे सन्तप्त हुआ वह जीव मोक्षका उपाय सोचता हुआ वहाँ रहता है। जिस प्रकार बहुत बड़े पहाड़से दबा हुआ कोई मनुष्य बड़े कष्टसे स्थित रहता है, उसी प्रकार जरायुसे लिपटा हुआ जीव भी बड़े दु:खसे स्थित रहता है॥ २९-३०॥

जैसे सागरमें गिरा हुआ मनुष्य व्याकुल होता है, उसी प्रकार गर्भजलसे सिक्त अंगोंवाला जीव भी सर्वदा व्याकुल रहता है॥ ३१॥

जिस प्रकार लोहेकी बटलोयीमें रखा गया कोई पदार्थ अग्निसे पकाया जाता है, उसी प्रकार गर्भकुम्भमें स्थित जीव भी जठराग्निसे पकाया जाता है॥ ३२॥

आगमें लाल की गयी सुइयोंसे निरन्तर बिंधे हुए प्राणीको जो कष्ट होता है, उससे भी अधिक कष्ट वहाँपर [गर्भाशयमें] स्थित उस जीवको सदा प्राप्त होता रहता है। शरीरधारियोंके लिये गर्भवाससे बड़ा उद्विग्न करनेवाला कष्ट अन्यत्र कहीं नहीं होता है, यह दु:ख महाघोर तथा बहुत संकट देनेवाला होता है॥ ३३-३४॥

मैंने यहाँ केवल पापियोंके अत्यधिक दु:खका वर्णन किया, धर्मात्माओंका जन्म तो सात ही मासमें हो जाता है॥ ३५॥

हे व्यास! गर्भसे निकलते समय योनियन्त्रसे निपीडनके कारण महान् दु:ख केवल पापियोंको होता है, धर्मात्माओंको नहीं होता है। जिस प्रकार ईखको कोल्हूमें डालकर उसे चारों ओरसे पेरा जानेपर उसका निपीडन होता है, उसी प्रकार पापरूपी मुद्गरसे सिरपर प्रहार होनेसे उन पापियोंको दु:ख होता है॥ ३६-३७॥

जिस प्रकार कोल्हूमें पेरे जानेपर तिल क्षणभरमें नि:सार हो जाते हैं, उसी प्रकार [जन्मकालमें] योनियन्त्रसे निपीडित होनेके कारण शरीर भी अशक्त हो जाता है॥ ३८॥

इसमें इस शरीर [रूपी भवन]-को स्नायुबन्धनसे यन्त्रित अस्थिपाद-रूप तुलास्तम्भके समान रक्तमांसरूपी मिट्टीसे लिप्त विष्ठा-मूत्ररूपी द्रव्यका पात्र, केश-रोम-नखोंसे ढका हुआ, रोगोंका घर, आतुरस्वरूप, मुखरूपी महाद्वारवाला, आठ छिद्ररूपी गवाक्षोंसे सुशोभित, दो ओठरूपी कपाटवाला, जीभरूपी अर्गलासे युक्त, भोग-तृष्णासे आतुर, अज्ञानमय राग-द्वेषके वशीभूत रहनेवाला, अंग-प्रत्यंगोंसे करवट लेता हुआ, जरायुसे परिवेष्टित, बड़े संकीर्ण योनिमार्गसे निर्गत, विष्ठा-मूत्र-रक्तसे सिक्त अंगोंवाला, विकोशिकासे उत्पन्न और अस्थि-पंजरसे युक्त जानना चाहिये॥ ३९—४३॥

इसमें तीन सौ पैंसठ पेशियाँ हैं और यह सभी ओरसे साढ़े तीन करोड़ रोमोंसे ढँका हुआ है। यह शरीर इतने ही करोड़ सूक्ष्म तथा स्थूल नाड़ियोंसे चारों ओरसे व्याप्त है, वे नाड़ियाँ दृश्य तथा अदृश्य कही गयी हैं। यह शरीर स्वेद एवं मधुविहीन नाड़ियोंसे रहित होकर भी [स्वेदादिके रूपमें] बाहर स्रवित होता रहता है। इस शरीरमें बत्तीस दाँत बताये गये हैं और बीस नख कहे गये हैं॥ ४४—४६॥

इसमें पित्तका भाग एक कुडव (पावभर) जानना चाहिये, कफका भाग एक आढ़क (चार सेर) कहा गया है। चरबीका भाग बीस पल और कपिलका भाग उसका आधा है। साढ़े पाँच पल तुला और मेदाका भाग दस पल जानना चाहिये। [इस शरीरमें] तीन पल महारक्त होता है और मज्जा इसकी चौगुनी होती है। इसमें आधा कुडव वीर्य समझना चाहिये, वही शरीरधारियोंका उत्पत्ति-बीज तथा बल है। मांसका परिमाण हजार पल कहा जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! रक्तको सौ पल परिमाणका जानना चाहिये और चार-चार अंजलि विष्ठा तथा मूत्रका परिमाण होता है॥ ४७—५०॥

इस प्रकार विशुद्ध नित्य आत्माका यह अनित्य एवं अपवित्र शरीररूपी घर कर्मबन्धनसे विनिर्मित है॥ ५१॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत पाँचवीं उमासंहितामें देहोत्पत्तिवर्णन नामक बाईसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ २२॥

तेईसवाँ अध्याय

शरीरकी अपवित्रता तथा उसके बालादि अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंका वर्णन

सनत्कुमार बोले—हे मुने! हे महाबुद्धे! हे व्यासजी! सुनिये, अब मैं शरीरकी अपवित्रता तथा उसके आत्मभावके महत्त्वका संक्षिप्त रूपसे वर्णन कर रहा हूँ। चूँकि देह शुक्र और शोणितके मेलसे बनता है और यह विष्ठा तथा मूत्रसे सदा भरा रहता है, इसलिये इसे अपवित्र कहा गया है॥ १-२॥

जिस प्रकार भीतर विष्ठासे परिपूर्ण घट बाहरसे शुद्ध होता हुआ भी अपवित्र ही होता है, उसी प्रकार शुद्ध किया हुआ यह शरीर भी अपवित्र कहा गया है। अत्यन्त पवित्र पंचगव्य एवं हव्य आदि भी जिस शरीरमें जानेपर क्षणभरमें अपवित्र हो जाते हैं, उस शरीरसे अधिक अपवित्र और क्या हो सकता है?॥ ३-४॥

अत्यन्त सुगन्धित एवं मनोहर अन्नपान भी जिसे प्राप्तकर शीघ्र ही अपवित्र हो जाते हैं, उससे अपवित्र और क्या हो सकता है? हे मनुष्यो! क्या तुमलोग नहीं देखते हो कि इस शरीरसे प्रतिदिन दुर्गन्धित मल-मूत्र बाहर निकलता है, फिर उसका आधार [यह देह] किस प्रकार शुद्ध हो सकता है?॥ ५-६॥

पंचगव्य एवं कुशोदकसे भलीभाँति शुद्ध किया जाता हुआ देह भी माँजे जाते हुए कोयलेके समान निर्मल नहीं हो सकता है। पर्वतसे निकले हुए झरनेके समान जिससे कफ, मूत्र, विष्ठा आदि निरन्तर निकलते रहते हैं, वह शरीर भला शुद्ध किस प्रकार हो सकता है?॥ ७-८॥

विष्ठा-मूत्रकी थैलीकी भाँति सब प्रकारकी अपवित्रताके निधानरूप इस शरीरका कोई एक भी स्थान पवित्र नहीं है। अपने देहके स्रोतोंसे मल निकालकर जल और मिट्टीके द्वारा हाथ शुद्ध किया जाता है, किंतु सर्वथा अशुद्धिपूर्ण इस शरीररूपी पात्रका अवयव होनेसे हाथ किस प्रकार पवित्र रह सकता है?॥ ९-१०॥

यत्नपूर्वक उत्तम गन्ध, धूप आदिसे भलीभाँति सुसंस्कृत भी यह शरीर कुत्तेकी पूँछकी तरह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है। जिस प्रकार स्वभावसे काली वस्तु अनेक उपाय करनेपर भी उज्ज्वल नहीं हो सकती, उसी प्रकार यह काया भी भलीभाँति शुद्ध करनेपर भी निर्मल नहीं हो सकती है॥ ११-१२॥

अपनी दुर्गन्धको सूँघता हुआ, अपने मलको देखता हुआ तथा अपनी नाकको दबाता हुआ भी यह संसार इससे विरक्त नहीं होता है॥ १३॥

अहो, महामोहकी महिमा है, जिसने इस संसारको आच्छादित कर रखा है। शरीरके अपने दोषको देखते हुए भी मनुष्य शीघ्र विरक्त नहीं होता है। जो मनुष्य अपने शरीरकी दुर्गन्धसे विरक्त नहीं होता, उसे वैराग्यका कौन-सा कारण बताया जा सकता है?॥ १४-१५॥

इस जगत्में सभीका शरीर अपवित्र है; क्योंकि उसके मलिन अवयवोंके स्पर्शसे पवित्र वस्तु भी अपवित्र हो जाती है। केवल इसके गन्धके लेपको दूर करनेके लिये देहशुद्धिकी विधि कही गयी है। गन्ध तथा लेपके दूर हो जानेसे शुद्धि हो जाती है, इसीलिये शुद्ध पदार्थके स्पर्श होनेसे शरीर शुद्ध होता है॥ १६-१७॥

गंगाके सम्पूर्ण जलसे एवं पर्वतके समान मिट्टीके ढेरसे भले ही कोई मरणपर्यन्त शुद्धि करता रहे, किंतु भावदुष्ट होनेपर वह शुद्ध नहीं होता है॥ १८॥

दुष्टात्मा तीर्थस्नानोंसे अथवा तपोंसे कदापि शुद्ध नहीं होता है। क्या तीर्थमें धोयी गयी कुत्तेकी खाल कभी शुद्ध हो सकती है?॥ १९॥

दूषित मनोभाववाला [शुद्ध होनेके लिये] भले ही अग्निमें प्रवेश करे तो उसका शरीर भस्म अवश्य हो जाता है, किंतु उसे स्वर्ग या अपवर्ग कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। भावदुष्ट मनुष्य भले ही सम्पूर्ण गंगाजलसे तथा पर्वतके बराबर मिट्टीसे भलीभाँति जन्मभर स्नान करता रहे, फिर भी शुद्ध नहीं होता—ऐसा हमलोग कहते हैं॥ २०-२१॥

स्वभावदुष्ट व्यक्ति घी अथवा तेलसे विधिपूर्वक

प्रज्वलित की गयी, दक्षिणावर्त ज्वालाओंवाली प्रशस्त अग्निमें प्रविष्ट होकर भले ही भस्म हो जाय, किंतु उसे धर्म अथवा किसी अन्य फलकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। गंगा आदि तीर्थोंमें मछलियाँ तथा देवालयोंमें पक्षी नित्य निवास करते हैं, किंतु वे भावहीन होनेके कारण फल नहीं पाते, उसी प्रकार भावदुष्टको तीर्थस्नान एवं दानसे कोई फल प्राप्त नहीं होता है॥ २२-२३॥

सभी प्रकारके कर्मोंमें, भावशुद्धिको महान् शौच कहा गया है; क्योंकि कान्ताका आलिंगन अन्य भावसे किया जाता है और पुत्रीका आलिंगन अन्य भावसे किया जाता है। अभिन्न अर्थात् समान रूपवाली वस्तुओंमें भी मनके भेदके कारण भावभेद हो जाता है। स्त्री [अपने] पतिमें अन्य भाव रखती है और पुत्रके प्रति अन्य भाव रखती है॥ २४-२५॥

इस भावकी अपार महिमाको पूर्णरूपसे देखिये, स्त्रीसे आलिंगित होनेपर भी भावहीन स्त्रीके प्रति उसकी कामना नहीं होती। यदि चित्तमें काम, क्रोध एवं लोभ—इन तीनोंकी चिन्ता विद्यमान रहे, तो अनेक प्रकारके अन्नादि तथा स्वादिष्ट भोज्य पदार्थोंको मनुष्य [रुचिपूर्वक] नहीं खा सकता है॥ २६-२७॥

भावना करनेसे ही मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और उसमें भाव न रहनेसे उससे छुटकारा भी प्राप्त हो जाता है। भावसे शुद्ध आत्मावाला ही स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करता है। एकमात्र भावसे शुद्ध आत्मावाला जलता हुआ, होम करता हुआ तथा स्तुति करता हुआ यदि मर भी जाय तो उसे शीघ्रतासे ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् याज्ञिकोंको मिलनेवाले लोक प्राप्त होते हैं॥ २८-२९॥

ज्ञानरूपी निर्मल जलसे और वैराग्यरूपी मृत्तिकासे मनुष्योंकी अविद्या रागरूपी मल-मूत्रके लेपकी दुर्गन्ध दूर हो जाती है। यह शरीर तो स्वभावसे ही अपवित्र कहा गया है। जिसमें केवल त्वचा ही सार होती है, ऐसे केलेके वृक्षकी भाँति यह नि:सार है॥ ३०-३१॥

जो बुद्धिमान् पुरुष देहको इस प्रकारका दोषयुक्त जानकर विरक्त हो जाता है, वह शरीरके भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले भावसे उपराम हुए चित्तवाला एवं निर्मल बुद्धिसे युक्त हो जाता है॥ ३२॥

वह संसारसे पार हो जाता है और जीवन्मुक्त हो जाता है, किंतु जिसे संसारकी असारताका ज्ञान नहीं होता, वह केलेके खम्भेके समान [भंगुर संसारको नित्य मानकर] इसे दृढ़तासे पकड़े रहता है॥ ३३॥

[हे व्यास!] इस प्रकार मनुष्योंके अज्ञानदोष तथा नाना प्रकारके कर्मोंके कारण होनेवाले उनके इस महाकष्टदायक जन्म-दु:खका वर्णन मैंने कर दिया॥ ३४॥

जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोकमें कहता हूँ। 'यह मेरा है' यह परम दु:ख है और 'यह मेरा नहीं है'—यह परम सुख है। ममतासे रहित बहुत-से राजा यहाँसे परलोक चले गये, किंतु ममतावश लाखों लोग इसमें बँधे रह गये॥ ३५-३६॥

गर्भमें स्थित जीवकी जो स्मृति थी, वह [जन्म लेते समय] योनियन्त्रके निपीडनके कारण मूर्च्छित कर देनेवाले दु:खसे नष्ट हो जाती है॥ ३७॥

बाहरी वायुके स्पर्शसे अथवा चित्तके विकल होनेसे उसे घोर ज्वर हो जाता है। उस महाज्वरसे उसे सम्मोह उत्पन्न होता है और पुन: शीघ्र ही उस सम्मूढ़की स्मृतिका नाश हो जाता है। इसके बाद स्मृतिके नष्ट होते ही उसे अपने पूर्व कर्मोंका स्मरण नहीं रह जाता है और उस जीवको शीघ्र ही इसी जन्मसे अनुराग हो जाता है॥ ३८—४०॥

अनुरागयुक्त वह मूढ़ जीव शुभ कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है, तब वह अपनेको, परायेको तथा परमेश्वरको भी जान नहीं पाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! कानके होनेपर भी वह परम कल्याणकी बात नहीं सुनता और आँखोंमें देखनेकी शक्ति होनेपर भी अपना परम कल्याण नहीं देखता है॥ ४१-४२॥

वह समतल मार्गमें शनै:-शनै: चलता हुआ भी पद-पदपर फिसलता रहता है और विद्वानोंके द्वारा समझाया जानेपर तथा बुद्धिके रहनेपर भी समझ नहीं पाता है। गर्भवासके समय स्मरण किये गये पापोंसे बुद्धिको हटाकर अर्थात् जन्म-मरणादिके कारणभूत असत्कर्मोंको भूलकर [सांसारिक सुखोंके] लोभवश विषयोंमें आबद्ध हुआ मनुष्य संसारमें आकर पुन:

गर्भक्लेश प्राप्त करता है॥ ४३-४४॥

इस प्रकार शिवजीने तपस्याका निरूपण करनेके लिये स्वर्ग एवं मोक्षके साधनभूत इस महान् तथा परम दिव्य शास्त्रको कहा है॥ ४५॥

ये [संसारी] लोग सभी प्रकारके मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले इस शिवज्ञानके रहते हुए भी अपना कल्याण नहीं कर पाते, यह तो महान् आश्चर्य है!॥ ४६॥

बाल्यावस्थामें इन्द्रियोंकी शक्ति प्रकट न होनेसे बहुत कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि चाहते हुए भी वह कुछ कहनेमें तथा प्रतिक्रिया करनेमें समर्थ नहीं होता है। उस समय दाँतोंके निकलते समय उसे बहुत कष्ट होता है और थोड़ी-बहुत व्याधिसे अनेक प्रकारके बालरोगोंसे तथा बालग्रहोंसे भी पीड़ा होती है॥ ४७-४८॥

बालक कभी भूख-प्याससे व्याकुल रहता है, कभी रोता रहता है और अज्ञानवश मल-मूत्र आदिका भक्षण भी करता रहता है॥ ४९॥

कुमारावस्थामें कानोंकी पीड़ा एवं माता-पिताद्वारा अक्षराभ्यास-अध्ययनादि साधनोंमें लगाये जानेके कारण उसे अनेक प्रकारका कष्ट होता है। बाल्यकालके दुःखको जानकर एवं उसे देखकर भी वह मूढ़बुद्धि अपना कल्याण नहीं करता, यह तो महान् आश्चर्य है!॥ ५०-५१॥

यौवनावस्थामें इन्द्रियोंके सुखोंको भोगनेकी इच्छाके कारण तथा कामरोगसे पीड़ित होनेके कारण और बादमें उसके निरन्तर प्राप्त न होनेपर सुख कहाँ?॥ ५२॥

ईर्ष्या, मोह आदि दोषोंसे रँगे हुए चित्तको तो क्लेश होता ही है, पर इन दोषोंका शमन भी बिना कष्टके नहीं हो सकता। जिस प्रकार [नेत्रव्याधिके कारण] लाल हुए नेत्रकी उपेक्षा तो यावज्जीवन कष्ट देती ही है, पर उपचार भी बिना कष्ट सहे हो नहीं सकता (अतः उचित तो यही है कि इन मनोविकारोंको मनमें आने ही न दिया जाय)॥ ५३॥

कामाग्निसे सन्तप्त रहनेके कारण उस कामी पुरुषको रातमें निद्रा नहीं आती और दिनमें अर्थोपार्जनकी चिन्ताके कारण उसे सुख कहाँ? स्त्रीमें आसक्त चित्तवाले पुरुषके जो वीर्यबिन्दु हैं, वे सुखके हेतु नहीं माने जा सकते, वे तो पसीनेकी बूँदोंके समान हैं॥ ५४-५५॥

कीड़ोंसे काटे जाते हुए कुष्ठी वानरको खुजलीके सन्ताप (जलन)-से जो सुख होता है, वही स्त्रियोंमें व्यक्तिको भी होता है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं॥ ५६॥

पके हुए फोड़ेसे मवादके निकल जानेपर जैसा सुख माना जाता है, उसी प्रकारका सुख विषयोपभोगमें मानना चाहिये, उनमें उससे अधिक सुख नहीं है॥ ५७॥

विष्ठा और मूत्रके त्यागसे जैसा सुख होता है, वैसा ही सुख स्त्रीप्रसंगमें जानना चाहिये, किंतु मूर्खोंने उसकी दूसरी ही कल्पना की है। अवस्तुस्वरूप तथा समस्त दोषोंकी आश्रयभूता उन नारियोंमें अणुमात्र भी सुख नहीं है—ऐसा पंचचूडाने कहा था॥ ५८-५९॥

सम्मान, तिरस्कार, वियोग, अपने प्रियके संयोग तथा बुढ़ापेसे यौवन ग्रस्त है, अतः बाधारहित सुख कहाँ? झुर्रियों, श्वेत केशों तथा गंजापनसे युक्त, शिथिल और बुढ़ापेसे शरीर जर्जर हो जानेपर सभी कार्योंमें अक्षम हो जाता है॥ ६०-६१॥

स्त्री-पुरुषका मनोहर यौवन जो पहले एक-दूसरेको प्रिय था, वही बुढ़ापेसे ग्रस्त होनेपर इन दोनोंको आपसमें भी प्रिय नहीं रह जाता है॥ ६२॥

बुढ़ापेके कारण परिवर्तित अपने शरीरको देखता हुआ भी [जो] नूतनके समान उससे अनुराग रखता है, उससे अधिक अज्ञानी और कौन होगा? बुढ़ापेसे ग्रस्त हुआ मनुष्य असमर्थताके कारण पुत्री, पुत्र, भाई-बन्धु तथा कठोर स्वभाववाले भृत्योंसे तिरस्कृत किया जाता है॥ ६३-६४॥

बुढ़ापेसे ग्रस्त हुआ मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षको सिद्ध करनेमें असमर्थ रहता है, अतः यौवनावस्थामें ही धर्माचरण कर लेना चाहिये॥ ६५॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत पाँचवीं उमासंहितामें संसारचिकित्सामें देहाशुचित्वबाल्याद्यवस्थादुःखवर्णन नामक तेईसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ २३॥

उन्नीसवाँ अध्याय

महावाक्योंके तात्पर्य तथा योगपट्टविधिका वर्णन

सुब्रह्मण्य बोले—अब महावाक्योंको कहता हूँ—

१-**प्रज्ञानं ब्रह्म**—ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप अथवा चैतन्यरूप है। (ऐतरेय० ३।३ तथा आत्मप्र० १)

२-**अहं ब्रह्मास्मि**—वह ब्रह्म मैं हूँ। (बृहदारण्यक० १।४।१०)

३-**तत्त्वमसि**—वह ब्रह्म तू है। (छा० उ० अ० ६ ख० ८ से १६ तक)

४-**अयमात्मा ब्रह्म**—यह आत्मा ब्रह्म है। (माण्डूक्य० २; बृह० २।५।१९)

५-**ईशा वास्यमिदꣳ सर्वम्**—यह सब ईश्वरसे व्याप्त है। (ईशा० १)

६-**प्राणोऽस्मि**—मैं प्राण हूँ। (कौषी० ३)

७-**प्रज्ञानात्मा**—प्रज्ञानस्वरूप हूँ। (कौषी० ३)

८-**यदेवेह तदमुत्र तदन्विह**—जो परब्रह्म यहाँ है, वही वहाँ (परलोकमें) भी है; जो वहाँ है, वही यहाँ (इस लोकमें) भी है। (कठ० २।१।१०)

९-**अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि**—वह ब्रह्म विदित (ज्ञात वस्तुओं)-से भिन्न है और अविदित (अज्ञात)-से भी ऊपर है। (केन० १।३)

१०-**एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**—वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृह० ३।७।३—२३)

११-**स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः**—वह जो यह पुरुषमें है और वह जो यह आदित्यमें है, एक ही है। (तैत्तिरीय० २।८)

१२-**अहमस्मि परं ब्रह्म परापरपरात्परम्**—मैं परापरस्वरूप परात्पर परब्रह्म हूँ।

१३-**वेदशास्त्रगुरूणां तु स्वयमानन्दलक्षणम्**—वेदों, शास्त्रों और गुरुजनोंके वचनोंसे स्वयं ही हृदयमें आनन्दस्वरूप ब्रह्मका अनुभव होने लगता है।

१४-**सर्वभूतस्थितं ब्रह्म तदेवाहं न संशयः**—जो सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित है, वही ब्रह्म मैं हूँ—इसमें संशय नहीं है।

१५-**तत्त्वस्य प्राणोऽहमस्मि पृथिव्याः प्राणोऽहमस्मि**—मैं तत्त्वका प्राण हूँ, पृथ्वीका प्राण हूँ।

१६-**अपां च प्राणोऽहमस्मि तेजसश्च प्राणोऽहमस्मि**—मैं जलका प्राण हूँ, तेजका प्राण हूँ।

१७-**वायोश्च प्राणोऽहमस्मि आकाशस्य प्राणोऽहमस्मि**—मैं वायुका प्राण हूँ, मैं आकाशका प्राण हूँ।

१८-**त्रिगुणस्य प्राणोऽहमस्मि**—मैं त्रिगुणका प्राण हूँ।

१९-**सर्वोऽहं सर्वात्मको संसारी यद्भूतं यच्च भव्यं यद्वर्तमानं सर्वात्मकत्वाद‌द्वितीयोऽहम्**—मैं सब हूँ, सर्वरूप हूँ, संसारी जीवात्मा हूँ; जो भूत, वर्तमान और भविष्य है, वह सब मेरा ही स्वरूप होनेके कारण मैं अद्वितीय परमात्मा हूँ।

२०-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**—यह सब निश्चय ही ब्रह्म है। (छान्दोग्य० ३।१४।१)

२१-**सर्वोऽहं विमुक्तोऽहम्**—मैं सर्वरूप हूँ, मुक्त हूँ।

२२-**योऽसौ सोऽहं हंसः सोऽहमस्मि**—जो वह है, वह मैं हूँ। मैं वह हूँ और वह मैं हूँ।

इस प्रकार सर्वत्र चिन्तन करे। अब इन महावाक्योंका भावार्थ कहते हैं—'**प्रज्ञानं ब्रह्म**' का वाक्यार्थ पहले ही समझाया जा चुका है। (अब '**अहं ब्रह्मास्मि**' का अर्थ बताया जाता है।) शक्तिस्वरूप अथवा शक्तियुक्त परमेश्वर ही '**अहम्**' पदके अर्थभूत हैं॥ १॥

'अकार' सब वर्णोंका अग्रगण्य, परम प्रकाश शिवरूप है। 'हकार'के व्योमस्वरूप होनेके कारण उसका शक्तिरूपसे वर्णन किया गया है। शिव और शक्तिके संयोगसे सदा आनन्द उदित होता है। ['मकार' उसी आनन्दका बोधक है।] 'ब्रह्म' शब्दसे शिवशक्तिकी सर्वरूपता स्पष्ट ही सूचित होती है॥ २-३॥

पहले ही इस बातका उपदेश किया गया है कि वह शक्तिमान् परमेश्वर मैं हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिये। [अब तत्त्वमसिका अर्थ कहते हैं—] '**तत्त्वमसि**' इस वाक्यमें तत्पदका वही अर्थ है, जो '**सोऽहमस्मि**' में '**सः**' पदका अर्थ बताया गया है अर्थात् तत्पद शक्त्यात्मक परमेश्वरका ही वाचक है, अन्यथा '**सोऽहम्**' इस वाक्यमें विपरीत अर्थकी भावना हो सकती है। क्योंकि '**अहम्**' पद पुँल्लिंग है, अतः '**सः**' के साथ उसका अन्वय हो जायगा; परंतु '**तत्**' पद नपुंसक है और '**त्वम्**' पुँल्लिंग, अतः परस्परविरोधीलिंग होनेके कारण उन दोनोंमें अन्वय नहीं हो सकता। जब दोनोंका अर्थ 'शक्तिमान् परमेश्वर' होगा, तब अर्थमें समानलिंगता होनेसे अन्वयमें अनुपपत्ति नहीं होगी। यदि ऐसा न माना जाय तो स्त्री-पुरुषरूप जगत्का कारण भी किसी और ही प्रकारका होगा। इसलिये '**सोऽहमस्मि**'का '**सः**' और '**तत्त्वमसि**'का **तत्**—ये दोनों समानार्थक हैं। इन महावाक्योंके उपदेशसे एक ही अर्थकी भावनाका विधान है॥ ४—६॥

[अब '**अयमात्मा ब्रह्म**'का अर्थ बताया जाता है—] '**अयमात्मा ब्रह्म**' इस वाक्यमें '**अयम्**' और '**आत्मा**'—ये दोनों पद पुँल्लिंग-रूप हैं। अतः यहाँ अन्वयमें बाधा नहीं है। '**अयम्**' शक्तिमान् परमेश्वररूप आत्मा ब्रह्म है—यह इस वाक्यका तात्पर्य है। [अब '**ईशा वास्यमिदं सर्वम्**'का भावार्थ बता रहे हैं—] परमेश्वरसे रक्षणीय होनेके कारण यह सम्पूर्ण जगत् उनसे व्याप्त है। [अब '**प्राणोऽस्मि**' '**प्रज्ञानात्मा**' और '**यदेवेह तदमुत्र०**' इन वाक्योंके अर्थपर विचार किया जाता है—] मैं प्रज्ञानस्वरूप प्राण हूँ। यहाँ प्राण शब्द परमेश्वरका ही वाचक है। जो यहाँ है, वह वहाँ है—ऐसा चिन्तन करे। यहाँ '**यत्, तत्**'का अर्थ क्रमशः '**यः**' और '**सः**' है अर्थात् जो परमात्मा यहाँ है, वह परमात्मा वहाँ है—ऐसा सिद्धान्तपक्षका अवलम्बन करनेवाले विद्वानोंने कहा है॥ ७-८॥

उपर्युक्त वाक्यमें '**यदमुत्र तदन्विह**' इस वाक्यांशका भाव यह है कि '**योऽमुत्र स इह स्थितः**' अर्थात् जो परमात्मा वहाँ परलोकमें स्थित है, वही यहाँ (इस लोकमें) भी स्थित है। इस प्रकार विद्वानोंको पहलेके समान ही

अट्ठाईसवाँ अध्याय

अग्नि और सोमके स्वरूपका विवेचन तथा जगत्‌की अग्नीषोमात्मकताका प्रतिपादन

ऋषियोंने पूछा—प्रभो! पार्वती देवीका समाधान करते हुए महादेवजीने यह बात क्यों कही कि 'सम्पूर्ण विश्व अग्नीषोमात्मक एवं वागर्थात्मक है। ऐश्वर्यका सार एकमात्र आज्ञा ही है और वह आज्ञा तुम हो।' अतः इस विषयमें हम क्रमशः यथार्थ बातें सुनना चाहते हैं॥ १-२॥

वायुदेव बोले—महर्षियो! रुद्रदेवका जो घोर तेजोमय शरीर है, उसे अग्नि कहते हैं और अमृतमय सोम शक्तिका स्वरूप है; क्योंकि शक्तिका शरीर शान्तिकारक है॥ ३॥

जो अमृत है, वह प्रतिष्ठा नामक कला है और जो तेज है, वह साक्षात् विद्या नामक कला है। सम्पूर्ण सूक्ष्म

भूतोंमें वे ही दोनों रस और तेज हैं। तेजकी वृत्ति दो प्रकारकी है। एक सूर्यरूपा है और दूसरी अग्निरूपा। इसी तरह रसवृत्ति भी दो प्रकारकी है—एक सोमरूपिणी और दूसरी जलरूपिणी॥ ४-५॥

तेज विद्युत् आदिके रूपमें उपलब्ध होता है तथा रस मधुर आदिके रूपमें। तेज और रसके भेदोंने ही इस चराचर जगत्‌को धारण कर रखा है॥ ६॥

अग्निसे अमृतकी उत्पत्ति होती है और अमृतस्वरूप घीसे अग्निकी वृद्धि होती है, अतएव अग्नि और सोमको दी हुई आहुति जगत्‌के लिये हितकारक होती है। शस्य-सम्पत्ति हविष्यका उत्पादन करती है। वर्षा शस्यको बढ़ाती है। इस प्रकार वर्षासे ही हविष्यका प्रादुर्भाव होता है, जिससे यह अग्नीषोमात्मक जगत् टिका हुआ है॥ ७-८॥

अग्नि वहाँतक ऊपरको प्रज्वलित होता है, जहाँतक सोम-सम्बन्धी परम अमृत विद्यमान है और जहाँतक अग्निका स्थान है, वहाँतक सोमसम्बन्धी अमृत नीचेको झरता है। इसीलिये कालाग्नि नीचे है और शक्ति ऊपर। जहाँतक अग्नि है, उसकी गति ऊपरकी ओर है और जो जलका आप्लावन है, उसकी गति नीचेकी ओर है॥ ९-१०॥

आधारशक्तिने ही इस ऊर्ध्वगामी कालाग्निको धारण कर रखा है तथा निम्नगामी सोम शिव-शक्तिके आधारपर प्रतिष्ठित है। शिव ऊपर हैं और शक्ति नीचे तथा शक्ति ऊपर है और शिव नीचे। इस प्रकार शिव और शक्तिने यहाँ सब कुछ व्याप्त कर रखा है॥ ११-१२॥

बारंबार अग्निद्वारा जलाया हुआ यह जगत् भस्मसात् हो जाता है। यह अग्निका वीर्य है। भस्मको ही अग्निका वीर्य कहते हैं। जो इस प्रकार भस्मके श्रेष्ठ स्वरूपको जानकर '**अग्निः**' इत्यादि मन्त्रोंद्वारा भस्मसे स्नान करता है, वह बँधा हुआ जीव पाशसे मुक्त हो जाता है॥ १३-१४॥

अग्निके वीर्यरूप भस्मको सोमने अयोगयुक्तिके द्वारा फिर आप्लावित किया; इसलिये वह प्रकृतिके अधिकारमें चला गया। यदि योगयुक्तिसे शाक्त अमृतवर्षाके द्वारा उस भस्मका सब ओर आप्लावन हो तो वह प्रकृतिके अधिकारोंको निवृत्त कर देता है॥ १५-१६॥

अतः इस तरहका अमृतप्लावन सदा मृत्युपर विजय पानेके लिये ही होता है। शिवाग्निके साथ शक्ति-सम्बन्धी अमृतका स्पर्श होनेपर जिसने अमृतका आप्लावन प्राप्त कर लिया, उसकी मृत्यु कैसे हो सकती है? जो अग्निके इस गुह्य स्वरूपको तथा पूर्वोक्त अमृतप्लावनको ठीक-ठीक जानता है, वह अग्नीषोमात्मक जगत्‌को त्यागकर फिर यहाँ जन्म नहीं लेता॥ १७-१८॥

जो शिवाग्निसे शरीरको दग्ध करके शक्तिस्वरूप सोमामृतसे योगमार्गके द्वारा इसे आप्लावित करता है, वह अमृतस्वरूप हो जाता है। इसी अभिप्रायको हृदयमें धारण करके महादेवजीने इस सम्पूर्ण जगत्‌को अग्नीषोमात्मक कहा था। उनका वह कथन सर्वथा उचित है॥ १९-२०॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत सातवीं वायवीयसंहिताके पूर्वखण्डमें भस्मतत्त्ववर्णन नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ २८॥

अपक्व—इन तीनों मलोंके द्वारा मनुष्य [जन्म-मरणरूप] संसाररोगसे ग्रस्त होते हैं॥ ८०॥

इस संसाररोगकी औषधि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। कल्याणस्वरूप, परमकारण भगवान् शिव ही आज्ञारूप औषधि प्रदान करनेवाले वैद्य हैं॥ ८१॥

भगवान् शिव तो अनायास ही समस्त पशुओंको बन्धनसे मुक्त करनेमें समर्थ हैं। फिर वे उन्हें बन्धनमें डाले रखकर क्यों दु:ख देते हैं? यहाँ ऐसा विचार या संदेह नहीं करना चाहिये; क्योंकि सारा संसार दु:खरूप ही है, ऐसा विचारवानोंका निश्चित सिद्धान्त है। जो स्वभावत: दु:खमय है, वह दु:खरहित कैसे हो सकता है। स्वभावमें उलट-फेर नहीं हो सकता॥ ८२-८३॥

वैद्यकी दवासे रोग अरोग नहीं होता। वह रोगपीड़ित मनुष्यका अपनी दवासे सुखपूर्वक उद्धार कर देता है। इसी प्रकार जो स्वभावत: मलिन और स्वभावसे ही दुखी हैं, उन पशुओंको अपनी आज्ञारूपी ओषधि देकर शिव दु:खसे छुड़ा देते हैं। रोग होनेमें वैद्य कारण नहीं है, परंतु संसारकी उत्पत्तिमें शिव कारण हैं। अत: रोग और वैद्यके दृष्टान्तसे शिव और संसारके दार्ष्टान्तिमें समानता नहीं है। इसलिये इसके द्वारा शिवपर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। जब दु:ख स्वभाव-सिद्ध है, तब शिव उसके कारण कैसे हो सकते हैं? जीवोंमें जो स्वाभाविक मल है, वही उन्हें संसारके चक्रमें डालता है॥ ८४—८७॥

विद्वानोंका कहना है कि संसारका कारणभूत जो मल—अचेतन माया आदि है, वह शिवका सांनिध्य प्राप्त किये बिना स्वयं चेष्टाशील नहीं हो सकता। जैसे चुम्बकमणि लोहेका सांनिध्य पाकर ही उपकारक होता है—लोहेको खींचता है, उसी प्रकार शिव भी जड माया आदिका सांनिध्य पाकर ही उसके उपकारक होते हैं, उसे सचेष्ट बनाते हैं॥ ८८-८९॥

उनके विद्यमान सांनिध्यको अकारण हटाया नहीं जा सकता। अत: जगत्‌के लिये जो सदा अज्ञात हैं, वे शिव ही इसके अधिष्ठाता हैं। शिवके बिना यहाँ कोई भी प्रवृत्त (चेष्टाशील) नहीं होता, उनकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। उनसे प्रेरित होकर ही यह सारा जगत् विभिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, तथापि वे शिव कभी मोहित नहीं होते॥ ९०-९१॥

उनकी आज्ञारूपिणी जो शक्ति है, वही सबका नियन्त्रण करती है। उसका सब ओर मुख है। उसीने सदा इस सम्पूर्ण दृश्यप्रपंचका विस्तार किया है, तथापि उसके दोषसे शिव दूषित नहीं होते। यह समस्त जगत् शिवसे प्रेरित होता है, किंतु इससे शिवका स्वस्वरूप विकृत नहीं होता। प्रेरणा अथवा शासनका कार्य शिवकी आज्ञाके द्वारा सम्पन्न होता है॥ ९२-९३॥

जो दुर्बुद्धि मानव मोहवश इसके विपरीत मान्यता रखता है, वह नष्ट हो जाता है। शिवकी शक्तिके वैभवसे ही संसार चलता है, तथापि इससे शिव दूषित नहीं होते॥ ९४॥

इसी समय आकाशसे शरीररहित वाणी सुनायी दी—'**सत्यम् ओम् अमृतं सौम्यम्**'* इन पदोंका वहाँ स्पष्ट उच्चारण हुआ, उसे सुनकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। उनके समस्त संशयोंका निवारण हो गया तथा उन मुनियोंने विस्मित हो प्रभु पवनदेवको प्रणाम किया। इस प्रकार उन मुनियोंको संदेहरहित करके भी वायुदेवने यह नहीं माना कि इन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया। 'इनका ज्ञान अभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ है' ऐसा समझकर ही वे इस प्रकार बोले—॥ ९५—९७॥

वायुदेवताने कहा—मुनियो ! परोक्ष और अपरोक्षके भेदसे ज्ञान दो प्रकारका माना गया है। परोक्ष ज्ञानको अस्थिर कहा जाता है और अपरोक्ष ज्ञानको सुस्थिर। युक्तिपूर्ण उपदेशसे जो ज्ञान होता है, उसे विद्वान् पुरुष परोक्ष कहते हैं। वही श्रेष्ठ अनुष्ठानसे अपरोक्ष हो जायगा। अपरोक्ष ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता, ऐसा निश्चय करके तुमलोग आलस्यरहित हो श्रेष्ठ अनुष्ठानकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करो॥ ९८—१००॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत सातवीं वायवीयसंहिताके पूर्वखण्डमें ज्ञानोपदेश नामक इकतीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ३१॥

भगवान् शिव परम कारण हैं। अतः कारणार्थवेत्ता ज्ञानी पुरुष उन्हें समष्टि-व्यष्टिका कारण बताते हैं। कुछ लोग परमेश्वरको जाति-व्यक्ति-स्वरूप कहते हैं॥ १४-१५॥

जिसका शरीरमें भी अनुवर्तन हो, वह जाति कही गयी है। शरीरकी जातिके आश्रित रहनेवाली जो व्यावृत्ति है, जिसके द्वारा जातिभावनाका आच्छादन और वैयक्तिक भावनाका प्रकाशन होता है, उसका नाम व्यक्ति है। जाति और व्यक्ति दोनों ही भगवान् शिवकी आज्ञासे परिपालित हैं, अतः उन महादेवजीको जाति-व्यक्तिस्वरूप कहा गया है॥ १६-१७॥

कोई-कोई शिवको प्रधान, पुरुष, व्यक्त और कालरूप कहते हैं। प्रकृतिका ही नाम प्रधान है। जीवात्माको ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। तेईस तत्त्वोंको मनीषी पुरुषोंने व्यक्त कहा है और जो कार्य-प्रपंचके परिणामका एकमात्र कारण है, उसका नाम काल है॥ १८-१९॥

भगवान् शिव इन सबके ईश्वर, पालक, धारणकर्ता, प्रवर्तक, निवर्तक तथा आविर्भाव और तिरोभावके एकमात्र हेतु हैं। वे स्वयंप्रकाश एवं अजन्मा हैं। इसीलिये उन महेश्वरको प्रधान, पुरुष, व्यक्त और कालरूप कहा गया है॥ २०१/२॥

उन्हें ही कारण, नेता, अधिपति और धाता बताया गया है। कुछ लोग महेश्वरको विराट् और हिरण्यगर्भरूप बताते हैं। जो सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टिके हेतु हैं, उनका नाम हिरण्यगर्भ है और विश्वरूपको विराट् कहते हैं॥ २१-२२॥

ज्ञानी पुरुष भगवान् शिवको अन्तर्यामी और परम पुरुष कहते हैं। दूसरे लोग उन्हें प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप बताते हैं। कोई उन्हें तुरीयरूप मानते हैं और कोई सौम्यरूप। कितने ही विद्वानोंका कथन है कि वे ही माता, मान, मेय और मितिरूप हैं। अन्य लोग कर्ता, क्रिया, कार्य, करण और कारणरूप कहते हैं। दूसरे ज्ञानी उन्हें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप बताते हैं॥ २३—२५॥

कोई भगवान् शिवको तुरीयरूप कहते हैं तो कोई तुरीयातीत। कोई निर्गुण बताते हैं, कोई सगुण। कोई संसारी कहते हैं, कोई उन्हें असंसारी। कोई स्वतन्त्र मानते हैं, कोई अस्वतन्त्र। कोई उन्हें घोर समझते हैं, कोई सौम्य। कोई रागवान् कहते हैं, कोई वीतराग; कोई निष्क्रिय बताते हैं, कोई सक्रिय। किन्हींके कथनानुसार वे निरिन्द्रिय हैं तो किन्हींके मतमें सेन्द्रिय हैं॥ २६—२९॥

एक उन्हें ध्रुव कहता है तो दूसरा अध्रुव; कोई उन्हें साकार बताते हैं तो कोई निराकार। किन्हींके मतमें वे अदृश्य हैं तो किन्हींके मतमें दृश्य; कोई उन्हें वर्णनीय मानते हैं तो कोई अनिर्वचनीय। किन्हींके मतमें वे शब्दस्वरूप हैं तो किन्हींके मतमें शब्दातीत; कोई उन्हें चिन्तनका विषय मानते हैं तो कोई अचिन्त्य समझते हैं। दूसरे लोगोंका कहना है कि वे ज्ञानस्वरूप हैं, कोई उन्हें विज्ञानकी संज्ञा देते हैं। किन्हींके मतमें वे ज्ञेय हैं और किन्हींके मतमें अज्ञेय। कोई उन्हें पर बताता है तो कोई अपर॥ ३०—३३॥

इस तरह उनके विषयमें नाना प्रकारकी कल्पनाएँ होती हैं। इन नाना प्रतीतियोंके कारण मुनिजन उन परमेश्वरके यथार्थ स्वरूपका निश्चय नहीं कर पाते। जो सर्वभावसे उन परमेश्वरकी शरणमें आ गये हैं, वे ही उन परम कारण शिवको बिना यत्नके ही जान पाते हैं॥ ३४-३५॥

जबतक पशु (जीव), जिनका दूसरा कोई ईश्वर नहीं है, उन सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष तथा तीनों लोकोंके शासक शिवको नहीं देखता, तबतक वह पाशोंसे बद्ध हो इस दुःखमय संसार-चक्रमें गाड़ीके पहियेकी नेमिके समान घूमता रहता है॥ ३६॥

जब यह द्रष्टा जीवात्मा सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, सुवर्णोपम, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषका साक्षात्कार कर लेता है, तब पुण्य और पाप दोनोंको भलीभाँति हटाकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी महात्मा सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है॥ ३७॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत सातवीं वायवीयसंहिताके उत्तरखण्डमें पशुपतित्वज्ञानयोग नामक पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ५॥

नौवाँ अध्याय

शिवके अवतार योगाचार्यों तथा उनके शिष्योंकी नामावली

श्रीकृष्ण बोले—भगवन्! समस्त युगावर्तोंमें योगाचार्यके व्याजसे भगवान् शंकरके जो अवतार होते हैं और उन अवतारोंके जो शिष्य होते हैं, उन सबका वर्णन कीजिये॥ १॥

उपमन्युने कहा—श्वेत, सुतार, मदन, सुहोत्र, कंक, लौगाक्षि, महामायावी जैगीषव्य, दधिवाह, ऋषभ मुनि, उग्र, अत्रि, सुपालक, गौतम, वेदशिरा मुनि, गोकर्ण, गुहावासी, शिखण्डी, जटामाली, अट्टहास, दारुक, लांगुली, महाकाल, शूली, दण्डी, मुण्डीश, सहिष्णु, सोमशर्मा और नकुलीश्वर—ये वाराह कल्पके इस सातवें मन्वन्तरमें युगक्रमसे अट्ठाईस योगाचार्य प्रकट हुए हैं॥ २—६॥

इनमेंसे प्रत्येकके शान्तचित्तवाले चार-चार शिष्य हुए हैं, जो श्वेतसे लेकर रुष्यपर्यन्त बताये गये हैं। मैं उनका क्रमशः वर्णन करता हूँ, सुनो। श्वेत, श्वेतशिख, श्वेताश्व, श्वेतलोहित, दुन्दुभि, शतरूप, ऋचीक, केतुमान्, विकोश, विकेश, विपाश, पाशनाशन, सुमुख, दुर्मुख, दुर्गम, दुरतिक्रम, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, सुधामा, विरजा, शंख, अण्डज, सारस्वत, मेघ, मेघवाह, सुवाहक, कपिल, आसुरि, पंचशिख, वाष्कल, पराशर, गर्ग, भार्गव, अंगिरा, बलबन्धु, निरामित्र, केतुशृंग, तपोधन, लम्बोदर, लम्ब, लम्बात्मा, लम्बकेशक, सर्वज्ञ, समबुद्धि, साध्यबुद्धि, सुधामा, कश्यप, वसिष्ठ, विरजा, अत्रि, उग्र, गुरुश्रेष्ठ, श्रवण, श्रविष्ठक, कुणि, कुणबाहु, कुशरीर, कुनेत्रक, काश्यप, उशना, च्यवन, बृहस्पति, उतथ्य, वामदेव, महाकाल, महानिल, वाचःश्रवा, सुवीर, श्यावक, यतीश्वर, हिरण्यनाभ, कौशल्य, लोकाक्षि, कुथुमि, सुमन्तु, जैमिनी, कुबन्ध, कुशकन्धर, प्लक्ष, दार्भायणि, केतुमान्, गौतम, भल्लवी, मधुपिंग, श्वेतकेतु, उशिज, बृहदश्व, देवल, कवि, शालिहोत्र, सुवेष, युवनाश्व, शरद्वसु, [छगल, कुम्भकर्ण, कुम्भ, प्रबाहुक, उलूक, विद्युत्, शम्बूक, आश्वलायन,] अक्षपाद, कणाद, उलूक, वत्स, कुशिक, गर्ग, मित्रक और रुष्य—ये योगाचार्यरूपी महेश्वरके शिष्य हैं। इनकी संख्या एक

सौ बारह है॥ ७—२१॥

ये सब-के-सब सिद्ध पाशुपत हैं। इनका शरीर भस्मसे विभूषित रहता है। ये सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, वेद और वेदांगोंके पारंगत विद्वान्, शिवाश्रममें अनुरक्त, शिवज्ञानपरायण, सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त, एकमात्र भगवान् शिवमें ही मनको लगाये रखनेवाले, सम्पूर्ण द्वन्द्वोंको सहनेवाले, धीर, सर्वभूतहितकारी, सरल, कोमल, स्वस्थ, क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय होते हैं, रुद्राक्षकी माला ही इनका आभूषण है। उनके मस्तक त्रिपुण्ड्रसे अंकित होते हैं। उनमेंसे कोई तो शिखाके रूपमें ही जटा धारण करते हैं। किन्हींके सारे केश ही जटारूप होते हैं। कोई-कोई ऐसे हैं, जो जटा नहीं रखते हैं और कितने ही सदा माथा मुड़ाये रहते हैं॥ २२—२५॥

वे प्रायः फल-मूलका आहार करते हैं। प्राणायाम-साधनमें तत्पर होते हैं। 'मैं शिवका हूँ' इस अभिमानसे युक्त होते हैं। सदा शिवके ही चिन्तनमें लगे रहते हैं। उन्होंने संसाररूपी विषवृक्षके अंकुरको मथ डाला है। वे सदा परमधाममें जानेके लिये ही कटिबद्ध होते हैं। जो योगाचार्योंसहित इन शिष्योंको जान-मानकर सदा शिवकी आराधना करता है, वह शिवका सायुज्य प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये॥ २६—२८॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत सातवीं वायवीयसंहिताके उत्तरखण्डमें शिवका योगावतारवर्णन नामक नौवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ९॥

सैंतीसवाँ अध्याय

योगके अनेक भेद, उसके आठ और छः अंगोंका विवेचन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, दशविध प्राणोंको जीतनेकी महिमा, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका निरूपण

श्रीकृष्णने कहा— भगवन्! आपने ज्ञान, क्रिया और चर्याका संक्षिप्त सार उद्धृत करके मुझे सुनाया है। यह सब श्रुतिके समान आदरणीय है और इसे मैंने ध्यानपूर्वक सुना है॥ १॥

अब मैं अधिकार, अंग, विधि और प्रयोजनसहित परम दुर्लभ योगका वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ २॥

यदि योग आदिका अभ्यास करनेसे पहले ही मृत्यु हो जाय तो मनुष्य आत्मघाती होता है; अतः आप योगका ऐसा कोई साधन बताइये, जिसे शीघ्र सिद्ध किया जा सके, जिससे कि मनुष्यको आत्मघाती न होना पड़े। योगका वह अनुष्ठान, उसका कारण, उसके लिये उपयुक्त समय, साधन तथा उसके भेदोंका तारतम्य क्या है?॥ ३-४॥

उपमन्यु बोले— श्रीकृष्ण! तुम सब प्रश्नोंके तारतम्यके ज्ञाता हो। तुम्हारा यह प्रश्न बहुत ही उचित है, इसलिये मैं इन सब बातोंपर क्रमशः प्रकाश डालूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ५॥

जिसकी दूसरी वृत्तियोंका निरोध हो गया है, ऐसे चित्तकी भगवान् शिवमें जो निश्चल वृत्ति है, उसीको संक्षेपसे 'योग' कहा गया है। यह योग पाँच प्रकारका है—मन्त्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग और महायोग॥ ६-७॥

मन्त्र-जपके अभ्यासवश मन्त्रके वाच्यार्थमें स्थित हुई विक्षेपरहित जो मनकी वृत्ति है, उसका नाम 'मन्त्रयोग' है। मनकी वही वृत्ति जब प्राणायामको प्रधानता दे तो उसका नाम 'स्पर्शयोग' होता है। वही स्पर्शयोग जब मन्त्रके स्पर्शसे रहित हो तो 'भावयोग' कहलाता है॥ ८-९॥

जिससे सम्पूर्ण विश्वके रूपमात्रका अवयव विलीन (तिरोहित) हो जाता है, उसे 'अभावयोग' कहा गया है; क्योंकि उस समय सद्वस्तुका भी भान नहीं होता॥ १०॥

जिससे एकमात्र उपाधिशून्य शिवस्वभावका चिन्तन किया जाता है और मनकी वृत्ति शिवमयी हो जाती है, उसे 'महायोग' कहते हैं॥ ११॥

देखे और सुने गये लौकिक और पारलौकिक विषयोंकी ओरसे जिसका मन विरक्त हो गया हो, उसीका योगमें अधिकार है, दूसरे किसीका नहीं है। लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयोंके दोषोंका और ईश्वरके गुणोंका सदा ही दर्शन करनेसे मन विरक्त होता है॥ १२-१३॥

प्रायः सभी योग आठ या छः अंगोंसे युक्त होते हैं। यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये विद्वानोंने योगके आठ अंग बताये हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये थोड़ेमें योगके छः लक्षण हैं॥ १४—१६॥

शिव-शास्त्रमें इनके पृथक्-पृथक् लक्षण बताये गये हैं। अन्य शिवागमोंमें, विशेषतः कामिक आदिमें, योगशास्त्रोंमें और किन्हीं-किन्हीं पुराणोंमें भी इनके लक्षणोंका वर्णन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन्हें सत्पुरुषोंने यम कहा है। इस प्रकार यम पाँच अवयवोंके योगसे युक्त है॥ १७-१८॥

शौच, सन्तोष, तप, जप (स्वाध्याय) और प्रणिधान—इन पाँच भेदोंसे युक्त दूसरे योगांगको नियम कहा गया है। तात्पर्य यह कि नियम अपने अंशोंके भेदसे पाँच प्रकारका है। आसनके आठ भेद कहे गये हैं—स्वस्तिक आसन, पद्मासन, अर्धचन्द्रासन, वीरासन, योगासन, प्रसाधितासन, पर्यंकासन और अपनी रुचिके अनुसार आसन॥ १९-२०॥

अपने शरीरमें प्रकट हुई जो वायु है, उसको प्राण कहते हैं। उसे रोकना ही उसका आयाम है। उस प्राणायामके तीन भेद कहे गये हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक॥ २१॥

नासिकाके एक छिद्रको दबाकर या बन्द करके दूसरेसे उदरस्थित वायुको बाहर निकाले। इस क्रियाको रेचक कहा गया है। फिर दूसरे नासिका-छिद्रके द्वारा बाह्य वायुसे शरीरको धौंकनीकी भाँति भर ले। इसमें वायुके पूरणकी क्रिया होनेके कारण इसे 'पूरक' कहा गया है। जब साधक भीतरकी वायुको न तो छोड़ता है और न बाहरकी वायुको ग्रहण करता है, केवल भरे हुए घड़ेकी भाँति अविचलभावसे स्थित रहता है, तब उस प्राणायामको 'कुम्भक' नाम दिया जाता है। योगके साधकको चाहिये कि वह रेचक आदि तीनों प्राणायामोंको न तो बहुत जल्दी-जल्दी करे और न बहुत देरसे करे। साधनाके लिये उद्यत हो क्रमयोगसे उसका अभ्यास करे॥ २२—२५॥

रेचक आदिमें नाड़ीशोधनपूर्वक जो प्राणायामका अभ्यास किया जाता है, उसे स्वेच्छासे उत्क्रमणपर्यन्त करते रहना चाहिये—यह बात योगशास्त्रमें बतायी गयी है। कनिष्ठ आदिके क्रमसे प्राणायाम चार प्रकारका कहा गया है। मात्रा और गुणोंके विभाग—तारतम्यसे ये भेद बनते हैं॥ २६-२७॥

चार भेदोंमेंसे जो कन्यक या कनिष्ठ प्राणायाम है, यह प्रथम उद्घात[1] कहा गया है; इसमें बारह मात्राएँ होती हैं। मध्यम प्राणायाम द्वितीय उद्घात है, उसमें चौबीस मात्राएँ होती हैं। उत्तम श्रेणीका प्राणायाम तृतीय उद्घात है, उसमें छत्तीस मात्राएँ होती हैं। उससे भी श्रेष्ठ जो सर्वोत्कृष्ट चतुर्थ[2] प्राणायाम है, वह शरीरमें स्वेद और कम्प आदिका जनक होता है॥ २८-२९॥

योगीके अन्दर आनन्दजनित रोमांच, नेत्रोंसे अश्रुपात, जल्प, भ्रान्ति और मूर्च्छा आदि भाव प्रकट होते हैं। घुटनेके चारों ओर प्रदक्षिण-क्रमसे न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे-धीरे चुटकी बजाये। घुटनेकी एक परिक्रमामें जितनी देरतक चुटकी बजती है, उस समयका मान एक मात्रा है। मात्राओंको क्रमशः जानना चाहिये। उद्घात क्रम-योगसे नाड़ीशोधनपूर्वक प्राणायाम करना चाहिये॥ ३०—३२॥

प्राणायामके दो भेद बताये गये हैं—अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यानके बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और जप तथा ध्यानके सहयोग-पूर्वक किये जानेवाले प्राणायामको 'सगर्भ' कहते हैं। अगर्भसे सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक उत्तम है। इसलिये योगीजन प्रायः सगर्भ प्राणायाम किया करते हैं। प्राणविजयसे ही शरीरकी वायुओंपर विजय पायी जाती है॥ ३३—३४½॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये दस प्राणवायु हैं। प्राण प्रयाण करता है, इसीलिये उसे 'प्राण' कहते हैं। जो कुछ भोजन किया जाता है, उसे जो वायु नीचे ले जाती है, उसको 'अपान' कहते हैं। जो वायु सम्पूर्ण अंगोंको बढ़ाती हुई उनमें व्याप्त रहती है, उसका नाम 'व्यान' है। जो वायु मर्मस्थानोंको उद्वेजित करती है, उसकी 'उदान' संज्ञा है। जो वायु सब अंगोंको समभावसे ले चलती है, वह अपने उस समनयनरूप कर्मसे 'समान' कहलाती है॥ ३५—३८॥

मुखसे कुछ उगलनेमें कारणभूत वायुको 'नाग' कहा गया है। आँख खोलनेके व्यापारमें 'कूर्म' नामक वायुकी स्थिति है। छींकमें 'कृकल' और जँभाईमें 'देवदत्त' नामक वायुकी स्थिति है। 'धनंजय' नामक वायु सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त रहती है। वह मृतक शरीरको भी नहीं छोड़ती। क्रमसे अभ्यासमें लाया हुआ यह प्राणायाम जब उचित प्रमाण या मात्रासे युक्त हो जाता है, तब वह कर्ताके सारे दोषोंको दग्ध कर देता है और उसके शरीरकी रक्षा करता है॥ ३९—४०½॥

प्राणपर विजय प्राप्त हो जाय तो उससे प्रकट होनेवाले चिह्नोंको अच्छी तरह देखे। पहली बात यह होती है कि विष्ठा, मूत्र और कफकी मात्रा घटने लगती है, अधिक भोजन करनेकी शक्ति हो जाती है और विलम्बसे साँस चलती है। शरीरमें हलकापन आता है।

१-उद्घातका अर्थ नाभिमूलसे प्रेरणा की हुई वायुका सिरमें टक्कर खाना है। यह प्राणायाममें देश, काल और संख्याका परिमाण है।

२-योगसूत्रमें चतुर्थ प्राणायामका परिचय इस प्रकार दिया गया है—'बाह्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंको फेंकनेवाला प्राणायाम चौथा है।

शीघ्र चलनेकी शक्ति प्रकट होती है। हृदयमें उत्साह बढ़ता है। स्वरमें मिठास आती है। समस्त रोगोंका नाश हो जाता है। बल, तेज और सौन्दर्यकी वृद्धि होती है॥ ४१—४३ ॥

धृति, मेधा, युवापन, स्थिरता और प्रसन्नता आती है। तप, प्रायश्चित्त, यज्ञ, दान और व्रत आदि जितने भी साधन हैं—ये प्राणायामकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं॥ ४४$^{१}/_{२}$ ॥

अपने-अपने विषयमें आसक्त हुई इन्द्रियोंको वहाँसे हटाकर जो अपने भीतर निगृहीत करता है, उस साधनको 'प्रत्याहार' कहते हैं। मन और इन्द्रियाँ ही मनुष्यको स्वर्ग तथा नरकमें ले जानेवाली हैं। [यदि उन्हें वशमें रखा जाय तो वे स्वर्गकी प्राप्ति कराती हैं और विषयोंकी ओर खुली छोड़ दिया जाय तो वे नरकमें डालनेवाली होती हैं।] इसलिये सुखकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ज्ञान-वैराग्यका आश्रय ले इन्द्रियरूपी अश्वोंको शीघ्र ही काबूमें करके स्वयं ही आत्माका उद्धार करे॥ ४५—४७$^{१}/_{२}$ ॥

चित्तको किसी स्थान-विशेषमें बाँधना—किसी ध्येय-विशेषमें स्थिर करना—यही संक्षेपसे 'धारणा' का स्वरूप है। एकमात्र शिव ही स्थान हैं, दूसरा नहीं; क्योंकि दूसरे स्थानोंमें त्रिविध दोष विद्यमान हैं। किसी नियमित कालतक स्थानस्वरूप शिवमें स्थापित हुआ मन जब लक्ष्यसे च्युत न हो तो धारणाकी सिद्धि समझना चाहिये, अन्यथा नहीं। मन पहले धारणासे ही स्थिर होता है, इसलिये धारणाके अभ्याससे मनको धीर बनाये॥ ४८—५०$^{१}/_{२}$ ॥

[अब ध्यानकी व्याख्या करते हैं।] ध्यानमें '**ध्यै चिन्तायाम्**' यह धातु मानी गयी है। [इसी धातुसे ल्युट् प्रत्यय करनेपर 'ध्यान' की सिद्धि होती है;] अतः विक्षेपरहित चित्तसे जो शिवका बारंबार चिन्तन किया जाता है, उसीका नाम 'ध्यान' है। ध्येयमें स्थित हुए चित्तकी जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और बीचमें दूसरी वृत्ति अन्तर नहीं डालती; उस ध्येयाकार वृत्तिका प्रवाहरूपसे बना रहना 'ध्यान' कहलाता है। दूसरी सब वस्तुओंको छोड़कर केवल कल्याणकारी परमदेव देवेश्वर शिवका ही ध्यान करना चाहिये। वे ही सबके परम ध्येय हैं। यह अथर्ववेदकी श्रुतिका अन्तिम निर्णय है॥ ५१—५३$^{१}/_{२}$ ॥

इसी प्रकार शिवादेवी भी परम ध्येय हैं। ये दोनों शिवा और शिव सम्पूर्ण भूतोंमें व्याप्त हैं। श्रुति, स्मृति एवं शास्त्रोंसे यह सुना गया है कि शिवा और शिव सर्वव्यापक, सर्वदा उदित, सर्वज्ञ एवं नाना रूपोंमें निरन्तर ध्यान करनेयोग्य हैं॥ ५४-५५ ॥

इस ध्यानके दो प्रयोजन जानने चाहिये। पहला है मोक्ष और दूसरा प्रयोजन है अणिमा आदि सिद्धियोंकी उपलब्धि। ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान-प्रयोजन—इन चारोंको अच्छी तरह जानकर योगवेत्ता पुरुष योगका अभ्यास करे। जो ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, ममतारहित तथा सदा उत्साह रखनेवाला है, ऐसा ही पुरुष ध्याता कहा गया है अर्थात् वही ध्यान करनेमें सफल हो सकता है॥ ५६—५८ ॥

साधकको चाहिये कि वह जपसे थकनेपर फिर ध्यान करे और ध्यानसे थक जानेपर पुनः जप करे। इस तरह जप और ध्यानमें लगे हुए पुरुषका योग जल्दी सिद्ध होता है। बारह प्राणायामोंकी एक धारणा होती है, बारह धारणाओंका ध्यान होता है और बारह ध्यानकी एक समाधि कही गयी है। समाधिको योगका अन्तिम अंग कहा गया है। समाधिसे सर्वत्र बुद्धिका प्रकाश फैलता है॥ ५९—६१ ॥

जिस ध्यानमें केवल ध्येय ही अर्थरूपसे भासता है, ध्याता निश्चल महासागरके समान स्थिरभावसे स्थित रहता है और ध्यानस्वरूपसे शून्य-सा हो जाता है, उसे 'समाधि' कहते हैं। जो योगी ध्येयमें चित्तको लगाकर सुस्थिरभावसे उसे देखता है और बुझी हुई आगके समान शान्त रहता है, वह 'समाधिस्थ' कहलाता है॥ ६२-६३ ॥

वह न सुनता है, न सूँघता है, न बोलता है, न देखता है, न स्पर्शका अनुभव करता है, न मनसे संकल्प-विकल्प करता है, न उसमें अभिमानकी वृत्तिका उदय होता है और न वह बुद्धिके द्वारा ही कुछ समझता है। केवल काष्ठकी भाँति स्थित रहता है। इस तरह शिवमें लीनचित्त हुए योगीको यहाँ समाधिस्थ कहा जाता

है॥ ६४-६५ ॥

जैसे वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीपक कभी हिलता नहीं है—निःस्पन्द बना रहता है, उसी तरह समाधिनिष्ठ शुद्ध चित्त योगी भी उस समाधिसे कभी विचलित नहीं होता—सुस्थिरभावसे स्थिर रहता है। इस प्रकार उत्तम योगका अभ्यास करनेवाले योगीके सारे अन्तराय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण विघ्न भी धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं॥ ६६-६७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत सातवीं वायवीयसंहिताके उत्तरखण्डमें वायु और नैमिषीय ऋषियोंके संवादमें योगगतिवर्णन नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ३७॥

अड़तीसवाँ अध्याय

योगमार्गके विघ्न, सिद्धि-सूचक उपसर्ग तथा पृथ्वीसे लेकर बुद्धितत्त्वपर्यन्त ऐश्वर्यगुणोंका वर्णन, शिव-शिवाके ध्यानकी महिमा

उपमन्यु कहते हैं—श्रीकृष्ण ! आलस्य, तीक्ष्ण व्याधियाँ, प्रमाद, स्थान-संशय, अनवस्थितचित्तता, अश्रद्धा, भ्रान्ति-दर्शन, दु:ख, दौर्मनस्य और विषय-लोलुपता—ये दस योगसाधनमें लगे हुए पुरुषोंके लिये योगमार्गके विघ्न कहे गये हैं* ॥ १-२ ॥

योगियोंके शरीर और चित्तमें जो अलसताका भाव आता है, उसीको यहाँ 'आलस्य' कहा गया है। वात, पित्त और कफ—इन धातुओंकी विषमतासे जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हींको 'व्याधि' कहते हैं। कर्मदोषसे इन व्याधियोंकी उत्पत्ति होती है। असावधानीके कारण योगके साधनोंका न हो पाना 'प्रमाद' है। 'यह है या नहीं है' इस प्रकार उभयकोटिसे आक्रान्त हुए ज्ञानका नाम 'स्थान-संशय' है। मनका कहीं स्थिर न होना ही अनवस्थितचित्तता (चित्तकी अस्थिरता) है। योगमार्गमें भावरहित (अनुरागशून्य) जो मनकी वृत्ति है, उसीको 'अश्रद्धा' कहा गया है ॥ ३—५ ॥

विपरीतभावनासे युक्त बुद्धिको 'भ्रान्ति' कहते हैं। ['दु:ख' कहते हैं कष्टको, उसके तीन भेद हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।] मनुष्योंके चित्तका जो अज्ञानजनित दु:ख है, उसे आध्यात्मिक दु:ख समझना चाहिये। पूर्वकृत कर्मोंके परिणामसे शरीरमें जो रोग आदि उत्पन्न होते हैं, उन्हें आधिभौतिक दु:ख कहा गया है। विद्युत्पात, अस्त्र-शस्त्र और विष आदिसे जो कष्ट प्राप्त होता है, उसे आधिदैविक दु:ख कहते हैं। इच्छापर आघात पहुँचनेसे मनमें जो क्षोभ होता है, उसीका नाम है 'दौर्मनस्य'। विचित्र विषयोंमें जो सुखका भ्रम है, वही 'विषयलोलुपता' है ॥ ६—८ ॥

योगपरायण योगीके इन विघ्नोंके शान्त हो जानेपर जो 'दिव्य उपसर्ग' (विघ्न) प्राप्त होते हैं, वे सिद्धिके सूचक हैं। प्रतिभा, श्रवण, वार्ता, दर्शन, आस्वाद और वेदना—ये छ: प्रकारकी सिद्धियाँ ही 'उपसर्ग' कहलाती हैं, जो योगशक्तिके अपव्ययमें कारण होती हैं ॥ ९-१० ॥

जो पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म हो, किसीकी ओटमें हो, भूतकालमें रहा हो, बहुत दूर हो अथवा भविष्यमें होनेवाला हो, उसका ठीक-ठीक प्रतिभास (ज्ञान) हो जाना 'प्रतिभा' कहलाता है। सुननेका प्रयत्न न करनेपर भी सम्पूर्ण शब्दोंका सुनायी देना 'श्रवण' कहा गया है। समस्त देहधारियोंकी बातोंको समझ लेना 'वार्ता' है। दिव्य पदार्थोंका बिना किसी प्रयत्नके दिखायी देना 'दर्शन' कहा गया है, दिव्य रसोंका स्वाद प्राप्त होना

---

* योगदर्शन, समाधिपादके ३०वें सूत्रमें नौ प्रकारके चित्तविक्षेपोंको योगका अन्तराय बताया गया है और ३१ वें सूत्रमें पाँच 'विक्षेपसहभू' संज्ञक विघ्न अथवा प्रतिबन्धक कहे गये हैं। किंतु यहाँ शिवपुराणमें दस प्रकारके अन्तराय बताये गये हैं। इनमें योगदर्शनकथित 'अलब्धभूमिकत्व' को छोड़ दिया गया है और 'विक्षेपसहभू' में परिगणित दु:ख और दौर्मनस्यको सम्मिलित कर लिया गया है। योगसूत्रमें 'स्त्यान और संशय—ये दो पृथक्-पृथक् अन्तराय' हैं और यहाँ 'स्थान-संशय' नामसे एक ही अन्तराय माना गया है; साथ ही इस पुराणमें 'अश्रद्धा' को भी एक अन्तरायके रूपमें गिना गया है।

* योगदर्शन, समाधिपादके ३०वें सूत्रमें नौ प्रकारके चित्तविक्षेपोंको योगका अन्तराय बताया गया है और ३१ वें सूत्रमें पाँच 'विक्षेपसहभू' संज्ञक विघ्न अथवा प्रतिबन्धक कहे गये हैं। किंतु यहाँ शिवपुराणमें दस प्रकारके अन्तराय बताये गये हैं। इनमें योगदर्शनकथित 'अलब्धभूमिकत्व' को छोड़ दिया गया है और 'विक्षेपसहभू' में परिगणित दुःख और दौर्मनस्यको सम्मिलित कर लिया गया है। योगसूत्रमें 'स्त्यान और संशय—ये दो पृथक्-पृथक् अन्तराय' हैं और यहाँ 'स्थान-संशय' नामसे एक ही अन्तराय माना गया है; साथ ही इस पुराणमें 'अश्रद्धा' को भी एक अन्तरायके रूपमें गिना गया है।

'आस्वाद' कहलाता है, अन्तःकरणके द्वारा दिव्य स्पर्शोंका तथा ब्रह्मलोकतकके गन्धादि दिव्य भोगोंका अनुभव 'वेदना' नामसे विख्यात है॥ ११—१४॥

सिद्ध योगीके पास स्वयं ही रत्न उपस्थित हो जाते हैं और बहुत-सी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। मुखसे इच्छानुसार नाना प्रकारकी मधुर वाणी निकलती है। सब प्रकारके रसायन और दिव्य ओषधियाँ सिद्ध हो जाती हैं। देवांगनाएँ इस योगीको प्रणाम करके [मनोवांछित वस्तुएँ] देती हैं। यह मैंने जैसे देखा या अनुभव किया है, तदनुसार योगसिद्धिके एकदेशका भी साक्षात्कार हो जाय तो मोक्षमें मन लग जाता है अर्थात् मोक्ष भी हो सकता है॥ १५—१७॥

कृशता, स्थूलता, बाल्यावस्था, वृद्धावस्था, युवावस्था, नाना जातिका स्वरूप; पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार तत्त्वोंके शरीरको धारण करना, नित्य अपार्थिव एवं मनोहर गन्धको ग्रहण करना—ये पार्थिव ऐश्वर्यके आठ गुण बताये गये हैं॥ १८-१९॥

जलमें निवास करना, पृथ्वीपर ही जलका निकल आना, इच्छा करते ही बिना किसी आतुरताके स्वयं समुद्रको भी पी जानेमें समर्थ होना, इस संसारमें जहाँ चाहे वहीं जलका दर्शन होना, घड़ा आदिके बिना हाथमें ही जलराशिको धारण करना, जिस विरस वस्तुको भी खानेकी इच्छा हो, उसका तत्काल सरस हो जाना, जल, तेज और वायु—इन तीन तत्त्वोंके शरीरको धारण करना तथा देहका फोड़े, फुंसी और घाव आदिसे रहित होना—पार्थिव ऐश्वर्यके आठ गुणोंको मिलाकर ये सोलह जलीय ऐश्वर्यके अद्भुत गुण हैं॥ २०—२३॥

शरीरसे अग्निको प्रकट करना, अग्निके तापसे जलनेका भय दूर हो जाना, यदि इच्छा हो तो बिना किसी प्रयत्नके इस जगत्को जलाकर भस्म कर देनेकी शक्तिका होना, पानीके ऊपर अग्निको स्थापित कर देना, हाथमें आग धारण करना, सृष्टिको जलाकर फिर उसे ज्यों-का-त्यों कर देनेकी क्षमताका होना, मुखमें ही अन्न आदिको पचा लेना तथा तेज और वायु—दो ही तत्त्वोंसे शरीरको रच लेना—ये आठ गुण जलीय ऐश्वर्यके उपर्युक्त सोलह गुणोंके साथ चौबीस होते हैं। ये चौबीस तैजस ऐश्वर्यके गुण कहे गये हैं॥ २४—२५½॥

मनके समान वेगशाली होना, प्राणियोंके भीतर क्षणभरमें प्रवेश कर जाना, बिना प्रयत्नके ही पर्वत आदिके महान् भारको उठा लेना, भारी हो जाना, हलका होना, हाथमें वायुको पकड़ लेना, अंगुलिके अग्रभागकी चोटसे भूमिको भी कम्पित कर देना, एकमात्र वायुतत्त्वसे ही शरीरका निर्माण कर लेना—ये आठ गुण तैजस ऐश्वर्यके चौबीस गुणोंके साथ बत्तीस हो जाते हैं। विद्वानोंने वायुसम्बन्धी ऐश्वर्यके ये ही बत्तीस गुण स्वीकार किये हैं॥ २६—२८½॥

शरीरकी छायाका न होना, इन्द्रियोंका दिखायी न देना, आकाशमें इच्छानुसार विचरण करना, इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विषयोंका समन्वय होना—आकाशको लाँघना, अपने शरीरमें उसका निवेश करना, आकाशको पिण्डकी भाँति ठोस बना देना और निराकार होना—ये आठ गुण अग्निके बत्तीस गुणोंसे मिलकर चालीस होते हैं। ये चालीस ही वायुसम्बन्धी ऐश्वर्यके गुण हैं। यही सम्पूर्ण इन्द्रियोंका ऐश्वर्य है, इसीको 'ऐन्द्र' एवं 'आम्बर' (आकाशसम्बन्धी) ऐश्वर्य भी कहते हैं॥ २९—३१½॥

इच्छानुसार सभी वस्तुओंकी उपलब्धि, जहाँ चाहे वहाँ निकल जाना, सबको अभिभूत कर लेना, सम्पूर्ण गुह्य अर्थका दर्शन होना, कर्मके अनुरूप निर्माण करना, सबको वशमें कर लेना, सदा प्रिय वस्तुका ही दर्शन होना और एक ही स्थानसे सम्पूर्ण संसारका दिखायी देना—ये आठ गुण पूर्वोक्त इन्द्रियसम्बन्धी ऐश्वर्य-गुणोंसे मिलकर अड़तालीस होते हैं। चान्द्रमस ऐश्वर्य इन अड़तालीस गुणोंसे युक्त कहा गया है। यह पहलेके ऐश्वर्योंसे अधिक गुणवाला है। इसे 'मानस ऐश्वर्य' भी कहते हैं॥ ३२—३४॥

छेदना, पीटना, बाँधना, खोलना, संसारके वशमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंको ग्रहण करना, सबको प्रसन्न रखना, पाना, मृत्युको जीतना तथा कालपर विजय पाना—ये सब अहंकारसम्बन्धी ऐश्वर्यके अन्तर्गत हैं। आहंकारिक ऐश्वर्यको ही 'प्राजापत्य' भी कहते हैं॥ ३५-३६॥

चान्द्रमस ऐश्वर्यके गुणोंके साथ इसके आठ गुण

मिलकर छप्पन होते हैं। महान् आभिमानिक ऐश्वर्यके ये ही छप्पन गुण हैं। संकल्पमात्रसे सृष्टि-रचना करना, पालन करना, संहार करना, सबके ऊपर अपना अधिकार स्थापित करना, प्राणियोंके चित्तको प्रेरित करना, सबसे अनुपम होना, इस जगत्से पृथक् नये संसारकी रचना कर लेना तथा शुभको अशुभ और अशुभको शुभ कर देना—यह 'बौद्ध ऐश्वर्य' है। प्राजापत्य ऐश्वर्यके गुणोंको मिलाकर इसके चौंसठ गुण होते हैं। इस बौद्ध ऐश्वर्यको ही 'ब्राह्म ऐश्वर्य' भी कहते हैं॥ ३७—३९॥

इससे उत्कृष्ट है गौण ऐश्वर्य, जिसे प्राकृत भी कहते हैं। उसीका नाम 'वैष्णव ऐश्वर्य' है। तीनों लोकोंका पालन उसीके अन्तर्गत है। उस सम्पूर्ण वैष्णव-पदको न तो ब्रह्मा कह सकते हैं और न दूसरे ही उसका पूर्णतया वर्णन कर सकते हैं। उसीको पौरुषपद भी कहते हैं। गौण और पौरुषपदसे उत्कृष्ट गणपतिपद है। उसीको ईश्वरपद भी कहते हैं। उस पदका किंचित् ज्ञान श्रीविष्णुको है। दूसरे लोग उसे नहीं जान सकते॥ ४०-४१॥

ये सारी विज्ञान-सिद्धियाँ औपसर्गिक हैं। इन्हें परम वैराग्यद्वारा प्रयत्नपूर्वक रोकना चाहिये। इन अशुद्ध प्रातिभासिक गुणोंमें जिसका चित्त आसक्त है, उसे सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला निर्भय परम ऐश्वर्य नहीं सिद्ध होता॥ ४२-४३॥

इसलिये देवता, असुर और राजाओंके गुणों तथा भोगोंको जो तृणके समान त्याग देता है, उसे ही उत्कृष्ट योगसिद्धि प्राप्त होती है। अथवा यदि जगत्पर अनुग्रह करनेकी इच्छा हो तो वह योगसिद्ध मुनि इच्छानुसार विचरे। इस जीवनमें गुणों और भोगोंका उपभोग करके अन्तमें उसे मोक्षकी प्राप्ति होगी॥ ४४-४५॥

अब मैं योगके प्रयोगका वर्णन करूँगा। एकाग्रचित्त होकर सुनो। शुभ काल हो, शुभ देश हो, भगवान् शिवका क्षेत्र आदि हो, एकान्त स्थान हो, जीव-जन्तु न रहते हों, कोलाहल न होता हो और किसी बाधाकी सम्भावना न हो—ऐसे स्थानमें लिपी-पुती सुन्दर भूमिको गन्ध और धूप आदिसे सुवासित करके वहाँ फूल बिखेर दे, चँदोवा आदि तानकर उसे विचित्र रीतिसे सजा दे तथा वहाँ कुश, पुष्प, समिधा, जल, फल और मूलकी सुविधा हो। [फिर वहाँ योगका अभ्यास करे।] अग्निके निकट, जलके समीप और सूखे पत्तोंके ढेरपर योगाभ्यास नहीं करना चाहिये॥ ४६—४८॥

जहाँ डाँस और मच्छर भरे हों, साँप और हिंसक जन्तुओंकी अधिकता हो, दुष्ट पशु निवास करते हों, भयकी सम्भावना हो तथा जो दुष्टोंसे घिरा हुआ हो—ऐसे स्थानमें भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। श्मशानमें, चैत्यवृक्षके नीचे, बाँबीके निकट, जीर्ण-शीर्ण घरमें, चौराहेपर, नदी-नद और समुद्रके तटपर, गली या सड़कके बीचमें, उजड़े हुए उद्यानमें, गोष्ठ आदिमें अनिष्टकारी और निन्दित स्थानमें भी योगाभ्यास न करे॥ ४९—५०१/२॥

जब शरीरमें अजीर्णका कष्ट हो, खट्टी डकार आती हो, विष्ठा और मूत्रसे शरीर दूषित हो, सर्दी हुई हो या अतिसार रोगका प्रकोप हो, अधिक भोजन कर लिया गया हो या अधिक परिश्रमके कारण थकावट हुई हो, जब मनुष्य अत्यन्त चिन्तासे व्याकुल हो, अधिक भूख-प्यास सता रही हो तथा जब वह अपने गुरुजनोंके कार्य आदिमें लगा हुआ हो, उस अवस्थामें भी उसे योगाभ्यास नहीं करना चाहिये॥ ५१—५२१/२॥

जिसके आहार-विहार उचित एवं परिमित हों, जो कर्मोंमें यथायोग्य समुचित चेष्टा करता हो तथा जो उचित समयसे सोता और जागता हो एवं सर्वथा आयासरहित हो, उसीको योगाभ्यासमें तत्पर होना चाहिये। आसन मुलायम, सुन्दर, विस्तृत, सब ओरसे बराबर और पवित्र होना चाहिये। पद्मासन और स्वस्तिकासन आदि जो यौगिक आसन हैं, उनपर भी अभ्यास करना चाहिये। अपने आचार्यपर्यन्त गुरुजनोंकी परम्पराको क्रमशः प्रणाम करके अपनी गर्दन, मस्तक और छातीको सीधी रखे। ओठ और नेत्र अधिक सटे हुए न हों। सिर कुछ-कुछ ऊँचा हो। दाँतोंसे दाँतोंका स्पर्श न करे॥ ५३—५६॥

दाँतोंके अग्रभागमें स्थित हुई जिह्वाको अविचलभावसे रखते हुए, एड़ियोंसे दोनों अण्डकोशों और प्रजननेन्द्रियकी

रक्षापूर्वक दोनों जाँघोंके ऊपर बिना किसी यत्नके अपनी दोनों भुजाओंको रखे। फिर दाहिने हाथके पृष्ठभागको बायें हाथकी हथेलीपर रखकर धीरेसे पीठको ऊँची करे और छातीको आगेकी ओरसे सुस्थिर रखते हुए नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये। अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टिपात न करे॥ ५७—५९॥

प्राणका संचार रोककर पाषाणके समान निश्चल हो जाय। अपने शरीरके भीतर मानस-मन्दिरमें हृदय-कमलके आसनपर पार्वतीसहित भगवान् शिवका चिन्तन करके ध्यान-यज्ञके द्वारा उनका पूजन करे॥ ६०१/२॥

मूलाधार चक्रमें, नासिकाके अग्रभागमें, नाभिमें, कण्ठमें, तालुके दोनों छिद्रोंमें, भौंहोंके मध्यभागमें, द्वारदेशमें, ललाटमें या मस्तकमें शिवका चिन्तन करे। शिवा और शिवके लिये यथोचित रीतिसे उत्तम आसनकी कल्पना करके वहाँ सावरण या निरावरण शिवका स्मरण करे। द्विदल, चतुर्दल, षड्दल, दशदल, द्वादशदल अथवा षोडशदल कमलके आसनपर विराजमान शिवका विधिवत् स्मरण करना चाहिये। दोनों भौंहोंके मध्यभागमें द्विदल कमल है, जो विद्युत्के समान प्रकाशमान है॥ ६१—६४॥

भ्रूमध्यमें स्थित जो कमल है, उसके क्रमशः दक्षिण और उत्तर भागमें दो पत्ते हैं, जो विद्युत्के समान दीप्तिमान् हैं। उनमें दो अन्तिम वर्ण 'ह' और 'क्ष' अंकित हैं। षोडशदल कमलके पत्ते सोलह स्वररूप हैं, [जिनमें 'अ' से लेकर 'अः' तकके अक्षर क्रमशः अंकित हैं।] यह जो कमल है, उसकी नालके मूलभागसे बारह दल प्रस्फुटित हुए हैं, जिनमें 'क' से लेकर 'ठ' तकके बारह अक्षर क्रमशः अंकित हैं। सूर्यके समान प्रकाशमान इस कमलके उन द्वादश दलोंका अपने हृदयके भीतर ध्यान करना चाहिये॥ ६५—६७॥

तत्पश्चात् गो-दुग्धके समान उज्ज्वल कमलके दस दलोंका चिन्तन करे। उनमें क्रमशः'ड' से लेकर 'फ' तकके अक्षर अंकित हैं। इसके बाद नीचेकी ओर दलवाले कमलके छः दल हैं, जिनमें 'ब' से लेकर 'ल' तकके अक्षर अंकित हैं। इस कमलकी कान्ति धूमरहित अंगारके समान है॥ ६८१/२॥

मूलाधारमें स्थित जो कमल है, उसकी कान्ति सुवर्णके समान है। उसमें क्रमशः 'व' से लेकर 'स' तकके चार अक्षर चार दलोंके रूपमें स्थित हैं। इन कमलोंमेंसे जिसमें ही अपना मन रमे, उसीमें महादेव और महादेवीका अपनी धीर बुद्धिसे चिन्तन करे॥ ६९-७०॥

उनका स्वरूप अँगूठेके बराबर, निर्मल और सब ओरसे दीप्तिमान् है। अथवा वह शुद्ध दीपशिखाके समान आकारवाला है और अपनी शक्तिसे पूर्णतः मण्डित है। अथवा चन्द्रलेखा या ताराके समान रूपवाला है अथवा वह नीवारके सींक या कमलनालसे निकलेवाले सूतके समान है। कदम्बके गोलक या ओसके कणसे भी उसकी उपमा दी जा सकती है। वह रूप पृथिवी आदि तत्त्वोंपर विजय प्राप्त करनेवाला है। ध्यान करनेवाला पुरुष जिस तत्त्वपर विजय पानेकी इच्छा रखता हो, उसी तत्त्वके अधिपतिकी स्थूल मूर्तिका चिन्तन करे॥ ७१—७३१/२॥

ब्रह्मासे लेकर सदाशिवपर्यन्त तथा भव आदि आठ मूर्तियाँ ही शिवशास्त्रमें शिवकी स्थूल मूर्तियाँ निश्चित की गयी हैं। मुनीश्वरोंने उन्हें 'घोर', 'शान्त' और 'मिश्र' तीन प्रकारकी बताया है। फलकी आशा न रखनेवाले ध्यानकुशल पुरुषोंको इनका चिन्तन करना चाहिये। यदि घोर मूर्तियोंका चिन्तन किया जाय तो वे शीघ्र ही पाप और रोगका नाश करती हैं॥ ७४—७६॥

मिश्र मूर्तियोंमें शिवका चिन्तन करनेपर चिरकालमें सिद्धि प्राप्त होती है और सौम्यमूर्तिमें शिवका ध्यान किया जाय तो सिद्धि प्राप्त होनेमें न तो अधिक शीघ्रता होती है और न अधिक विलम्ब ही। सौम्यमूर्तिमें ध्यान करनेसे विशेषतः मुक्ति, शान्ति एवं शुद्ध बुद्धि प्राप्त होती है। क्रमशः सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसमें संशय नहीं है॥ ७७-७८॥

॥ इस प्रकार श्रीशिवमहापुराणके अन्तर्गत सातवीं वायवीयसंहिताके उत्तरखण्डमें योगगतिमें विघ्नोत्पत्तिवर्णन नामक अड़तीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ३८॥

अष्टमोऽध्यायः

अष्टाङ्गयोगनिरूपणम्

सूत उवाच

संक्षेपतः प्रवक्ष्यामि योगस्थानानि सांप्रतम्। कल्पितानि शिवेनैव हिताय जगतां द्विजाः।।१।।
गलादधो वितस्त्या यन्नाभेरुपरि चोत्तमम्। योगस्थानमधो नाभेरावर्तं मध्यमं भ्रुवोः।।२।।
सर्वार्थज्ञाननिष्पत्तिरात्मनो योग उच्चते। एकाग्रता भवेच्चैव सर्वदा तत्प्रसादतः।।३।।
प्रसादस्य स्वरूपं यत्स्वसंवेद्यं द्विजोत्तमाः। वक्तुं न शक्यं ब्रह्माद्यैः क्रमशो जायते नृणाम्।।४।।
योगशब्देन निर्वाणं माहेशं पदमुच्यते। तस्य हेतुर्ऋषेर्ज्ञानं ज्ञानं तस्य प्रसादतः।।५।।
ज्ञानेन निर्दहेत्पापं निरुध्य विषयान् सदा। निरुद्धेंद्रियवृत्तेस्तु योगसिद्धिर्भविष्यति।।६।।
योगो निरोधो वृत्तेषु चित्तस्य द्विजसत्तमाः। साधनान्यष्टधा चास्य कथितानीह सिद्धये।।७।।
यमस्तु प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयो नियमस्तथा। तृतीयमासनं प्रोक्तं प्राणायामस्ततः परम्।।८।।
प्रत्याहारः पंचमो वै धारणा च ततःपरा। ध्यानं सप्तममित्युक्तं समाधिस्त्वष्टमः स्मृतः।।९।।
तपस्युपरमश्चैव यम इत्यमिभधीयते। अहिंसा प्रथमो हेतुर्यमस्य यमिनां वराः।।१०।।
सत्यमस्तेयमपरं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ। नियमस्यापि वै मूलं यम एव न संशयः।।११।।

आठवाँ अध्याय

अष्टांगयोग का निरूपण

सूत बोले

अब मैं संक्षेप में योगिक मण्डलों के बारे में बताऊँगा। हे ब्राह्मणों! वे स्वयं भगवान शिव के द्वारा मनुष्यों के कल्याण के लिए बनाये गये हैं।।१।। गले से नीचे वितस्ति से ढका हुआ और नाभि के ऊपर योग का उत्तम स्थान है। नाभि के नीचे और भौहों के बीच भी योग का उत्तम स्थान है।।२।। आत्मा में उद्भूत सभी विषयों का ज्ञान ही योग है। केवल उनकी कृपा से ही मन की एकाग्रता सम्भव होती है।।३।। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! उनकी कृपा व्यक्ति स्वयं प्राप्त करता है। यह ब्रह्मा आदि के द्वारा नहीं बताई जा सकती। व्यक्ति में यह धीरे-धीरे पैदा होती है।।४।। योगशब्द में साक्षात् प्रभु निवास करते हैं। ज्ञान से ही योग की प्राप्ति होती है और ज्ञान उनकी कृपा से ही मिलता है।।५।। ऐन्द्रिक गतिविधियों से विरत रहकर ज्ञान से पाप को जलाना चाहिये। इन्द्रिय निरोध से ही योग की प्राप्ति होती है।।६।। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! योग मन की क्रियाओं का संयमन है। योग की प्राप्ति के आठ साधन बताये गये हैं।।७।। ये है—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि।।८-९।। तप से (विषयों का) त्याग ही यम है। अहिंसा यम का प्रथम लक्षण है। सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संचय न करना) अन्य हेतु हैं और नियमों के भी आधार

आत्मवत्सर्वभूतानां हितायैव प्रवर्तनम्।
अहिंसैषा समाख्याता या चात्मज्ञानसिद्धिदा॥१२॥

दृष्टं श्रुतं चानुभितं स्वानुभूतं यथार्थतः। कथनं सत्यमित्युक्तं परपीडाविवर्जितम्॥१३॥
नाश्लीलं कीर्तयेदेवं ब्राह्मणानामिति श्रुतिः। परदोषान् परिज्ञाय न वदेदिति चापरम्॥१४॥
अनादानं परस्वानामापद्यपि विचारतः। मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासतः॥१५॥
मैथुनस्याप्रवृत्तिर्हि मनोवाक्कायकर्मणा। ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं यतीनां ब्रह्मचारिणाम्॥१६॥
इह वैखानसानां च विदाराणां विशेषतः। सदाराणां गृहस्थानां तथैव च वदामि वः॥१७॥
स्वदारे विधिवत्कृत्वा निवृत्तिश्चान्यतः सदा। मनसा कर्मणा वाचा ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम्॥१८॥
मेध्या स्वनारा संभोगं कृत्वा स्नानं समाचरेत्। एवं गृहस्थो युक्तात्मा ब्रह्मचारी न संशयः॥१९॥

अहिंसाप्येवमेवैषा द्विजगुर्वग्निपूजने।
विधिना यादृशी हिंसा सात्वहिंसा इति स्मृता॥२०॥
स्त्रियः सदा परित्याज्याः संगं नैव च कारयेत्।
कुणपेषु यथा चित्त तथा कुर्याद्विचक्षणः॥२१॥

विण्मूत्रोत्सर्गकालेषु बहिर्भूमौ यथा मतिः। तथा कार्या रतौ चापि स्वदारे चान्यतः कुतः॥२२॥
अंगारसदृशी नारी घृतकुंभसमः पुमान्। तस्मान्नारीषु संसर्गं दूरतः परिवर्जयेत्॥२३॥

हैं।।१०-११।। सभी प्राणियों को अपनी ही तरह समझना और सभी प्राणियों के कल्याण में रत रहना अहिंसा है। यह आत्म-ज्ञान में सहायक है।।१२।। देखें, सुने, समझे गये और अनुभव किये गये को बिना किसी को पीड़ा पहुँचाए हुए कहना ही सत्य है।।१३।। वेदों के अनुसार ब्राह्मणों के समक्ष अश्लील न बोलना चाहिये। दूसरों का दोष जानकर भी दूसरों से नहीं कहना चाहिये यह भी श्रुति (वेदों का वचन) है।।१४।। दूसरों की वस्तु सोद्देश्य भी न चुराना, यहाँ तक कि मानसिक, भौतिक और वाचिक संकट में नहीं चुराना संक्षेप में अस्तेय है।।१५।। मानसिक, वाचिक और भौतिक रूप से मैथुन से विरत रहना ही ब्रह्मचारियों और तपस्वियों के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य है।।१६।। एकान्तवासियों वानप्रस्थियों और विधुरों के सम्बन्ध में भी यही उचित है। अब मैं गृहस्थों—जो कि अपनी पत्नियों के साथ रहते हैं—इनके ब्रह्मचर्य व्रत के बारे बताऊँगा।।१७।। उनके मामले में अपनी पत्नी के साथ मैथुन और अन्य स्त्रियों से मानसिक, शारीरिक और वाचिक रूप से विरत रहना ही ब्रह्मचर्य समझना चाहिये।।१८।। गृहस्थ को स्वपत्नी के साथ मैथुन करने के उपरान्त स्नान करना चाहिये। इस प्रकार का योगी गृहस्थ निश्चय ही ब्रह्मचारी है।।१९।। अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होता है। ब्राह्मण, गुरुओं और यज्ञों के सम्बन्ध में वेदों द्वारा विहित हिंसा भी अहिंसा के अन्तर्गत मानी जायेगी।।२०।। स्त्रियों से सदा दूर रहना चाहिये। उनका त्याग करना चाहिये। समझदार व्यक्ति उनको शव की भाँति समझता है।।२१।। अपनी पत्नी के साथ मैथुन करते समय वैसा ही व्यवहार रखना चाहिये जैसा भूमि पर मलमूत्र त्याग करते समय होता है। इसके अलावा कोई दूसरा व्यवहार नहीं होना चाहिये।।२२।। स्त्री जलता हुआ अंगारा है

भोगेन तृप्तिर्नैवास्ति विषयाणां विचारतः। तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनसा कर्मणा गिरा॥२४॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥२५॥
तस्मात्त्यागः सदा कार्यस्त्वमृतत्वाय योगिना। अविरक्तो यतो मर्त्यो नानायोनिषु वर्तते॥२६॥
त्यागेनैवामृतत्वं हि श्रुतिस्मृतिविदां वराः। कर्मणा प्रजया नास्ति द्रव्येण द्विजसत्तमाः॥२७॥
तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनोवाक्कायकर्मणा। ऋतौ ऋतौ निवृत्तिस्तु ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम्॥२८॥
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ता नियमांश्च वदामि वः। शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः॥२९॥
व्रतोपवासमौनं च स्नानं च नियमा दश। नियमः स्यादनीहा च शौचं तुष्टिस्तपस्तथा॥३०॥
जपः शिवप्रणीधानं पद्मकाद्यं तथासनम्। बाह्यमाभ्यंतरं प्रोक्तं शौचमाभ्यंतरं वरम्॥३१॥
बाह्यशौचेन युक्तः संस्तथा चाभ्यंतरं चरेत्। आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं कर्तव्यं शिवपूजकैः॥३२॥
स्नानं विधानतः सम्यक् पश्चादाभ्यंतरं चरेत्। आदेहांतं मृदालिप्य तीर्थतोयेषु सर्वदा॥३३॥
अवगाह्यापि मलिनो ह्यंतश्शौचविवर्जितः।
शैवला झषका मत्स्याः सत्त्वा मत्स्योपजीविनः॥३४॥
सदावगाह्यः सलिले विशुद्धाः किं द्विजोत्तमाः। तस्मादाभ्यंतरं शौचं सदा कार्यं विधानतः॥३५॥

और पुरुष घी का घड़ा। इसलिये उसे सर्वदा नारी सम्पर्क से बचना चाहिये।।२३।। यदि हम विचार करें तो काम सुख में कोई संतुष्टि नहीं है। अतः मानसिक, शारीरिक और वाचिक रूप से विरक्त होकर व्यवहार करना चाहिये।।२४।। मैथुन से काम वासना शान्त नहीं होती। जैसे आग में घी डालने से आग बुझने के बजाय बढ़ जाती है।।२५।। अतः योगियों को अमृतत्व की प्राप्ति हेतु हमेशा त्याग करना चाहिये क्योंकि जो विरक्त नहीं है वह बारबार विभिन्न योनियों में जन्म लेता रहता है।।२६।। हे श्रुति स्मृति के श्रेष्ठ जानकारों! त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है न कि कर्मकाण्डों और पूजा सामग्री के दान देने से।।२७।। अतः मनुष्यों को मानसिक, वाचिक और भौतिक विरक्ति का अभ्यास करना चाहिये। समयानुसार निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है।।२८।। इस प्रकार संक्षेप में मैंने यमों (निषेध) के बारे में बताया। अब मैं नियमों (विधि) के बारे में बताऊँगा। ये संख्या में दस है—(१) शौच (स्वच्छता) (२) इज्या (बलि) (३) तप (४) दान (५) स्वाध्याय (६) प्रजनन अंगों का निग्रह (७) व्रत (८) उपवास (९) मौन (१०) स्नान। कुछ लोगों के अनुसार नियम है (१) अनीह अर्थात् लालच का न होना (२) शौच (३) संतोष (४) तप (५) शिव मन्त्र का जाप (६) शिव का ध्यान और (७) पद्मासन है। इनमें शौच दो प्रकार का होता है। बाह्य और आन्तरिक। इसमें आन्तरिक बाह्य से श्रेष्ठ होता है।।२९-३१।। बाह्य शुचिता वाले को आन्तरिक शुचिता का भी अभ्यास करना चाहिये। विधि के अनुसार पवित्र स्नान करना चाहिये। यह तीन प्रकार का होता है—(१) आग्नेय (२) वारुण और (३) ब्राह्म। बाह्य स्नान करने के उपरान्त आन्तरिक स्नान का अभ्यास करना चाहिये। आन्तरिक शुचिता से रहित व्यक्ति सारे शरीर पर मिट्टी का लेप करके तीर्थ के जलों से स्नान करके भी अपवित्र है। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! सेवार, मतार, मछलियाँ और मछलियों पर आश्रित प्राणी हमेशा जल में रहते है किन्तु क्या वे पवित्र हैं? इसलिये विधि के अनुसार आन्तरिक

आत्मज्ञानांभसि स्नात्वा सकृदालिप्य भावतः। सुवैराग्यमृदा शुद्धः शौचमेवं प्रकीर्तितम्॥३६॥
शुद्धस्य सिद्धयो दृष्टा नैवाशुद्धस्य सिद्धयः। न्यायेनागतया वृत्त्या संतुष्टो यस्तु सुव्रतः॥३७॥
संतोषस्तस्य सततमतीतार्थस्य चास्मृतिः। चांद्रायणादिनिपुणस्तपांसि सुशुभानि च॥३८॥
स्वाध्यायस्तु जपः प्रोक्तः प्रणवस्य त्रिधा स्मृतः।
वाचिकश्चाधमो मुख्य उपांशुश्चोत्तमोत्तमः॥३९॥
मानसे विस्तरेणैव कल्पे पंचाक्षरे स्मृतः। तथा शिवप्रणीधानं मनोवाक्कायकर्मणा॥४०॥
शिवज्ञानं गुरोर्भक्तिरचला सुप्रतिष्ठिता। निग्रहो ह्यपहृत्याशु प्रसक्तानींद्रियाणि च॥४१॥
विषयेषु समासेन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। चित्तस्य धारणा प्रोक्ता स्थानबंधः समासतः॥४२॥
तस्याः स्वास्थ्येन ध्यानं च समाधिश्च विचारतः। तत्रैकचित्तता ध्यानं प्रत्ययांतरवर्जितम्॥४३॥
चिद्भासमर्थमात्रस्य देहशून्यमिव स्थितम्। समाधिः सर्वहेतुश्च प्राणायाम इति स्मृतः॥४४॥
प्राणः स्वदेहजो वायुर्यमस्तस्य निरोधनम्। त्रिधा द्विजैर्यमः प्रोक्तो मंदो मध्योत्तमस्तथा॥४५॥
प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायामः प्रकीर्तितः। प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम्॥४६॥
नीचो द्वादशमात्रस्तु उद्घातो द्वादशः स्मृतः। मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥४७॥
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते। प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्॥४८॥

शुचिता का अभ्यास करना चाहिये।।३२-३५।। आन्तरिक शुचिता इस प्रकार बताई गयी है। व्यक्ति को विरक्ति रूपी पवित्र राख श्रद्धा से लपेटनी चाहिये और आत्मज्ञानरूपी जल में स्नान करना चाहिये। इस प्रकार आन्तरिक शुचिता प्राप्त की जा सकती है।।३६।। सिद्धियों की प्राप्ति शुद्ध व्यक्ति को हो सकती है, अशुद्ध व्यक्ति को नहीं। उचित माध्यम से प्राप्त जीविका से सन्तुष्टि प्राप्त करने वाला व्रती सन्तोषी है। वह अपनी आवश्यकताओं से चिन्तित नहीं रहता। चान्द्रायण आदि व्रतों का विधि विधान से पालन ही तप है। स्वाध्याय ओंकार मंत्र का तीन तरह से पालन करना है—(१) वाचिक, अर्थात् मुख से जाप करना है। यह तीनों में निम्नतम कोटि का है। (२) उपांशु मन्द मन्द जाप। यह वाचिक से श्रेष्ठ है। (३) मानस जिसमें कण्ठ से ध्वनि नहीं निकलती और जो सर्वोत्तम है।।३७-३९।। मन में विस्तार से पंचाक्षर का स्मरण करना चाहिये। मानसिक शारीरिक और वाणी से शिव प्रणिधान, गुरु पर अटूट श्रद्धा, ज्ञानेन्द्रियों का सांसारिक सुख के विषयों से निवारण, संक्षेप में यही प्रत्याहार है। चित्त का उचित स्थान पर स्थिरीकरण धारणा है। धारणा का सामान्य हो जाना ही ध्यान है। यदि यह विचार के साथ किया जाये तो समाधि है। समाधि में चित्त और ध्यान का केन्द्रीकरण है। इसमें बाहरी वस्तु पर विचार वर्जित है।।४०-४३।। समाधि में मात्र उच्चतम चेतना रह जाती है मानो यह शरीर से रहित शून्य मात्र में हो। प्राणायाम ध्यान समाधि आदि का मूल है।।४४।। शरीर के अन्दर की वायु प्राण है। इसको रोकता (निरोध) यम है। ब्राह्मणों ने इसको तीन प्रकार का बताया है। मन्द, मध्य और उत्तम।।४५।। प्राण और अपान का निरोध प्राणायाम है। प्राणायाम का मान बारह मात्राओं का होता है।।४६।। मन्द बारह मात्राओं (क्षणों) का होता है जो एक उद्घात के बराबर होता है। मध्य दो उद्घातों और चौबीस मात्राओं का होता है। उत्तम तीन उद्घातों और

आनंदोद्भवयोगार्थं निद्राघूर्णिस्तथैव च। रोमांचध्वनिसंविद्धस्वांगमोटनकंपनम् ॥४९॥
भ्रमणं स्वेदजन्या सा संविन्मूर्च्छा भवेद्यदा। तदोत्तमोत्तमः प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः॥५०॥
सगर्भोऽगर्भ इत्युक्तः सजपो विजपः क्रमात्। इभो वा शरभो वापि दुराधर्षोऽथ केसरी॥५१॥
गृहीतो दम्यमानस्तु यथास्वस्थस्तु जायते। तथा समीरणोऽस्वस्थो दुराधर्षश्च योगिनाम्॥५२॥
न्यायतः सेव्यमानस्तु स एवं स्वस्थतां व्रजेत्। यथैव मृगराड् नागः शरभो वापि दुर्मदः॥५३॥
कालांतरवशाद्योगाद्दम्यते परमादरात्। तथा परिचयात्स्वास्थ्यं समत्वं चाधिगच्छति॥५४॥
योगादभ्यसते यस्तु व्यसनं नैव जायते। एवमभ्यस्यमानस्तु मुनेः प्राणो विनिर्दहेत्॥५५॥
मनोवाक्कायजान् दोषान् कर्तुर्देहं च रक्षति। संयुक्तस्य तथा सम्यक्प्राणायामेन धीमतः॥५६॥

दोषात्तस्माच्च नश्यंति निश्वासस्तेन जीर्यते।
प्राणायामेन सिध्यंति दिव्याः शांत्यादयः क्रमात्॥५७॥

शांतिः प्रशांतिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च तथा क्रमात्। आदौ चतुष्टस्येह प्रोक्ता शांतिरिह द्विजाः॥५८॥
सहजागंतुकानां च पापानां शांतिरुच्यते। प्रशांतिः संयमः सम्यग्वचसामिति संस्मृता॥५९॥
प्रकाशो दीप्तिरित्युक्तः सर्वतः सर्वदा द्विजाः। सर्वेंद्रियप्रसादस्तु बुद्धेर्वै मरुतामपि॥६०॥
प्रसाद इति संप्रोक्तः स्वांते त्विह चतुष्टये। प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च॥६१॥
नागः कूर्मस्तु कृकलो देवदत्तो धनंजयः। एतेषां यः प्रसादस्तु मरुतामिति संस्मृतः॥६२॥

छत्तीस मात्राओं का होता है। तीनों तरह के प्राणायाम में क्रमशः पसीना आना, कम्पन और उत्थान होता है। जब प्राणायाम में निद्रा, चक्कर आना, तरह तरह की ध्वनि से रोमांच हो जाना शरीर के अंगों में दबाव और कम्पन आदि हो तो यह उत्तम लक्षण है क्योंकि यह आनन्द का प्रारम्भ है।।४७-५०।। प्राणायाम सगर्भ-अथवा अगर्भ दो तरह का होता है। जब जप के साथ किया जाये तो यह सगर्भ होता है और जब बिना जप के किया जाये तो अगर्भ होता है। यह हाथी की तरह या शरभ (आठ पैरो वाला पशु) की तरह या सिंह की तरह होता है। पकड़कर पालतू कर दिये जाने पर यह आज्ञाकारी हो जाता है उसी तरह वायु जो कि स्वभाव से अस्थिर और दुर्दम्य होता है योगियों के लिये सामान्य हो जाता है। जैसे हाथी शरभ और सिंह भयंकर होते हुए भी थोड़े समय में प्रशिक्षण से पालतू बन जाते हैं वैसे वायु भी निरन्तर अभ्यास से सामान्य और संतुलित हो जाता है।।५१-५४।। योगाभ्यास करने वाले पर कोई संकट नहीं रहता। समुचित अभ्यास से प्राण (वायु) मन, वाणी और शरीर के दोषों को दूर करके साधक के शरीर को सुरक्षित रखता है। इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से दोषों का नाश होता है। अभ्यासी श्वास तक पर नियन्त्रण कर लेता है और दिव्य शान्ति आदि गुण प्राप्त होते हैं।।५५-५७।। प्राणायाम के शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद चार गुण होते हैं। हे ब्राह्मणों! इनको इस प्रकार समझा जा सकता है। शान्ति का अर्थ है पापों का दमन चाहे वे जन्मजात हों या प्राप्त किये हुऐ (आगन्तुक)। प्रशान्ति वाणी पर पूर्ण निरोध है। हे ब्राह्मणों! हर समय और सब तरफ की चमक दीप्ति कहलाती है और मन की स्पष्टता प्रसाद है। प्रसाद चार तरह का होता है। ये हैं ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि और मारुत के प्रसाद। मारुत, प्राण, अपान, समान,

प्रयाणं कुरुते तस्माद्वायुः प्राण इति स्मृतः। अपानयत्यपानस्तु आहारादीन् क्रमेण च॥६३॥
व्यानो व्यानामयत्यंगं व्याध्यादीनां प्रकोपकः। उद्वेजयति मर्माणि उदानोऽयं प्रकीर्तितः॥६४॥
समं नयति गात्राणि समानः पंच वायवः। उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तु सः॥६५॥
कृकलः क्षुतकायैव देवदत्तो विजृंभणे। धनंजयो महाघोषः सर्वगः स मृतेऽपि हि॥६६॥
इति यो दशवायूनां प्राणायामेन सिध्यति। प्रसादोऽस्य तुरीया तु संज्ञा विप्राश्चतुष्टये॥६७॥
विस्वरस्तु महान् प्रज्ञा मनो ब्रह्माचितिः स्मृतिः। ख्यातिः संवित्ततः पश्चादीश्वरो मतिरेव व॥६८॥
बुद्धेरेताः द्विजाः संज्ञा महतः परिकीर्तिताः। अस्या बुद्धेः प्रसादस्तु प्राणायामेन सिद्ध्यति॥६९॥
विस्वरो विस्वरीभावो द्वंद्वानां मुनिसत्तमाः। अग्रजः सर्वतत्त्वानां महान्यः परिमाणतः॥७०॥
यत्प्रमाणगुहा प्रज्ञा मनस्तु मनुते यतः। बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मा ब्रह्मविदांवराः॥७१॥
सर्वकर्माणि भोगार्थं यच्चिनोति चितिः स्मृता। स्मरते यत्स्मृतिः सर्वं संविद्वै विंदते यतः॥७२॥
ख्यायते यत्त्विति ख्यातिर्ज्ञानादिभिरनेकशः। सर्वतत्त्वाधिपः सर्वं विजानाति यदीश्वरः॥७३॥
मनुते मन्यते यस्मान्मतिर्मतिमतांवराः। अर्थं बोधयते यच्च बुद्ध्यते बुद्धिरुच्यते॥७४॥
अस्या बुद्धेः प्रसादस्तु प्राणायामेन सिद्ध्यति। दोषान्विनिर्दहेत्सर्वान् प्राणायामादसौ यमी॥७५॥

उदान और व्यान हैं। इन्हें क्रमशः नाग, कर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय भी कहते हैं। इन सबकी स्पष्टता ही प्रसाद हैं।।५८-६२।। जो शरीर से प्रयाण करती है वह वायु प्राण कही जाती है। जो आहार और पान आदि को नीचे लाती है वह अपान कही जाती है। जो (वायु) शरीर के झुकने के योग्य बनाती है वह व्यान होती है। यह रोगों को भी उत्तेजित करती है। शरीर के मर्म स्थानों को उत्तेजित और प्रभावित करने वाली वायु उदान है और सब अंगों को सामान्य करने वाली वायु समान है। नाग का कार्य उद्गार है और कर्म का उन्मीलन है। कृकल छींकने का कार्य करता है और देवदत्त जम्हाई का कार्य करता है जबकि धनञ्जय घोष (तीव्र ध्वनि) करता है। इन दसों वायुओं का नियन्त्रण ही प्रसाद है। हे ब्राह्मणों! चार गुणों में प्रसाद चौथा है।।६३-६७।। हे ब्राह्मणों! बुद्धि के ये पर्यायवाची है—विस्वर, महत्, प्रज्ञा, मानस, ब्रह्मा, चिति, स्मृति, ख्याति, संवित, ईश्वर और मति। प्राणायाम से बुद्धि का प्रसाद प्राप्त होता है।।६८-६९।। हे श्रेष्ठ मुनियों! यह (बुद्धि) दो विपरीत भावों को मिलाती है। अतः इसे विस्वर कहते हैं। यह सभी तत्त्वों में अग्रणी है। अतः महत् कही जाती है। यह प्रज्ञा कही जाती है क्योंकि यह ज्ञान का भण्डार है। यह सोचती है इसलिये मानस कही जाती है। यह बड़ी है और फैलती है इसलिये ब्रह्मा कही जाती है। हे श्रेष्ठ ब्रह्मविदों! यह आनन्द के लिये सभी गतिविधियों को एकत्र करती है, इसलिये इसे चिति कहते हें। यह वस्तुओं को स्मरण रखती है इसलिये इसे स्मृति कहते हैं। चूँकि इसे सब जगह ज्ञान के कारण जानी जाती है इसलिये इसे ख्याति कहते हैं। चूँकि यह सब कुछ प्राप्त करती है इसलिये इसे संवित कहते हैं। इसे ईश्वर कहते है क्योंकि यह सभी तत्त्वों की स्वामिनी है। हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ मुनियों! यह मति कही जाती है क्योंकि यह विषयगत और विषयीगत विचारों का उपकरण है। क्योंकि यह सभी वस्तुओं का बोध कराती है और स्वयं बोधवती है अतः यह बुद्धि कही जाती है।।७०-७४।। प्राणायाम से ही बुद्धि का

पातकं धारणाभिस्तु प्रत्याहारेण निर्दहेत्। विषयान्विषवद्ध्यात्वा ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।।७६।।
समाधिना यतिश्रेष्ठाः प्रज्ञावृद्धिं विवर्धयेत्।
स्थानं लब्ध्वैव कुर्वीत योगाष्टांगानि वै क्रमात्।।७७।।
लब्ध्वासनानि विधिवद्योगविद्धयर्थमात्मवित्। आदेशकाले योगस्य दर्शनं हि न विद्यते।।७८।।
अग्न्यभ्यासे जले वापि शुष्कपर्णचये तथा। जंतुव्याप्तेश्मशाने च जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे।।७९।।
सशब्दे सभये वापि चैत्यवल्मीकसंचये। अशुभे दुर्जनाक्रांते मशकादिसमन्विते।।८०।।
नाचरेद्देहबाधायां दौर्मनस्यादिसंभवे। सुगुप्ते तु शुभे रम्ये गुहायां पर्वतस्य तु।।८१।।
भवक्षेत्रे सुगुप्ते वा भवारामे वनेपि वा। गृहे तु सुशुभे देशे विजने जंतुवर्जिते।।८२।।
अत्यंतनिर्मले सम्यक् सुप्रलिप्ते विचित्रिते। दर्पणोदरसंकाशे कृष्णागरुसुधूपिते।।८३।।
नानापुष्पसमाकीर्णे वितानोपरि शोभिते। फलपल्लवमूलाढ्ये कुशपुष्पसमन्विते।।८४।।
समासनस्थो योगांगान्यभ्यसेद्धृषितः स्वयम्। प्रणिपत्य गुरुं पश्चाद्भवं देवीं विनायकम्।।८५।।
योगीश्वरान् सशिष्यांश्च योगं युंजीत योगवित्।
आसनं स्वस्तिकं बध्वा पद्ममार्धासनं तु वा।।८६।।
समजानुस्तथा धीमानेकजानुरथापि वा। समं दृढासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ।।८७।।

प्रसाद सिद्ध होता है। प्राणायाम से यमी सभी दोषों को जला देता है।।७५।। प्रत्याहार और धारणा से व्यक्ति सभी पापों को जला देता है। (सांसारिक) विषयों को विष के समान मानते हुए ध्यानी अनीश्वरी गुणों को जला देता है।।७६।। हे तपस्वियों! समाधि से बुद्धि की क्षमता बढ़ानी चाहिये। योग के आठों अंगों का अभ्यास (समुचित) स्थान की प्राप्ति के बाद ही क्रम से करना चाहिये।।७७।। आत्मा के जानने वाले को योगिक सिद्धियों के लिये आसनों को करना चाहिये। यदि समय और स्थान उचित न हो तो योग की झलक मात्र भी नहीं प्राप्त की जा सकती।।७८।। अग्नि के पास, जल में, सूखी पत्तियों के ढेर पर, प्राणियों से व्याप्त, श्मशान में, जर्जर, गोशाला में, चौराहे पर, कोलाहलयुक्त स्थान में, भय उत्पन्न करने वाली जगह में, मठ में, चींटी की बाँबी के पास, अशुभ स्थान पर, दुष्टों से आक्रान्त स्थान पर और मच्छरों से युक्त स्थानों पर योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। जब शरीर रोगग्रस्त हो या मन दुखी हो तो भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। साधक को प्रसन्न मन से योगांगों का अभ्यास करना चाहिये। स्थान सुरक्षित, शुभ सुखद होना चाहिये या पर्वत की गुफा या शिव का मन्दिर या सुरक्षित उद्यान या घर का ही कोई स्थान जो मनुष्यों और पशुओं से रहित हो। स्थान स्वच्छ, गोबर से लिपा हुआ और अच्छे ढंग से सजा हुआ और दर्पण की तरह साफ होना चाहिये। चारों तरफ पुष्प बिखरे होने चाहिये। वह स्थान नाना प्रकार के पुष्पों, पल्लवों, फलों, मूलों और कुश घास से बने हुए छत से ढका होना चाहिये। साधक को सन्तुलित आसन में बैठना चाहिये। साधक को गुरु, भगवान शिव, देवी और विनायक एवं योगी गुरुओं और उनके शिष्यों को प्रणाम करना चाहिये। उसे (साधक को) स्वस्तिक, पद्मासन या अर्धासन में बैठना चाहिये।।७९-८६।। उसे घुटनों को एक ही सीध में करके या एक घुटना टेक कर बैठना चाहिये। जिस मुद्रा में भी बैठें मुँह और आँखे बन्द रखनी चाहिये। सीना आगे की ओर निकला होना चाहिये। जननांग एड़ियों से ढका होना चाहिये। सिर थोड़ा उठा होना चाहिये और दंत पंक्तियाँ एक दूरे को स्पर्श नहीं करनी चाहिये। उसे

संवृतास्योपबद्धाक्ष उरो विष्टभ्य चाग्रतः। पार्ष्णिभ्यां वृषणौ रक्षंस्तथा प्रजननं पुनः॥८८॥
किंचिदुन्नामितशिरा दंतैर्दंतान्न संस्पृशेत्। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥८९॥
तमः प्रच्छाद्य रजसा रजः सत्त्वेन छादयेत्।
ततः सत्त्वस्थितो भूत्वा शिवध्यान समभ्यसेत्॥९०॥
ॐकारवाच्यं परमं शुद्धं दीपशिखाकृतिम्। ध्यायेद्वै पुंडरीकस्य कर्णिकायां समाहितः॥९१॥
नाभेरधस्ताद्वा विद्वान् ध्यात्वा कमलमुत्तमम्। त्र्यंगुले चाष्टकोणं वा पंचकोणमथापि वा॥९२॥
त्रिकोणं च तथाग्नेयं सौम्यं सौरं स्वशक्तिभिः। सौरं सौम्यं तथाग्नेयमथवानुक्रमेण तु॥९३॥
आग्नेयं च ततः सौरं सौम्यमेवं विधानतः। अग्नेरधः प्रकल्प्यैवं धर्मादीनां चतुष्टयम्॥९४॥
गुणत्रयं क्रमेणैव मंडलोपरि भावयेत्। सत्त्वस्थं चिंतयेद्रुद्रं स्वशक्त्या परिमंडितम्॥९५॥
नाभौ वाथ गले वापिभ्रूमध्ये वा यथाविधि।
ललाटफलिकायां वा मूर्ध्नि ध्यानं समाचरेत्॥९६॥
द्विदले षोडशारे वा द्वादशारे क्रमेण तु। दशारे वा षडस्त्रे वा चतुरस्त्रे स्मरेच्छिवम्॥९७॥
कनकाभे तथांगारसन्निभे सुसितेऽपि वा। द्वादशादित्यसंकाशे चंद्रबिंबसमेऽपि वा॥९८॥
विद्युत्कोटिनिभे स्थाने चिंतयेत्परमेश्वरम्। अग्निवर्णेऽथ वा विद्युद्वलयाभे समाहितः॥९९॥
वज्रकोटिप्रभे स्थाने पद्मरागनिभेऽपि वा।
नीललोहितबिंबे वा योगी ध्यानं समभ्यसेत्॥१००॥

इधर-उधर नहीं देखना चाहिये। ध्यान नासिका के कोने पर केन्द्रित करना चाहिये। तम को रज से, रज को सत्त्व से टारकर सत्त्व में स्थित होकर शिव का ध्यान करना चाहिये।।८७-९०।। दीपशिखा की आकृति के समान परम पवित्र और कमल की पंखड़ियों में स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिये और ओंकार का जाप करना चाहिये।।९१।। साधक को नाभि के तीन अंगुल के नीचे उत्तम कमल का त्रिकोण में अष्टकोण में अथवा पंचकोण में ध्यान करना चाहिये। साधक को अग्नि, चन्द्र और सूर्य को एक साथ या क्रम से ध्यान करना चाहिये। क्रम कुछ भी हो सकता है। पहले सूर्य फिर चन्द्र और फिर अग्नि या पहले अग्नि तब सूर्य और तत्पश्चात् चन्द्र जैसा शास्त्रों में निर्दिष्ट हो। अग्नि के नीचे धर्मादि चारों पुरुषार्थों की कल्पना करते हुए मण्डल के ऊपर तीनों गुणों का ध्यान करना चाहिये। तत्पश्चात् सत्त्व गुण में स्थित शक्ति से शोभित रुद्र का ध्यान करना चाहिये।।९२-९५।। उसे (साधक को) नाभि पर या कण्ठ में या दोनों भौहों के मध्य या माथे पर, सिर पर शास्त्रों के अनुसार ध्यान लगाना चाहिये।।९६।। उसे क्रमशः दो, सोलह, बारह, दस, छह या चार पंखुड़ियों वाले कमल पर बैठे शिव का ध्यान करना चाहिये।।९७।। उनका ध्यान सोने के समान और अंगारे के समान चमकदार स्थान में अथवा १२ सूर्यों के समान प्रकाशमान स्थान में अथवा चन्द्रमा के समान स्थान में करना चाहिये। परमेश्वर का ध्यान कोटि-कोटि विद्युत के समान अथवा आग के समान चमकदार अथवा विद्युतचक्र में समाहित स्थान के समान अथवा करोड़ों हीरों के समान अथवा पद्मराग मणि के समान चमकदार स्थान में स्थित

महेश्वरं हृदि ध्यायेन्नाभिपद्मे सदाशिवम्। चंद्रचूडं ललाटे तु भ्रूमध्ये शंकरं स्वयम्॥१०१॥
दिव्ये च शाश्वतस्थाने शिवध्यानं समभ्यसेत्। निर्मलं निष्कलं ब्रह्म सुशांतं ज्ञानरूपिणम्॥१०२॥
अलक्षणमनिर्देश्यमणोरल्पतरं शुभम्। निरालंबमतर्क्यं च विनाशोत्पत्तिवर्जितम्॥१०३॥
कैवल्यं चैव निर्वाणं निःश्रेयसमनूपमम्। अमृतं चाक्षरं ब्रह्म ह्यपुनर्भवमद्भुतम्॥१०४॥
महानंदं परानंदं योगानंदमनामयम्। हेयोपादेयरहितं सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शिवम्॥१०५॥
स्वयंवेद्यमवेद्यं तच्छिवं ज्ञानमयं परम्। अतींद्रियमनाभासं परं तत्त्वं परात्परम्॥१०६॥
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं ध्यानगम्यं विचारतः। अद्वयं तमसश्चैव परस्तात्संस्थितं परम्॥१०७॥

मनस्येवं महादेवं हृत्पद्मे वापि चिंतयेत्।
नाभौ सदाशिवं चापि सर्वदेवात्मकं विभुम्॥१०८॥

देहमध्ये शिवं देवं शुद्धज्ञानमयं विभुम्। कन्यसेनैव मार्गेण चोद्घातेनापि शंकरम्॥१०९॥
क्रमशः कन्यसेनैव मध्यमेनापि सुव्रतः। उत्तमेनापि वै विद्वान् कुंभकेन समभ्यसेत्॥११०॥

द्वात्रिंशद्रेचयेद्धीमान् हृदि नाभौ समाहितः।
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा कुंभकं च द्विजोत्तमाः॥१११॥

साक्षात्समरसेनैव देहमध्ये स्मरेच्छिवम्। एकीभावं समेत्यैवं तत्र यद्रससंभवम्॥११२॥

आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् साक्षात्समरसे स्थितः।
धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादश धारणम्॥११३॥

के रूप में करना चाहिये।।९८-१००।। हृदय में महेश्वर, कमलवत् नाभि में सदाशिव के रूप में, माथे पर चन्द्रचूड़ के रूप में तथा भौंहों के मध्य में स्वयं शंकर के रूप में (प्रभु का) ध्यान करना चाहिये।।१०१।। दिव्य और शाश्वत स्थान में शिव के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। शिव का ध्यान इन रूपों में करना चाहिये— जो निर्मल, निष्कलंक, शान्त ब्रह्म और ज्ञानवान है। जो समस्त लक्षणों से रहित है जिसका कोई निर्देश नहीं किया जा सकता, जो अणु से भी छोटा है, जो शुभ है। जो निरालम्ब (बिना सहारे के) है और जो तर्क से परे है। जो उत्पत्ति और नाश से रहित है। जो साक्षात् कैवल्य (मोक्ष) जो निःश्रेयस है तथा अनुपम है और अविनाशी तथा अजन्मा है। जो अमृत है तथा अक्षर है (जिसका क्षरण नहीं होता)। जो महानन्द, परमानन्द एवं योगानन्द और रोगरहित है। जो गुण और दोष से रहित है। जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। जो स्वयं जानने योग्य है और जानने योग्य नहीं भी है। जो ज्ञानमय है। जो इन्द्रियों से परे है, अनाभासी है और परमतत्त्व है। जो किसी भी उपाधि से रहित है और जो केवल ध्यान से प्राप्त किया जा सकता है। जो अद्वैत है और तमस से परे है। ऐसे शिव का ध्यान साधक को नाभि में सदाशिव के समरूप करना चाहिये।।१०२-१०८।। साधक को शिव का ध्यान के मध्य में शुद्ध ज्ञान के रूप में सुषुम्ना नाड़ी से अथवा कुम्भक से करना चाहिये। तत्पश्चात् हृदय और नाभि में ध्यान केन्द्रित करते हुए बत्तीस रेचक करना चाहिये। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! तत्पश्चात् रेचक और पूरक को छोड़कर मात्र कुम्भक से शरीर के मध्य में शिव का ध्यान करना चाहिये।।१०९-१११।। देह के मध्य में उपयुक्त सन्तुलन की अवस्था में भगवान शिव से एकाकार होकर (साधक) ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करेगा। बारह

ध्यानं द्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते। अथवा ज्ञानिनां विप्राः संपर्कादेव जायते॥११४॥
प्रयत्नाद्वा तयोस्तुल्य चिराद्वा ह्यचिराद्द्विजाः। योगांतरायास्तस्याथ जायंते युंजतः पुनः॥११५॥
नश्यंत्यभ्यासतस्तेऽपि प्रणिधानेन वै गुरोः॥११६॥

इति श्रीलिङ्गमहापुराणे पूर्वभागेऽष्टांगयोगनिरूपणं नामाऽष्टमोध्यायः॥८॥

प्राणायाम एक धारणा के बराबर होता है। बारह धारणा एक ध्यान के बराबर होते हैं। हे ब्राह्मणों! ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क से अथवा स्वयं अभ्यास से धीरे-धीरे योगिक सिद्धि होती हैं। योग के मार्ग में बाधाएँ भी आती हैं किन्तु निरन्तर अभ्यास से और गुरु के मार्ग-दर्शन से बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।।११२-११६।।

श्रीलिंगमहापुराण के पूर्व भाग में अष्टांगयोग का निरूपण नामक आठवाँ अध्याय समाप्त॥८॥
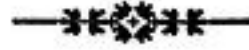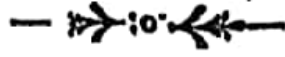
उनतालीसवां अध्याय

दत्तात्रेय उवाच

ज्ञानपूर्व्वो वियोगो योऽज्ञानेन सह योगिनः ।
सा मुक्तिर्ब्रह्मणा चैक्यमनैक्यं प्राकृतैर्गुणैः ॥ १ ॥

मुक्तिर्योगात् तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीपते ।
ज्ञानं दुःखोद्भवं दुखं ममत्वासक्तचेतसाम् ॥ २ ॥

तस्मात् सङ्गं प्रयत्नेन मुमुक्षुः सन्त्यजेन्नरः ।
सङ्गाभावे ममेत्यस्याः ख्यातेर्हानिः प्रजायते ॥ ३ ॥

निर्म्ममत्वं सुखायैव वैराग्याद्दोषदर्शनम् ।
ज्ञानादेव च वैराग्यं ज्ञानं वैराग्यपूर्व्वकम् ॥ ४ ॥

तद्गृहं यत्र वसतिस्तद्भोज्यं येन जीवति ।
यन्मुक्तये तदेवोक्तं ज्ञानमज्ञानमन्यथा ॥ ५ ॥

उपभोगेन पुण्यानामपुण्यानाञ्च पार्थिव ।
कर्त्तव्यानांच नित्यानामकामकरणात् तथा ॥ ६ ॥

असंचयादपूर्व्वस्य क्षयात् पूर्व्वार्ज्जितस्य च ।
कर्म्मणो बन्धमाप्नोति शारीरं न पुनः पुनः ॥ ७ ॥

एतत् ते कथितं राजन् योगं चेमं निबोध मे ।
यं प्राप्य ब्रह्मणो योगी शाश्वतान्नान्यतां व्रजेत् ॥८॥

...त्मन जेयो योगिनां स हि दुर्ज्जयः ।

दत्तात्रेय बोले—

अज्ञानी की सङ्गति को ज्ञान पूर्वक छोड़ देना ही मुक्ति है और प्रकृति के गुणों से अलग रहने को ब्रह्म से एकता कहते हैं ॥ १ ॥ मुक्ति योग से होती है तथा हे राजन् ! उत्तम ज्ञानसे योग होता है । दुःख से ज्ञान उत्पन्न होता है और ममत्व में आसक्ति से दुःख उत्पन्न होता है ॥ २ ॥ इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाला यत्न से संसार का साथ छोड़ दे क्योंकि सङ्ग के अभाव में ही ममत्व का नाश होता है ॥३॥ ममत्व न रहने से सुख होता है तथा वैराग्य से ममत्व का दोष मालुम होताहै । ज्ञान से वैराग्य और ज्ञान पूर्व जन्म के वैराग्य से है ॥ ४ ॥ घर वह है जिसमें मनुष्य रहता है और भोजन वह है जिससे जीवन स्थिर रहे । जिससे मुक्ति होजाय वही ज्ञान है तथा जिससे यह बात न हो वह अज्ञान है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! पुण्य और पाप उपभोग करने से क्षय को प्राप्त होते हैं परन्तु अकाम रहकर नित्य कर्तव्य करने से दोनों स्वयं ही क्षय को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ इस जन्म में पाप और पुण्य के संचित न होने से और पूर्व जन्म के पापों और पुण्यों का क्षय होजाने से कर्म के बंधन में पड़कर शरीरको वारवार जन्म नहीं लेना पड़ता है ॥ ७॥ हे राजन् ! तुमसे यह तो कहा; अब तुम योग सुनो जिसको पाकर योगीलोग ब्रह्म में एकता को प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥ योगियों को पहिले आत्मा को आत्म द्वारा जीतना चाहिये क्योंकि वह दुर्जेय

कुर्व्वीत तज्जये यत्नं तस्योपायं शृणुष्व मे ॥ ६ ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ १० ॥
यथा पर्व्वतधातूनां दोषा दह्यन्ति धाम्यताम् ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥ ११ ॥
प्रथमं साधनं कुर्य्यात् प्राणायामस्य योगवित् ।
प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायाम उदाहृतः ॥ १२ ॥
लघुमध्योत्तरीयाख्यः प्राणायामस्त्रिधोदितः ।
तस्य प्रमाणं वक्ष्यामि तदलर्क शृणुष्व मे ॥ १३ ॥
लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः ।
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः परिकीर्त्तितः ॥ १४ ॥
निमेषोन्मेषणे मात्रा-कालो लघ्वक्षरस्तथा ।
प्राणायामस्य सङ्ख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः ॥ १५ ॥
प्रथमेन जयेत् स्वेदं मध्यमेन च वेपथुम् ।
विषादं हि तृतीयेन जयेद्दोषाननुक्रमात् ॥ १६ ॥
मृदुत्वं सेव्यमानास्तु सिंह-शार्दूल-कुञ्जराः ।
यथा यान्ति तथा प्राणो वश्यो भवति योगिनः ॥ १७ ॥
वश्यं मत्तं यथेच्छातो नागं नयति हस्तिपः ।
तथैव योगी स्वच्छन्दः प्राणं नयति साधितम् ॥ १८ ॥
यथा हि साधितः सिंहो मृगान् हन्ति न मानवान् ।
तद्वन्निषिद्धपवनः किल्विषं न नृणां तनुम् ।
तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ॥ १९ ॥
श्रूयतां मुक्तिफलदं तस्यावस्थाचतुष्टयम् ॥ २० ॥
ध्वस्तिः प्राप्तिस्तथा संवित् प्रसादश्च महीपते ।
स्वरूपं शृणु चैतेषां कथ्यमानमनुक्रमात् ॥ २१ ॥
कर्म्मणामिष्टदुष्टानां जायते फलसंक्षयः ।
चेतसोऽपकषायत्वं यत्र सा ध्वस्तिरुच्यते ॥ २२ ॥
ऐहिकामुष्मिकान् कामान् लोभमोहात्मकान् स्वयम् ।
निरुध्यास्ते सदा योगी प्राप्तिः सा सार्व्वकालिकी ॥ २३ ॥
अतीतानागतानर्थान् विप्रकृष्टतिरोहितान् ।
विजानातीन्दु-सूर्य्यर्क्ष-ग्रहाणां ज्ञानसम्पदा ॥ २४ ॥
तुल्यप्रभावस्तु यदा योगी प्राप्नोति सम्पदम् ।
तदा संविदिति ख्याता प्राणायामस्य संस्थितिः ॥ २५ ॥
यान्ति प्रसादं येनास्य मनः पंच च वायवः ।

है इसलिये उसको जीतने का यत्न करना चाहिये, उसके उपाय को सुनो ॥९॥ प्राणायाम से दोषोंको, धारणा से पापों को, प्रत्याहार से विषय को और ध्यानसे गुणोंको दग्ध करे ॥१०॥ जिस तरह पर्वतों की धातुओं का दोष अग्नि में जल जाता है उसी प्रकार इन्द्रियजन्य दोष प्राणायाम से नष्ट हो जाते हैं ॥११॥ योग के ज्ञाता को पहिले प्राणायाम का साधन करना चाहिये। प्राण और अपान वायु के रोकने को प्राणायाम कहते हैं ॥१२॥ प्राणायाम (१) लघु (२) मध्यम और (३) उत्तरीय तीन प्रकार की होती है। हे अलर्क! अब उसके प्रमाण को कहता हूँ, सुनो ॥१३॥ लघु बारह मात्रा का होता है उससे दुगना मध्यम और तिगुना उत्तम कहलाता है ॥१४॥ लघु अक्षर का उच्चारण पलक को उठाने और गिराने के काल में ही हो जाता है, उसको प्राणायाम की संख्या के लिये द्वादशमात्रिक कहा है ॥ १५ ॥ पहिले प्राणायाम से स्वेद को, मध्यम से कम्पन को तथा तृतीय से शोक को क्रमशः जीते ॥ जिस प्रकार सिंह, व्याघ्र और हाथी मनुष्यके वश में हो जाते हैं उसी प्रकार प्राण योगियों के वश में हो जाते हैं ॥१७॥ जिस प्रकार महावत मस्त हाथी को अपने वश में करता है उसी प्रकार योगी स्वच्छन्द होकर साधना से प्राणों को वश में करता है ॥१८॥ जिस तरह सिखाया हुआ सिंह मृगोंको ही मारता है मनुष्योंको नहीं उसी तरह प्राणायाम पापों को काटती है मनुष्यों के शरीरको नहीं ॥१९॥ इसलिये योगियों को प्राणायाम में सदैव संलग्न रहना चाहिये। उसकी मुक्ति देनेवाली चार अवस्थाओं को सुनिये ॥२०॥ हे राजन्! (१) ध्वस्ति (२) प्राप्ति (३) संवित् (४) प्रसाद, इन चार अवस्थाओं के स्वरूप को क्रम से कहता हूँ, सुनो ॥ अच्छे या बुरे कर्मों के फल से चित्त के हटाने को 'ध्वस्ति' कहते हैं ॥२२॥ इस लोक और परलोक के लोभका तथा मोह पैदा करनेवाले काम का निरोध करने वाले योगियों की 'प्राप्ति' अवस्था होती है ॥ ज्ञान द्वारा अतीत और अनागत अर्थों को क्रमशः उत्तम और अनुचित समझे और चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहों का ॥ २४ ॥ प्रभाव समान समझे और जब योगी इस समान भाव को प्राप्त होता है तब प्राणायाम की संस्थित अर्थात् संवित् अवस्था होती है ॥२५॥ जिस प्राणायामसे मन, पाँचों वायु, इन्द्रियां, इन्द्रियों के अर्थ यह सब प्रसन्न रहें उस

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च स प्रसाद इति स्मृतः ॥२६॥
शृणुध्वं च महीपाल प्राणायामस्य लक्षणम् ।
युञ्जतश्च सदा योगं यादृग्विहितमासनम् ॥२७॥
पद्ममर्द्धासनञ्चापि तथा स्वस्तिकमासनम् ।
आस्थाय योगं युञ्जीत कृत्वा च प्रणवं हृदि ॥२८॥
समः समासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ ।
संवृतास्यस्तथैवोरू सम्यग्विष्टभ्य चाग्रतः ॥२९॥
पार्ष्णिभ्यां लिङ्गवृषणावस्पृशन् प्रयतः स्थितः ।
किञ्चिदुन्नामितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत् ॥३०॥
सम्पश्यन् नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।
रजसा तमसो वृत्तिं सत्त्वेन रजसस्तथा ॥३१॥
सञ्छाद्य निर्म्मले तत्त्वे स्थितो युञ्जीत योगवित् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणादीन् मन एव च॥३२॥
निगृह्य समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ।
यस्तु प्रत्याहरेत् कामान् सर्व्वाङ्गाणीव कच्छपः३३
सदात्मरतिरेकस्थः पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
स वाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनाभितः॥३४॥
पूरयित्वा बुधो देहं प्रत्याहारमुपक्रमेत् ।
प्राणायामा दश द्वौ च धारणा साभिधीयते ॥३५॥
द्वे धारणे स्मृते योगे योगिभिस्तत्त्वदृष्टिभिः ।
तथा वै योगयुक्तस्य योगिनो नियतात्मनः ॥३६॥
सर्व्वे दोषाः प्रणश्यन्ति स्वस्थश्चैवोपजायते ।
वीक्षते च परं ब्रह्म प्राकृतांश्च गुणान् पृथक् ॥३७॥
व्योमादिपरमाणूंश्च तथात्मानमकल्मषम् ।
इत्थं योगी यताहारः प्राणायामपरायणः ॥३८॥
जितां जितां शनैर्भूमिमारोहेत यथा गृहम् ।
दोषान् व्याधींस्तथा मोहमाक्रान्ताभूरनिर्ज्जिता३९॥
विवर्द्धयति नारोहेत् तस्माद्भूमिमनिर्ज्जिताम् ।
प्राणानामुपसंरोधात् प्राणायाम इति स्मृतः ॥४०॥
धारणेत्युच्यते चेयं धार्य्यते यन्मनो यया ।
शब्दादिभ्यः प्रवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः ॥४१॥
उपायश्चात्र कथितो योगिभिः परमर्षिभिः ।
येन व्याध्यादयो दोषा न जायन्ते हि योगिनः॥४२
यथा तोयार्थिनस्तोयं यन्त्रनालादिभिः शनैः ।

को 'प्रसाद' अवस्था कहते हैं ॥ २६ ॥ हे राजन् ! अब योगियों की प्राणायामके लक्षण तथा आसनों को सुनिये ॥ २७॥ योग करने वाला पद्मासन तथा स्वस्तिक आसन करके प्रणव को हृदय में रखकर बैठे ॥२८॥ और सम रूप से आसन मारकर बैठे और चरणों को समेट ले तथा जांघों को आगे से खींच ले ॥ २९ ॥ ऐसा यत्न करके स्थित हो कि घुटनों से लिंग और अण्डकोश का स्पर्श न हो तथा थोड़ा शिर को झुकावे और दाँतों से दाँतों को न लगने दे ॥ ३०॥ अपनी नाक के आगेके भाग को देखता हुआ दिशाओंको न देखें और रजोगुण से तमोगुण को और सतोगुण से रजोगुण को ॥ आच्छादित करके योग करने वाला योगी निर्मल तत्व में स्थित होवे तथा इन्द्रियोंके अर्थ से इंद्रियों को और प्राण आदि मन को ॥३२॥ रोक कर अपने वश में करले। जिस प्रकार कछुआ अपनी इच्छा से अपने सब अङ्गों को समेट लेताहै ॥३३॥ सदैव अपनी आत्मा में प्रेम रखकर अपनी आत्मा में ही आत्माको देखे तथा भीतर और वाहर पवित्र रक्खे और कण्ठ से नाभि तक ॥ ३४ ॥ शरीर को पूरण कर बुद्धिमान् मनुष्य प्राणायाम करे, यह बारह प्राणायाम हैं इसी को धारणा भी कहते हैं ॥ तत्त्वदर्शी योगी लोग योग में दो धारणा कहते हैं तथा इसी प्रकार योग में संलग्न नियतात्मा योगी लोग भी कहते हैं ॥ ३६ ॥ उनके सब दोष नष्ट हो जाते हैं और वे स्वस्थ होकर परब्रह्म को देखते हैं तथा प्राकृत गुणों को अलग-अलग जानते हैं ॥३७॥ आहार को जीतने वाले तथा प्राणायाम परायण योगी जिस प्रकार आकाश के परमाणुओंको देखते हैं उसी प्रकार निर्मल आत्मा को देखते हैं ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार मनुष्य घर को साफ करके उसमें रहतेहैं उसी प्रकार योगी भूमिको पवित्रकर उसपर बैठे। विना स्वच्छ की हुई भूमि दोष, व्याधि और मोह को ॥ ३९ ॥ बढ़ाती है, इसलिये विना शुद्ध की हुई भूमि पर योगी न बैठे। प्राणों के निरोध को प्राणायाम कहते हैं ॥ ४० ॥ चूंकि इससे मनको धारण किया जाताहै इसलिये यह धारणा कहाती है। जो इन्द्रियां शब्दादि विषयों में प्रवृत्तहैं उनको योगी लोग योग से उन विषयों से खींच लेते हैं इसलिये इसको प्रत्याहार भी कहा है ॥४१ ॥ परम ऋषियों और योगियोंने इसका उपाय कहाहै जिस से योगियों को व्याधि आदिक दोष नहीं होते हैं॥ जिस तरह जल पीने वाले नल आदि यन्त्रोंसे जल

आपिवेयुस्तथा वायुं पिबेद्योगी जितश्रमः ॥४३॥
प्राङ्नाभ्यां हृदये चात्र तृतीये च तथोरसि ।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र-भ्रूमध्य-मूर्द्धसु ॥४४॥
किंच तस्मात् परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता ।
दशैता धारणाः प्राप्य प्राप्नोत्यक्षरसाम्यताम्॥४५॥
नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमादृतः ॥४६॥
नातिशीते न चोष्णे वै न द्वन्द्वे नानिलात्मके ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥४७॥
सशब्दाग्निजलाभ्यासे जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे ।
शुष्कपर्णचये नद्यां श्मशाने ससरीसृपे ॥४८॥
सभये कूपतीरे वा चैत्यवल्मीकसञ्चये ।
देशेष्वेतेषु तत्त्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्ज्जयेत् ॥४९॥
सत्त्वस्यानुपपत्तौ च देशकालं विवर्ज्जयेत् ।
नासतो दर्शनं योगे तस्मात् तत् परिवर्ज्जयेत् ॥५०॥
देशानेताननादृत्य मूढत्वाद्यो युनक्ति वै ।
विघ्नाय तस्य वै दोषा जायन्ते तान्निबोध मे ॥५१॥
बाधिर्य्यं जड़ता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता ।
ज्वरश्च जायते सद्यस्तत्तदज्ञानयोगिनः ॥५२॥
प्रमादाद्योगिनो दोषा यद्य ते स्युश्चिकित्सितम् ।
तेषां नाशाय कर्त्तव्यं योगिनां तन्निबोध मे ॥५३॥
स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैव धारयेत् ।
वात-गुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्त्ते तथोदरे ॥५४॥
यवागूं वापि पवनं वायुग्रन्थिं प्रतिक्षिपेत् ।
तद्वत् कल्पे महाशैलं स्थिरं मनसि धारयेत् ॥५५॥
विघाते वचसो वाचं बाधिर्य्यं श्रवणेन्द्रियम् ।
यथैवाम्रफलं ध्यायेत् तृष्णार्त्तो रसनेन्द्रिये ॥५६॥
यस्मिन् यस्मिन् रुजा देहे तस्मिंस्तदुपकारिणीम् ।
धारयेद्धारणामुष्णे शीतां शीते च दाहिनीम् ॥५७॥
कीलं शिरसि संस्थाप्य काष्ठं काष्ठेन ताड़येत् ।

को खींचकर धीरे-धीरे पीते हैं उसी प्रकार योगी को श्रम जीतकर धीरे-धीरे वायु चढ़ानी चाहिये। पहिले दोनों नेत्रों में, फिर नाभि में, फिर हृदय तथा फिर क्रमशः कण्ठ, मुख, नासिका के तथा दोनों भौहों के बीच में ॥ ४४ ॥ तथा इसके ऊपर जो धारणा है वह उत्कृष्ट है, इन स्थानों में दशों धारणाओं को प्राप्त कर योगी ब्रह्मके सामने होजाता है ॥ ४५ ॥ हे राजेन्द्र ! योग की सिद्धि के लिये योग करते हुए योगी लोग न बहुत बोलें, न क्षुधा रक्खें, न थकें तथा न व्याकुल चित्त हों॥४६॥ ध्यान में तत्पर होकर योगी को अति शीतल, अत्यन्त गर्म, जनाकुल तथा वायुपूर्ण अवसरों पर योग न करना चाहिये ॥ ४७ ॥ कोलाहलपूर्ण स्थान के तथा अग्नि और जल के समीप, पुराने मकान में चौराहे पर, जहाँ सूखे पत्तों का ढेर हो वहाँ, नदी में, स्मशान में तथा जहाँ सर्प रहते हों वहाँ ॥४८॥ भयपूर्ण स्थानमें, कुएके पास तथा दीमक के बनाये हुए टीले पर, इन सब स्थानों में तत्त्व का जानने वाला योगाभ्यास न करे ॥४९॥ जहाँ पर सात्विकी वस्तुयें न मिलें उस देशकाल को छोड़ दे। असत् दर्शन योग में निषिद्ध हैं इसलिये जहाँ ऐसा होता हो उस स्थान को छोड़ दे ॥ ५० ॥ इन स्थानों का विचार न करके मूढ़तावश जो मनुष्य योग करता है उसके लिये विघ्नों से पैदा हुए दोषों को मुझसे सुनो ॥ ५१ ॥ बहिरापन, जड़ता, स्मृति का नाश, गूंगापन, अंधापन और ज्वर ऐसे रोग उस अज्ञानी योगी को शीघ्र ही हो जाते हैं ॥ ५२ ॥ प्रमाद से योगीको जो रोग होजाते हैं उसकी भी चिकित्साहै योगियों का जो कर्तव्य उन दोषों के नाश करनेका है उसको सुनो ॥ ५३ ॥ भात और गर्म यवागू (खिचड़ी) खाकर प्राणों की रक्षा करनी चाहिये, वात और गुल्म की शान्ति के लिये तथा उदावर्त और उदर रोग के लिये ॥ ५४ ॥ यवागू का सेवन करे, यवागू पवन और वायुग्रन्थि रोगों को भी दूर करता है, इसी प्रकार कल्प नाम महा पर्वत का भी स्थिर चित्त से ध्यान करे ॥ ५५ ॥ गूंगा होने पर सरस्वती और बहिरा होनेपर श्रवणेन्द्रियका ध्यान करे और अगर प्यास से पड़ित हो तो जीभ पर आम्रफल का ध्यान करे ॥ ५६ ॥ शरीर में जो-जो रोग हो उसकी उपकारी धारणा का ध्यानकरे जैसे उष्णता में शीतलता और शीतलतासे पीड़ित होने पर उष्णता की धारणा करे ॥५७॥ शिर पर काठकी कील रखकर काठ से उसकी ताड़ना करे, ऐसा

लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तेन जायते ॥५८॥
द्यावापृथिव्यौ वाय्वग्नी व्यापिनावपि धारयेत् ।
अमानुषात् सत्त्वजाद्वा बाधास्त्वेताश्चिकित्सिताः॥५९॥
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं प्रविशेद्यदि ।
वाय्वग्निधारणेनैनं देहसंस्थं विनिर्दहेत् ॥६०॥
एवं सर्व्वात्मना रक्षा कार्य्या योगविदा नृप ।
धर्म्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ॥६१॥
प्रवृत्तिलक्षणाख्यानाद्योगिनो विस्मयात् तथा ।
विज्ञानं विलयं याति तस्माद्गोप्याः प्रवृत्तयः ॥६२॥
आलोल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥६३॥
अनुरागी जनो याति परोक्षे गुणकीर्त्तनम् ।
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धेर्लक्षणमुत्तमम् ॥६४॥
शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य बाधा न विद्यते ।
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥६५॥

करने से योगी की खोई हुई स्मृति शीघ्र वापिस आ जाती है ॥५८॥ आकाश, पृथ्वी, वायु, अग्नि को सर्वव्यापी होने के कारण धारणकरे, ये अमानुषीय बाधाओं की चिकित्सायें हैं ॥ ५९ ॥ यदि योगी के भीतर अमानुषीय सत्व का प्रवेश होजाय तो उस को देह में स्थित वायु और अग्नि की धारणा से भस्म करे ॥ ६० ॥ हे राजन् ! योग के ज्ञाताको इस प्रकार अपने शरीरकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन शरीर ही से है ॥ ६१ ॥ प्रवृत्ति के लक्षणों को प्रकट करने से तथा विस्मय से योगी का ज्ञान लुप्त होता है इस लिये प्रवृत्तियों को गुप्त रखना चाहिये ॥ ६२ ॥ कम चलना फिरना, आरोग्यता, दया रखना, शुभ गंध लेना, थोड़ा मूत्र और विष्टाकरना, कान्ति, प्रसन्नता, स्वर की सौम्यता, ये योग में प्रवृत्ति के प्रथम चिह्न हैं ॥६३॥ जिसमें लोगों का अनुराग हो जाय, जिस का पीठ पीछे गुणगान हो तथा जिससे लोग भय न मानें इन उत्तम लक्षणों से युक्त मनुष्य को सिद्ध जानना चाहिये ॥ ६४ ॥ जो अत्यन्त शीत और उष्णता से बाधित न हो तथा जिसे किसी का डर न हो उसको सिद्धि प्राप्त होचुकी है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराण में जड़ोपाख्यान में योगाध्याय नाम ३९वाँ अ० समाप्त ।
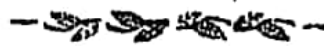
चालीसवां अध्याय

दत्तात्रेय उवाच

उपसर्गाः प्रवर्त्तन्ते दृष्टे ह्यात्मनि योगिनः ।
ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ १ ॥
काम्याः क्रियास्तथा कामान् मानुषानभिवाञ्छति ।
स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं दिवम् ॥ २ ॥
देवत्वममरेशत्वं रसायनचयः क्रियाः ।
मरुत्प्रपतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ।
श्राद्धानां सर्व्वदानानां फलानि नियमांस्तथा ॥ ३ ॥
तथोपवासात् पूर्त्ताच्च देवताभ्यर्च्चनादपि ।
तेभ्यस्तेभ्यश्च कर्म्मभ्य उपसृष्टोऽभिवाञ्छति ॥ ४ ॥
चित्तमित्थं वर्त्तमानं यत्नाद्योगी निवर्त्तयेत् ।
ब्रह्म मनः कुर्व्वन्नुपसर्गात् प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

दत्तात्रेय बोले—

आत्मा के जानने पर भी योगी को जो उपसर्ग आते हैं उनको मुझसे पृथक् २ सुनो ॥ १ ॥ योगी अच्छी-अच्छी मानवी क्रियाओं की अभिलाषा करता है । स्त्री, दान का फल, विद्या, माया, चाँदी, सोना, धन, स्वर्ग की इच्छा ॥ २ ॥ देवत्व, अमरत्व, रसायन क्रिया, वायु में उड़ना, यज्ञ, जल और अग्नि में प्रवेश करना, श्राद्ध और सब प्रकार के दानों के फल तथा नियम ॥ ३ ॥ तथा उपवास यज्ञ और देवताओं के पूजन से जो फल होते हैं उनकी इच्छा करता है ॥४॥ इस तरह चित्त में उपस्थित होने वाली अभिलाषाओंको योगी यत्न पूर्वकरोके, ब्रह्म में मन को संलग्न करने से उपसर्गों से योगी लोग बच जाते हैं ॥५॥ इन उपसर्गों को जीतने पर

उपसर्गैर्जितैरेभिरुपसर्गास्ततः पुनः ।
योगिनः सम्प्रवर्त्तन्ते सात्त्व-राजस-तामसाः ॥ ६ ॥
प्रातिभः श्रावणो दैवो भ्रमावर्त्तौ तथापरौ ।
पञ्चैते योगिनां योग-विघ्नाय कटुकोदयाः ॥ ७ ॥
वेदार्थाः काव्यशास्त्रार्था विद्याशिल्पान्यशेषतः ।
प्रतिभान्ति यदस्येति प्रातिभः स तु योगिनः ॥ ८ ॥
शब्दार्थानखिलान् वेत्ति शब्दं गृह्णाति चैव यत् ।
योजनानां सहस्रेभ्यः श्रावणः सोऽभिधीयते ॥ ९ ॥
समन्ताद्वीक्षते चाष्टौ स यदा देवतोपमः ।
उपसर्गं तमप्याहुर्दैवमुन्मत्तवद्बुधाः ॥ १० ॥
भ्राम्यते यन्निरालम्बं मनो दोषेण योगिनः ।
समस्ताचारविभ्रंशाद्भ्रमः स परिकीर्त्तितः ॥ ११ ॥
आवर्त्त इव तोयस्य ज्ञानावर्त्तो यदाकुलः ।
नाशयेच्चित्तमावर्त्त उपसर्गः स उच्यते ॥ १२ ॥
एतैर्नाशितयोगास्तु सकला देवयोनयः ।
उपसर्गैर्महाघोरैरावर्त्तन्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥
प्रावृत्य कम्बलं शुक्लं योगी तस्मान्मनोमयम् ।
चिन्तयेत् परमं ब्रह्म कृत्वा तत्प्रवणं मनः ॥ १४ ॥
योगयुक्तः सदा योगी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
सूक्ष्मास्तु धारणाः सप्त भूराद्या मूर्द्धि्न धारयेत् ॥ १५ ॥
धरित्रीं धारयेद्योगी तत् सौख्यं प्रतिपद्यते ।
आत्मानं मन्यते चोर्व्वीं तद्वन्धश्च जहाति सः ॥ १६ ॥
तथैवाप्सु रसं सूक्ष्मं तद्वद्रूपंच तेजसि ।
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद्बिभ्रतस्तस्य धारणाम् ॥ १७ ॥
व्योम्नः सूक्ष्मां प्रवृत्तिञ्च शब्दं तद्वज्जहाति सः ॥ १८ ॥
मनसा सर्व्वभूतानां मनस्याविशते यदा ।
मानसीं धारणां बिभ्रन्मनः सूक्ष्मंच जायते ॥ १९ ॥
तद्वद्बुद्धिमशेषाणां सत्त्वानामेत्य योगवित् ।
परित्यजति सम्प्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम् ॥ २० ॥
परित्यजति सूक्ष्माणि सप्तत्वेतानि योगवित् ।
सम्यग्विज्ञाय योऽलर्क तस्यावृत्तिर्न विद्यते ॥ २१ ॥
एतासां धारणानान्तु सप्तानां सौक्ष्म्यमात्मवान् ।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा ततः सिद्धिं त्यक्त्वा त्यक्त्वा परां व्रजेत् ॥ २२ ॥
यस्मिन् यस्मिंश्च कुरुते भूते रागं महीपते ।

योगियों को दूसरे उपसर्ग आते हैं जो सत्व, रज और तामस से उत्पन्न होतेहैं ॥६॥ प्रातिभ, श्रावण, दैव, भ्रम और आवर्त ये पाँच उपसर्ग योगियों के योग में कटु विघ्न डालने वाले हैं ॥७ ॥ वेद, काव्य और शास्त्रों का अर्थ तथा अन्य विद्याओं और शिल्पकला का ज्ञान यदि योगी को हो तो 'प्रातिभ' उपसर्ग हुआ जानना चाहिये ॥ ८ ॥ जो सब शब्दों के अर्थों को जाने और हज़ारों योजनों से तत्व को सुने तो 'श्रावण' उपसर्ग समझना चाहिये ॥ ९ ॥ जब देवताओं की तरह आठों दिशाओं में देखने लगे तो इस उपसर्गको विद्वान् 'दैव' कहते हैं॥१०॥ यदि योगी का मन दोष से निराश्रय हो भ्रमण करनेलगे और सब आचार भ्रष्ट होजाँय तो 'भ्रम' उपसर्ग कहलाता है ॥११॥ जल के भँवर की तरह यदि ज्ञान आवृत होकर चित्त व्याकुल होने लगे तो आवर्त उपसर्ग हुआ जानो । यह योगीके चित्त को भ्रष्ट करता है ॥१२॥ इन घोर उपसर्गों से योग भ्रष्ट होकर योगी बार-बार देवयोनियों में घूमता रहता है ॥१३॥ इसलिये योगी को चाहिये कि ज्ञान द्वारा ब्रह्म में चित्त लगाकर परब्रह्म का चिन्तनकरे ॥१४॥ योगी सदा योगयुक्त, अल्पभोजी और जितेन्द्रिय रहे तथा पृथ्वी आदि सातों सूक्ष्म धारणाओं को शिर पर धारण करे ॥ १५ ॥ पहिले धरती को योगी धारण करे और उसका सुख प्राप्त करे । आत्मा को पृथ्वी समझे और उसके बन्धन को छोड़ दे ॥ १६॥ इसी तरह जल में जो सूक्ष्म रस है और तेज में जो सूक्ष्म रूपहै तथा वायु में जो सूक्ष्म स्पर्श और सूक्ष्म धारणा है ॥ १७॥ और आकाशमें जो सूक्ष्म प्रवृत्ति है तथा शब्द को भी इस प्रकार जानकर छोड़ दे ॥ १८ ॥ जब योगी सब प्राणियोंके मन में अपने मन को प्रवेश करते हैं तो मानसी धारणा को धारण करने से उनका मन भी सूक्ष्म हो जाता है ॥१९॥ इस प्रकार अनेक प्राणियों की बुद्धि को प्राप्त कर योगका ज्ञाता उत्तम सूक्ष्म बुद्धि को पाकर स्थूल बुद्धि को छोड़ देता है ॥ २० ॥ हे अलर्क ! इन सातों सूक्ष्मोंको अच्छी तरह जानकर जो योगी इनको छोड़ देते हैं उनकी आवृत्ति नहीं होती ॥ २१ ॥ इन धारणाओं को सातों सूक्ष्म जान कर जो योगी इनको छोड़ देते हैं वे परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥२२॥ हे राजन् ! जिन-२ प्राणियों में योगी अनुराग करता है तो उन्हीं २ योनियों में

तस्मिंस्तस्मिन् समासक्तिं सम्प्राप्य स विनश्यति२३
तस्माद्विदित्वा सूक्ष्माणि संसक्तानि परस्परम् ।
परित्यजति यो देही स परं प्राप्नुयात् पदम् ॥२४॥
एतान्येव तु सन्धाय सप्त सूक्ष्माणि पार्थिव ।
भूतादीनां विरागोऽत्र सद्भाववज्ञस्य मुक्तये ॥२५॥
गन्धादिषु समासक्तिं सम्प्राप्य स विनश्यति ।
पुनरावर्त्तते भूप स ब्रह्मापरमानुषम् ॥२६॥
सप्तैता धारणा योगी समतीत्य यदिच्छति ।
तस्मिंस्तस्मिंल्लयं सूक्ष्मे भूते याति नरेश्वर ॥२७॥
देवानामसुराणां वा गन्धर्व्वोरग-रक्षसाम् ।
देहेषु लयमायाति सङ्गं नाप्नोति च क्वचित् ॥२८॥
अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ।
प्राकाम्यंच तथेशित्वं वशित्वञ्च तथापरम् ॥२९॥
यत्र कामावसायित्वं गुणानेतांस्तथैश्वरान् ।
प्राप्नोत्यष्टौ नरव्याघ्र परं निर्व्वाणसूचकान् ॥३०॥
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतमोऽणीयान् शीघ्रत्वं लघिमा गुणः ।
महिमाऽशेषपूज्यत्वात् प्राप्तिर्नाप्राप्यमस्य यत् ॥३१॥
प्राकाम्यस्य व्यापित्वादीशित्वञ्चेश्वरो यतः ।
वशित्वाद्वशिमा नाम योगिनः सप्तमो गुणः । ३२॥
यत्रेच्छास्थानमप्युक्तं यत्र कामावशायिता ।
ऐश्वर्य्यकारणैरेभिर्योगिनः प्रोक्तमष्टधा ॥३३॥
मुक्तिसंसूचकं भूप परं निर्व्वाणमात्मनः ।
ततो न जायते नैव वर्द्धते न विनश्यति ॥३४॥
नापि क्षयमवाप्नोति परिणामं न गच्छति ।
छेदं क्लेदं तथा दाहं शोषं भूरादितो न च ॥३५॥
भूतवर्गादवाप्नोति शब्दाद्यैः ह्रियते न च ।
न चास्य सन्ति शब्दाद्यास्तद्भोक्ता तैर्न युज्यते॥३६॥
यथाहि कनकं खण्डमपद्रव्यवदग्निना ।
दग्धदोषं द्वितीयेन खण्डेनैक्यं व्रजेन्नृप ॥३७॥
न विशेषमवाप्नोति तद्वद्योगाग्निना यतिः ।
निर्दग्धदोषस्तेनैक्यं प्रयाति ब्रह्मणा सह ॥३८॥
यथाग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत् ।
तदाख्यस्तन्मयो भूतो न गृह्येत विशेषतः ॥३९॥
४० ब्रह्मणा तद्वत् प्राप्यैक्यं दग्धकिल्बिषः ।

आसक्ति के कारण नाश को प्राप्त होता है ॥२३॥ इसलिये सूक्ष्मों को आपस में अलग २ जानकर जो योगी छोड़ देता है वह परम पद को प्राप्त होता है ॥२४॥ हे राजन् ! इन सातों सूक्ष्मों को जानकर ही प्राणियों को विराग होता है और उस सद्भाव के ज्ञाता को ही मुक्ति होती है ॥२५॥ हे राजन् ! जो योगी गन्ध, आसक्ति आदि में लिप्त होता है वह नष्ट होजाताहै और बारम्बार मनुष्य के शरीर में जन्म लेता है ॥२६॥ हे राजन् ! इन सातों धारणाओं को जीतकर योगी जिस सूक्ष्म प्राणीमें प्रवेश करना चाहता है उसी में लय हो जाता है ॥२७॥ देवता, असुर, गन्धर्व और नाग इत्यादि के शरीरों में योगी लय हो जाता है परन्तु कभी उनके सङ्ग में लीन नहीं होता ॥२८॥ अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ॥२९॥ तथा ऐश्वर्य इन गुणरूप आठों सिद्धियों को प्राप्त कर जो कामना वश इनके वशीभूत नहीं होता वह परम निर्वाण पद प्राप्त करता है ॥३०॥ सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होना अणिमा कहलाती है, शीघ्रत्व लघिमाका गुण है। सबसे पूजित होने को महिमा और जिसे पा कर कुछ पाना शेष न रहे उसे प्राप्ति कहते हैं॥३१॥ सर्वव्यापी होने को प्राकाम्य और ईश्वरवत् होने को ईशित्व कहते हैं और सबको वश में करने को वशिमा कहते हैं जो योगियों का सातवाँ गुण है॥ जहाँ इच्छा का स्थान और कामावशायिता भी है उसको ऐश्वर्य कहते हैं, ये आठ सिद्धियां योगियों की हैं ॥३३॥ हे राजन् ! परम निर्वाणपद मुक्ति का सूचक है,वहाँ न जन्म लेते हैं, न बढ़ते हैं और न मरते हैं ॥३४॥ न क्षय होते हैं और न अन्त होता है, तथा न काटे से कटते हैं, न दाह को प्राप्त होते हैं और न सूखते हैं और न पञ्चतत्वादि में प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ प्राणियों से शोकको प्राप्त नहीं होते और शब्दों से चलित नहीं होते और उनके कोई शब्द आदि नहीं है। यद्यपि वे शब्दों के भोक्ता हैं तो भी उनमें लिप्त नहीं हैं ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार आभूषणादि द्रव्य अग्नि में प्रज्वलित होकर सुवर्ण ही रहता है और उसका दोष जल जाता है ॥३७॥ इसी प्रकार योगी योगाग्नि में जलकर दोष रहित होजाते हैं और अपने सदृश ब्रह्म में लीन होजाते हैं ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार अग्नि में फेंकी हुई अग्नि उसी प्रकार की हो जाती है उसी तरह योगी ब्रह्म में मिलकर एकता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! इसी प्रकार योगी अपने पापों को दग्धकर

योगी याति पृथग्भावं न कदाचिन्महीपते ॥४०॥
यथा जलं जलेनैक्यं निक्षिप्तमुपगच्छति ।
तथात्मा साम्यमभ्येति योगिनः परमात्मनि ॥४१॥

परब्रह्म में मिलकर कभी अलग नहीं होते ॥ ४० ॥ जिस प्रकार जल जल में मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार योगियों की आत्मा परमात्मा में मिल कर एक हो जाती है ॥४१॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराण में योगसिद्धि नाम ४०वां अध्याय समाप्त ।

इकतालीसवाँ अध्याय

अलर्क उवाच

भगवन् योगिनश्चर्य्यां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
ब्रह्मवर्त्मन्यनुसरन् यथा योगी न सीदति ॥ १ ॥

अलर्क बोले—

हे भगवन् ! मैं तत्त्वपूर्वक योगियों की चर्या सुनना चाहता हूँ जो कि वह ब्रह्म-मार्ग में प्रवृत्त हुआ योग क्लेश को प्राप्त नहीं होता है ॥१॥

दत्तात्रेय उवाच

मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेगकरौ नृणाम् ।
तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ ॥ २ ॥
मानापमानौ यावेतौ तावेवाहुर्विषामृते ।
अपमानोऽमृतं तत्र मानस्तु विषमं विषम् ॥ ३ ॥
चक्षुःपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं बुद्धिपूतञ्च चिन्तयेत् ॥ ४ ॥
आतिथ्य-श्राद्ध-यज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च ।
महाजनञ्च सिद्ध्यर्थं न गच्छेद्योगवित् क्वचित् ॥५॥
व्यस्ते विधूमे व्यङ्गारे सर्व्वस्मिन् भुक्तवर्ज्जने ।
अटेत योगविद्भैक्ष्यं न तु त्रिष्वेव नित्यशः ॥ ६ ॥
यथैवमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयन् ॥ ७ ॥
भैक्ष्यं चरेद्गृहस्थेषु यायावरगृहेषु च ।
श्रेष्ठा तु प्रथमा चेति वृत्तिरस्योपदिश्यते ॥ ८ ॥
अथ नित्यं गृहस्थेषु शालीनेषु चरेद्यतिः ।
श्रद्दधानेषु दान्तेषु श्रोत्रियेषु महात्मसु ॥ ९ ॥
अत ऊर्द्ध्वं पुनश्चापि अदुष्टापतितेषु च ।
भैक्ष्यचर्य्या विवर्णेषु जघन्या वृत्तिरिष्यते ॥१०॥
भैक्ष्यं यवागूं तक्रं वा पयो यावकमेव वा ।
फलं मूलं प्रियंगुं वा कण-पिण्याक-शक्तवः ॥११॥
इत्येते च शुभाहारा योगिनः सिद्धिकारकाः ।
तत् प्रयुञ्ज्यान्मनिर्भक्त्या परमेण समाधिना ॥१२॥

दत्तात्रेय बोले—

मान और अपमान मनुष्यों को क्रमशः प्रीति और उद्वेग उत्पन्न करते हैं, इनका विपरीत अर्थ समझने वाले योगियों को सिद्धि प्राप्त होती है ॥२॥ मान और अपमान क्रमशः अमृत और विष हैं, योगी को चाहिये कि अपमानको अमृत और मान को विषम विष समझे ॥ ३ ॥ नेत्र से देखकर पाँव रक्खे, वस्त्र से छान कर जल पिये, सत्यतापूर्वक वचन बोले और बुद्धिपूर्वक चिन्तवन करे ॥ ४ ॥ आतिथ्य समय, श्राद्ध, यज्ञ, देवयात्रा और उत्सव के समय योग का जानने वाला कभी अर्थ-सिद्धि के लिये न जावे ॥ ५ ॥ क्लेश के समय, जिस समय रसोई न हो रही हो अथवा जब सब लोग भोजन कर चुके हों इन समयों में योगी भिक्षा न मांगे ॥ जिससे कोई उसका अपमान न कर सके । योगी को उत्तम लोगों के बताये हुए मार्गमें दोष न लगा कर उसपर चलना चाहिये ॥ ७ ॥ जो सद्गृहस्थ श्रेष्ठ हों उनसे भिक्षा मांगे क्योंकि इसी को पहिली वृत्ति बतलाया है ॥ ८ ॥ अतः योगी को उन्हीं गृहस्थों में जाना चाहिये जो धनी, श्रद्धावान्, पवित्र, पण्डित और महात्मा हों ॥ ९ ॥ इनके अतिरिक्त जो गृहस्थी दुष्ट और पतित न हों उनके पास भी योगी जा सकता है परन्तु हीन वर्णों से भिक्षा मांगना नीच वृत्ति है ॥ १० ॥ यवागू, तक्र, दूध, यावक, फल मूल बेर और सत्तू ॥ ११ ॥ ये ही आहार योगियों को शुभ और सिद्धिदायक हैं, इसलिये एकाग्र चित्त होकर भक्ति पूर्वक यही भोजन करे ॥ १२ ॥ निःशब्द होकर पहिला ग्रास

अपः पूर्व्वं सकृत् प्राश्य तूष्णीं भूत्वा समाहितः।
प्राणायेति ततस्तस्य प्रथमा ह्याहुतिः स्मृता ॥१३॥
अपानाय द्वितीया तु समानायेति चापरा।
उदानाय चतुर्थी स्याद्व्यानायेति च पञ्चमी ॥१४॥
प्राणायामैः पृथक् कृत्वा शेषं भुञ्जीत कामतः।
अपः पुनः सकृत् प्राश्यं आचम्य हृदयं स्पृशेत्॥१५॥
अस्तेयं ब्रह्मचर्य्यञ्च त्यागोऽलोभस्तथैव च।
व्रतानि पञ्च भिक्षूणामहिंसापरमाणि व ॥१६॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
नित्यस्वाध्याय इत्येते नियमाः पंच कीर्त्तिताः॥१७॥
सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् कार्य्यसाधकम्।
ज्ञानानां वहुता येयं योगविघ्नकरा हि सा ॥१८॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत्।
अपि कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥१९॥
त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विधाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत्२०॥
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च।
नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥२१॥
वाग्दण्डः कर्म्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः॥२२॥
सर्व्वमात्ममयं यस्य सदसज्जगदीदृशम्।
गुणागुणमयं तस्य कः प्रियः को नृपाप्रियः ॥२३॥
विशुद्धबुद्धिः समलोष्ट्रकाञ्चनः समस्तभूतेषु च तत्समाहितः। स्थानं परं शाश्वतमव्ययंच परं हि मत्वा न पुनः प्रजायते ॥२४॥
वेदाः श्रेष्ठाः सर्व्वयज्ञक्रियाश्च यज्ञाज्जप्यं ज्ञानमार्गश्च जप्यात्। ज्ञानाद्ध्यानं सङ्गरागव्यपेतं तस्मिन् प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः ॥२५॥
समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी शुचिस्तथैकान्तरतिर्यतेन्द्रियः। समाप्नुयाद्योगमिमं महात्मा विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः ॥२६॥

हाथ में लेकर 'प्राणायनमः' यह कहकर उसको भोजन कर ले, इसको प्रथम आहुति कहते हैं॥१३॥ 'अपानाय स्वाहा' यह कहकर दूसरा 'समानाय स्वाहा' कहकर तीसरा 'उदानाय स्वाहा' कहकर चौथा और 'व्यानाय स्वाहा' कहकर पाँचवाँ ग्रास खाना चाहिये, इनको क्रमशः दूसरी तीसरी चौथी और पाँचवीं आहुति कहते हैं॥१४॥ इसी तरह अलग अलग प्राणायाम करके सब अन्न को खाले और फिर हाथ धोकर जल पीवे और हृदय को स्पर्श करे॥१५॥ चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, त्याग, अलोभ तथा अहिंसा, ये भिक्षुकों के पाँच परम व्रत हैं॥ क्रोध न होना, गुरु की सेवा, पवित्रता, थोड़ा भोजन और नित्य स्वाध्याय, यहीं पाँच उनके नियम हैं ॥ १७ ॥ जो ज्ञान सारभूत हो और कार्य का साधक हो उसकी उपासना करनी चाहिये क्योंकि ज्ञान का वाहुल्य योग में विघ्न करने वाला होता है ॥१८॥ जो योगी तृष्णासे पूर्णहो यह जानने योग्य है, यह जानने योग्य है इसमें फँसा रहे वह सहस्र कल्प में भी ज्ञेय को नहीं जान सकता है॥ योगी को चाहिये कि सङ्ग को छोड़कर, क्रोध को जीत कर, थोड़ा आहार करता हुआ, जितेन्द्रिय हो और शरीर के सब द्वारों का बुद्धि से विधान कर मन को ध्यान में लगावे ॥ २० ॥ योगी को चाहिए कि सदा एकान्त में, अवकाश स्थान में, गुफाओं में और वनों में अच्छी तरह ध्यान करे॥ वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड ये तीनों दण्ड जिस योगी के नियत हैं वही महायती त्रिदण्डी है ॥ २२ ॥ हे राजन्! सत्, असत् तथा गुण और अगुणयुक्त इस संसार को जो योगी अपनी आत्मा में ही निहित जानता है उसको कौन प्रिय और कौन अप्रिय है? ॥ २३ ॥ विशुद्ध बुद्धि होकर लोहे और सोनेको जो एकसा समझे और सब प्राणियों को एक समान जाने, ऐसा योगी परम शाश्वत स्थान को जाकर फिर जन्म नहीं लेता है ॥२४॥ वेद सब से श्रेष्ठ हैं, वेदों से यज्ञक्रियायें श्रेष्ठ हैं, यज्ञसे जप और जप से ज्ञान श्रेष्ठ है तथा ज्ञान से सङ्ग और राग से वर्जित ध्यान उत्तम है जिसके करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥२५॥ समबुद्धि, परब्रह्म में संलग्न, प्रमाद से रहित, पवित्र, एकान्त, प्रेमी, जितेन्द्रिय होकर जो योगका अभ्यास करता है वह महात्मा अपने योग के कारण मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराण में योगिचर्या नाम ४१वाँ अध्याय समाप्त।

बयालीसवाँ अध्याय

दत्तात्रेय उवाच

एवं यो वर्त्तते योगी सम्यग्योगव्यवस्थितः ।
न स व्यावर्त्तितुं शक्यो जन्मान्तरशतैरपि ॥ १ ॥
दृष्ट्वा च परमात्मानं प्रत्यक्षं विश्वरूपिणम् ।
विश्वपादशिरोग्रीवं विश्वेशं विश्वभावनम् ॥ २ ॥
तत्प्राप्तये महत् पुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत् ।
तदेवाध्ययनं तस्य स्वरूपं शृण्वतः परम् ॥ ३ ॥
अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम् ।
एता एव त्रयो मात्राः सात्त्व-राजस-तामसाः ॥ ४ ॥
निर्गुणा योगिगम्यान्या चार्द्धमात्रोर्ध्वसंस्थिता ।
गान्धारीति च विज्ञेया गान्धारस्वरसंश्रया ।
पिपीलिकागतिस्पर्शा प्रयुक्ता मूर्द्धिन लक्ष्यते ॥ ५ ॥
यथा प्रयुक्त ओङ्कारः प्रतिनिर्याति मूर्द्धनि ।
तथोङ्कारमयो योगी त्वक्षरे त्वक्षरो भवेत् ॥ ६ ॥
प्राणो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म वेध्यमनुत्तमम् ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ ७ ॥
ओमित्येतत् त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
विष्णुर्ब्रह्मा हरश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च ॥ ८ ॥
मात्राः सार्द्धाश्च तिस्रश्च विज्ञेयाः परमार्थतः ।
तत्र युक्तस्तु यो योगी स तल्लयमवाप्नुयात् ॥ ९ ॥
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारश्चोच्यते भुवः ।
सव्यञ्जनो मकारश्च स्वर्लोकः परिकल्प्यते ॥१०॥
व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा द्वितीयाऽव्यक्तसंज्ञिता ।
मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्द्धमात्रा परं पदम् ॥११॥
अनेनैव क्रमेणैता विज्ञेया योगभूमयः ।
ओमित्युच्चारणात् सर्व्वं गृहीतं सदसद्भवेत् ॥१२॥
ह्रस्वा तु प्रथमा मात्रा द्वितीया दैर्घ्यसंयुता ।
तृतीया च प्लुतार्द्धाख्या वचसः सा न गोचरा॥१३॥
इत्येतदक्षरं ब्रह्म परमोङ्कारसंज्ञितम् ।
यस्तु वेद नरः सम्यक् तथा ध्यायति वा पुनः॥१४॥
संसारचक्रमुत्सृज्य त्यक्तत्रिविधबन्धनः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणि लयं परमे परमात्मनि ॥१५॥

दत्तात्रेय बोले—

जो योगी इस प्रकार योग में स्थित रहकर वर्तन करता है वह संसार के आवागमन से छूट जाता है ॥ १ ॥ विश्वरूप, विश्वपाद, विश्वेश, विश्वभावन परमात्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप जानकर उसकी प्राप्ति के लिये अति पवित्र होकर एकाक्षर 'ओम्' का जप करे तथा उसी का अध्ययन करे और उसी के स्वरूप को सुने ॥ ३ ॥ 'ओश्म्' के अकार, उकार और मकार तीन अक्षर हैं तथा ये तीनों मात्रायें सतोगुण, रजोगुण, तमोगुणयुक्त हैं॥ इसके ऊपर जो आधी मात्रा है वह निर्गुण है और योगियों को गम्य है। वह गान्धार स्वरके आश्रित होने के कारण गान्धारी कहलाती है, और शिरपर चींटी की गतिकी भांति उसका प्रयोग ऊपर होता है ॥ ५ ॥ जिस तरह ओंकार शब्द के उच्चारण में वह आधी मात्रा शिर पर जाती है, उसी प्रकार ओंकारमय योगी में त्वक्षर हो जाते हैं ॥ ६ ॥ प्राण रूपी धनुष पर आत्मारूपी बाण को चढ़ाकर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को वेधे और जिस प्रकार बाण वेध्य में लीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा को ब्रह्म में तन्मय करदे ॥७॥ जो ओंकार है वही तीनों वेद, तीनों लोक और तीनों अग्नियां हैं । तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश और ऋक्, साम और यजुः भी वही है ॥ ८ ॥ ओंकार आधी मात्रा सहित चार मात्रा का भी कहलाता है, इससे युक्त योगी उसीमें लीन हो जाता है ॥९॥ इसमें अकार भूलोक और उकार भुवर्लोक है तथा व्यंजन सहित मकार स्वर्लोक कहलाता है ॥ १० ॥ पहिली मात्रा को व्यक्त और दूसरी को अव्यक्त कहते हैं तथा तीसरी मात्रा चैतन्यशक्ति और चौथी परम पद है ॥ ११ ॥ इसी क्रम से इन सबको योग की भूमि जाननी चाहिये, ओंकार के उच्चारण से समस्त सत् और असत् का बोध हो जाता है ॥ १२ ॥ पहिली मात्रा ह्रस्व और दूसरी दीर्घ है, तीसरी मात्रा प्लुत है और चौथी मात्रा वर्णन करने योग्य नहीं है ॥ १३ ॥ ये ही अक्षररूप ओंकार परब्रह्म है इसको जो मनुष्य जान लेताहै या जो इसका भली भांति ध्यान करता है ॥१४॥ वह संसारचक्र को छोड़कर तीनों बंधनों से मुक्त हो जाता है और परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है ॥ १५ ॥ कर्म बन्धन को अक्षीण और

अक्षीणकर्म्मबन्धश्च ज्ञात्वा मृत्युमरिष्टतः।
उत्क्रान्तिकाले संस्मृत्य पुनर्योगित्वमृच्छति ॥१६॥
तस्मादसिद्धयोगेन सिद्धयोगेन वा पुनः।
ज्ञेयान्यरिष्टानि सदा येनोत्क्रान्तौ न सीदति ॥१७॥

अरिष्ट से अपनी मृत्यु जानकर मृत्यु के समय जो योग का स्मरण करते हैं वे दूसरे जन्ममें भी योगी ही होते हैं ॥१६॥ इसलिये चाहे योगी सिद्ध हो अथवा न हो उसे अरिष्टों को अवश्य जानना चाहिये जिससे मृत्युके समय उसे कष्ट न हो॥१७॥

इति श्रीमार्कण्डेयपुराण में योगधर्ममें ओंकार स्वरूप कथन नाम का ४२वाँ अध्याय समाप्त।

—:०:—
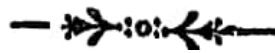
इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'पृथ्वीदानका वर्णन' नामक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१३॥

दो सौ चौदहवाँ अध्याय

नाड़ीचक्रका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं— वसिष्ठ! अब मैं नाड़ीचक्रके विषयमें कहता हूँ, जिसके जाननेसे श्रीहरिका ज्ञान हो जाता है। नाभिके अधोभागमें कन्द (मूलाधार) है, उससे अङ्कुरोंकी भाँति नाड़ियाँ निकली हुई हैं। नाभिके मध्यमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ स्थित हैं। इन नाड़ियोंने शरीरको ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब ओरसे व्याप्त कर रखा है और ये चक्राकार होकर स्थित हैं। इनमें प्रधान दस नाड़ियाँ हैं—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पृथा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और दसवीं शङ्खिनी। ये दस प्राणोंका वहन करनेवाली प्रमुख नाड़ियाँ बतलायी गयीं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दस 'प्राणवायु' हैं। इनमें प्रथम वायु प्राण दसोंका स्वामी है। यह प्राण—रिक्तताकी पूर्ति प्रति प्राणोंको प्राणयन (प्रेरण) करता है और सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित रहकर अपान-वायुद्वारा मल-मूत्रादिके त्यागसे होनेवाली रिक्तताको नित्य पूर्ण करता है। जीवमें आश्रित यह प्राण श्वासोच्छ्वास और कास आदिद्वारा प्रयाण (गमनागमन) करता है, इसलिये इसे 'प्राण' कहा गया है। अपानवायु मनुष्योंके आहारको नीचेकी ओर ले जाता है और मूत्र एवं शुक्र आदिका भी नीचेकी ओर वहन करता है, इस अपानयनके कारण इसे 'अपान' कहा जाता है। समानवायु मनुष्योंके खाये-पीये और सूँघे हुए पदार्थोंको एवं रक्त, पित्त, कफ तथा वातको सारे अङ्गोंमें समानभावसे ले जाता है, इस कारण उसे 'समान' कहा गया है। उदान नामक वायु मुख और अधरोंको स्पन्दित करता है, नेत्रोंकी अरुणिमाको बढ़ाता है और मर्मस्थानोंको उद्विग्न करता है, इसीलिये उसका नाम 'उदान' है।

'व्यान' अङ्गोंको पीड़ित करता है। यही व्याधिको कुपित करता है और कण्ठको अवरुद्ध कर देता है। व्यापनशील होनेसे इसे 'व्यान' कहा गया है। 'नागवायु' उद्गार (डकार-वमन आदि)-में और 'कूर्मवायु' नयनोंके उन्मीलन (खोलने)-में प्रवृत्त होता है। 'कृकर' भक्षणमें और 'देवदत्त' वायु जँभाईमें अधिष्ठित है। 'धनंजय' पवनका स्थान घोष है। यह मृत शरीरका भी परित्याग नहीं करता। इन दसोंद्वारा जीव प्रयाण करता है, इसलिये प्राणभेदसे नाड़ीचक्रके भी दस भेद हैं॥ १—१४॥

संक्रान्ति, विषुव, दिन, रात, अयन, अधिमास, ऋण, ऊनरात्र एवं धन—ये सूर्यकी गतिसे होनेवाली दस दशाएँ शरीरमें भी होती हैं। इस शरीरमें हिक्का (हिचकी) ऊनरात्र, विजृम्भिका (जँभाई) अधिमास, कास (खाँसी) ऋण और निःश्वास 'धन' कहा जाता है। शरीरगत वामनाड़ी 'उत्तरायण' और दक्षिणनाड़ी 'दक्षिणायन' है। दोनोंके मध्यमें नासिकाके दोनों छिद्रोंसे निर्गत होनेवाली श्वासवायु 'विषुव' कहलाती है। इस विषुववायुका ही अपने स्थानसे चलकर दूसरे स्थानसे युक्त होना 'संक्रान्ति' है। द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ! शरीरके मध्यभागमें 'सुषुम्णा' स्थित है, वामभागमें 'इड़ा' और दक्षिणभागमें 'पिङ्गला' है। ऊर्ध्वगतिवाला प्राण 'दिन' माना गया है और अधोगामी अपानको 'रात्रि' कहा गया है। एक प्राणवायु ही दस वायुके रूपमें विभाजित है। देहके भीतर जो प्राणवायुका आयाम (बढ़ना) है, उसे 'चन्द्रग्रहण' कहते हैं। वही जब देहसे ऊपरतक बढ़ जाता है, तब उसे 'सूर्यग्रहण' मानते हैं॥ १५—२०॥

साधक अपने उदरमें जितनी वायु भरी जा सके, भर ले। यह देहको पूर्ण करनेवाला, 'पूरक' प्राणायाम है। श्वास निकलनेके सभी द्वारोंको रोककर, श्वासोच्छ्वासकी क्रियासे शून्य हो परिपूर्ण कुम्भकी भाँति स्थित हो जाय—इसे 'कुम्भक' प्राणायाम कहा जाता है। तदनन्तर मन्त्रवेत्ता साधक ऊपरकी ओर एक ही नासारन्ध्रसे वायुको निकाले। इस प्रकार उच्छ्वासयोगसे युक्त हो वायुका ऊपरकी ओर विरेचन (निःसारण) करे (यह 'रेचक' प्राणायाम है)। यह श्वासोच्छ्वासकी क्रियाद्वारा अपने शरीरमें विराजमान शिवस्वरूप ब्रह्मका ही ('सोऽहं' 'हंसः'के रूपमें) उच्चारण होता है, अतः तत्त्ववेत्ताओंके मतमें वही 'जप' कहा गया है। इस प्रकार एक तत्त्ववेत्ता योगीन्द्र श्वास-प्रश्वासद्वारा दिन-रातमें इक्कीस हजार छः सौकी संख्यामें मन्त्र-जप करता है। यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाली 'अजपा' नामक गायत्री है। जो इस अजपाका जप करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। चन्द्रमा, अग्नि तथा सूर्यसे युक्त मूलाधार-निवासिनी आद्या कुण्डलिनी-शक्ति हृदयप्रदेशमें अंकुरके आकारमें स्थित है। सात्त्विक पुरुषोंमें उत्तम वह योगी सृष्टिक्रमका अवलम्बन करके सृष्टिन्यास करे तथा ब्रह्मरन्ध्रवर्ती शिवसे कुण्डलिनीके मुखभागमें झरते हुए अमृतका चिन्तन करे। शिवके दो रूप हैं—सकल और निष्कल। सगुण साकार देहमें विराजित शिवको 'सकल' जानना चाहिये और जो देहसे रहित हैं, वे 'निष्कल' कहे गये हैं। वे 'हंस-हंस'का जप करते हैं। 'हंस' नाम है—'सदाशिव'का। जैसे तिलोंमें तेल और पुष्पोंमें गन्धकी स्थिति है, उसी प्रकार अन्तर्यामी पुरुष (जीवात्मा)-में बाहर और भीतर भी सदाशिवका निवास है। ब्रह्माका स्थान हृदयमें है, भगवान् विष्णु कण्ठमें अधिष्ठित हैं, तालुके मध्यभागमें रुद्र, ललाटमें महेश्वर और प्राणोंके अग्रभागमें सदाशिवका स्थान है। उनके अन्तमें परात्पर ब्रह्म विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव—इन पाँच रूपोंमें 'सकल' (साकार या सगुण) परमात्माका वर्णन किया गया

है। इसके विपरीत परमात्मा, जो निर्गुण निराकाररूप है, उसे 'निष्कल' कहा गया है॥ २१—३२॥

जो योगी अनाहत नादको प्रासादतक उठाकर अनवरत जप करता है, वह छः महीनोंमें ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। गमनागमनके ज्ञानसे समस्त पापोंका क्षय होता है और योगी अणिमा आदि सिद्धियों, गुणों और ऐश्वर्यको छः महीनोंमें ही प्राप्त कर लेता है। मैंने स्थूल, सूक्ष्म और परके भेदसे तीन प्रकारके प्रासादका वर्णन किया है। प्रासादको ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीन रूपोंमें लक्षित करे। 'ह्रस्व' पापोंको दग्ध कर देता है, 'दीर्घ' मोक्षप्रद होता है और 'प्लुत' आप्यायन (तृप्तिप्रदान) करनेमें समर्थ है। यह मस्तकपर बिन्दु (अनुस्वार)-से विभूषित होता है। ह्रस्व-प्रासाद-मन्त्रके आदि और अन्तमें 'फट्' लगाकर जप किया जाय तो यह मारण कर्ममें हितकारक होता है। यदि उसके आदि-अन्तमें 'नमः' पद जोड़कर जपा जाय तो वह आकर्षण-साधक बताया गया है। महादेवजीके दक्षिणामूर्तिरूप-सम्बन्धी मन्त्रका खड़े होकर यदि पाँच लाख जप किया जाय तथा जपके अन्तमें घीका दस हजार होम कर दिया जाय तो वह मन्त्र आप्यायित (सिद्ध) हो जाता है। फिर उससे वशीकरण, उच्चाटन आदि कार्य कर सकते हैं॥ ३३—३८ $\frac{1}{2}$ ॥

जो ऊपर शून्य, नीचे शून्य और मध्यमें भी शून्य है, उस त्रिशून्य निरामय मन्त्रको जो जानता है, वह द्विज निश्चय ही मुक्त हो जाता है। पाँच मन्त्रोंके मेलसे महाकलेवरधारी अड़तीस कलाओंसे युक्त प्रासादमन्त्रको जो नहीं जानता है, वह आचार्य नहीं कहलाता है। जो ओंकार, गायत्री तथा रुद्रादि मन्त्रोंको जानता है, वही गुरु है॥ ३९—४१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'नाड़ीचक्रकथन' नामक
दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१४॥

तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय

यम और नियमोंकी व्याख्या; प्रणवकी महिमा तथा भगवत्पूजनका माहात्म्य

अग्निदेव कहते हैं—मुने! अब मैं 'अष्टाङ्गयोग'का वर्णन करूँगा, जो जगत्के त्रिविध तापसे छुटकारा दिलानेका साधन है। ब्रह्मको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान भी 'योग'से ही सुलभ होता है। एकचित्त होना—चित्तको एक जगह स्थापित करना 'योग' है। चित्तवृत्तियोंके निरोधको भी 'योग' कहते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मामें ही अन्तःकरणकी वृत्तियोंको स्थापित करना उत्तम 'योग' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। ब्रह्मन्! 'नियम' भी पाँच ही हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। उनके नाम ये हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराराधन (ईश्वरप्रणिधान)। किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। 'अहिंसा' सबसे उत्तम धर्म है। जैसे राह चलनेवाले अन्य सभी प्राणियोंके पदचिह्न हाथीके चरणचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार धर्मके सभी साधन 'अहिंसा'में गतार्थ माने जाते हैं। 'हिंसा'के दस भेद हैं—किसीको उद्वेगमें डालना, संताप देना, रोगी बनाना, शरीरसे रक्त निकालना, चुगली खाना, किसीके हितमें अत्यन्त बाधा पहुँचाना, उसके छिपे हुए रहस्यका उद्घाटन करना, दूसरेको सुखसे वञ्चित करना, अकारण कैद करना और प्राणदण्ड देना। जो बात दूसरे प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर है, वह 'सत्य' है। 'सत्य'का यही लक्षण है—सत्य बोले, किंतु प्रिय बोले; अप्रिय सत्य कभी न बोले। इसी प्रकार प्रिय असत्य भी मुँहसे न निकाले; यह सनातन धर्म है। 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं—'मैथुनके त्यागको'। 'मैथुन' आठ प्रकारका होता है—स्त्रीका स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीड़ा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिपकर बातें करना, उसे पानेका संकल्प, उसके लिये उद्योग तथा क्रियानिर्वृत्ति (स्त्रीसे साक्षात् समागम)—ये मैथुनके आठ अङ्ग हैं—ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। 'ब्रह्मचर्य' ही सम्पूर्ण शुभ कर्मोंकी सिद्धिका मूल है; उसके बिना सारी क्रिया निष्फल हो जाती है। वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवताओंके आचार्य बृहस्पति तथा पितामह ब्रह्माजी—ये तपोवृद्ध और वयोवृद्ध होते हुए भी स्त्रियोंके मोहमें फँस गये। गौड़ी, पैष्टी और माध्वी—ये तीन प्रकारकी सुरा जाननी चाहिये। इनके बाद चौथी सुरा 'स्त्री' है, जिसने सारे जगत्को मोहित कर रखा है। मदिराको तो पीनेपर ही मनुष्य मतवाला होता है, परंतु युवती स्त्रीको देखते ही उन्मत्त हो उठता है। नारी देखनेमात्रसे ही मनमें उन्माद करती है, इसलिये उसके ऊपर दृष्टि न डाले। मन, वाणी और शरीरद्वारा चोरीसे सर्वथा बचे रहना 'अस्तेय' कहलाता है। यदि मनुष्य बलपूर्वक दूसरेकी किसी भी वस्तुका अपहरण करता है, तो उसे अवश्य तिर्यग्योनिमें जन्म लेना पड़ता है। यही दशा उसकी भी होती है, जो हवन किये बिना ही (बलिवैश्वदेवके द्वारा देवता आदिका भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्यपदार्थ)-का भोजन कर लेता है। कौपीन, अपने शरीरको ढकनेवाला वस्त्र, शीतका कष्ट-निवारण करनेवाली कन्था (गुदड़ी) और खड़ाऊँ—इतनी ही वस्तुएँ साथ रखे। इनके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे—(यही अपरिग्रह है)। शरीरकी रक्षाके साधनभूत वस्त्र आदिका संग्रह किया जा सकता है। धर्मके अनुष्ठानमें लगे हुए शरीरकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये॥ १—१६ $\frac{१}{२}$ ॥

'शौच' दो प्रकारका बताया गया है—'बाह्य' और 'आभ्यन्तर'। मिट्टी और जलसे 'बाह्यशुद्धि' होती है और भावकी शुद्धिको 'आभ्यन्तर शुद्धि' कहते हैं। दोनों ही प्रकारसे जो शुद्ध है, वही शुद्ध है, दूसरा नहीं। प्रारब्धके अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें हर्ष मानना 'संतोष' कहलाता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको 'तप' कहते हैं। मन और इन्द्रियोंपर विजय पाना सब धर्मोंसे श्रेष्ठ धर्म कहलाता है। 'तप' तीन प्रकारका होता है—वाचिक, मानसिक और शारीरिक। मन्त्रजप आदि 'वाचिक', आसक्तिका त्याग 'मानसिक' और देवपूजन आदि 'शारीरिक' तप हैं। यह तीनों प्रकारका तप सब कुछ देनेवाला है। वेद प्रणवसे ही आरम्भ होते हैं, अतः प्रणवमें सम्पूर्ण वेदोंकी स्थिति है। वाणीका जितना भी विषय है, सब प्रणव है; इसलिये प्रणवका अभ्यास करना चाहिये (यह स्वाध्यायके अन्तर्गत है)। 'प्रणव' अर्थात् 'ओंकार'में अकार, उकार तथा अर्धमात्राविशिष्ट मकार है। तीन मात्राएँ तीनों वेद, भूः आदि तीन लोक, तीन गुण, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीनों देवता प्रणवरूप हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, स्कन्द, देवी और महेश्वर तथा प्रद्युम्न, श्री और वासुदेव—ये सब क्रमशः ॐकारके ही स्वरूप हैं। ॐकार मात्रासे रहित अथवा अनन्त मात्राओंसे युक्त है। वह द्वैतकी निवृत्ति करनेवाला तथा शिवस्वरूप है। ऐसे ॐकारको जिसने जान लिया, वही मुनि है, दूसरा नहीं। प्रणवकी चतुर्थीमात्रा (जो अर्धमात्राके नामसे प्रसिद्ध है) 'गान्धारी' कहलाती है। वह प्रयुक्त होनेपर मूर्द्धामें लक्षित होती है। वही 'तुरीय' नामसे प्रसिद्ध परब्रह्म है। वह ज्योतिर्मय है। जैसे घड़ेके भीतर रखा हुआ दीपक वहाँ प्रकाश करता है, वैसे ही मूर्द्धामें स्थित परब्रह्म भी भीतर अपनी ज्ञानमयी ज्योति छिटकाये रहता है। मनुष्यको चाहिये कि मनसे हृदयकमलमें स्थित आत्मा या ब्रह्मका ध्यान करे और जिह्वासे सदा प्रणवका जप करता रहे। (यही 'ईश्वरप्रणिधान' है।) 'प्रणव' धनुष है, 'जीवात्मा' बाण है तथा 'ब्रह्म' उसका लक्ष्य कहा जाता है। सावधान होकर उस लक्ष्यका भेदन करना चाहिये और बाणके समान उसमें तन्मय हो जाना चाहिये। यह एकाक्षर (प्रणव) ही ब्रह्म है, यह एकाक्षर ही परम तत्त्व है, इस एकाक्षर ब्रह्मको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसको उसीकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रणवका देवी गायत्री छन्द है, अन्तर्यामी ऋषि हैं, परमात्मा देवता हैं तथा भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। इसके अङ्ग-न्यासकी विधि इस प्रकार है—'**ॐ भूः अग्न्यात्मने हृदयाय नमः।**'—इस मन्त्रसे हृदयका स्पर्श करे। '**ॐ भुवः प्राजापत्यात्मने शिरसे स्वाहा।**' ऐसा कहकर मस्तकका स्पर्श करे। '**ॐ स्वः सर्वात्मने शिखायै वषट्।**'—इस मन्त्रसे शिखाका स्पर्श करे। अब कवच बताया जाता है—'**ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने कवचाय हुम्।**' इस मन्त्रसे दाहिने हाथकी अँगुलियोंद्वारा बायीं भुजाके मूलभागका और बायें हाथकी अँगुलियोंसे दाहिनी बाँहके मूलभागका एक ही साथ स्पर्श करे। तत्पश्चात् पुनः '**ॐ भूर्भुवः स्वः सत्यात्मने अस्त्राय फट्।**' कहकर चुटकी बजाये। इस प्रकार अङ्गन्यास करके भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये भगवान् विष्णुका पूजन, उनके नामोंका जप तथा उनके उद्देश्यसे तिल और घी आदिका हवन करे; इससे मनुष्यकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं। (यही ईश्वरपूजन है; इसका निष्कामभावसे ही अनुष्ठान करना उत्तम

है।) जो मनुष्य प्रतिदिन बारह हजार प्रणवका जप करता है, उसको बारह महीनेमें परब्रह्मका ज्ञान हो जाता है। एक करोड़ जप करनेसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, एक लाखके जपसे सरस्वती आदिकी कृपा होती है। विष्णुका यजन तीन प्रकारका होता है— वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। तीनोंमेंसे जो अभीष्ट हो, उसी एक विधिका आश्रय लेकर श्रीहरिकी पूजा करनी चाहिये। जो मनुष्य दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़कर भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है, उसे जिस उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है, वह सैकड़ों यज्ञोंके द्वारा दुर्लभ है। जिसकी आराध्यदेवमें पराभक्ति है और जैसी देवतामें है, वैसी ही गुरुके प्रति भी है, उसी महात्माको इन कहे हुए विषयोंका यथार्थ ज्ञान होता है॥ १७—३६॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'यम-नियम-निरूपण' नामक
तीन सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७२॥

तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारका वर्णन

अग्निदेव कहते हैं—मुने! पद्मासन आदि नाना प्रकारके 'आसन' बताये गये हैं। उनमेंसे कोई भी आसन बाँधकर परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। पहले किसी पवित्र स्थानमें अपने बैठनेके लिये स्थिर आसन बिछावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा। सबसे नीचे कुशका आसन हो, उसके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो। उस आसनपर बैठकर मन और इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको रोकते हुए चित्तको एकाग्र करे तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगाभ्यासमें संलग्न हो जाय। उस समय शरीर, मस्तक और गलेको अविचलभावसे एक सीधमें रखते हुए स्थिर बैठे। केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे; अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टिपात न करे। दोनों पैरोंकी एड़ियोंसे अण्डकोष और लिङ्गकी रक्षा करते हुए दोनों ऊरुओं (जाँघों)-के ऊपर भुजाओंको यत्नपूर्वक तिरछी करके रखे तथा बायें हाथकी हथेलीपर दाहिने हाथके पृष्ठभागको स्थापित करे और मुँहको कुछ ऊँचा करके सामनेकी ओर स्थिर रखे। इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करना चाहिये॥ १—५$\frac{१}{२}$॥

अपने शरीरके भीतर रहनेवाली वायुको 'प्राण' कहते हैं। उसे रोकनेका नाम है—'आयाम'। अतः 'प्राणायाम'का अर्थ हुआ—'प्राणवायुको रोकना'। उसकी विधि इस प्रकार है—अपनी अँगुलीसे नासिकाके एक छिद्रको दबाकर दूसरे छिद्रसे उदरस्थित वायुको बाहर निकाले। 'रेचन' अर्थात् बाहर निकालनेके कारण इस क्रियाको 'रेचक' कहते हैं। तत्पश्चात् चमड़ेकी धोंकनीके समान शरीरको बाहरी वायुसे भरे। भर जानेपर कुछ कालतक स्थिरभावसे बैठा रहे। बाहरसे वायुकी पूर्ति करनेके कारण इस क्रियाका नाम 'पूरक' है। वायु भर जानेके पश्चात् जब साधक न तो भीतरी वायुको छोड़ता है और न बाहरी वायुको ग्रहण ही करता है, अपितु भरे हुए घड़ेकी भाँति अविचल-भावसे स्थिर रहता है, उस समय कुम्भवत् स्थिर होनेके कारण उसकी वह चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है। बारह मात्रा (पल)-का एक 'उद्धात' होता है। इतनी देरतक वायुको रोकना कनिष्ठ श्रेणीका प्राणायाम है। दो उद्धात

अर्थात् चौबीस मात्रातक किया जानेवाला कुम्भक मध्यम श्रेणीका माना गया है तथा तीन उद्घात यानी छत्तीस मात्रातकका कुम्भक उत्तम श्रेणीका प्राणायाम है। जिससे शरीरसे पसीने निकलने लगें, कँपकँपी छा जाय तथा अभिघात लगने लगे, वह प्राणायाम अत्यन्त उत्तम है। प्राणायामकी भूमिकाओंमेंसे जिसपर भलीभाँति अधिकार न हो जाय, उनपर सहसा आरोहण न करे, अर्थात् क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें आरूढ़ होनेका यत्न करे। प्राणको जीत लेनेपर हिचकी और साँस आदिके रोग दूर हो जाते हैं तथा मल-मूत्रादिके दोष भी धीरे-धीरे कम हो जाते हैं। नीरोग होना, तेज चलना, मनमें उत्साह होना, स्वरमें माधुर्य आना, बल बढ़ना, शरीरवर्णमें स्वच्छताका आना तथा सब प्रकारके दोषोंका नाश हो जाना—ये प्राणायामसे होनेवाले लाभ हैं। प्राणायाम दो तरहके होते हैं—'अगर्भ' और 'सगर्भ'। जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम किया जाता है, उसका नाम 'अगर्भ' है तथा जप और ध्यानके साथ किये जानेवाले प्राणायामको 'सगर्भ' कहते हैं। इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम होता है; उसीका अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान और वैराग्यसे युक्त होकर प्राणायामके अभ्याससे इन्द्रियोंको जीत लेनेपर सबपर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसे 'स्वर्ग' और 'नरक' कहते हैं, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं। वे ही वशमें होनेपर स्वर्गमें पहुँचाती हैं और स्वतन्त्र छोड़ देनेपर नरकमें ले जाती हैं। शरीरको 'रथ' कहते हैं, इन्द्रियाँ ही उसके 'घोड़े' हैं, मनको 'सारथि' कहा गया है और प्राणायामको 'चाबुक' माना गया है। ज्ञान और वैराग्यकी बागडोरमें बँधे हुए मनरूपी घोड़ेको प्राणायामसे आबद्ध करके जब अच्छी तरह काबूमें कर लिया जाता है तो वह धीरे-धीरे स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य सौ वर्षोंसे कुछ अधिक कालतक प्रतिमास कुशके अग्रभागसे जलकी एक बूँद लेकर उसे पीकर रह जाता है, उसकी वह तपस्या और प्राणायाम—दोनों बराबर हैं। विषयोंके समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ फँसी हुई इन्द्रियोंको जो आहृत करके, अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है, उसके इस प्रयत्नको 'प्रत्याहार' कहते हैं। जैसे जलमें डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलनेका प्रयत्न करता है, उसी प्रकार संसार-समुद्रमें डूबे हुए अपने-आपको स्वयं ही निकालनेका प्रयत्न करे। भोगरूपी नदीका वेग अत्यन्त बढ़ जानेपर उससे बचनेके लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानरूपी वृक्षका आश्रय लेना चाहिये॥ ६—२१ ॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारका वर्णन' नामक तीन सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७३ ॥

तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय

ध्यान

अग्निदेव कहते हैं—मुने! 'ध्यै—चिन्तायाम्'—यह धातु है। अर्थात् 'ध्यै' धातुका प्रयोग चिन्तनके अर्थमें होता है। ('ध्यै'से ही 'ध्यान' शब्दकी सिद्धि होती है) अतः स्थिरचित्तसे भगवान् विष्णुका बारंबार चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। समस्त उपाधियोंसे मुक्त मनसहित आत्माका ब्रह्मविचारमें परायण होना भी 'ध्यान' ही है। ध्येयरूप आधारमें स्थित एवं सजातीय प्रतीतियोंसे युक्त

चित्तको जो विजातीय प्रतीतियोंसे रहित प्रतीति होती है, उसको भी 'ध्यान' कहते हैं। जिस किसी प्रदेशमें भी ध्येय वस्तुके चिन्तनमें एकाग्र हुए चित्तको प्रतीतिके साथ जो अभेद-भावना होती है, उसका नाम भी 'ध्यान' है। इस प्रकार ध्यानपरायण होकर जो अपने शरीरका परित्याग करता है, वह अपने कुल, स्वजन और मित्रोंका उद्धार करके स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है। इस तरह जो प्रतिदिन एक या आधे मुहूर्ततक भी श्रद्धापूर्वक श्रीहरिका ध्यान करता है, वह भी जिस गतिको प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण महायज्ञोंके द्वारा भी कोई नहीं पा सकता॥ १—६॥

तत्त्ववेत्ता योगीको चाहिये कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यानका प्रयोजन—इन चार वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करके योगका अभ्यास करे। योगाभ्याससे मोक्ष तथा आठ प्रकारके महान् ऐश्वर्यों (अणिमा आदि सिद्धियों)-की प्राप्ति होती है। जो ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, विष्णुभक्त तथा ध्यानमें सदा उत्साह रखनेवाला हो, ऐसा पुरुष ही 'ध्याता' माना गया है। 'व्यक्त और अव्यक्त, जो कुछ प्रतीत होता है, सब परम ब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है'—इस प्रकार विष्णुका चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है। सर्वज्ञ परमात्मा श्रीहरिको सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त तथा निष्कल जानना चाहिये। अणिमादि ऐश्वर्योंकी प्राप्ति तथा मोक्ष—ये ध्यानके प्रयोजन हैं। भगवान् विष्णु ही कर्मोंके फलकी प्राप्ति करानेवाले हैं, अत: उन परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये। वे ही ध्येय हैं। चलते-फिरते, खड़े होते, सोते-जागते, आँख खोलते और आँख मींचते समय भी, शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें भी निरन्तर परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये॥ ७—११ $\frac{१}{२}$ ॥

अपने देहरूपी मन्दिरके भीतर मनमें स्थित हृदयकमलरूपी पीठके मध्यभागमें भगवान् केशवकी स्थापना करके ध्यानयोगके द्वारा उनका पूजन करे। ध्यानयज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध और सब दोषोंसे रहित है। उसके द्वारा भगवान्‌का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्यशुद्धिसे युक्त यज्ञोंद्वारा भी इस फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा आदि दोषोंसे मुक्त होनेके कारण ध्यान अन्त:करणकी शुद्धिका प्रमुख साधन और चित्तको वशमें करनेवाला है। इसलिये ध्यानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ और मोक्षरूपी फल प्रदान करनेवाला है; अत: अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधन यज्ञ आदि कर्मोंका त्याग करके योगका ही विशेषरूपसे अभ्यास करे। पहले विकारयुक्त, अव्यक्त तथा भोग्य-भोगसे युक्त तीनों गुणोंका क्रमश: अपने हृदयमें ध्यान करे। तमोगुणको रजोगुणसे आच्छादित करके रजोगुणको सत्त्वगुणसे आच्छादित करे। इसके बाद पहले कृष्ण, फिर रक्त, तत्पश्चात् श्वेतवर्णवाले तीनों मण्डलोंका क्रमश: ध्यान करे। इस प्रकार जो गुणोंका ध्यान बताया गया, वह 'अशुद्ध ध्येय' है। उसका त्याग करके 'शुद्ध ध्येय'का चिन्तन करे। पुरुष (आत्मा) सत्त्वोपाधिक गुणोंसे अतीत चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ तत्त्व है, यह 'शुद्ध ध्येय' है। पुरुषके ऊपर उन्हींकी नाभिसे प्रकट हुआ एक दिव्य कमल स्थित है, जो प्रभुका ऐश्वर्य ही जान पड़ता है। उसका विस्तार बारह अंगुल है। वह शुद्ध, विकसित तथा श्वेत वर्णका है। उसका मृणाल आठ अंगुलका है। उस कमलके आठ पत्तोंको अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य जानना चाहिये। उसकी कर्णिकाका केसर 'ज्ञान' तथा नाल 'उत्तम वैराग्य' है। 'विष्णु-धर्म' ही उसकी जड़ है। इस प्रकार कमलका चिन्तन करे। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं कल्याणमय ऐश्वर्य-स्वरूप उस श्रेष्ठ कमलको, जो भगवान्‌का

आसन है, जानकर मनुष्य अपने सब दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है। उस कमलकर्णिकाके मध्यभागमें ओङ्कारमय ईश्वरका ध्यान करे। उनकी आकृति शुद्ध दीपशिखाके समान देदीप्यमान एवं अँगूठेके बराबर है। वे अत्यन्त निर्मल हैं। कदम्बपुष्पके समान उनका गोलाकार स्वरूप ताराकी भाँति स्थित है। अथवा कमलके ऊपर प्रकृति और पुरुषसे भी अतीत परमेश्वर विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करे तथा परम अक्षर ओंकारका निरन्तर जप करता रहे। साधकको अपने मनको स्थिर करनेके लिये पहले स्थूलका ध्यान करना चाहिये। फिर क्रमशः मनके स्थिर हो जानेपर उसे सूक्ष्म तत्त्वके चिन्तनमें लगाना चाहिये॥ १२—२६ $\frac{1}{2}$ ॥

(अब कमल आदिका ध्यान दूसरे प्रकारसे बतलाया जाता है—) नाभि-मूलमें स्थित जो कमलकी नाल है, उसका विस्तार दस अंगुल है। नालके ऊपर अष्टदल कमल है, जो बारह अंगुल विस्तृत है। उसकी कर्णिकाके केसरमें सूर्य, सोम तथा अग्नि—तीन देवताओंका मण्डल है। अग्नि-मण्डलके भीतर शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करनेवाले चतुर्भुज विष्णु अथवा आठ भुजाओंसे युक्त भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं। अष्टभुज भगवान्‌के हाथोंमें शङ्ख-चक्रादिके अतिरिक्त शार्ङ्गधनुष, अक्षमाला, पाश तथा अङ्कुश शोभा पाते हैं। उनके श्रीविग्रहका वर्ण श्वेत एवं सुवर्णके समान उद्दीप्त है। वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और कौस्तुभमणि शोभा पा रहे हैं। गलेमें वनमाला और सोनेका हार है। कानोंमें मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं। मस्तकपर रत्नमय उज्ज्वल किरीट सुशोभित हैं। श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पाता है। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत हैं। उनका आकार बहुत बड़ा अथवा एक बित्तेका है। जैसी इच्छा हो, वैसी ही छोटी या बड़ी आकृतिका ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय ऐसी भावना करे कि 'मैं ज्योतिर्मय ब्रह्म हूँ—मैं ही नित्यमुक्त प्रणवरूप वासुदेवसंज्ञक परमात्मा हूँ।' ध्यानसे थक जानेपर मन्त्रका जप करे और जपसे थकनेपर ध्यान करे। इस प्रकार जो जप और ध्यान आदिमें लगा रहता है, उसके ऊपर भगवान् विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। दूसरे-दूसरे यज्ञ जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते। जप करनेवाले पुरुषके पास आधि, व्याधि और ग्रह नहीं फटकने पाते। जप करनेसे भोग, मोक्ष तथा मृत्यु-विजयरूप फलकी प्राप्ति होती है॥ २७—३५॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'ध्याननिरूपण' नामक तीन सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७४॥

तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय

धारणा

अग्निदेव कहते हैं—मुने! ध्येय वस्तुमें जो मनकी स्थिति होती है, उसे 'धारणा' कहते हैं। ध्यानकी ही भाँति उसके भी दो भेद हैं— 'साकार' और 'निराकार'। भगवान्‌के ध्यानमें जो मनको लगाया जाता है, उसे क्रमशः 'मूर्त' और 'अमूर्त' धारणा कहते हैं। इस धारणासे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। जो बाहरका लक्ष्य है, उससे मन जबतक विचलित नहीं होता, तबतक किसी भी प्रदेशमें मनकी स्थितिको 'धारणा' कहते हैं। देहके भीतर नियत समयतक जो मनको रोक

रखा जाता है और वह अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होता, यही अवस्था 'धारणा' कहलाती है। बारह आयामकी 'धारणा' होती है, बारह 'धारणा'का 'ध्यान' होता है तथा बारह ध्यानपर्यन्त जो मनकी एकाग्रता है, उसे 'समाधि' कहते हैं। जिसका मन धारणाके अभ्यासमें लगा हुआ है, उसी अवस्थामें यदि उसके प्राणोंका परित्याग हो जाय तो वह पुरुष अपने इक्कीस पीढ़ीका उद्धार करके अत्यन्त उत्कृष्ट स्वर्गपदको प्राप्त होता है। योगियोंके जिस-जिस अङ्गमें व्याधिकी सम्भावना हो, उस-उस अङ्गको बुद्धिसे व्याप्त करके तत्त्वोंकी धारणा करनी चाहिये। द्विजोत्तम! आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृतात्मिका—ये विष्णुकी चार प्रकारकी धारणा करनी चाहिये। उस समय अग्नियुक्त शिखामन्त्रका, जिसके अन्तमें 'फट्' शब्दका प्रयोग होता है, जप करना उचित है। नाड़ियोंके द्वारा विकट, दिव्य एवं शुभ शूलाग्रका वेधन करे। पैरके अँगूठेसे लेकर कपोलतक किरणोंका समूह व्याप्त है और वह बड़ी तेजीके साथ ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर फैल रहा है, ऐसी भावना करे। महामुने! श्रेष्ठ साधकको तबतक रश्मि-मण्डलका चिन्तन करते रहना चाहिये, जबतक कि वह अपने सम्पूर्ण शरीरको उसके भीतर भस्म होता न देखे। तदनन्तर उस धारणाका उपसंहार करे। इसके द्वारा द्विजगण शीत और श्लेष्मा आदि रोग तथा अपने पापोंका विनाश करते हैं (यह 'आग्नेयी धारणा' है) ॥ १—१० ॥

तत्पश्चात् धीरभावसे विचार करते हुए मस्तक और कण्ठके अधोमुख होनेका चिन्तन करे। उस समय साधकका चित्त नष्ट नहीं होता। वह पुनः अपने अन्तःकरणद्वारा ध्यानमें लग जाय और ऐसी धारणा करे कि जलके अनन्त कण प्रकट होकर एक-दूसरेसे मिलकर हिमराशिको उत्पन्न करते हैं और उससे इस पृथ्वीपर जलकी धाराएँ प्रवाहित होकर सम्पूर्ण विश्वको आप्लावित कर रही हैं। इस प्रकार उस हिमस्पर्शसे शीतल अमृतस्वरूप जलके द्वारा क्षोभवश ब्रह्मरन्ध्रसे लेकर मूलाधारपर्यन्त सम्पूर्ण चक्र-मण्डलको आप्लावित करके सुषुम्णा नाड़ीके भीतर होकर पूर्ण चन्द्रमण्डलका चिन्तन करे। भूख-प्यास आदिके क्रमसे प्राप्त होनेवाले क्लेशोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर अपनी तुष्टिके लिये इस 'वारुणी धारणा' का चिन्तन करना चाहिये तथा उस समय आलस्य छोड़कर विष्णु-मन्त्रका जप करना भी उचित है। यह 'वारुणी धारणा' बतलायी गयी, अब 'ऐशानी धारणा'का वर्णन सुनिये ॥ ११—१५ ॥

प्राण और अपानका क्षय होनेपर हृदयाकाशमें ब्रह्ममय कमलके ऊपर विराजमान भगवान् विष्णुके प्रसाद (अनुग्रह)-का तबतक चिन्तन करता रहे, जबतक कि सारी चिन्ताका नाश न हो जाय। तत्पश्चात् व्यापक ईश्वररूपसे स्थित होकर परम शान्त, निरञ्जन, निराभास एवं अर्द्धचन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण महाभावका जप और चिन्तन करे। जबतक गुरुके मुखसे जीवात्माको ब्रह्मका ही अंश (या साक्षात् ब्रह्मरूप) नहीं जान लिया जाता, तबतक यह सम्पूर्ण चराचर जगत् असत्य होनेपर भी सत्यवत् प्रतीत होता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर यह सारा चराचर जगत्, प्रमाता, मान और मेय (ध्याता, ध्यान और ध्येय)—सब कुछ ध्यानगत हृदय-कमलमें लीन हो जाता है। जप, होम और पूजन आदिको माताकी दी हुई मिठाईकी भाँति मधुर एवं लाभकर जानकर विष्णुमन्त्रके द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे।

अब मैं 'अमृतमयी धारणा' बतला रहा हूँ— मस्तककी नाड़ीके केन्द्रस्थानमें पूर्ण चन्द्रमाके समान आकारवाले कमलका ध्यान करे तथा प्रयत्नपूर्वक यह भावना करे कि 'आकाशमें दस हजार चन्द्रमाके समान प्रकाशमान एक पूर्ण चन्द्रमण्डल उदित हुआ है, जो कल्याणमय कल्लोलोंसे परिपूर्ण है।' ऐसा ही ध्यान अपने हृदय-कमलमें भी करे और उसके मध्यभागमें अपने शरीरको स्थित देखे। धारणा आदिके द्वारा साधकके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं॥ १६—२२॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'धारणानिरूपण' नामक तीन सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७५॥

तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय

समाधि

अग्निदेव कहते हैं—जो चैतन्यस्वरूपसे युक्त और प्रशान्त समुद्रकी भाँति स्थिर हो, जिसमें आत्माके सिवा अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति न होती हो, उस ध्यानको 'समाधि' कहते हैं। जो ध्यानके समय अपने चित्तको ध्येयमें लगाकर वायुहीन प्रदेशमें जलती हुई अग्निशिखाकी भाँति अविचल एवं स्थिरभावसे बैठा रहता है, वह योगी 'समाधिस्थ' कहा गया है। जो न सुनता है, न सूँघता है, न देखता है, न रसास्वादन करता है, न स्पर्शका अनुभव करता है, न मनमें संकल्प उठने देता है, न अभिमान करता है और न बुद्धिसे दूसरी किसी वस्तुको जानता ही है, केवल काष्ठकी भाँति अविचलभावसे ध्यानमें स्थित रहता है, ऐसे ईश्वरचिन्तनपरायण पुरुषको 'समाधिस्थ' कहते हैं। जैसे वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, यही उस समाधिस्थ योगीके लिये उपमा मानी गयी है। जो अपने आत्मस्वरूप श्रीविष्णुके ध्यानमें संलग्न रहता है, उसके सामने अनेक दिव्य विघ्न उपस्थित होते हैं। वे सिद्धिकी सूचना देनेवाले हैं। साधक ऊपरसे नीचे गिराया जाता है, उसके कानमें पीड़ा होती है, अनेक प्रकारके धातुओंके दर्शन होते हैं तथा उसे अपने शरीरमें बड़ी वेदनाका अनुभव होता है। देवतालोग उस योगीके पास आकर उससे दिव्य भोग स्वीकार करनेकी प्रार्थना करते हैं, राजा पृथ्वीका राज्य देनेकी बात कहते और बड़े-बड़े धनाध्यक्ष धनका लोभ दिखाते हैं। वेद आदि सम्पूर्ण शास्त्र स्वयं ही (बिना पढ़े) उसकी बुद्धिमें स्फुरित हो जाते हैं। उसके द्वारा मनोनुकूल छन्द और सुन्दर विषयसे युक्त उत्तम काव्यकी रचना होने लगती है। दिव्य रसायन, दिव्य ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण शिल्प और कलाएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, देवेश्वरोंकी कन्याएँ और प्रतिभा आदि सद्गुण भी उसके पास बिना बुलाये जाते हैं; किंतु जो इन सबको तिनकेके समान निस्सार मानकर त्याग देता है, उसीपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं॥ १—१०॥

अणिमा आदि गुणमयी विभूतियोंसे युक्त योगी पुरुषको उचित है कि वह शिष्यको ज्ञान दे। इच्छानुसार भोगोंका उपभोग करके लययोगकी रीतिसे शरीरका परित्याग करे और विज्ञानानन्दमय ब्रह्म एवं ईश्वररूप अपने आत्मामें स्थित हो जाय। जैसे मलिन दर्पण शरीरका प्रतिबिम्ब ग्रहण

करनेमें असमर्थ होनेके कारण शरीरका ज्ञान करानेकी क्षमता नहीं रखता, उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनाशून्य) नहीं है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है। देह सब प्रकारके रोगों और दुःखोंका आश्रय है; इसलिये देहाभिमानी जीव अपने शरीरमें वेदनाका अनुभव करता है। परंतु जो पुरुष योगयुक्त है, उसे योगके ही प्रभावसे किसी भी क्लेशका अनुभव नहीं होता। जैसे एक ही आकाश घट आदि भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें पृथक्-पृथक्-सा प्रतीत होता है और एक ही सूर्य अनेक जलपात्रोंमें अनेक-सा जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा एक होता हुआ भी अनेक शरीरोंमें स्थित होनेके कारण अनेकवत् प्रतीत होता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत ब्रह्मके ही स्वरूप हैं। ये सम्पूर्ण लोक आत्मा ही है; आत्मासे ही चराचर जगत्की अभिव्यक्ति होती है। जैसे कुम्हार मिट्टी, डंडा और चाकके संयोगसे घड़ा बनाता है, अथवा जिस प्रकार घर बनानेवाला मनुष्य तृण, मिट्टी और काठसे घर तैयार करता है, उसी प्रकार जीवात्मा इन्द्रियोंको साथ ले, कार्य-करण-संघातको एकचित्त करके भिन्न-भिन्न योनियोंमें अपनेको उत्पन्न करता है। कर्मसे, दोष और मोहसे तथा स्वेच्छासे ही जीव बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे ही उसकी मुक्ति होती है। योगी पुरुष धर्मानुष्ठान करनेसे कभी रोगका भागी नहीं होता। जैसे बत्ती, तैलपात्र और तैल—इन तीनोंके संयोगसे ही दीपककी स्थिति है—इनमेंसे एकके अभावमें भी दीपक रह नहीं सकता, उसी प्रकार योग और धर्मके बिना विकार (रोग)-की प्राप्ति देखी जाती है और इस प्रकार अकालमें ही प्राणोंका क्षय हो जाता है॥ ११—१९ १/२ ॥

हमारे हृदयके भीतर जो दीपककी भाँति प्रकाशमान आत्मा है, उसकी अनन्त किरणें फैली हुई हैं, जो श्वेत, कृष्ण, पिङ्गल, नील, कपिल, पीत और रक्त वर्णकी हैं। उनमेंसे एक किरण ऐसी है, जो सूर्यमण्डलको भेदकर सीधे ऊपरको चली गयी है और ब्रह्मलोकको भी लाँघ गयी है; उसीके मार्गसे योगी पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है। उसके सिवा और भी सैकड़ों किरणें ऊपरकी ओर स्थित हैं। उनके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओंके निवासभूत लोकोंमें जाता है। जो एक ही रंगकी बहुत-सी किरणें नीचेकी ओर स्थित हैं, उनकी कान्ति बड़ी कोमल है। उन्हींके द्वारा जीव इस लोकमें कर्मभोगके लिये आता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पाँच भूत तथा अव्यक्त प्रकृति—ये 'क्षेत्र' कहलाते हैं और आत्मा ही इस क्षेत्रका ज्ञान रखनेवाला 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। वही सम्पूर्ण भूतोंका ईश्वर है। सत्, असत् तथा सदसत्—सब उसीके स्वरूप हैं। व्यक्त प्रकृतिसे समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व)-की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारसे आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, जो उत्तरोत्तर एकाधिक गुणोंवाले हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उन पाँचों भूतोंके गुण हैं। इनमेंसे जो भूत जिसके आश्रयमें है, वह उसीमें लीन होता है। सत्त्व, रज और तम—ये अव्यक्त प्रकृतिके ही गुण हैं। जीव रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हो चक्रकी भाँति घूमता रहता है। जो सबका 'आदि' होता हुआ स्वयं 'अनादि' है, वही परमपुरुष परमात्मा है। मन और इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, वह 'विकार' (विकृत होनेवाला प्राकृत तत्त्व) कहलाता है। जिससे वेद,

पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य वाङ्मयकी अभिव्यक्ति हुई है, वही 'परमात्मा' है। पितृयानमार्गकी उपवीथीसे लेकर अगस्त्य ताराके बीचका जो मार्ग है, उससे संतानकी कामनावाले अग्निहोत्री लोग स्वर्गमें जाते हैं। जो भलीभाँति दानमें तत्पर तथा आठ गुणोंसे युक्त होते हैं, वे भी उसी भाँति यात्रा करते हैं। अठासी हजार गृहस्थ मुनि हैं, जो सब धर्मोंके प्रवर्तक हैं; वे ही पुनरावृत्तिके बीज (कारण) माने गये हैं। वे सप्तर्षियों तथा नागवीथीके बीचके मार्गसे देवलोकमें गये हैं। उतने ही (अर्थात् अठासी हजार) मुनि और भी हैं, जो सब प्रकारके आरामोंसे रहित हैं। वे तपस्या, ब्रह्मचर्य, आसक्ति, त्याग तथा मेधाशक्तिके प्रभावसे कल्पपर्यन्त भिन्न-भिन्न दिव्यलोकोंमें निवास करते हैं॥ २०—३५॥

वेदोंका निरन्तर स्वाध्याय, निष्काम यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रिय-संयम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्य-भाषण—ये आत्मज्ञानके हेतु हैं। समस्त द्विजातियोंको उचित है कि वे सत्त्वगुणका आश्रय लेकर आत्मतत्त्वका श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करें। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, जो वानप्रस्थ आश्रमका आश्रय ले चुके हैं और परम श्रद्धासे युक्त हो सत्यकी उपासना करते हैं, वे क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्यमण्डल तथा विद्युत्के अभिमानी देवताओंके लोकोंमें जाते हैं। तदनन्तर मानस पुरुष वहाँ आकर उन्हें साथ ले जा, ब्रह्मलोकका निवासी बना देता है; उनकी इस लोकमें पुनरावृत्ति नहीं होती। जो लोग यज्ञ, तप और दानसे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त करते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक तथा चन्द्रमाके अभिमानी देवताओंके लोकोंमें जाते हैं और फिर आकाश, वायु एवं जलके मार्गसे होते हुए इस पृथ्वीपर लौट आते हैं। इस प्रकार वे इस लोकमें जन्म लेते और मृत्युके बाद पुनः उसी मार्गसे यात्रा करते हैं। जो जीवात्माके इन दोनों मार्गोंको नहीं जानता, वह साँप, पतंग अथवा कीड़ा-मकोड़ा होता है। हृदयाकाशमें दीपककी भाँति प्रकाशमान ब्रह्मका ध्यान करनेसे जीव अमृतस्वरूप हो जाता है। जो न्यायसे धनका उपार्जन करनेवाला, तत्त्वज्ञानमें स्थित, अतिथि-प्रेमी, श्राद्धकर्ता तथा सत्यवादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है॥ ३६—४४॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'समाधिनिरूपण' नामक
तीन सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७६॥

चतुर्थ–अध्याय

पुराणों में अष्टाङ्.ग पातञ्जल योग दर्शन

(पुराणवार प्रत्येक अङ्.ग का विशद विवेचन)

पातञ्जल योग दर्शन में समाधि हेतु योग के आठ अङ्.गो की चर्चा की गयी है, जो इस प्रकार हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अङ्.गो की विवेचना पुराणों में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, जिसके प्रत्येक अङ्.गों पर संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत है।

मार्कण्डेय पुराण में योग के आठ अङ्.गों में से यम के विषय में कुछ भी नहीं बताया गया है। गरुड़ पुराण में कहा गया है कि योग के आठ अङ्.गों के माध्यम से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इन आठ अङ्.गों में से यम के पॉच भेद बताये गये है जिनमें से पहला है अहिंसा–प्राणियों की कायिक, वाचिक एवं मानसिक रूप से हिंसा न करना ही अहिंसा कहा गया है।[1] दूसरा, भूतों का हित करने वाले वाक्यों को ही सत्य बताया गया है। तीसरा है अस्तेय–परायी वस्तुओं का ग्रहण न करना ही अस्तेय है। चौथा है–ब्रह्मचर्य, मैथुन का न करना ही ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत रखा गया है। पाँचवॉ है अपरिग्रह–जिसके विषय में गरुड़ पुराण में कहा गया है कि समस्त वस्तुओं का परिग्रह न करना ही त्याग है।[2] यहाँ पर अपरिग्रह शब्द को त्याग के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्म पुराण में भी योग के आठ साधनों में से यम के विषय में कुछ भी उपलब्ध नहीं है। विष्णु पुराण में मात्र इतना ही ज्ञात कराया गया है कि यम के द्वारा मनुष्य की पापों की राशि कम हो जाती है, अतएव हमें पाँचों यमों का निरन्तर पालन करते रहना चाहिए। ये पाँच यम हैं–

१– मुक्तिरष्टाङ्.ग विनानात् संक्षेपात्तद्वदे श्रृणु।
यमाः पंचत्वहिंसाधा अहिंसा प्राण्यहिंसनम्।। –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड सम्पादक पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ० १३२, श्लोक सं०–२६

२– सत्यं भूत हितम् वाक्यमस्तेयं स्वग्रहं परम्।
अमैथुन ब्रह्मचर्य सर्वत्यागोऽपरिग्रहः।। – गरुड़ पुराण, वही श्लोक सं० ३०

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह।[1] गायत्री पुराण में यम की विस्तृत विवेचना की गयी है। इस पुराण में बताया गया है कि मन को वश में रखने के लिए पॉच यम का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। यहॉ पर गरुड़ पुराण की भांति यम के सभी वर्गों की विस्तृत विवेचना उपलब्ध है। यम के पहले वर्ग अहिंसा के विषय में बताया गया है कि किसी भी प्रकार की हिंसा न करना अहिंसा पालन है। मन, वाणी और देह के द्वारा प्राणिमात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना भी अहिंसा ही है। किसी के लिए हिंसा को उकसाना, किसी को गाली देना, मारना या उसके प्रति दुर्भावना रखना आदि व्यावहार को भी हिंसा का ही रूप बताया गया है। अतएव अहिंसा का पालन करने के लिए इस प्रकार की मनोवृत्ति का त्याग कर देना चाहिए।[2]

गायत्री पुराण में दूसरा यम है–सत्य, जिसके विषय में बताया गया है कि समस्त कार्यों में असत्य के व्यावहार से बचना चाहिए। कभी भी किसी भी परिस्थिति में झूठ का सहारा नहीं लेना। चाहिए कभी कभी अनजाने में बोला गया मिथ्या वचन भी अनुचित ही बताया गया है, तब जानबूझकर किंचित् भी असत्य का उच्चारण तो पाप कर्म ही कहलाता है। यहॉ पर महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर के कहे गये असत्य वचनों का वृत्तांत उदाहरण स्वरूव दिया जा सकता है– युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के लिए 'नरो वा कुञ्जरो वा' कहकर असत्य का आचरण किया, किसी ने युद्ध में यह अपवाद फैला दिया कि अश्वत्थामा मारा गया। द्रोणाचार्य इससे व्यथित होकर युद्ध से हटना चाहते थे, किन्तु सत्यता जानने के लिए उत्सुक थे। वे समझते थे कि युधिष्ठिर सत्यवादी हैं, वह कभी मिथ्या नहीं कहेंगे, इसलिए उनका आग्रह था कि.यदि युधिष्ठिर, कहें कि वह मर गया तो 'मैं मान लूँगा'। वस्तुतः युद्ध में अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया था। युधिष्ठिर ने सत्यवादी होने को ढोंग किया और तथ्य को छिपाते हुए कहा कि अश्वत्थामा मारा

१– पराशर मुनि प्रणीत, श्री श्री विष्णुपुराण, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा, पृ० सं० ५३।

२– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १४

गया, किन्तु धीरे से कहा कि 'नहीं जानता कि वह मनुष्य था या हाथी था'। इसके पीछे की बात को द्रोणाचार्य ने नहीं सुना और अश्वत्थामा का मरण हुआ जानकर उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।[1] अतः इस असत्य वचन के द्वारा ही हिंसा भी हो गयी। अतएव यहॉ पर अहिंसा तथा सत्य नामक दोनों ही यमों का पालन नही हो पाया है।

यम के तीसरे अड्.ग अस्तेय की चर्चा गरुड़ पुराण में बहुत संक्षिप्त रूप में की गयी है किन्तु गायत्री पुराण में इसका विश्लेषण विस्तृत है। इसमें बताया गया है कि अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। अन्याय या अनधिकार से किसी के धन का अपहरण करना, लूटना, छीनना आदि भी चोरी के ही अन्तर्गत आता है। जो लोग व्यापार में छल करके कम माप तौल करके अधिक बताते हैं, वे भी चोरी ही करते हैं। मार्ग में कोई वस्तु यदि पड़ी मिले, उसे उठाकर ले जाना भी चोरी के समान ही है। जिस किसी का हो उसे खोज करके प्राप्त करा दिया जाय। अतएव जिस–जिस कार्य में चोरी जैसे दोष की सम्भावना निहित हो, उनका परित्याग करना अस्तेय कहा गया है।[2]

यम के चतुर्थ अड्.ग ब्रह्मचर्य की विस्तृत विवेचना गायत्री पुराण में की गयी है। गरुड पुराण के अलावा अन्य पुराणों में भी इसे संक्षिप्त रूप में समझाया गया है। गायत्री पुराण में ब्रह्मचर्य का तात्पर्य मैथुन का त्याग बताया गया है। इसके लिए मैथुन सम्बन्धी विचारों का ही परित्याग करना चाहिए। गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट युवा वर्ग के लिए यह उपदेश नहीं है किन्तु उन्हें भी परनारी से बचने का आचरण तो करना ही चाहिए। जो लोग विरक्त हो रहे हैं उन्हें मैथुन सम्ब्रन्धी चिन्तन और चर्चा में भी रुचि नहीं रखनी चाहिए।[3] यम के पाँचवें भेद अपरिग्रह के विषय में भी गायत्री पुराण में

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १५

२– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १५

३– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १५

विशद विवेचना की गयी है। यहाँ पर अपरिग्रह शब्द का अर्थ है, वस्तुओं का संचय न करना। क्योंकि अपने हित के लिए लोभ के वशीभूत होकर अनावश्यक धन सम्पत्ति, भोग सामग्री आदि को एकत्र करने से, दूसरो को उसके उपभोग से वंचित रखने की सम्भावना रहती है। ज्ञानियों की मान्यता के अनुसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् समस्त विश्व ही हमारा कुटुम्ब है इसलिए सभी को अनिवार्य आवश्यकताओं का ध्यान रखना प्रत्येक मनुष्य का धर्म बन जाता है। किसी वस्तु विशेष में आसक्ति रखकर, उसे जुटाये रखना अपरिग्रह ही है; इसलिए मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को इन सभी से बचना चाहिए।[१] मत्स्य पुराण में योग के सभी सिद्धान्तों का वर्णन न करते हुए मात्र कर्म योग का ही वर्णन किया गया है। अतः यहाँ पर अष्टांग योग के पहले सिद्धान्त यम के विषय में कुछ संकेत अवश्य मिलता है, लेकिन स्पष्ट वर्णन अनुपलब्ध है। भविष्य पुराण में भी मत्स्य, ब्रह्म तथा मार्कण्डेय पुराण की भांति यम के किसी भी सिद्धान्त की चर्चा नहीं की गयी है।

कूर्म पुराण में पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित आठ अड्.गों में से सभी अड्.गों की चर्चा विधिवत् की गई है। अष्टाड्.ग योग के प्रथम अड्.ग यम के पाँचों अड्.गों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सभी का वर्णन उपलब्ध है। इनके विषय में बताया गया है कि ये मनुष्यों के चित्त को शुद्धि प्रदान करने वाले हैं।[२] समस्त प्राणियों में सर्वदा मृदु मन और क्लेश का उत्पन्न

१— गायत्री पुराण, सम्पादक—डा० चमन लाल गौतम पृ०सं० १६

२— अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः प्रोक्ताश्चित्त शुद्धि प्रदानृणाम्।।
कूर्म पुराण, सम्पादक पं० श्री राम शर्मा आचार्य पृ० सं० ६८, श्लोक सं० १३

न करना अहिंसा कही गयी है।[1] अहिंसा से परम अन्य कोई भी धर्म नहीं है और अहिंसा से अधिक कोई सुख भी नहीं है। विधि पूर्वक यज्ञादि में जो हिंसा शास्त्रोक्ति होती है, उसे अहिंसा कहा गया है।[2] सत्य से सभी कुछ की प्राप्ति हुआ करती है, क्योंकि सत्य में सभी कुछ प्रतिष्ठित है। यथार्थ का कथन जो आधार है उसी को द्विजातियों के द्वारा सत्य कहा गया है। पराये द्रव्य का हरण करना चाहे वह चोरी से किया गया हो अथवा बलपूर्वक किया गया हो उसे स्तेय कहा जाता है। उसका आचरण न करना ही अस्तेय है, जो धर्म का साधन होता है। कर्म, मन और वचन से सर्वदा सभी अवस्थाओं में सर्वत्र मैथुन का त्याग करना ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आपत्ति के समय में भी तथा इच्छा से द्रव्यों का जो ग्रहण नही करता है, उसे ही अपरिग्रह कहा जाता है। उसका प्रयत्नपूर्वक पालन किया जाना चाहिए।[3]

प्रायः सभी पुराणों में योग के आठ अड्.गों को स्वीकार किया गया है। शिव पुराण में योग के विषय में कहा गया है कि अक्सर सभी योग आठ या छः अड्.गों से युक्त होते हैं। यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–ये ही विद्वानों द्वारा आठ अड्.ग बताये गये हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि–ये संक्षेप में योग के छः लक्षण बताये गये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन्हें ही सत्पुरुषों ने यम कहा है। इस प्रकार यम पाँच अवयवों के योग से युक्त बताया गया है।

१– कर्म्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिसा परमर्षिभि ।।
कूर्म पुराण, सम्पादक– पं० श्री राम शर्मा आचार्य श्लोक सं० १४, पृ० ६८
२– कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागं ब्रह्मचर्यम्प्रचक्षते।।
–कूर्म पुराण, वही, श्लोक सं०–१८, पृ० ६६
३– द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि तथेच्छाया।
अपरिग्रहमित्याहुस्तं प्रयत्नेन पलयेत्।। कूर्मपुराण, वही, श्लोक सं० १६

पातञ्जल योग के आठ साधनों में से दूसरा साधन है–नियम। नियमों का प्रयोग पुराणों मे विस्तृत रूप से विवेचित है। ये नियम क्या है? क्या इसके बिना समाधि नहीं लगायी जा सकती ?आदि सारे विषयों पर पुराणां में विधिवत् व्याख्या की गई है, जो निम्नवत् है–

मार्कण्डेय पुराण में योग के अन्य सिद्धान्तों की विवेचना तो प्राप्त होती है, किन्तु अष्टाड्.ग योग के नियम की चर्चा नहीं की गई है। इस पुराण में देवी, देवताओं के कथांशों का वर्णन किया गया है। इसमें सभी तीर्थस्थल, पर्वत, नदियों की महिमा भी बतायी गई है। गरुड़ पुराण में योग के आठ सिद्धान्तों में से नियम की भी चर्चा मिलती है, जिसके विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि सत्य आदि पॉच नियम होते हैं, जो बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के बताये गये हैं शौच,सत्य एवं संतोष है–शपथचर्या, इन्द्रियों का निग्रह है– स्वाध्याय, मन्त्रों का जप है प्रणिधान।[1] ब्रह्म पुराण में अष्टाड्.ग योग की चर्चा तो की गई है किन्तु अष्टाड्.ग योग के यम, नियम की चर्चा नहीं की गई है। विष्णु पुराण में अष्टाड्.ग योग नियम के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि संगत चित्त से स्वाध्याय, शौच, संतोष और तप का आचरण ही नियम है। इन यम, नियम का सकाम भाव से आचरण करने पर पृथक्-पृथक् फल प्राप्त होते हैं और निष्काम भाव से सेवन करने से मोक्ष प्राप्त होता है।[2] गायत्री पुराण में अष्टाड्.ग योग के नियम को विस्तृत रूप में विश्लेषित किया गया है। गायत्री पुराण में नियम के पाँच भेदों की भी चर्चा की गई है जिसमें शौच का अर्थ पवित्रता, से हैं मन, वाणी और शरीर तीनों को शुद्ध रखना ही शौच का साधन बतलाया गया है।[3]

१– नियमाः पञ्च सत्याद्या वाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा। ?
शौचं सत्यञ्च सन्तोषस्तपश्चेन्द्रियनिग्रहः।।
गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा, पृ०सं० १३२, श्लोक सं० ३१, ३२

२– श्री श्री विष्णु पुराण, श्री पं० राम जी शर्मा सम्पादक पृ० सं० ५३।

३– गायत्री पुराण, हिन्दी अनुवादित, डा० चमन लाल गौतम, सम्पादक, संस्कृत संस्थान, बरेली, १६६३ पृ० सं० १६

शरीर की शुद्धि में नित्य कर्म के साथ दन्त धावन, स्नानादि कर्म सम्मिलित हैं। योगी जन इसके लिए वस्ति धौति, नेति आदि क्रियाएँ नियमित रूप से करते रहते हैं। सामान्य जन भी अपने अपने ढंग से शरीर शुद्धि का प्रयत्न करते ही है। सात्विक और संयमित आहार भी देह शुद्धि का एक कारण होता है क्योंकि असन्तुलित और असात्विक आहार से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप दुर्बल हुए शरीर की बाह्य शुद्धि के लिए दूषित वातावरण से दूर रहना आवश्यक है। कुत्सित विचार के लोगों के सड्.ग का भी परित्याग करें। मन शुद्ध रहता है तो वाणी भी शुद्ध रहती है इसलिए मन का शोधन अत्यन्त आवश्यक है जिसके लिए अविवेक पूर्ण चिन्तन नहीं करना चाहिए।[१]

इसके पश्चात दूसरा नियम है सन्तोष। सन्तोष का अर्थ है कि भगवान की इच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें तृप्त रहना। आशा और अभिलाषा जितनी बढ़ती है, असन्तोष भी उतना ही अधिक बढ़ता है। व्यावसायिक मनुष्य को देखो, वह हमेशा निन्यानबे के फेर में पड़ा रहता है। एक रुपया है तो वह बढ़कर दो हो, दस हो, पचास हो, नब्बे हो, फिर निन्यानबे हो फिर सौ हो जाये किन्तु सौ होने पर भी सन्तुष्टि नहीं होती। पुनः वृद्धि होती है और निन्यानबे से सौ होने की लालसा बनी रहती है वह कभी दूर ही नहीं होती कल्याण चाहने वालों को उस प्रवृत्ति से सदैव दूर रहना चाहिए।[२]

तप का अभिप्राय गायत्री पुराण में निरर्थक सुख का परित्याग बताया गया है। मनुष्य को कष्ट सहने का अभ्यास करना चाहिए। अनेक प्रकार के व्रतादि के आचरण का उपदेश इसलिए दिया गया है। जिससे मन, प्राण, शरीर और इन्द्रियों को इस प्रकार वश में किया जाय, जिससे

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, वही पृ० सं० १६

२– गायत्री पुराण, वही पृ० सं० १७

कि भूख, प्यास, सुख–दुख, मान–अपमान की चिन्ता छोंडकर अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करें। सब प्रकार की साधना में तपस्या का आचरण आवश्यक है। जैसे स्वर्णादि मूल्यवान धातुएँ भी तपाने से ही शुद्ध होती है। तप मनुष्य को शुद्ध बनाने का एक श्रेष्ठ साधन है।[1]

स्वाध्याय का तात्पर्य गायत्री पुराण में अध्ययन करना, मनन करना बताया गया है। वेद, शास्त्र, उपनिषद, पुराणादि तथा अन्यान्य ग्रन्थों में शिक्षाएं भरी पडी है, उनका ज्ञान अध्ययन से ही होता है। अध्ययन में भी अभ्यास परम आवश्यक है। किसी भी ग्रन्थ की आत्मा में प्रविष्ट होकर, उसमें निहित रहस्य को जानना ही स्वाध्याय का परम उद्देश्य है, जो कि एक बार पढ़ने सुनने मात्र से पूरा नहीं हो सकता। स्वाध्याय में उत्कृष्ट चरित्रों का ज्ञान, जप, कीर्तन, भजन आदि भी सम्मिलित है।[2]

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ गायत्री पुराण में ईश्वर में विश्वास और उनकी शरण में जाना बताया गया है। मन, वचन और कर्म से भगवान की भक्ति, उपासना ध्यानादि करते हुए स्वयं का समर्पण करना ही श्रेय कामना वालों का कर्त्तव्य है। वास्तव में अन्तः करण की शुद्धि भी इसमें परमावश्यक है। योगी जन इसके लिए अष्टाड्.ग योग का अभ्यास करते हैं।[3] मत्स्य पुराण तथा भविष्य पुराण में अष्टाड्.ग योग के किसी भी अंग की चर्चा नहीं की गई है।

कूर्म पुराण में पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित अष्टांग योग के द्वितीय अंग नियम के विषय में कहा गया है कि तप स्वाध्याय सन्तोष शौच, ईश्वर का अर्चन ये संक्षेप में नियम कहे गए हैं। जो योग की सिद्धि प्रदान करने वाले होते हैं।[4] उपवास परक तथा कृच्छ् चान्द्रायणादि के द्वारा

१– गायत्री पुराण, सम्पादक, डा० चमन लाल गौतम पृ० सं० १७

२– गायत्री पुराण, वही पृ०सं० १८

३– गायत्री पुराण, वही पृ० सं० १८

४– तपः स्वाध्यायसन्तोषौ शौच मीश्वरपूजनम्।
समान्नियमाः प्रोक्त योगसिद्धि प्रदायिनः।।
कूर्म पुराण, पं० श्री राम शर्मा सम्पादक, श्लोक सं० २० पृ० सं० ६६

जो शरीर शोषण किया जाता है उसी को तापस लोग उत्तम तप कहते हैं।[1] वेदान्त शत् रुद्रिय और प्रणव आदि के जप को बुध लोग जप कहते हैं। स्वाध्याय पुरुषों को सत्व सिद्धि प्रदान करने वाला कहा जाता है। स्वाध्याय के भी तीन भेद हैं– वाचिक–उपांशु और मानस ये उनके नाम हैं। इन तीनों की उत्तरोत्तर विशेषता मानी गई है। ऐसा ही वेदार्थ के वादी जन कहते हैं। जो दूसरे सुनने वालों को शब्द का बोध उत्पन्न करने वाला अत्यन्त ही स्पष्ट होता है। उसी स्वाध्याय को वाचिक स्वाध्याय कहा गया है। अब उपांशु का लक्षण बतलाते है।[2] दोनों होठों के स्पन्दन मात्र से दूसरे का अशब्द बोधक होता है। यही उपांशु जप कहा गया है। यह वाचिक जप से साधु जप होता है जो पद के अक्षरों की संगति से परिस्पन्दन रहित होता है तथा मन्त्र के सब शब्दों के चिन्तन के बल पर होता है। उसी जप को मानस जप कहते हैं। यदृच्छा लाभ से जो वित्त पुरुषों को लाभ प्राप्त होता है। ऋषि वृन्द इसी को सन्तोष का प्रशस्त लक्षण कहते हैं।[3] शौच शौच बाह्य और आभ्यनन्तर दो प्रकार का होता है। बाहरी शौच तो मिट्टी और जल से बताया गया है और आन्तरिक शौच मन की शुद्धि से ही हुआ करता है।[4]

१– उपवासपराकादिकृच्छचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणम्प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्।। कूर्म पुराण, पं० श्री राम शर्मा–सम्पादक, पृ०सं० ६६, श्लोक सं० २१
२– यः शब्दबोधजननः परेषां श्रृण्वतां स्फुटम्
स्वाध्यायो वाचीकः प्रोक्त उपांशेरथ लक्षणम्।। (कूर्म पुराण, सम्पादक– पं०राम शर्मा पृ०सं० १००)
३– यद्वच्छालाभतो वित्तं अलपुं सोभवेदिति।
प्राशस्त्यमृषयः प्राहुःसन्तोषं सुखलक्षणम्।। (कूर्म पुराण, सम्पादक–पं० श्री राम शर्मा,) पृ०सं० १००
श्लोक २७
४– बाह्य माभ्यन्तर शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्य मनः शुद्विरथान्तरम्।।
कूर्म पुराण, सम्पादक–श्री राम जी शर्मा आचार्य
पृ०सं० १००, श्लोक सं० २८

वाणी, मन और शरीर के कर्मों से स्तवन स्मरण और पूजा के द्वारा जो सुनिश्चित शिव में भक्ति की भावना होती है इसी को ईश का पूजन कहा जाता है।[1]

शिव पुराण में अष्टाड्.ग योग के यम के साथ ही साथ नियम के विषय में भी विशद चर्चा की गई है। जिसमें यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि नामक अष्टाग्ङ्गयोग की चर्चा की गई है। शिव पुराण में नियम के विषय में मात्र शौच, सन्तोष, तप, जप (स्वाध्याय) और प्रणिधान नामक पाँच भेद ही बताए गए हैं।

मार्कण्डेय पुराण में अष्टाड्.ग योग के तृतीय अड्.ग आसन के विषय में कहा गया है कि पद्मासन अर्द्धासन, स्वस्तिकासनादि आसनों को बांधकर हृदय में प्रणव मन्त्र का जप करते समय योगानुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए। साधक को सरल भाव से समासन अर्थात् जो आसन ऊँचा नीचा (ऊबड़–खाबड़) न हो, ऐसा आसन जमाकर दोनों पाँव और जंघाएं आगे की ओर बटोरकर, मुँह बन्द कर संयत चित्त से इस प्रकार बैठें कि जिससे हाथ से जननेन्द्रिय अथवा अण्डकोश छुआ न जा सके। इस आसन में सिर कुछ ऊँचा रहे और दाँतों से दाँत रगड़े न जायं। दृष्टि नासिकाग्र में स्थिर रहे, वह इधर-उधर विचलित न हो। योगाभ्यासी व्यक्ति उस समय रजोगुण के द्वारा तमोगुणी वृत्ति का और सत्व गुण के द्वारा राजसिक वृत्ति का निरास कर केवल मात्र निर्मल तत्व में अवस्थान करता हुआ योग साधन करे।[2]

१– स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाड्.मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चिलाशिवेभक्तिरेतदीशस्यपूजनम्।।
कूर्म पुराण, सम्पादक श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ० सं०१००, श्लोक सं० २६

२– मार्कण्डेय पुराण, वही पृ०सं० १२६

गरुड पुराण में योग के अड्.गों की विस्तृत व्याख्या न करके सक्षेप में वर्गीकृत करके स्पष्टीकरण किया गया है। गरूड़ पुराण में यम, नियन आदि अड्.गों की व्याख्या स्पष्ट करने के पश्चात आसन के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि पद्न आदि नाम के आसन हुआ करते हैं।[1] ब्रह्म पुराण में अष्टाड्.ग योग में से मात्र आसन तथा प्राणायाम की चर्चा की गई है शेष छः अंगों (यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) की विवेचना ब्रह्म, वर्णित आसन नामक अड्.ग के सन्दर्भ में विवेचना की गई हैं। ब्रह्म पुराण में आसन की चर्चा से पूर्व आसन के लिए उचित स्थान का भी वर्णन किया गया है। एकान्त आश्रम में,गूढ़ स्थान में, शब्द और भय से रहित पर्वतीय गुफा में, सूने घर मे अथवा पवित्र रमणीय और एकान्त देव मन्दिर में बैठ कर रात के पहले और पिछले पहर में अथवा दिन में पूर्वान्ह और मध्यान्ह काल में एकाग्र चित्त होकर योग साधन करें, भोजन थोडा तथा नियम के अनुकूल हो। इन्द्रियों पर पूरा पूरा नियन्त्रण रखें। सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर योगाभ्यास करना ही उचित बताया गया है। आसन सुखद और स्थिर हो। अधिक ऊँचा या अधिक नीचा न हो। योग के साधक को निःस्पृह, सत्यवादी और पवित्र होना चाहिए। यह निद्रा और क्रोध को अपने वश में रखें। सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर रहें, सब प्रकार के द्वन्दों को सहन करें। शरीर, चरण और मस्तक को समान स्थिति में रखें दोनों हाथ नाभि पर रखकर शान्त हो पद्मासन में बैठें। दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर लगाकर प्राणायाम पूर्वक मौन रहें।[2] ब्रह्म पुराण में वर्णित उपरोक्त विवेचना से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल आसन से ही योग की सिद्धि नहीं हो जाती है बल्कि साधक को निःस्पृह एकाग्र तथा वैचारिक शुद्धता भी रखनी चाहिए।

१– स्वाध्यायः स्यान्मन्त्रजपः प्रणिधानं हरेर्यजिः।
आसन पद्मकाद्युक्तं प्राणायामों मरूज्जयः।।
पुराण, प्रथम खण्ड पं० श्री राम जी शर्मा
आचार्य सम्पादक, पृ० स० १३२ श्लोक सं० ३२

२– ब्रह्मपुराणाड्.क कल्याण, इक्कीसवे वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या ५८६

विष्णु पुराण में अष्टाड़.ग योग के प्रत्येक अड़.गों का वर्णन किया गया है। जिसमें अष्टाड़.ग योग के अड़.गों में से आसन के बारे में कहा गया है कि आसन अष्टाड़.ग योग का तीसरा अड़.ग है। विष्णु पुराण में आसन के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि भद्रासनादि आसनों में से किसी एक का अवलम्बन कर यम,नियमादि गुणों से युक्त होकर ही योग का अभ्यास करें।[1] गायत्री पुराण का अवलोकन करने के पश्चात ज्ञात होता है कि उक्त पुराण में अष्टाड़.ग योग के प्रत्येक अड़.गों की व्याख्या की गई है। गायत्री पुराण में योगाड़.ो में से आसन के विषय में कहा गया है कि आसन का अर्थ है–स्थिति सुख सुविधा पूर्वक बैठकर प्राणायाम आदि का अभ्यास किया जा सके, ऐसी स्थिति में बैठना चाहिए। यदि कष्टदायक स्थिति में बैठेंगे तो अभ्यास में मन नहीं लगेगा।[2] अतएव योगाचार्यों ने नाना प्रकार के आसनों का वर्णन किया है। उन सब पर प्रकाश डालने का न तो कोई औचित्य है, न सम्भव ही है। फिर भी एक ऐसे आसन के विषय में बताया गया है कि जिसमें सुखपूर्वक बैठा जा सके। किसी कोमल आसन को बिछाकर पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन लगाकर बैठें। अर्थात् पालती लगाकर बैठें, किन्तु दॉया पॉव बायी जॉघ पर रखना चाहिए। सीधा बैठें और शरीर को झुकाएँ नहीं। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रखा जा सकता है। यह आसन अभ्यास से शीघ्र साध्य होता है।[3]

१– पराशर मुनि प्रणीत् श्री श्री विष्णु पुराण, पृ०सं० ५३।

२– गायत्री पुराण, हिन्दी अनुवादित, डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १८

३– गायत्री पुराण, वही, पृ० सं० १८

मत्स्य पुराण में अष्टाड्.ग योग का कहीं भी कोई वर्णन नहीं मिलता है। भविष्य पुराण में पातञ्जल योग दर्शन के अष्टाड्.ग योग में मात्र प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा की विवेचना तो की गई है किन्तु शेष अन्य पॉच अड्.गों (यम, नियन, आसन, ध्यान और समाधि) की चर्चा नहीं की गई है। कूर्म पुराण में आसन के तीन प्रकार बतलाए गए हैं– स्वस्तिक, पद्म और अर्द्धासन समस्त साधनों में यह अति उत्तम साधन होता है।[1] दोनो पादतल ऊरूओं के ऊपर कर रखें और समासीन स्वरूप में हो तो इसी को पद्मासन उत्तम आसन कहा गया है।[2] दोनों पादतलो को जानु और ऊरू के अन्तर रखें। ऐसे समासीनात्मा पुरुष का आसन परम स्वास्तिक कहा गया है। एक पाद को एक विष्टभ्य करके उसमें रखें–ऐसे स्थित के आसन को अर्द्वासन कहते हैं। यह योग साधन के लिए उत्तम आसन है।[3] शिव पुराण में आसन के आठा भेदों के नाम मात्र बतलाये गये हैं ये हैं–स्वस्तिक, आसन, पद्मासन, अर्द्धचन्द्रासन, वीरासन, योगासन, प्रसाधितासन, पर्यक्डासन और अपनी रुचि के अनुसार आसन के विषय में ही बतलाया गया है।[4]

१– आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्मर्द्धासन तथा।
साधनञ्च सर्वेषामतेत्साधनमुत्तमम्।। –कूर्म पुराण, सम्पादक– पं० श्री राम जी शर्मा
आचार्य, पृ०सं० १०३, श्लोक सं० ४३

३– ऊर्व्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे।
समासीनात्मनः पद्मेतदासनमुत्तमम्।। –कूर्म पुराण, सम्पादक श्री राम जी शर्मा
आचार्य, पृ०सं० १०३, श्लोक सं० ४४

४– क उभे कृत्वापादतले जानूवेरिन्नरेण हि।
समासीनात्मनः प्रोक्तं मासनंस्वस्तिक परम्।।४५।।
ख एक पादमथैकस्मिन्विष्टभ्योरसि सत्तमाः।
आसीनार्द्धासनमिद योगसाधनमुत्तमम्।। ४६।।
–कूर्म पुराण, सम्पादक–श्री राम जी शर्मा, आचार्य पृ०सं० १०३, श्लोक सं० ४५/४६

पातञ्जल योग मे वर्णित अष्टाड्.ग योग में से चौथा साधन है–प्राणायाम। प्राणायान क्या है ? तथा इसकी क्रिया किस प्रकार से सम्पन्न की जा सकती है। इसका विशद विवरण लगभग समस्त पुराणों में किया गया है। जिसकी व्याख्या पुराणवार यहाँ पर की गई है। जो निम्नवत् है–

मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा रागादि दोषों का, धारणा[1] के द्वारा पाप का, प्रत्याहार[2] के द्वारा विषयों, का और ध्यान के द्वारा ईश्वर विरोधी गुणों को भी दूर करें। जिस प्रकार पर्वतीय धातुओं को आग में तपाने से उनके दोष जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियजनित दोष दूर हो जाते हैं। इसलिए योग के ज्ञाता पुरुष को पहले प्राणायाम का ही साधन करना चाहिए। प्राण और अपान वायु को रोकने का नाम ही प्राणायाम है। यह लघु, मध्य और उत्तरीय के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है।

मार्कण्डेय पुराण में लघु प्राणायाम की बारह मात्राएँ बतलाई गयी है। इससे दूनी मात्रा मध्यम और तिगुनी मात्रा का उत्तरीय अथवा उत्तम बताया गया है। पलकों को उठाने और गिराने में जितना समय लगता है, वही प्राणायाम की संख्या के लिए मात्रा कहा गया है। ऐसी ही बारह मात्राओं का लघु नामक प्राणायाम होता है। प्रथम प्राणायाम के द्वारा स्वेद (पसीने) को, मध्यम के द्वारा कम्प को और तृतीय प्राणायाम के द्वारा विषाद को जीता जा सकता है। इस प्रकार क्रमशः इन तीनों दोषों पर विजय प्राप्त करें। जैसे–सिंह, व्याघ्र और हाथी सेवा के द्वारा कोमल हो जाते हैं, उनकी कठोरता दब जाती है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से प्राण योगी के वश में हो जाता हैं। जैसे–हाथीवान मतवाले हाथी को भी वश में करके उसे इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार योगी वश में किए हुए प्राण को अपनी इच्छा के अधीन रखता है। जैसे–वश में किया हुआ सिंह, केवल मृगों को ही मारता है, मनुष्यों को नहीं, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा वश में किया हुआ

१– देशबन्धश्चित्तस्य धारणा–किसी एक स्थान में चित्त को बाँधना अर्थात् परमात्मा में मन को स्थापित करना धारणा है।

२– इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर चित्त में लीन करना 'प्रत्याहार' कहलाता है।

–मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाङ.क, कल्याण, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० १२८

प्राण केवल पापों का नाश करता है, मनुष्य के शरीर का नहीं। इसीलिए योगी पुरुष को सदा प्राणायाम में संलग्न रहना चाहिए।[1]

मार्कण्डेय पुराण में वर्णित ध्वस्ति, प्राप्ति संवित् और प्रसाद–ये मोक्ष रूपी फल प्रदान करने वाली प्राणायाम की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसके पश्चात इसके स्वरूप के विषय में मार्कण्डेय पुराण में बताया गया है कि जिस अवस्था में शुभ और अशुभ सभी कर्मो का फल क्षीण हो जाये और जिसकी वासना नष्ट हो जाय, उसको 'ध्वस्ति' नाम से पुकारा गया है। जब योगी इस लोक और परलोक के भोगों के प्रति लोभ और मोह उत्पन्न करने वाली समस्त कामनाओं को रोककर सदा अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है, वह निरन्तर रहने वाली 'प्राप्ति' नामक अवस्था है। जिस समय योगी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा ग्रहों के समान प्रभावशाली होकर उत्तम ज्ञान सम्पत्ति प्राप्त करता है और उस ज्ञान सम्पत्ति से भूत–भविष्य की, बातों को तथा दूर स्थित एवं अदृश्य वस्तुओं को भी जान लेता है, उस समय प्राणायाम की 'संवित्त' नामक अवस्था होती है। जिस प्राणायाम से मन, पॉच प्राणवायु, सम्पूर्ण इन्द्रियॉ और इन्द्रियों के विषय प्रसाद को प्राप्त होते हैं, वह उसकी प्रसाद अवस्था है।[2]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड में अष्टाड्.ग योग के समस्त अड्.गों का अत्यन्त विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। जिसमें वायु का जय प्राप्त करना ही प्राणायाम कहा गया है।[3] मन्त्र के ध्यान से जो मुक्त होता है वह अगभैक कहा जाता है। इस प्रकार से वह दो एवं तीन प्रकार का होता

१– मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाड्.क वही, पृ०सं० १२६

२– कल्याण, संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणांक सम्पादक–हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मन लाल गोस्वामी एम०ए०, शास्त्री। पृ० सं० १२६

३– स्वाध्यायः स्यान्मन्त्रजपः प्रणिधानं हरेर्यजिः।
आसनं पद्मकाद्युक्त प्राणायामो मरुज्जयः।। ३२४

है। पूरण करने से वह पूरक होता है, निश्चल होने से कुम्भक और रेचन से रेचक कहा जाता है।[1] बारह मात्राओं वाला लघु प्राणायाम होता है तथा छत्तीस मात्राओं से मुक्त परन श्रेष्ठ होता है। प्राणायाम के विषय में गरुड़ पुराण के द्वितीय खण्ड में बताया गया है कि– वायु का जय प्राप्त करना ही प्राणायाम है। प्रत्येक प्राणायाम पूरक, कुम्भक और रेचक के भेद से तीन प्रकार होता है। जो प्राणायाम लघु होता है वह दश मात्रा वाला होता है। इससे जो दुगुना होता है वह मध्यम होता है।[2] जिनमें लघु में तिगुनी मात्राएँ होती हैं वह उत्तम प्राणायाम कहा गया है। इस प्राणायाम के गर्भ अर्थात् मध्य में जप एवं ध्यान युक्त गर्भ वाला प्राणायाम विपरीतत्व को भक्षण करने वाला होता है।[3] प्रथम प्राणायाम के द्वारा वेपथु अर्थात् कम्प होता है। तृतीय प्राणायाम से विपाक होता है। इस अनुक्रम से ये दोष हुआ करते है। हृदय में प्रणव का ध्यान करके आसन पर स्थित होकर योग करें।

ब्रह्म पुराण में अष्टाड्.ग योग में से मात्र ध्यान और प्राणायाम का अत्यन्त संक्षिप्त रूप में परिचय दिया गया है। ब्रह्म पुराण मनकी एकाग्रता और प्राणायाम को ध्यान के दो भेदों के रूप में स्वीकार करता है।[4] विष्णु पुराण में अभ्यास के द्वारा जो प्राणवायु को वश में किया जाता है

१– मन्त्र ध्यानयुतो गर्भो विपरीतो हयगर्भकः।
एवं द्विधात्रिधाप्युक्त पूरणात् पूरकः स च।
कुम्भको निश्चलत्वाच्च रेचनाद्रेचकस्त्रिया।।३३।।
–गरुड़ पुराण प्रथम खण्ड सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ० सं० १३२

२– (क) सन्तोषस्तपसा शान्तिर्वासुदेवर्चन दमः।
आसनं पद्मकाद्युक्तं प्राणायामो मरुज्जयः।।३।।
(ख) प्रत्वेव त्रिविधः सोऽपि पूरककुम्भकरेचकैः।
लघुर्यो दशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः।।४।।
–गरुड़ पुराण द्वितीय खण्ड, वही पृ० सं० १६२

३– त्रिगुणाभिस्त मात्राभिरुत्तमः स उदाहृतः।
जप ध्यानयुतो गर्भो विपरीत त्वभक्षकः।।१५
–गरुड़ पुराण, सम्पादक– पं० श्री राम जी शर्मा, आचार्य, पृ०सं० १६३

४– ब्रह्म पुराणाड्.क वही पृ० सं० ५६६

उसे प्राणायाम कहा गया है। वह सबीज (ध्यान तथा मन्त्र पाठ आदि आलम्बन युक्त) और निर्बीज (निरालम्ब) भेद से दो प्रकार का है। सद् गुरू के उपदेश से जब योगी प्राण और अपान वायु द्वारा एक दूसरे का निरोध करता है तो (क्रमश. रेचक और कुम्भक नामक) नामक दो प्राणायाम होते हैं और इन दोनों का ही एक समय संयत करने से (कुम्भक) नामक तीसरा प्राणायाम होता है। जब योगी सबीज प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करता है तो उसका आलम्बन भगवान अनन्त का हिरण्यगर्भ आदि स्थूल रूप होता है।[1]

गायत्री पुराण में प्राणायान का अर्थ श्वास–निःश्वास को संयमित करना बताया गया है। योगियों ने इसके भी अनेक भेद बतलाए हैं, किन्तु सामान्यतः पूरक, रेचक और कुम्भक। ये तीनों क्रियाएं ही प्राणायाम में मुख्य हैं। सुख–पूर्वक बैठा हुआ मनुष्य श्वास खींचने के लिए दॉयी नासिका को बन्द करे और बाँयी नासिका से श्वास खींचे यह पूरक है। खींचे हुए श्वास को भीतर रोक रखने को कुम्भक कहते हैं, फिर दाँयी नासिका से श्वास छोड़नी चाहिए, इस क्रिया को रेचक कहते हैं। यह क्रिया अभ्यास होने पर व्युत्क्रम से भी की जाती है अर्थात् दाँयी नासिका से श्वास रोके और बाँयी नासिका से छोड दें। वस्तुतः इस क्रिया में कुम्भक का भी अपना महत्व है। कुम्भक द्वारा जितनी देर श्वास रोके रखने का अभ्यास किया जायेगा, उतनी ही आयु बढ़ जाती है क्योंकि आयु श्वास पर निर्भर करती है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए श्वास शोधनार्थ जो प्राणायाम किया जाता है, उसमें एक नासिका से श्वास खींचते हैं और दूसरे से निकालते हैं। निरन्तर यह करने से नाड़ी शुद्ध होती रहती है।[2] जबकि मत्स्य पुराण में अष्टाड्.ग योग के किसी भी अड्.ग की चर्चा नहीं की गई है।

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्री श्री विष्णु पुराण सम्पादक पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ० सं० ५३।

२– गायत्री पुराण, सम्पादक –डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १६

भविष्य पुराण में कहा गया है कि प्राणायाम से शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। जैसे– आग के ताप में रखने से धातुओं के दोष दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायान के द्वारा साधक के इन्द्रिय जनित दोष दग्ध हो जाते हैं। जैसे एक हाथ से मन को एव चित्त को शुद्ध कर पवित्र भावनाओं के द्वारा दुर्व्यसनों को शान्त कर मन, बुद्धि को अत्यन्त पवित्र कर लेना चाहिए। अतः चित्त की शुद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए। चित्त की शुद्धि होने से शुभ और अशुभ कर्मों का ज्ञान होता है शुभ और अशुभ कर्मों से छुटकारा प्राप्त कर निर्द्वन्द, निर्मम, निष्परिग्रह और निरहङ्कार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[१] कर्म कूर्म पुराण में कहा गया है कि प्राण अपनी देह में उत्पन्न वायु का नाम है उसका आयाम अर्थात् निरोध जिसमें किया जाता है वही प्राणायाम उत्तम–मध्यम और अधम तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। वह भी फिर दो प्रकार का कहा गया है– एक सगर्भ होता है और दूसरा अगर्भ है।[२] द्वादश मात्राओं वाला मन्द होता है–चौबीस मात्राओं वाला उत्तम

१– इन्द्रियैर्नियतैदेहीं र्दही धाराभिरिव तृप्यते।
सततममृतस्यैव जनार्दन महामते।।
प्राणायामैर्दहेददोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण ससर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान।।
ध्यायमानस्य दह्यन्ते चान्ते दोषा यथाग्निना।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्।।
चित्तं चित्तेन सशोध्य भावं भावेन शोध्येत्।
मनस्तु मनसा शोध्य बुद्धिं बुद्ध्या तु शोधयेत्।।
चित्तस्यातिप्रसादेन भाति कर्म शुभाशुभम्।
शुभाशुभ विनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।।
निर्ममो निरहंकारस्ततो याति परा गतिम्।।
कल्याण संक्षिप्त भविष्य पुराणाक पृ० सं० १४४, उद्घृत
ब्राह्मपर्व ।४५/७–११

२– (क) यमाश्चनियमाः प्रोक्ताः प्राणायामन्निबोधत।
प्राणः स्वदेहजोवायुरायामस्तन्निरोधनम्।।३०।।
–कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक–पं श्री राम जी शर्मा आचार्य, पृ०सं० १०१

प्राणायाम होता है।[1] जो स्वेद, कम्पन, उछ्वास का क्रम से जनन करने वाला होता है तथा मनुष्यों का आनन्द से संयोग होता है वह उत्तमोत्तम होता है। सुनफ नान वाला–हित योग को ही बुध लोग सगर्भ विजय कहते हं। यह योगियों का ही कहा गया हे। प्राणायाम का लक्षण यही ह। व्याहृतियो के सहित प्रणव से युक्त तथा सिर से समन्वित गायत्री मन्त्र का आयत प्राण होकर तीन बार जाप करें। इसी को नाम से प्राणायाम कहा गया है। रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन प्रकार से प्राणायाम कहा जाता है। जिसको यत मन वाले योगियों ने समस्त शास्त्रों में कहा है। बाह्य निःश्वास को ही रेचक कहते हैं और उसका निरोध कर लेना ही पूरक होता है, साम्य से जो संस्थिति होती है। उसे कुम्भक कहा जाता है।[2]

शिव पुराण में प्राणायाम के विषय में कहा गया है कि अपने शरीर में प्रकट की हुई जो वायु है उसको प्राण कहते हैं। उसे रोकना ही उसका आयाम है। उस प्राणायाम के तीन भेद कहे गए हैं– रेचक, पूरक और कुम्भक।[3] नासिका के एक छिद्र को दबाकर या बन्द करके दूसरे से उदरस्थित वायु को बाहर निकालें। इस क्रिया को रेचक कहा गया है। फिर दूसरे नासिका छिद्र के द्वारा बाह्य वायु से शरीर को धौंकनी की भाँति भर लें। इसमें वायु के पूरण की क्रिया होने के कारण इसे 'पूरक' कहा गया है। जब साधक भीतर की वायु को न तो छोडता है, केवल भरे हुए घड़े की भॉति अविचल भाव से स्थित रहता है, तब उस प्राणायाम को कुम्भक नाम दिया जाता

---

१ उत्तमाधयम मध्यत्वात्रिधायं प्रतिपादितः।
य एव द्विविधः प्रोक्तः सगर्भोडगर्भएव च।।३१।
कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक–पं श्री राम जी शर्मा आचार्य, पृ०सं० १०।
२– मात्राद्वादशको मन्दश्च तुर्विशति मात्रकः।
मध्यानः प्राणसंरोधः षट्त्रिशंन्मात्रिकोडन्तकः।।
–कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, वही पृ० सं० १०।
३– संक्षिप्त शिव पुराण, स० हनुमान प्रसाद पोद्दार, वही पृ० सं० ६६७

हैं। योग के साधक को चाहिए कि वह रेचक आदि तीनों प्राणायाम को न तो बहुत जल्दी–जल्दी करें और न बहुत देर से करें। साधना के लिए उद्यत हो क्रम–योग से उसका अभ्यास करें। रेचक आदि में नाडी शोधन पूर्वक जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, उसे स्वेच्छा से उत्क्रमण पर्यन्त करते रहना चाहिए–यह बात योग शास्त्र में बताई गई है। कनिष्ठ आदि के क्रम से प्राणायाम चार प्रकार का कहा गया है। मात्रा और गुणों के विभाग–तारतम्य से ये भेद बनते हैं। चार भेदो में से जो कन्यक या कनिष्ठ प्रणायाम है यह प्रथम उद्घात[1] कहा गया है इसमें बारह मात्राएँ होती हैं। मध्यम प्राणायाम द्वितीय उद्घात है, उसमें चौबीस मात्राएं होती हैं। उत्तम श्रेणी का प्राणायाम तृतीय उद्घात् हैं, उसमें छत्तीस मात्राएं होती हैं। उससे भी श्रेष्ठ जो सर्वोष्कृष्ट चतुर्थ[2] प्राणायाम है, वह शरीर में स्वेद और कम्प आदि का जनक होता है।[3]

योगी के अन्दर आनन्दजनित रोमाञ्च, नेत्रों से अश्रुपात जल्प भ्रान्ति और मूर्च्छा आदि भाव प्रकट होते हैं। घुटने के चारों ओर प्रदक्षिण–क्रम से न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे धीरे चुटकी बजाएँ घुटने की परिकमा में इतनी देर तक एक चुटकी बजती है, उस समय का मान एक मात्रा है। मात्राओं को क्रमशः जानना चाहिए। उद्घात क्रम योग से नाड़ी शोधन पूर्वक प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम के दो भेद बताए गए हैं।– अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और जप तथा ध्यान के सहयोग पूर्वक किए जाने वाले प्राणायाम को सगर्भ कहते हैं अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक उत्तम है। इसलिए योगी जन प्रायः सगर्भ प्राणायाम किया करते हैं। प्राणविजय से ही शरीर की वायुओं पर विजय पाई जाती

१– उद्घात का अर्थ नाभिमूल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिणाम है। –संक्षिप्त शिव पुराण, सं०–हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ० सं० ६६७

२– योग सूत्र में चतुर्थ प्राणायाम का परिचय इस प्रकार दिया गया है। "बाह्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर विषयों को फेंकने वाला प्राणायाम चतुर्थ है।

३– संक्षिप्त शिव पुराण वही, पृ०स० ६६७

है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग , कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये दस प्राणवायु हैं। प्राण प्रयाण करता है, इसलिए इसे प्राण कहते हैं। जो कुछ भोजन किया जाता है, उसे जो वायु नीचे ले जाती है उसको अपान कहते हैं। जो वायु सम्पूर्ण अड्.गों को बढ़ाती हुई उनमें व्याप्त रहती है, उसका नाम व्यान है। जो वायु मर्मस्थानों को उद्वेलित करती है, उसकी 'उदान' संज्ञा है। जो वायु सब अड्.गों को समभाव ले चलती है, वह अपने उस समनयन रूप कर्म से 'समान' कहलाती है। मुख से कुछ उगलने में कारण भूत वायु को 'नाग' कहा गया है। ऑख खोलने के व्यापार में 'कर्म' नामक वायु की स्थिति है। छींक में 'कृकल' और जँभाई में 'देवदत्त' नानक वायु की स्थिति है। 'धनंजय' नामक वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। वह मृतक शरीर को भी नहीं छोड़ती है। क्रम से अभ्यास मे लाया हुआ यह प्राणायाम जब उचित प्रमाण या मात्रा से युक्त हो जाता है, तब वह कर्त्ता के सारे दोषों को दग्ध कर देता है और उसके शरीर की रक्षा करता है।[1]

प्राण पर विजय प्राप्त हो जाय तो उससे प्रकट होने वाले चिन्हों को भली प्रकार से जानें। पहली बात तो यह होती है कि विष्ठा, मूत्र और कफ की मात्रा घटने लगती है, अधिक भोजन करने की शक्ति हो जाती है और विलम्ब से साँस चलती है। शरीर में हल्कापन आता है। शीघ्र चलने की शक्ति प्रकट होती है। हृदय में उत्साह बढ़ता है। स्वर में मिठास आती है। समस्त रोगों का नाश हो जाता है। बल, तेज और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। घृति, मेद्या, भुवापन, स्थिरता, प्रसन्नता आती है। तप प्रायश्चित, या, दान और व्रत आदि जितने भी साधन हैं—ये प्राणायाम की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं है।[2]

१— संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० सं० ६६८
२— संक्षिप्त शिव पुराण, वही।

पातञ्जल योग के अष्टाड्.ग योग मे वर्णित आठ अड्.गो में यन, नियम, आसन ओर प्राणायाम की पुराण वार विशद व्याख्या करने के पश्चात अष्टाड्.ग योग के पंचन अड्.ग प्रत्याहार की चर्चा की जाएगी। प्रत्याहा॰ क्या है? प्रत्याहार को इन आठ अड्.गों में क्यों गिना गया है? या प्रत्याहार की आवश्यकता समाधि में क्यों है? इन सबके विषय में पुराणवार विशद विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है–

मार्कण्डेय पुराण में प्रत्याहार के बारे में कहा गया है कि दृष्टि नासिका के अग्र भाग में स्थिर करे, वह इधर–उधर विचलित न हो। योगाभ्यासी व्यक्ति उस समय रजोगुण के द्वारा तमोगुणी वृत्ति का और सत्व गुण के द्वारा राजसिक वृत्ति का निरास कर केवल मात्र निर्मल तत्व में अवस्थान करता हुआ योग साधन करे। समवाय क्रम से इन्द्रियों और उनके विषयों को तथा मन और प्राणादि वायुओं को वशीभूत करके, कछुआ जिस प्रकार अपने सब अड्.गों को बटोर लेता है उसी प्रकार प्रत्याहार की साधना करनी चाहिए। इस प्रकार काम समूह को प्रत्याहार कर केवल आत्मा में ही लौ लगा देने से आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन होता है। विचक्षण योगाभ्यासी को कण्ठ से लेकर नाभि पर्यन्त बाह्य और अभ्यान्तरिक देह की शुद्धि करके प्रत्याहार की साधना करनी चाहिए। (१) मार्कण्डेय पुराण मे बताया गया है कि इन्द्रिय, प्राण आदि और मन को उनके विषयों से हटाकर प्रत्याहार का आरम्भ करें। अपने मन को संयम में रखने वाले योगी पुरुष शब्दादि विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियों को उनकी ओर से भोग द्वारा प्रत्याहृत–निवृत्त करते हैं, इसलिए यह प्रत्याहार कहलाता है।[१]

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, कल्याण–कार्यालय
गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० सं० १२६

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड में रोधन करने को ही प्रत्याहार कहा गया है। जबकि गरुड पुराण के द्वितीय खण्ड में प्रत्याहार के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि अपनी समस्त इन्द्रियों के विषयों से प्राणादि को एव मन का पूर्णतया निगृहीत करके समवाय के द्वारा प्रत्याहार क्रम से करना चाहिए। जबकि ब्रह्म पुराण में मात्र आसन और प्राणायाम की ही चर्चा की गई है शेष यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की चर्चा उक्त पुराण में कही भी उपलब्ध नही हैं।

विष्णु पुराण में प्रत्याहार के बारे में बताया गया है कि प्राणायाम के पश्चात प्रत्याहार का अभ्यास करते हुए शब्दादि विषयों में अनुरक्त हुई अपनी इन्द्रियों को रोककर अपने चित्त की अनुगामिनी बनाता है। ऐसा करने से अत्यन्त, चञ्चल इन्द्रियॉ उसके वशीभूत हो जाती हैं। इन्द्रियों को अपने वश में किए बिना कोई योगी योग–साधना नहीं कर सकता। इस प्रकार प्राणायाम से वायु और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वशीभूत करके चित्त को उसके शुभ आश्रय में स्थित करें।[1]

गायत्री पुराण में कहा गया है कि योग का पाँचवा अड्.ग प्रत्याहार है। इसका अर्थ है इन्द्रियों को वश में करना। इन्द्रियॉ बाह्य विषयों की ओर दौड़ती हैं। योगी जन उन्हें उन–उन विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी रखने का अभ्यास करते हैं क्योंकि जब तक इन्द्रियॉ बाह्यमुखी रहती हैं, तब तक अपने–अपने विषयों के आस्वाद की इच्छा रखती हैं, जिससे मनुष्य के मन, प्राण और शरीर स्वच्छ नहीं हो पाते। ईश्वर प्रणिधान में यह इन्द्रियाँ बहुत बड़ी बाधा है।[2] मत्स्य पुराण में आष्टाड्.ग योग के किसी भी अड्.ग की चर्चा नहीं की गई है। भविष्य पुराण में प्रत्याहार के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रत्याहार से संसर्ग जनित दोष दूर हो जाते हैं।[3] शिव पुराण में अष्टाड्.ग योग

१– पराशर मुनि प्रणीत श्री श्री विष्णु पुराण, स०–पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ५३१

२– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, प्रकाशक, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेदनगर, बरेली, पृ० सं० १६

३– संक्षिप्त भविष्य पुराणाक्ङ, व्यवस्थापक–कल्याण कार्यालय, पत्रालय गीता प्रेस, गोरखपुर पृ०सं० १४४

के पॉचवे अड्.ग प्रत्याहार के विषय में बताया गया है कि अपने–अपने विषय में आसक्त हुई इन्द्रियों को वहॉ से हटाकर जो अपने अन्दर निगृहीत करता है, उस साधन को प्रत्याहार कहते हैं। मन और इन्द्रियॉ ही मनुष्य को स्वर्ग तथा नरक में ले जाने वाली हैं। यदि उन्हें वश में रखा जाय तो वे स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं और विषयों की ओर खुली छोड दिया जाय तो वे नरक में डालने वाली होती हैं। इसलिए सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह ज्ञान वैराग्य का आश्रय ले। इन्द्रिय रूपी अश्वों को शीघ्र ही काबू में करके स्वयं ही आत्मा का उद्धार करें।[१]

पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित अष्टाड्.ग योग का छठा अड्.ग धारणा हैं धारणा के विषय में मार्कण्डेय पुराण में बताया गया है कि जिसके द्वारा मन को धारण किया जाय, वह धारणा कहलाती है। धारणा दो प्रकार की होती है। तत्वदर्शी योगियों ने भी योगाभ्यास में दो ही प्रकार की धारणा का उल्लेख किया है। नियतात्मा होकर योगाभ्यास करने से योगी के समस्त दोष मिट जाते हैं, शान्ति लाभ होता है, प्राकृत गुण पृथक रूप से दिखाई देते हैं, परब्रह्म का दर्शन होता है। मार्कण्डेय पुराण में पृथ्वी आदि सात प्रकार की सूक्ष्म धारणाएं बताई गई हैं जिन्हें योगी मस्तक में धारण करता हैं। सबसे पहले पृथ्वी की धारणा है उसे धारण करने से योगी को सुख प्राप्त होता है वह अपने को साक्षात् पृथ्वी मानता है। अतः पार्थिव विषय गन्ध का त्याग कर देता है। इसी प्रकार वह जल की धारणा से सूक्ष्म रस का, तेज की धारणा से सूक्ष्म रूप का, वायु की धारणा से स्पर्श का और आकाश की धारणा से सूक्ष्म प्रवृत्ति तथा शब्द का त्याग करता है। जब अपने मन से धारणा के द्वारा सम्पूर्ण भूतों के मन में प्रवेश करता है, तब उस मानसी धारणा को धारण करने के कारण उसका मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इसी प्रकार योगवेत्ता पुरुष सम्पूर्ण जीवों की वृद्धि में प्रवेश करके परम उत्तम सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त करता है और फिर उसे त्याग देता है।

१–संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक – हनुमान प्रसाद पोद्दार पृष्ठ सं० ६६८

जो योगी इन सात सूक्ष्म धारणाओं का अनुभव करके उन्हें त्याग देता है, उसको इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता। जितात्मा पुरुष क्रमशः इन सातों धारणाओं के सूक्ष्म रूप को देखे और त्याग करता जाये। ऐसा करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त होता है। योगी पुरुष जिस–जिस भूत में राग करता है, उसी–उसी में आसक्त होकर नष्ट हो जाता है। इसलिए इन समस्त सूक्ष्म भूतों को परस्पर संसक्त जानकर जो इन्हे त्याग देता है, उसे परमपद की प्राप्ति होती है। पाँचो भूत और मनवृद्धि के इन सातों सूक्ष्म रूपो का विचार कर लेने पर उनके प्रति वैराग्य होता है, जो सद्भाव का ज्ञान रखने वाले पुरुष की मुक्ति का कारण बनता है। जो गन्ध आदि विषयों में आसक्त होता है, उसका विनाश हो जाताा है और उसे बार बार संसार में जन्म लेना पडता है। योगी पुरुष इन सातों धारणाओं को जीत लेने के बाद यदि चाहे तो किसी भी सूक्ष्म भूत में लीन हो सकता है। देवता, असुर, गन्धर्व, नाग और राक्षसों के शरीर में वह भी लीन हो जाता है।[1]

गरुड पुराण के प्रथम खण्ड में योग दर्शन के अष्टाड्.ग योग छठे अड्.ग 'धारणा' के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म विवरण ही प्राप्त होता है। यहाँ पर मन की वृत्ति को ही धारणा बताया गया है।[2] द्वितीय खण्ड में बताया गया है जब अट्ठारह प्राणायाम किये जाते हैं तो धारणा विहित होती है। तत्व के जानने वाले योगियों के द्वारा इस प्रकार से दो धारणाओं को ही योग कहा गया है।[3] पहले नाड़ी में, फिर हृदय में और तीसरी, उर स्थल में कण्ठ में, मुख में, नासिका के अग्रभाग में, नेत्र में भ्रूमध्य और मूर्धा में कुछ उससे परे में, उस प्रकार से धारणा दस प्रकार की है जिससे योगाभ्यास

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणाड्.क कल्याण–कार्यालय गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

२– गरुड़ पुराण, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ०सं० १३४

३– प्राणायामा दशाष्टौ च धारणा स विधीयते।
द्वे धारणे स्मृतो योगो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।। –गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, पृ०सं० १६३ श्लोक सं० २०

करने वाला अक्षर रूपता को प्राप्त होता है। ब्रह्म पुराण में धारणा के विषय में कोई विशेष तथ्य प्राप्त नहीं होता किन्तु आसन और प्राणायान के विषय में चर्चा अवश्य मिलती हैं। विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि चित्त का सात्विक वृत्ति को किसी बाहरी या भीतरी प्रदेश में लगाना 'स्थापित करना' धारणा है।[2] इसके विषय में बताया गया है कि भगवान का मूर्त रूप चित्त को अन्य आलम्बनों से निःस्पृह कर देता है। इस प्रकार चित्त का भगवान में स्थिर करना ही धारणाा कहलाती है।[3] विष्णु पुराण में कहा गया है कि धारणा बिना किसी आधार के नहीं हो सकती। इसलिए भगवान के जिस मूर्त रूप का जिस प्रकार से ध्यान करना चाहिए उसके विषय में बताया गया है कि जो प्रसन्न वदन और कमल दल के समान सुन्दर नेत्रों वाले हैं, सुन्दर कपोल और विशाल भाल से अत्यन्त सुशोभित हैं और अपने, सुन्दर कानों में मनोहर कुण्डल पहने हुए हैं, जिनकी ग्रीवा शंख के समान और विशाल वक्ष स्थल श्रीवत्स चिन्ह से सुशोभित है, जो तरंगाकर त्रिवली और नीची नाभि वाले उदर से सुशोभित हैं, जिनकी लम्बी लम्बी आठ अथवा चार भुजाएं हैं तथा जिनके जंघा एवं उरू समान भाव से स्थित हैं और मनोहर चरणाविन्द सुघरता से विराजमान हैं, उन निर्मल पीताम्बर धारी ब्रह्म स्वरूप भगवान विष्णु का चिन्तन करें। किराट, हार, केयूर और कटक आदि आभूषणों से विभूषित, शार्ङ्.ग–धनुष, शंख, गदा, खड्ग, चक्र और अक्षमाला से युक्त वरद और अभय हाथों वाले (तथा अंगुलियों में धारण की हुई) रत्नमयी मुद्रिका

१– प्राङ्नाड्यां हृदये चात्र तृतीया चा तथोरसि।
कंण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्यमूर्धसु ।। २१।।

२– किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दशधा स्मृता
दशैता धारणाः प्राप्य प्राप्नोत्यक्षररूपताम्।।२२।।

३– यथाग्निरग्नौ संक्षिप्त स्तथात्मा परमात्मानि।
ब्रह्मरूप महापुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत्।।२३।।

गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ०सं० १६४

से शोभायमान भगवान के दिव्यरूप का योगी को अपना चित्त एकाग्र करके तन्मय भाव से तब तक चिन्तन करना चाहिए जब तक यह धारणा दृढ़ न हो जाय। जब चलते फिरते, उठते बैठते या स्वेच्छानुकूल कोई और कर्म करते हुए भी ध्येय मूर्ति अपने चित्त से दूर न हो तो इसे सिद्ध हुई माननी चाहिए। इसके दृढ़ होन पर बुद्धिमान व्यक्ति शंख, चक्र, गदा और शार्ग्ड आदि से रहित भगवान के स्फतिकाक्ष माला और यज्ञोपवीत धारी शान्त स्वरूप का चिन्तन करें जब यह धारणा भी पूर्ववत स्थिर हो जाये तो भगवान के किरीट, केयूर आदि आभूषणों से रहित रूप का स्मरण करें।[1] विष्णु पुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार वायु सहित अग्नि ऊँची ज्वालाओं से युक्त होकर शुष्क तृण समूह को जला डालता है, उसी प्रकार चित्त में स्थित हुए भगवान विष्णु योगियों के समस्त पाप नष्ट कर देते हैं। इसलिए सम्पूर्ण शक्तियों के आधार भगवान विष्णु में चित्त को स्थिर करें, यही शुद्ध धारणा कही गयी है।

गायत्री पुराण में धारणा के विषय में कहा गया है कि योग का छठा अङ्.ग धारणा है। अर्थात् चित्त की वृत्ति यदि नासाग्र पर टिक जाय, तो वह उस अङ्.ग की धारणा कही जाती है। योगी जन चित्त वृत्ति को भौहों के मध्य में, नासाग्र में, हृत्कमल में, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र अथवा देव–स्वरूप में स्थिर करने का अभ्यास करते हैं। किसी देव प्रतिमा पर धारण करने से भी प्रत्याहार के अभ्यास में सरलता रहती है। वस्तुतः धारणा ध्यान की ही आरम्भिक किया है। धारणा सुदृढ़ होने पर ध्यान में दृढ़ता आती है।

मत्स्य पुराण के प्रथम खण्ड में योग दर्शन में से मात्र कर्म योग की ही चर्चा की गई हैं जबकि मत्स्य पुराण के द्वितीय खण्ड में योग के किसी भी अङ्.ग की चर्चा नहीं की गई है।

भविष्य पुराण में 'धारणा' के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि धारणा के द्वारा पूर्वजन्मार्जित कर्म तथा वर्तमान तक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। अङ्.गों की चर्चा अत्यन्त वृहद्

१– पराशर मुनि प्रणीत, श्री श्री विष्णु पुराण, सम्पादक आचार्य राम जी शर्मा पृ०सं० ५३५

रूप नें की गई है। धारणा के बारे में कहा गया है कि हृदय कमल में अथवा नाभि में मूर्द्धा पर्वों में–मस्तक में एवमादि स्थलों में चित्त के बन्धन को धारणा कहते हैं।[1] शिव पुराण में धारणा के विषय में बताया गया है कि चित्त को किसी–स्थान विशेष में बाँधना–किसी ध्येय विशेष में स्थिर करना ही धारणा है। एक मात्र शिव ही स्थान है। दूसरा नही, क्योंकि दूसरे स्थानो में त्रिविध दोष विद्यमान हैं। किसी नियमित काल तक स्थन स्वरूप शिव में स्थापित हुआ मन जब लक्ष्य से च्युत न हो तो धारणा की सिद्धि समझना चाहिए, अन्यथा नहीं। मन पहले धारणा से ही स्थिर होता है, इसलिए धारणा के अभ्यास से मन को धीर बनाया जा सकता है।[2]

पातञ्जल योग दर्शन मे वर्णित अष्टाड्.ग योग का सातवॉ अड्.ग ध्यान है। गरुड पुराण के प्रथम खण्ड में ध्यान के विषय में बतलाया गया है कि ब्रह्मात्म चिन्तन करने को ही ध्यान कहते हैं।[3] यानि योग साधना की सिद्धि हेतु ईश्वर का ध्यान अपरिहार्य है। यहॉ पर उल्लिखित है कि व्रत, आचार, अर्चना, ध्यान, स्तुति और जाप्य में तत्पर स्वायम्भुव आदि मुनिगण कर्म के द्वारा भगवान श्री हरि का ध्यान करते हैं। वह हरि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहड्.कार से वर्जित है। पृथ्वी से रहित है, आकाश से हीन तथा तेज से विहीन है। जल से रहित और उसके धर्म से परिवर्जित है एवं समस्त भूतों से रहित है।[4]

१– हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूध्निपर्वसु मस्तके। एवमादिषु देशषुधारणाचित्तबन्धनम्।।
–कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, अनुवादित पृ० सं० १०२, श्लोक सं० ३६

२– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ०सं० ६६८

३– ब्रह्मात्माचिन्ता ध्यानं स्नादधारणा मनसो धृतिः।
अहं बृह्येत्यवस्थानं समाधिब्रह्मणः स्थितिः
–गरुड़ पुराण प्रथम खण्ड, पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य, पृ०सं० १३३, ३५

४– स्वायम्भुवाद्यामुनयो हरिं ध्यायन्ति कर्मणा।
व्रताचारार्चनाध्यानस्तुतिजप्य परायणाः।।
देहेन्द्रियमनोबुद्धि प्राणाहंड्.कारवर्जितम्।
आकाशेन विहीनं वै तेजसा परिवर्जितम्।। –**गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ०सं० ३०४, श्लोक सं० १ व २**

गरुड़ पुराण मे ध्यान का सबसे अच्छा साधन श्री हरि को बताया गया है क्योंकि वे साक्षात् योगी का स्वरूप थे। उनके योगी होने के स्वरूप का चित्रण पद्म पुराण के श्री हरि ध्यान महात्म्य स्पष्ट किया गया है। श्री हरि सम्पूर्ण भूतों के अध्यक्ष, वृद्ध, नियन्ता–प्रभु–विभु चैतन्य रूपता के रूप वाले–सबके अधिपति और निरंजन हैं मुक्त संग, बलि–महेशान और समस्त देवों के द्वारा प्रपूजित हैं। हरि तेज रूप वाले, असत्व और तप से परिवर्जित रजोगुण से रहित और तीनों गुणों से व्यतिरिक्त हैं। सब प्रकार के रूपों से विहीन और हरि कर्त्तृव्य आदि से विवर्जित हैं। वे वासना से रहित हैं। सम्पूर्ण दोषों से विवर्जित, प्यास से रहित और सतत् शोक से वर्जित है।[1]

भगवान वृद्धावस्था और मरण से रहित कूटस्थ मोह से वर्जित उत्पत्ति से रहित और प्रलय से वर्जित हैं। सम्पूर्ण जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं से वर्जित है, अर्थात जाग्रति आदि कोई भी अवस्था उसमें नहीं होती है। जाग्रद आदि के अध्यक्ष हैं। शान्त स्वरूप हैं और सुरों के ईश्वर हैं– जाग्रत आदि में स्थित, नित्य कार्य और कारण से वर्जित हैं। भगवान सर्वदृष्ट मूर्त सूक्ष्म तथा परम सूक्ष्मतर हैं। ज्ञान, दृक, और श्रोत्र के विज्ञान वाले परमानन्द के स्वरूप से समन्वित हैं। वे हरि विश्व से रहित और तैजस से विवर्जित, प्राज्ञ से रहित एवं तुरीय तथा परमाक्षर हैं। सबके गोप्ता सभी के हन्ता और समस्त भूतों के आत्म रूपी बुद्धि, धर्म से विहीन, निराधार शिव हैं।[2]

८ भगवान समस्त प्रकार की विक्रियाओं से रहित हैं तथा वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य हैं, वेदों के स्वरूप वाले, पर–भूत, इन्द्रियों की पहुँच से परे एवं शुभ स्वरूप वाले हैं। वे शब्द से, रस से,

---

१– वासनारहितं शुद्धं सर्वदोषविवर्जितम्।
पिपासावर्जितं तत्तच्छोकमोहविवर्जितम्।। –गरुड पुराण, प्रथम खण्ड, प० श्री राम जी शर्मा आचार्य
श्लोक ३०४, श्लोक स० ७

२– जरामरणहीनं वै कूटस्थ मोहवर्त्तिम्।
उत्पत्ति रहितञ्चैव प्रलयेन विवर्जितम्।।८।।
सर्वाबारहीनं सत्यं निष्कल परमेश्वरम्।
जाग्रत्स्वप्न सुषुपत्यादिवर्जित नामवर्जितम्।।
– – – –निराधार शिव हरिम्।।१३ –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ०सं० ३०५ (८–१३)

स्पर्श से रहित देव हैं। केवल रूप से रहित हैं। रूप, गन्ध से परिवर्जित हैं, अनादि हैं, ब्रह्म–रन्ध्र के अन्त और अह कवल ब्रह्म हूँ, ऐसे स्वरूप वाले हैं।[1] गरुड पुराण से पता चलता है कि जितेन्द्रिय हरि का ज्ञान एवं ध्यान करना चाहिए। जो इस विधि से ध्यान करता है वह मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है।[2]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड से यह भी ज्ञात होता है कि हरि का ध्यान करने मात्र से ही माया–तन्त्र का विमर्दन हो जाता है। वह हरि का ध्यान मूर्त्त ध्यान एवं अमूर्त्त ध्यान इन भेदों से दो प्रकार का होता है। यहाँ पर उल्लिखित है कि कुन्द के पुष्प और गाय के समान दुग्ध के धवल वर्ण वाले हरि का ध्यान मुक्ति की इच्छा करने वालों को करना चाहिए। हरि का स्वरूप विशाल एवं परम सौम्य शंख से समन्वित है। यहाँ पर बताया गया है कि भगवान का मूर्ति स्वरूप महामुनियों के द्वारा ध्यान करने के योग्य है–असुरों के द्वारा भी ध्यान करने योग्य है और देवों के द्वारा भी ध्येय है।[3] सम्पूर्ण जगत का ध्यान रखने वाले भगवान विष्णु का जो लोग रीतिबद्ध होकर

१– विक्रियारहितञ्चैव वेदान्तैर्वेद्यमेव च।
वेदरूप परं भूत्तमिद्रियेयः परं शुभम्।।
शब्देन वर्जितञ्चेव रथेन च विवर्जितम्।
स्पर्शेन रहितं देवं रूपपात्रविवर्जितम्।।
रूपेण रहितञ्चैव बन्धेन परिवर्जितम्।
अनादि ब्रह्मरन्धान्तमहं ब्रह्मास्मि केवलम्।।
–गरुड़ पुराण, प० श्री राम शर्मा आचार्य, प्रथम खण्ड, पृ०सं० ३०६ श्लोक १४, १५, १६

२–एवं ज्ञात्वा महादेव ध्यानं कुर्याज्जितेन्द्रियः
ध्यानं य कुरुते ह्येवं स भवेद् ब्रह्म मानवः।।
–गरुड पुराण, वही, श्लोक स० १७

३– प्रवक्ष्यामिहर्ध्यान मायातन्त्र विमर्दकम्।
भूर्त्तामूर्त्तादिभेदेन तद्ध्यानं द्विविधं हर।।
कुन्दगोक्षीरधवलो हरिर्ध्येयो मुमुक्षुभिः।
विशालेन सुसौम्येन शखङ्केन च समन्वितः।।
मुनिध्येयोऽसुरध्येयो देवध्येयोऽतिसुन्दरः।
–गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ०सं० ३०७, ३०८

ध्यान करते हैं, वे परमोत्तम गति को प्राप्त होते है।

ब्रह्म पुराण में से ज्ञात होता है कि किसी विषय या वस्तु पर इन्द्रियों को केन्द्रित करना ही ध्यान कहलाता है। यहाँ पर भी ईश्वर के ध्यान पर बल देते हुए कहा गया है कि योगी जन ईश्वर का ध्यान करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। योग का सबसे प्रमुख कर्त्तव्य ध्यान ही है जिसे योगियों का सबसे बडा बल कहा जा सकता है। योग विद्या के ज्ञाता मन की एकाग्रता और प्राणायाम यानि इन्हीं दो को ध्यान बतलाया है। योगी को सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग करके मिताहारी और जितेन्द्रिय होना चाहिए। उसे रात्रि के पहले और पिछले भाग में मन को परमात्मा में लगाकर अन्तः करण में ईश्वर के प्रति ध्यान लगाना चाहिए।[2]

ध्यान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए ब्रह्म पुराण में कहा गया है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन के द्वारा स्थित करके मन को बुद्धि में स्थापित कर दे और पत्थर की भांति अविचल हो जाय, तभी उसे ध्यान एवं योग युक्त कहते हैं। जिस समय उसे सुनने, सूँघने, स्वाद लेने, देखने और स्पर्श करने की अनुभूति नहीं रहती, जब मन में किसी प्रकार का संकल्प नहीं उठता तथा वह काठ की भाँति स्थिर होकर किसी भी वस्तु का अभिमान या सुध–बुध नहीं रखता, उस समय मनीषी पुरूष उस अपने स्वरूप को ध्यान युक्त अथवा योगयुक्त कहते हैं। ध्यान निष्ठ योगी को अपने हृदय में धूमरहित अग्नि, किरण मालाओं से मण्डित सूर्य तथा विद्युत के प्रकाश की भाँति तेजस्वी आत्मा का साक्षात्कार होता है। धैर्यवान, मनीषी, वेदवेत्ता और महात्मा बाह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृत स्वरूप ब्रह्म का दर्शन कर पाते हैं।[3]

१– तस्मात्वमपि देवेश विष्णुं चिन्तय शड्.कर।
विष्णुध्यानं पठेद्यस्तु प्राप्नोति परमां गतिम्।।
–गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, स०–पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ३०६ श्लोक सं० १८

२– मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क कल्याण संक्षिप्त, इक्कीसवें वर्ष का विशेषांक, गोरखपुर, पृ०स० ५६६

३– मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणाड्.क वही, पृ०सं० ५६६

विष्णु पुराण में बताया गया है कि ईश्वर का ध्यान करते समय परमेश्वर के रूप की ही प्रतीति होती है, ऐसी जो विषयान्तर की स्पृहा से रहित एक अनवरत धारा है, उसे ही ध्यान कहते हैं। यह अपने पूर्व यम–नियमादि छः अङ्गों से निष्पन्न होता है। उस ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान के भेद से रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है।[1]

गायत्री पुराण में योग का सातवॉ अड्.ग ध्यान बतलाया गया है कि जहॉ चित्त को स्थिर रूप से ठहराया जाय, वहॉ उसकी वृत्ति का समान रूप से ठहरे रहना ही ध्यान है। धारणा में ध्येय के रूप वाली स्थिर वृत्ति की ही ध्यान संज्ञा बनती है अर्थात् निरन्तर ध्येय का बना रहना ही ध्यान है। ध्यान का अधिक अभ्यास ही साधक को समाधि की अवस्था में पहुँचा सकता है।[2] भविष्य पुराण में अष्टाड्.ग योग में से मात्र प्राणायाम, प्रत्याहार तथा ध्यान के विषय में बतलाया गया है। कि संसर्ग जनित दोष एवं ध्यान से जैविक दोषों को त्याग कर ईश्वरीय गुणों को प्राप्त करना चाहिए।[3] कूर्म पुराण में बताया गया है कि देश की स्थिति का अवलम्ब ग्रहण करके ऊपर की ओर जो वृत्ति की सन्तति है, जो कि प्रत्यन्तरों में न हो वही ध्यान होता है।[4]

शिव पुराण के अन्तर्गत ध्यान में 'ध्येयचिन्तायाम्' धातु माना गया है। इसी धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर ध्यान की सिद्धि होती है। अतः विक्षेप रहित चित्त से जो शिव का बारम्बार चिन्तन किया जाता है उसी का नाम ध्यान है। ध्येय में स्थित हुए चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्रीश्री विष्णु पुराण, प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ५३५

२– गायत्री पुराण, सम्पादक डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० २०

३– संक्षिप्त भविष्य पुराणांक संख्या १ कल्याण संक्षिप्त भविश्य पुराणाड्.क, व्यवस्थापक कल्याण कार्यालय,पत्रालयगीता प्रेस, गोरखपुर पृ०सं० १४४

४– देशावस्थिति मागम्ब्यऊद्ध्र्वयावृत्ति सन्ततिः।
प्रत्यन्तरैरसृष्टायातद्ध्यानं सूरयोविदुः।।४०।। –कूर्म पुराण, प० श्री राम शर्मा आचार्य, पृ०सं० १०२

होती है और बीच मे दूसरी वृत्ति अन्तर नहीं डालती उस ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह रूप से बना रहना 'ध्यान' कहलाता है।[1] सब वस्तुओं को छोडकर केवल कल्याणकारी परम देव देवेश्वर शिव का ही ध्यान करना चाहिए। ये ही सबके परम ध्येय हैं। ये दोनों शिवा और शिव सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त है। श्रुति, स्मृति एवं शास्त्रों से यह सुना गया है कि शिवा और शिव सर्वव्यापक, सर्वदा उदित, सर्वज्ञ एवं नाना रूपों से निरन्तर ध्यान करने योग्य है इस ध्यान के दो प्रयोजन जानना चाहिए। पहला है मोक्ष और दूसरा प्रयोजन है अणिमा आदि सिद्धियों की उपलब्धि। ध्याता, ध्यान और ध्येय प्रयोजन–इन चारों को अच्छी तरह जान कर योगवेत्ता पुरुष योग का अभ्यास करें। जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न श्रद्धालु, क्षमाशील, ममतारहित तथा सदा उत्साह रखने वाला है ऐसा ही पुरुष ध्याता कहा गया है अर्थात् वही ध्यान करने में सफल हो सकता है।[2]

शिव पुराण में उल्लिखित है कि साधक को चाहिए कि वह जप से थकने पर फिर ध्यान करे और ध्यान से थक जाने पर पुनः जप करे। इस तरह जप और ध्यान में लगे हुए पुरुष का योग जल्दी सिद्ध होता है। बारह प्राणायामों की एक धारणा होती है। बारह धारणाओं का ध्यान होता है।[3] कुछ लोग मन की स्थिरता के लिए स्थूल रूप का ध्यान करते हैं। स्थूलरूप के चिन्तन में लगकर जब चित्त निश्चल हो जाता है, तब सूक्ष्म रूप में वह स्थिर होता है। भगवान शिव का चिन्तन करने पर सब सिद्धियॉ प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती हैं। अन्य मूर्तियों का ध्यान करने पर भी शिव रूप का अवश्य चिन्तन करना चाहिए। जिस–जिस रूप में मन की स्थिरता लक्षित हो, उसका बारम्बार ध्यान करना चाहिए। ध्यान पहले सविषय होता है, फिर निर्विषय़ होता है–ऐसा ज्ञानी पुरुषों का कथन है। इस विषय में कुछ सत्पुरुषों का मत है कि कोई भी ध्यान निर्विषय होता ही नहीं। बुद्धि की ही कोई प्रवाह रूपा सन्तति 'ध्यान' कहलाती है, इसलिए निर्विषय बुद्धि केवल

१– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ०सं० ६६८
२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही पृ०सं० ६६६
३– संक्षिप्त शिव पुराण, वही

निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही प्रवृत्त होती है। अतः सविषय ध्यान प्रातः काल के सूर्य की किरणों के समान ज्योति का आश्रय लेने वाला है तथा निर्विषय ध्यान सूक्ष्म् तत्त्व का अवलम्दन करने वाला है। इन दो के सिवा और कोई ध्यान वास्तव में नहीं है अथवा सविषय ध्यान साकार स्वरूप का अवलम्बन करने वाला है तथा निराकार स्वरूप का जो बोध या अनुभव है, वही निर्विषय ध्यान माना गया है। वह सविषय और निर्विषय ध्यान क्रमशः सबीज और निर्बीज कहा जाता है। निराकार का आश्रय लेने से उसे निर्बीज और साकार का आश्रय लेने से सबीज की संज्ञा की गई है। अतः पहले सविषय या सबीज ध्यान करके अन्त में सब प्रकार की सिद्धि के लिए निर्विषय अथवा निर्बीज ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम करने से क्रमशः शान्ति आदि दिव्य सिद्धियॉं सिद्ध होती हैं। उनके नाम हैं– शांति, प्रशांति, दीप्ति और प्रसाद। समस्त आपदाओं के शमन को ही शांति कहा गया है।[१]

ध्याता, ध्यान और ध्यान प्रयोजन इन चारों को जानकर ध्यान करने वाला पुरूष ध्यान करें। जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न हो, सदा शान्तचित्त रहता हो, श्रद्धालु हो और जिसकी बुद्धि प्रसाद गुण से युक्त हो, ऐसे साधक को ही सत्पुरुषों ने ध्याता कहा है। 'ध्यैचिन्तायां' यह धातु है जिसका अर्थ है चिन्तन। भगवान शिव का बारम्बार चिन्तन ही ध्यान कहलाता है। जैसे थोड़ा सा भी योगाभ्यास पाप का नाश कर देता है, उसी तरह क्षणमात्र भी ध्यान करने वाले पुरुष के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। श्रद्धा पूर्वक, विक्षेप–रहित चित्त से परमेश्वर का जो चिन्तन है, उसी का नाम 'ध्यान' है। बुद्धि के प्रवाहरूप ध्यान का जो आलम्बन या आश्रय है, उसी को साधु पुरूष 'ध्येय' कहते हैं। स्वयं साम्ब सदाशिव ही वह ध्येय हैं। मोक्ष सुख का पूर्ण अनुभव और अणिमा आदि ऐश्वर्य की उपलब्धि–ये पूर्ण शिव ध्यान के साक्षात् प्रयोजन कहे गये हैं। ध्यान से सौख्य और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है। इसलिए मनुष्य को सबकुछ छोड़ कर ध्यान में लग जाना चाहिए।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, पृ० सं० ७०४

बिना ध्यान के ज्ञान नहीं होता और जिसने ध्यान का योग नही किया है, उसका ध्यान नहीं सिद्ध होता। जिसे ध्यान और ज्ञान दोनों प्राप्त हैं, उसने भवसागर को प्राप्त कर लिया है। समस्त उपाधियों से रहित निर्मल ज्ञान और एकाग्रतापूर्ण ध्यान– ये योगाभ्यास से युक्त योगी को ही सिद्ध होते हैं। जिनके सारे पाप नष्ट हो गये हैं उन्हीं की बुद्धि ज्ञान और ध्यान में लगती है। जिनकी बुद्धि पाप से दूषित है उनके लिए ज्ञान और ध्यान की बात अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे प्रज्जवलित हुई आग सूखी और गीली लकड़ी को भी जला देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि शुभ और अशुभ कर्म को भी क्षणभर में दग्ध कर देती है। जैसे बहुत छोटा सा दीपक भी महान अंधकार का नाश कर देता है, उसी तरह थोड़ा सा योगाभ्यास भी महान पाप का विनाश कर डालता है। श्रद्धापूर्वक क्षण भर भी परमेश्वर का ध्यान करने वाले पुरुष को जो महान श्रेय प्राप्त होता है, उसका कहीं अन्त नहीं है।[१]

ध्यान के समान कोई तीर्थ नहीं हैं, ध्यान के समान कोई तप नहीं है। और ध्यान के समान कोई यज्ञ नहीं है।[२] अपने आत्मा एवं परमात्मा का बोध प्राप्त करने के कारण योगी जन केवल जल से भरे हुए तीर्थों देव मूर्तियों का आश्रय नहीं लेते (वे आत्म तीर्थ में अवगाहन करते और आत्मदेव के ही भजन में लगे रहते हैं) जैसे अयोगी पुरुषों को मिट्टी और काठ आदि की बनी हुई स्थूल मूर्तियों का प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह योगियों को ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। जैसे लोक में यह देखा गया है कि बाहरी लोग राज्य के भवन में राजकीय पुरुषोचित फल का उपयोग नहीं कर पाते, केवल अन्तःपुर के भागी लोग ही उस फल के भागी होते हैं, उसी

१– यथा वहिर्न्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्। तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहते क्षणात्।।
ध्यायतः क्षणमात्रं वा श्रद्धयां परमेश्वरम्। यम्दवेत्
सुमहच्छ्रेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते।।
–शिव पुराण वशिष्ठ, सं० उ० खं० ३६/२५, २७ पृ०सं० ७०५

२– नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः।
नास्ति ध्यानरूपो यज्ञस्तस्माद्धयानं समाचरेत्।।
–शिव पुराण वाभिष्ठ, सं०उ० सं० ३६/२८

प्रकार यहां बाह्यकर्मी पुरुष उस फल को नही पाते, जो ध्यान योगियों का सुलभ होता है।[1]

पातञ्जल योग दर्शन में संकलित, अष्टाङ्.ग योग दर्शन का आठवॉ अङ्.ग 'समाधि' है, जिसका पुराणवार विवेचन निम्नवत् है।

गरुड़ पुराण में समाधि के विषय में कहा गया है कि मैं ही ब्रह्म हूँ– इस प्रकार की जो अतस्थिति होने पर ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त हो जाना है, उसे ही समाधि कहा जाता है।[2] दूसरी ओर विष्णु पुराण से पता चलता है कि किसी ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान के भेद से रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है, उसे समाधि कहते हैं। समाधि से भगवत्साक्षात्कार रूप विज्ञान ही प्राप्तव्य परब्रह्म तक पहुँचाने वाला है तथा सम्पूर्ण भावनाओं से रहित एक मात्र आत्मा ही प्रापणीय यानि वहॉ तक पहुँचने वाला है।[3]

तदन्तर गायत्री पुराण में उल्लिखित है कि जिस अवस्था में ध्येय मात्र की ही प्रतीति रहे और चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाय वही ध्यानावस्था समाधि का रूप ले लेती है। वस्तुतः साधक जब ध्यान का आरम्भ करता है तब उसे यह बोध रहता है कि अमुक ध्येय का ध्यान करता हूँ। उस समय उसे धाता, ध्येय और ध्यान तीनों का आभास पृथक–पृथक होता है। किन्तु ध्यान का आभास बढ़ते बढ़ते जो चित्त धाता है, वह ध्येय रूप में बदल जाता है। उस स्थिति में न तो अपने स्वरूप का बोध रहता है और न यही बोध रहता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। केवल ध्येय स्वरूप का ही बोध रहता है। समाधि का यही स्वरूप है। (१) सांसारिक प्राणी यदि योग के

१– सक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पुद्दार, पृ०सं० ७०५

२– ब्रह्मात्माचिन्ता ध्यानं स्याद्धरणा मनसो धृतिः।
अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिर्ब्रह्मणः स्थितिः।।
गरूड पुराण, प्रथम खण्ड, सम्पादक–प० श्री श्री रामजी शर्मा, पृ०सं० १३३ श्लोक संख्या ३५

३– पराशर मुनि प्रणीत श्री श्री विष्णु पुराण, पृ०स० ५३५

४– गायत्री पुराण, अनुवादित, डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० २०, २१

द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहे तो उसे ब्रह्म के निर्विकार रूप में आस्था रखकर साकार रूप का ध्यान सरल होता है। उसी पर ब्रह्न की परा विद्या महाशक्ति के अनेक रूप हे, उनमें एक रूप गायत्री संज्ञक भी है। उसी गायत्री को सावित्री भी कहते हैं। उसका ध्यान परम कल्याणकारी है।

शिव पुराण में समाधि को योग का अन्तिम अड्.ग बताया गया है। जिसके विषय में वर्णित है कि बारह धारणाओं का ध्यान होता है और बारह ध्यान की एक समाधि होती है।[1] समाधि से सर्वत्र बुद्धि का प्रकाश फैलता है। समाधि शब्द को परिभाषित करते हुए शिव पुराण में कहा गया है कि जिस ध्यान में केवल ध्येय ही अर्थरूप से भासता है, ध्याता निश्चल महासागर के समान स्थिर भाव स्थित रहता है और ध्यान स्वरूप से शून्य सा हो जाता है, उसे 'समाधि' कहते हैं।[2]जो योगी ध्येय में चित्त को लगाकर सुस्थिर भाव से उसे देखता है और बुझी हुई आग के समान शान्त रहता है, वह समाधिस्थ कहलाता है। वह न सुनता है, न सूँघता है, न बोलता है, न देखता है न स्पर्श का अनुभव करता है, न मन से संकल्प–विकल्प करता है, न उसमें अभिमान की वृत्ति का उदय होता है और न वह बुद्धि के द्वारा ही कुछ समझता है। केवल काष्ठ की भाँति स्थित रहता है।[3] यानि शिव पुराण में इसी तरह शिव में लीन चित्त हुए योगी को समाधिस्थ कहा गया है। जैसे वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक कभी हिलता नहीं है– निस्पन्दन बना रहता है, उसी तरह समाधिनिष्ठ शुद्ध चित्त योगी भी उस समाधि से विचलित नहीं होता–सुस्थिर भाव से स्थिर रहता है। इस योगी के सारे अन्तराय नष्ट हो जाते हैं, सम्पूर्ण विघ्न भी धीरे–धीरे नष्ट हो जाते हैं और वह कैवल्य प्राप्ति हेतु, दृढ़चित्त हो जाता है।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पुद्दार, पृ०सं० ६६६
२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही, पृ०स० ६६६
३– संक्षिप्त शिव पुराण, वही।

गया और उसने भगवल्लोक को प्राप्त कर लिया। भक्त को भी चाहिए क्या? भगवान् की सन्निधि में आकर अपने संचित कर्मों को='पत्रं पुष्पं' को—उन्हें अर्पण कर दिया। सुदामा की भाँति जीव कुछ देर तक संशय में रहता है कि अर्पित वस्तु को जगदीश ने स्वीकार किया या नहीं, परन्तु जब जीव अपनी कुटिया—भौतिक शरीर को देखता है, तब उसे सर्वत्र चमकती हुई पाता है, जन्म-जन्म की मलिनता धुल जाती है, वह पवित्र भवन बन जाता है, जिसमें वह अपनी सुबुद्धि के साथ निवास करता हुआ विषयों से विरक्त रहकर परम सौख्य का अनुभव करता है। भगवान् की अनुकम्पा का फल देर से थोड़े ही मिलता है! भक्तजन इसी शरीर में उनका साक्षात् अनुभव करते हैं।

साधना करनेवालों को सुदामा बनना चाहिए। हम अपने-अपने तण्डुल लेकर भगवान् के सामने चलें, वे करुणावरुणालय उसे अवश्य ग्रहण करेंगे, हमारा दुःख दूर कर देंगे, मायापाश से हमें अवश्य छुड़ा देंगे, परन्तु हम यदि सच्चे भाव से अपनी प्रत्येक इन्द्रिय को उसी की सेवा में लगा दें। भागवत के इन पद्यरत्नों को स्मरण कीजिए—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत् तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥

भगवान् के प्रति सर्वथा समर्पण में ही जीव का परम कल्याण है। साधकों की समस्त इन्द्रियाँ यदि उस मंगल-मूर्ति की आराधना में लगा दी जायँ तो निःसन्देह ही उनका कल्याण होगा। पुराणों के दार्शनिक सिद्धान्तों का इसी में पर्यवसान है।

(५) श्रीमद्भागवत में योगचर्या

भागवत का योग पौराणिक योग का एक अंशमात्र है तथा योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद् योग तथा पातञ्जल योग के मध्य के काल में आता है। भागवत में भक्ति के साथ-साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया मिलता है। कई स्थलों पर योगसाधन की क्रियाओं का अप्रत्यक्ष रूप से संकेतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलों पर योग का प्रत्यक्ष रूप से विशद विवेचन किया गया है। योग के अप्रत्यक्ष संकेत प्रायः दो प्रसङ्गों में किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्ति की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का संकेत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के छोड़ने

का जहाँ वर्णन है, वहाँ भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीर-त्याग के दोनों अवसरों पर विशेष रूप से योग की ओर संकेत किया गया मिलता है।

पहले योग-विषय में अप्रत्यक्ष निर्देशों की बात कही जायगी। ऐसे प्रसंग भागवत के प्रथम स्कन्ध में कई बार आये हैं[1]। नारदजी ने अपने जीवन-चरित से एक ऐसे प्रसङ्ग का उल्लेख किया है—

(१) जब ये बालक थे, तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियों के संसर्ग में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपन में ही उनकी माता का देहपात हो गया, तब नारदजी ने उत्तर दिशा में जाकर मुनियों के मुख से सुने गये भगवान् का साक्षात्कार करने का निश्चय किया। तब निर्जन स्थान में उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में अपना मन लगाकर ध्यान धरा, जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्ग में 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है[2]।

(२) नारदजी के उपदेश से व्यासजी ने भगवान् की विविध लीलाओं के वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम में आसन मारकर भगवान् में अपना मन लगाकर भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढंग से समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया[3]। आसन तथा मनःप्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यासजी ने ऋषि-मुनियों के अतिरिक्त पाण्डवों के साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को भी उस स्थान पर लाकर एकत्र किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने को आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की तथा अन्त समय में भगवान् में मन, वचन, दृष्टि की वृत्तियों से अपनी आत्मा को लगाकर अन्तःश्वास लिया तथा शान्त हो गये।[4] इस प्रसङ्ग में भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से छोड़ा, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राणत्याग करना योग की महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है।

---

१. श्रीमद्भागवत १।६।१६, १७।

२. श्रीमद्भागवत १।६।२०।

३. श्रीमद्भागवत १।७।३४।

४. श्रीमद्भागवत १।९।४३।

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनि की पूजनीय माता थीं। बहुत आग्रह करने पर कपिल ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधि के द्वारा किया।[1]

(५) चतुर्थ स्कन्ध में सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिवजी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को जला दिया था। गोसाइंजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि में सती के भस्म होने की बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजी ने एक श्लोक में उसकी समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है[2]। इस पद्य की शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत चन्द्रिका-व्याख्या में बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सती ने पहले आसनजय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्ग-सञ्चालन बिलकुल बन्द हो गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में रखा। अनन्तर नाभिचक्र से उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं; निश्चय बुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयीं। उदान को वहीं टीकाकर सती ने अपने अंगों में वायु तथा अग्नि की धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णन में शरीर के विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायु को ऊपर ले जाने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजी ने ध्रुव को आसन मार प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर कर समाहित मन से भगवान् के ध्यान करने का उपदेश दिया था।[3] ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया तथा अल्प समय में ही वह भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हुआ।[4] ध्रुव को नारद ने अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्य की भागवत–चन्द्रिका के देखने से लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' में यम-नियम का, 'कल्पितासन:' में आसन का, 'मलं व्युदस्य' में प्राणायाम तथा प्रत्याहार का, 'ध्यायेत्' में ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण तथा ध्यान का विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोग का उपदेश है।

१. श्रीमद्भागवत ३।३३।२७
२. ,, ४।४।२५, २६
३. ,, ४।८।४४
४. ,, ४।८।७७

(७) दधीचि ऋषि से देवताओं ने वज्र बनाने के लिए उनकी हड्डियाँ माँगी, तब लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को अंगीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का नियमन कर परम योग का आश्रय लिया। उस समय उन्हें खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया।[1]

(८) वृत्र ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरण-कमलों में मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राण छोड़े।[2]

(९) अदिति ने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिए किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यप को इस अद्‌भुत घटना का ज्ञान समाधियोग से बिना किसी के जनाये ही हो गया।[3]

(१०) श्रीकृष्ण के जीवनचरित में अनेक प्रसङ्ग भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित हैं, जिनमें योग का आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओं को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार ठहरे—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतः अलौकिक घटनाओं को उत्पन्न करना उनकी शक्ति के एक कण का कार्य है, परन्तु इन सब अद्‌भुत कार्यों की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से की थी, इसका उल्लेख बारम्बार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियों में श्रेष्ठ 'योगेश्वरेश्वरः' बतलाये गये हैं। ब्रह्मा ने ग्वालों तथा गौओं को जब पर्वत की कन्दरा में चुराकर रख छोड़ा था, तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपों तथा गौओं में परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था[4] वह योग की 'कायव्यूह' सिद्धि का उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण ने प्रबल दावाग्नि से गोपों की जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था।[5] रासलीला के समय में वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं, उसमें उनका योगमाया का आश्रय लेना भी एक कारण था।[6] जब यादवों के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक में जाने का विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने

---

१. श्रीमद्‌भागवत ६।१०।१२
२. ,, ६।११।२१
३. ,, ८।१७।२२
४. ,, १०।१३।१९
५. ,, १०।१९।१४
६. ,, १०।२९।१

परम रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीर के साथ अपने लोक में चले गये[1]। 'साधारण योगी अग्नि-धारण से अपने शरीर को भस्म कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी वह धारणा अवश्य की, परन्तु अपने शरीर को बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाम में चले गये[2]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जीवनचरित को आदि से अन्त तक व्यासजी ने योग-सिद्धियों से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

योग का प्रत्यक्ष वर्णन

भागवत के तीन स्कन्धों में योग का विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्ध के अध्याय १ तथा २ में; तीसरे स्कन्ध के २५वें तथा २८वें अध्यायों में कपिलजी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश, और फिर एकादश स्कन्ध के अध्याय १३ में सनकादिकों को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोग का विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियों का वर्णन, अ० १९ में यमनियमादि का वर्णन, अ० २८–२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग का।

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इनमें यम तथा नियम का संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्ध के अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रों में तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकार के ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवत में उनमें से प्रत्येक के बारह भेद माने गये हैं।

यम के द्वादश भेद—[3](१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय,

---

१. संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
—(श्रीमद्भागवत, ११।३१।५-६)

२. उक्त श्लोक की व्याख्या में मान्य टीकाकारों में भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधर स्वामी के 'अदग्ध्वा' पदच्छेद को मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जीव गोस्वामी आदि सब टीकाकारों ने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेव ने अपने सिद्धान्त-प्रदीप में 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत् के अदृश्य होने की तरह भगवत्तनु के अन्तर्धान होने की बात लिखी है।

३. श्रीमद्भागवत ११।१९।३३

(४) असंग, (५) ह्री, (६) असंचय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियम के द्वादश भेद[१]—(१) शौच—बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का छठा 'असंचय') पातञ्जल दर्शन में भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमों में उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवत का आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जल दर्शन में भी हैं, शेष नये हैं।

आसन—यह योग का तीसरा अंग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थान में आसन लगाना चाहिए। जहाँ कहीं हल्ला नहीं हो, निर्जनता के कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगाने के लिए चुनना चाहिए। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिए। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान-स्थान पर संकेत है। योग में अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन से बैठे तथा उस समय अपने शरीर को बिल्कुल सीधा बना रखे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥
—(श्रीमद्भाग०, २।१।१६)

'घर से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थों के जल में स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान में विधिपूर्वक बिछाये हुए आसन पर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥
—(३।२८।८)

'शुचि देश में आसन लगाकर आसन को जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगा कर सीधा शरीर करके अभ्यास करें।'

इस श्लोक में श्रीधरस्वामी के अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारों ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन से सुखपूर्वक बैठें; ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवत में किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थान पर टीकाकारों के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनों की ओर निर्देश जान पड़ता है।

---

१. श्रीमद्भागवत, ११।१९।३४

प्राणायाम—प्राणों का आयाम योग का चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।

—(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है, जिसमें जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार, प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाम में जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिए। इन दोनों में सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणों ने उसी के करने का उपदेश दिया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तर खण्ड के अध्याय सैंतीस में इन दोनों के भेद तथा उपयोग का अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥ ३३ ॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकार का कहा गया है, जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥ ३४ ॥

'अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण सौगुना है। इसलिए योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराण में अगर्भ को **अबीज** तथा सगर्भ को **सबीज** प्राणायाम कहा गया है[1]। श्रीमद्भागवत में भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकार की मन में आवृत्ति करता जाय। ॐकार को विना भुलाये अपने श्वास को जीते[2]—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥

—(श्रीमद्भाग०, २।१।१७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जप करे। इस ब्रह्म वीज को बिना भुलाये श्वास को जीतकर मन को एकाग्र करे।'

---

१. विष्णुपुराण, षष्ठ अंश, ७।४०।

२. श्रीमद्भागवत, ११।२४।३४।

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल-रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आग में तपाये लोहे से मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥
—(३।२८।१०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवत के एकादश स्कन्ध में 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः' (१४।३३) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३।२८।९) कह कर इससे उलटे क्रम से प्राणायाम करने की भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहाँ 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बाद को कुम्भक और अन्त में पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्तःकुम्भक-तथा बहिःकुम्भक। भागवत में इन दोनों का वर्णन है तथा दोनों में किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाड़ी से पूरक करे तथा दाहिनी से रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाड़ी से वायु भरकर वाम से रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियों को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनों काल में—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियम से प्राणायाम किया जाय तो एक मास से पूर्व ही साधक पवन को वश में कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥
—(श्रीमद्भा०, ११।१४।३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को जीतकर साधक अपनी इन्द्रियों को उनके तत्तद्विषयों से खींचे। इस कार्य में सहायता निश्चय बुद्धिवाला मन देगा। मन के द्वारा निश्चय बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींचकर उन्हें एक स्थान पर रखने का यत्न करे। यह हुआ प्रत्याहार।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।
—(श्रीमद्भाग०, २।१।१८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मयः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥
—(श्रीमद्भाग०, ११।१४।४२)

धारणा—मन को एक वस्तु में टिकाने का नाम धारणा हुआ। भागवत में दो प्रकार की धारणा बतलायी गयी है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणों में भी नामभेद से बतलायी गयी हैं। भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हीं को विष्णुपुराण में (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है।[1] भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों का धारणा तथा ध्यान करना चाहिए। अतः भागवतविहित धारणा के दो भेद हुए—

(१) वैराज धारणा तथा (२) अन्तर्यामि धारणा।

सबसे पहले भगवान् के स्थूल रूप में ही धारणा तथा ध्यान लगाये। २ स्कन्ध के पहले ही अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का सुन्दर तथा साङ्ग वर्णन किया गया है। स्थूल होने के कारण मूर्त रूप में मन आसानी से लगाया जा सकता है। इस धारणा का नाम हुआ **वैराज धारणा**। जब यह धारणा साधक के हाथ में आ जाय, तब अमूर्त रूप की धारणा करनी चाहिए। इस दूसरी धारणा—**अन्तर्यामि धारणा** का अतीव सुन्दर वर्णन भागवत के अनेक स्थलों पर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्ध का दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्ध का अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्ध का चौदहवाँ अध्याय। इन वर्णनों का आशय[2] है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनालवाले अधोमुख हृत्पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदलवाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मण्डल को रखे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालाधारी की मनमोहिनी मूर्ति का ध्यान धरे। भगवान् के इस सुहावने रूप का जैसा वर्णन भागवत में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

किसी वस्तुविशेष में अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करे। प्रत्यय की एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवत में ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कर्णिका में भगवान् के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिए। अंगों का क्रम 'पादादि यावत् हसितं गदाभृतः' (चरणों से लेकर हँसते हुए मुख तक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अठ्ठाईसवें अध्याय में देखने ही योग्य है। भगवान् के पैर के ध्यान से आरम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्त में मुख की मन्द मुस्कान के ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

---

१. विष्णुपुराण, अं० ६ अ० ७।

२. श्रीमद्भागवत, ११।१४।३६–३७।

सञ्चिन्तयेत् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

—(३।२८।२१)

'उत्तम प्रकार से भगवान् के उस चरण-कमल का ध्यान करे, जो चरण-कमल वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्स्ना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को दूर किया है ।'

× × ×

समाधि—ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है । उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमांचित होकर, उत्कण्ठा से आँसुओं की धारा में नहानेवाला भगवान् का भक्त अपने चित्त को ध्येय पदार्थ से उसी भाँति अलग कर देता है, जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है—

'चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते' ।

इस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकार में परिणत हो आता है (भाग० ३।२८। ३४–३८) ।

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरि में जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो बारंबार उत्कण्ठा से उत्पन्न हुई अश्रुधारा में नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़ने के काँटे) को भी धीरे-धीरे पीछे छोड देता है । संसार का आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन बत्ती जल जाने पर दीपशिखा की महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त होता हैं । त्रिगुण का प्रवाह जिससे हट गया, ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान न देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है । वह पुरुष मन की इस चरम निवृत्ति से सुख-दुःख से बाहर उस महिमा में लीन हुआ करता है और आत्म-स्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ ऐसा पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नहीं मानता, तथापि सुख-दुःख का जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है ।'

—(भाग०, ३।२८।३४)

इस योग की यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लाव्यमान हृदयवाला परम भागवत है। बिना भक्ति के लोकविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यासजी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि योग का उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है—शरीर को केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान् में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥

—(श्रीमद्भागवत, ११।२८।४१–४३)

श्रीमद्भागवत का योग के विषय में यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियों के लिए जगदाधार भगवान् में भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्म-सिद्धये॥

—(श्रीमद्भा०, ३।२५।१९)

'अखिल आत्मस्वरूप भगवान् में लगी हुई भक्ति के समान 'शिवः पन्थाः' कल्याणकारी मार्ग, योगियों के लिए ब्रह्मप्राप्ति में और कोई नहीं है।'

रैकात्मकं जगुः ॥१६॥ अतश्चित्तलयेनैवाऽहं गणेशो न संशयः । चित्तपंचकमुत्सृज्य पूर्णयोगमवाप्नुयात ॥१७॥ तत्र समाधिजं सौख्यं वदामि युक्तिभावतः । गणेशोऽहं तदाकारो भवामि यदि योगतः ॥१८॥ तदा संयोगजः प्रोक्तोऽनुभवो योगिनां हृदि । यदाऽहं गणनाथश्चेन्नागतो न गतः कदा ॥१९॥ तदा ह्ययोगजः प्रोक्तोऽनुभवः शांतिदायकः । अतोऽयोगमयो योगः कथं तत्र प्रवर्तते ॥२०॥ चित्तं नानाविधं दक्ष संयोगायोगधारकम । योगे योगात्मकोऽहं च तदा शांतिः प्रलभ्यते ॥२१॥ शांतीनां शांतिरूपा सा योगशांतिः प्रजायते । तस्मात परं विद्यते न ब्रह्म योगात सुनिश्चितम ॥२२॥ अतोऽयं गणनाथस्तु ब्रह्मणस्पतिरुच्यते । संयोगायोगकादीनां ब्रह्मणां पातृभावतः ॥२३॥ एतत सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमाद्भुतम । गजाननस्य ते दक्ष प्रकृतं शृणु सांप्रतम् ॥२४॥

॥ ओमिति श्रीमदान्त्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरित्रे गणेशस्वरूपवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

★

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ तपसा भक्तिभावेनागतं दृष्ट्वा गजाननम् । अयोगो हर्षितोऽत्यंतमुत्थाय प्रणनाम तम् ॥ १ ॥ ततः पूज्य गणेशानं प्रभुं नानोपचारकैः । पुनः प्रणम्य विघ्नेशं तुष्टाव करसंपुटः ॥२॥ अयोग उवाच । शांतिस्वरूपाय सुशांतिदाय वाणीमनोहीनतमाय ढुंढे । वाणीमनोयुक्तविचारिणे वै योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥३॥ वाणीमनोयुक्तमयं वदामि नो विश्वरूपोऽसि कथं स्तवीमि । नित्यं गणेशाय नमो महात्मन् योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥४॥ वाणीमनोहीनमयं कथं त्वां ब्रुवेऽथ संयोगमयं कदा च । नो योगरूपं त्वथ ते नमो वै योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥५॥ त्वत्तः प्रसूतानि महानुभाव ब्रह्माणि विश्वानि पराणि भूयः । त्वय्येव लीनानि ह्यभिन्नभावाद्योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥६॥ नित्यं ह्ययोगाय निवृत्तिदाय मायाविहीनाय गणाधिपाय । वाणीमनोहीनतया सुलभ्य योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥७॥ स्वानंदरूपाय सुशांतिदाय सिद्ध्या च बुद्ध्या सह खेलकाय । वाणीमनोहीन निजात्मलभ्य योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥८॥ अव्यक्तरूपाय च साहजाय मोहेन हीनाय सदा शिवाय । त्रैविध्यनाथाय च नेति कर्त्रे योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥९॥ सामान्यरूपाय त्रयीमयाय द्वंद्वप्रकाशाय च विष्णवे ते । आनंदनाथाय सुखेलकाय योगाय योगाधिपते नमस्ते
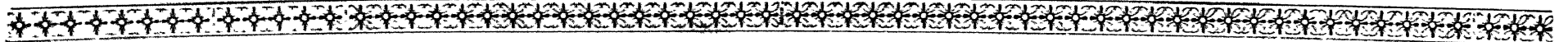
॥१०॥ आत्मस्वरूपाय सदाऽमृतस्थयोगेन संलभ्यतमाय भानो। भेदैर्विहीनाय च जीवनाय योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥११॥ नानाप्रभेदेषु च तन्मयाय सर्वस्वरूपाय च शक्तये ते। आनंत्यभावैश्च सुमोहदाय योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१२॥ साक्षिस्वरूपाय च सांख्ययोगलभ्यस्वरूपाय सदात्मसंस्थ। बोधेन हीनाय परात्पराय योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१३॥ बोधस्वरूपाय संस्थाविहारकर्त्रे सदा पालकभावधारिन्। त्रैविध्यनाथाय महोदराय योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१४॥ सोहंस्वरूपाय च चिन्मयाय मोहेन युक्ताय च हीनकाय। देहिस्वरूपेण विहारकर्त्रे योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१५॥ बिंदुप्रचुराय चतुष्पदाय चतुर्विधेषु प्रभवाय तुभ्यम्। आनंत्यतत्त्वाय च देहभोक्त्रे योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१६॥ तुर्यात्मदेहाय लयात्मकाय कालस्वरूपाय गणेश्वराय। नादात्मकायाऽथ त्रिदेहगाय योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१७॥ आनंदकोशात्मकसंस्थिताय प्राज्ञाय सौषुप्तमयाय तुभ्यम्। निर्त्येश्वरायैव तयोः प्रचारिन् योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१८॥ सर्वांतरस्थाय च सूक्ष्मकाय स्वप्नप्रचुराय च तैजसाय। हिरण्यगर्भाय तयोः प्रचारिन् योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥१९॥ बाह्यस्थितायान्नमयाय विश्ववैश्वानरायैव तयोः प्रचारिन्। स्थूलस्वरूपाय च जागृदास्थ योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥२०॥ विश्वस्य द्वैविध्यमयाय तुभ्यं नानांडरूपाय च खेलकाय। शक्तेः च धात्रे हरये शिवाय योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥२१॥ एते गणेशाधिपते कलांशा विघ्नेश्वरास्ते गणनायकाय। न त्वं सदैतैः सहितो हि तुभ्यं योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥२२॥ स्तुमः कथं नाथ गणेशरूपं संयोगहीनं च ह्ययोगहीनम्। नादात्म्यरूपं भव तुष्टचित्तं योगाय योगाधिपते नमस्ते ॥२३॥ मुद्गल उवाच। एवं स्तुत्वा गणेशानं प्रणनाम कृतांजलिः। अयोगस्तं गणाधीशो जगाद घननिःस्वनः ॥२४॥ गणेश उवाच। वरान् वृणु महाभाग मनसीप्सितरूपकान्। दास्यामि भक्तितुष्टोऽहं स्तोत्रेणानेन योगप ॥२५॥ त्वया कृतमिदं स्तोत्रं योगशांतिपदप्रदम्। पठतां शृण्वतां नित्यं नानासिद्धिप्रदं भवेत् ॥२६॥ यं यमिच्छसि तं तं वै दास्यामि स्तोत्रपाठतः। मयि प्रीतिकरं चास्तु भक्तिभावप्रदं तथा ॥२७॥ एकविंशतिवारं चैकविंशति दिनावधि। पठेत तस्य सर्वं च दास्यामि दुर्लभं हि चेत् ॥२८॥ एवमुक्त्वा गणेशानः सस्वजे तं गणाधिपम्। अयोगरूपिणं हर्षसंयुक्तं प्रचकार ह ॥२९॥ ततोऽयोगो गणाध्यक्षं प्रणम्य च पुनः पुनः। जगाद भक्तिसंयुक्तो हृष्टरोमा सुहर्षितः ॥३०॥ अयोग उवाच। यदि ढुंढे वरान् मे त्वं दास्यसि भक्तिमोहितः। तदा ते पादयुग्मे मे भक्तिं देहि दृढां पराम् ॥३१॥ पूर्णयोगस्वरूपस्थं मां

कुरुष्व गजानन । सुखं मुक्तस्वरूपस्थं नाथ नेच्छामि ते नमः ॥३२॥ मुद्गल उवाच । अथ योगगणराजस्य श्रुत्वा वचनमुत्तमम् । जगाद तं गणेशानस्तथेत्यन्तर्हितोऽभवत् ॥३३॥ अथ योगमन्तं हृदि स्थाप्य भजतेऽनन्यमानसः । अंते योगमयः सोऽपि बभूव मोक्षनायकः ॥३४॥ इति ते सर्वमाख्यातं चरितं गणपस्य यत् । पूर्णयोगधरस्यापि समासेन प्रजापते ॥३५॥ अतस्त्वं गणराजं तं भजस्व भक्तिसंयुतः । तेन यज्ञमिमं पूर्णं करिष्यसि न संशयः ॥३६॥ अंते योगयुतश्चैव ब्रह्मभूतो भविष्यसि । आज्ञां देहि गमिष्यामि त्वदातिथ्यसुतोषितः ॥३७॥ रहस्यं गणनाथस्य कथितं सकलं मया । नान्यत किंचिदतो दक्ष परं वेदादिसंमतम् ॥३८॥ शृणुयाद्यः पठेद्वाऽपि स सर्वं प्राप्नुयाच्छुभम् । अंते योगमयो भूत्वा संतिष्ठेत् गणपात्मकः ॥३९॥

॥ ओमिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे योगचरिते नवमे खंडे पूर्णयोगचरितवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं कृतस्त्वया महामुने । येन गणेशमाहात्म्यं श्रावितं योगदायकम् ॥१॥ गणेशगीतासारादि कथितं तु विशेषतः । ज्ञानं योगप्रदं पूर्णं संक्षेपेण त्वया परम् ॥२॥ तत्र बुद्धं मया सर्वमतः सौलभ्यतो वद । योगं क्रमयुतं पूर्णं येन योगी नरो भवेत् ॥३॥ सूत उवाच । एवं पृष्टो महायोगी मुद्गलस्तमुवाच यत् । हर्षेण महता युक्तस्तत्तेऽहं कथयामि तु ॥४॥ मुद्गल उवाच । धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि साक्षाद्गणपतेः किल । विभूतिवाचकस्तत्र न चित्रमिदमुत्तमम् ॥५॥ त्वया पृष्टं महाभाग लोकोपकारकारकम् । सर्वेषां सुलभत्वेन योगशांतिपदप्रदम् ॥६॥ कथयामि च ते प्रीत्या गुह्यं वेदरहस्यकम् । शृणुष्वैकमना दक्ष योगं शांतिप्रदायकम् ॥७॥ चित्तं पंचविधं प्रोक्तं तेषु पंचविधो रसः । सरसं चित्तमुत्सृज्य योगी भवति मानवः ॥८॥ क्षिप्तं मूढं च विक्षिप्तमेकाग्रं च निरोधकम् । चित्तं पंचविधं विद्धि जगत्सु ब्रह्मसु स्थितम् ॥९॥ व्यष्टिभावे स्थिता ये तु जंतवो विविधात्मकाः । लक्षचतुरशीतिषु योनिषु संभवाः किल ॥१०॥ देहभोगादिमार्गेषु कुशलाः संभवंति ये । तेषु स्वस्वप्रपंचेषु नानाकार्यपरायणाः ॥११॥ तैः क्षिप्तं कार्यसिद्ध्यर्थं चित्तं कार्येषु नित्यदा । तत्तत्कार्यप्रकाशेन प्रकाशयति तान् हृदि ॥१२॥ तेन कार्येषु दक्षास्ते भवंत्यत्र न
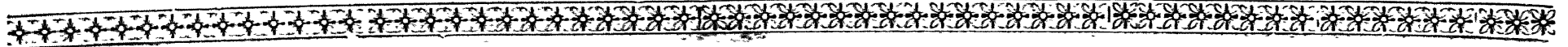
संशयः । तदेव क्षिप्तसंज्ञं त्वं चित्तं जानीहि मानद ॥१३॥ केचित् स्वल्पज्ञकास्तेषु केचिज्ज्ञानाधिका मताः । मध्यमाः केचिदेवं तु नानाभेदाश्रिता नराः ॥१४॥ त्रिविधेषु विभागेषु स्थिता नानाविभेदतः । नानाज्ञानयुतास्तेषां रूपं न कथितुं क्षमम् ॥१५॥ लक्षचतुरशीतिषु जंतवो विविधात्मकाः । व्यष्टिस्थाः सर्वकार्येषु ज्ञानहीना भवंति ये ॥१६॥ ते मूढाः कथ्यते लोकैर्विषये चतुरैः सदा । तेषु नानाविधा भेदा अल्पाधिकसुमध्यमाः ॥१७॥ तेषां प्रकाशकं चित्तं नानामूढस्वभावगम् । तदेव मूढसंज्ञाख्यं चित्तं ज्ञानस्यसंजसा ॥१८॥ परैः संबोधितो जंतुर्न बुबोध विचारतः । कार्यं नानाविधं तस्य चित्तं मूढं प्रकीर्तितम् ॥१९॥ व्यष्टिस्था ये नरा दक्ष स्वधर्मनिरताः सदा । नानातपःपरा भूत्वा मुक्तिमिच्छंति शाश्वतीम् ॥२०॥ विषयेषु विरज्यैव सदा ब्रह्मपरायणाः । कुर्वंति विविधं कर्माऽहर्निशं मुक्तिकारणात् ॥२१॥ तदपि ब्रह्म हृदये न दृष्टं तैर्महात्मभिः । न संसारसुखे चित्तं तेषां रमति कर्हिचित् ॥२२॥ अतो विक्षिप्तचित्तास्ते मता योगिजनैः पुरा । ब्रह्मार्पणक्रियाः सर्वाः कुर्वन्त्यंतरबाह्यजाः ॥२३॥ विशेषेणैव क्षिप्तोऽहं संसारे मायया सदा । विगतक्षेपणं सर्वं नानासाधनभावतः ॥२४॥ तेषां मुक्त्यर्थमत्यंतं प्रकाशयति भावनाम् । चित्तं क्रियात्मिकां तेन विक्षिप्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥२५॥ तत्र नानाक्रियायाश्च सामर्थ्येन विमोहितः । जानाति देवतां तुष्टां ममोपरि न संशयः ॥२६॥ कदा देवप्रसादादि गृह्य विक्षेपसंयुतः । अनाचारां क्रियां कुर्याद्देवाज्ञावशगो मुधा ॥२७॥ स्वप्नेषु विविधान् भावान् पश्यति तद्गतचेतसा । सत्यं स्वप्नं मदीयं तु मान्यं नादृशजं चरेत् ॥२८॥ एवं विक्षिप्तभावेन मोहितः स कदाचन । अनाचारं करोत्येव नानातपःप्रभावतः ॥२९॥ समष्टिव्यष्टिसंस्थं यच्चित्तं वैराटगं परम् । तेन व्यष्टिं समाव्याप्य भुंक्ते स विविधं सुखम् ॥३०॥ वैराटस्य क्रिया प्रोक्ता व्यापिका शास्त्रसंमते । तत्र व्यापकभावस्य चित्तं प्रकाशदं मतम् ॥३१॥ तत्त्वेषु विविधेष्वेव स्थूलसूक्ष्मादिरेषु च । व्यापकभावकाशत्वाच्चित्तं तेषु स्थितं मतम् ॥३२॥ समष्टिव्यष्टिसंयोगेऽन्नं ब्रह्म स्थूलगं परम् । तथा स्वप्नगतं सूक्ष्मं सौषुप्तं समसंस्थितम् ॥३३॥ चेतनाभावगं पूर्णं तद्ब्रह्मादात्मकं मतम् । अस्मिताख्यं परं ब्रह्म तेषु चित्तं प्रकीर्तितम् ॥३४॥ समष्टिव्यष्टिभागस्य तयोरैक्यस्य च प्रभो । प्रकाशकारकं विद्धि चित्तमेकाग्रसंज्ञितम् ॥३५॥ समष्टिव्यष्टिभावेषु न भिन्नं भवतीत्यहो । तेनैकाग्रं समाख्यातं चित्तं तज्ज्ञानकारकम् ॥३६॥ देहश्चतुर्विधः प्रोक्तः स्थूलः सूक्ष्मः समात्मकः । अस्मिताख्यश्चतुर्थश्च तेषु देही स्थितो मतः ॥३७॥ देहेषु मोहितो देही जीव इत्यभिधीयते ।

मोहहीनः स एवाऽपि शिवः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥३८॥ जीवशिवात्मिका संज्ञा देहिनो भ्रममात्रतः। सदैकात्मस्वभावत्वात्तत्र भेदो न विद्यते ॥३९॥ तत्र जीवशिवाकारभावप्रकाशकारकम्। चित्तमेकाग्रसंज्ञाख्यं तिष्ठति देहिसंश्रितम् ॥४०॥ सात्मिनाच परं चित्तमेकाग्रं विद्यते न वै। देहदेहिमयं चित्तमेकाग्रं योगिनां मते ॥४१॥ चतुर्णां वपुषां यत्र ब्रह्माकारेण जायते। संयोगो बिंदुरूपं तज्ज्ञानाख्यं ब्रह्म सर्वगम् ॥४२॥ चतुष्पदं बुधैः प्रोक्तं चतुर्भिर्वर्जितं सदा। देहानां ब्रह्म विख्यातं नानादेहस्वभावगम् ॥४३॥ तत्र चतुष्पदाकारभावप्रकाशकारकम्। चतुर्भिर्वर्जितस्यैव चित्तं तिष्ठति तद्गतम् ॥४४॥ देहेषु न भवेद्भिन्नं सर्वगमात्मभावतः। निरोधं कथ्यते चित्तं बिंदुधर्मप्रकाशकम् ॥४५॥ जीवशिवात्मभावस्थं मोहहीनं सदात्मगम्। ब्रह्म सोऽहं समाख्यातं सदा भ्रांतिविवर्जितम् ॥४६॥ तत्र जीवशिवाकारमोहहीनप्रकाशकम्। चित्तमात्मस्वरूपस्थं निरोधं कथ्यते बुधैः ॥४७॥ देहदेहिसमायोगे स्वत उत्थानमुच्यते। बोधाख्यं द्वंद्वभावेन ब्रह्म खेलकरं सदा ॥४८॥ तत्र निरोधकं चित्तं तस्य रूपं वदाम्यहम्। संक्षेपेण प्रजानाथ श्रृणु भावसमन्वितः ॥४९॥ बाह्यं स्थूलं समाख्यातमांतरं सूक्ष्मगं मतम्। बाह्यांतरैकभावस्थमानंददेहगं परम् ॥५०॥ त्रिभिर्हीनं त्रयाणां च चालकं ह्यस्मितात्मकम्। अहमानुभवेनैतज्ज्ञानाख्यं योगिनां हृदि ॥५१॥ तेषां संयोगभावे यच्चतुर्णां वपुषां परम्। सर्वात्मकं भवेद्ब्रह्म पंचमं बिंदुसंज्ञितम् ॥५२॥ चतुर्विधा नरस्यैव कल्पना हृदि संस्थिता। अतः परं न भेदोऽस्ति भवेद्येनास्य कल्पना ॥५३॥ बिंदुत्यागे निरालंबं चित्तं भवति सर्वदा। सततं तत् समाख्यातं ब्रह्म ध्यातृविहीनतः ॥५४॥ न किंचिज्ज्ञायते यत्र भेदहीनप्रभावतः। सोहं मात्रात्मकं चित्तं निरालंबसमाधिदम् ॥५५॥ अवलंबनगं चित्तं चतुर्धा देहिसंश्रितम्। अवलंबनहीनं तद्देहिगं चिन्मयं भवेत् ॥५६॥ निरालंबपरित्यागेऽधिकसंरोधनं भवेत्। चित्तस्य देहदेहिभ्यां हीनत्वान्नात्र संशयः ॥५७॥ मनोवाणीविहीनं तच्चित्तं ज्ञानाख्यमादरात्। अस्तिनास्तिविहीनत्वादाधाराधेययोगतः ॥५८॥ अवलंबनयोगो न पंचधा योगिनां हृदि। निरालंबनकं तस्मात् मनोवाणीविवर्जितम् ॥५९॥ बोधेन बुध्यते सर्वं निरालंबं समाधिना। अवलंबनकं तद्वद्बोधबोधो न विद्यते ॥६०॥ एवं बोधात्मकं ब्रह्म देहदेहिसमाधिदम्। देहदेहिसमायोगप्रकाशं चित्तमुच्यते ॥६१॥ देहसौख्यं प्रजानाति देहिसौख्यं निरंतरम्। तयोर्योगे च यत् सौख्यं जानाति ब्रह्म बोधगम् ॥६२॥ पदानां बोधभावेन पदार्थानां विशेषतः। उत्थानं जायते तस्मात् स्वत उत्थानमुच्यते ॥६३॥ सुखं ज्ञात्वा समुत्थानं स्वयमेव करोति यः। देहदेहि च सृष्ट्वा स खेलति ब्रह्म-

तत्परः ॥६४॥ तत्रोत्थानप्रकाशाख्यं चित्तं निरोधसंज्ञकम् । निष्ठत्यत्र न संदेहो ज्ञातव्यं योगिनां हृदि ॥६५॥ बोधत्यागे समाख्यातं ब्रह्म सांख्यं प्रजापते । कः संख्यां कुरुते तस्य बोधनाशप्रभावतः ॥६६॥ उत्थानवर्जितं ब्रह्म सांख्यं साक्षिस्वभावगम् । बोधहीनात् कदा तत्रोत्थानं नैव प्रजापते ॥६७॥ प्रकृतिसंभवं बोधं तयोः पुरुषसंभवम् । योगसौख्यं न जानाति सांख्यं बोधविहीनतः ॥६८॥ बुद्ध्वा सुखं नरस्यैवोत्थानं यथा प्रजापते । तथा मायासुखं ज्ञात्वा ब्रह्मणोत्थानकं भवेत् ॥६९॥ तथा परत उत्थानं सांख्ये नित्यं प्रतिष्ठितम् । तत्र योगं प्रवक्ष्यामि येन योगी नरो भवेत् ॥७०॥ यद्युत्थानसमायुक्तं भवति चेत्तदा भवेत् । उत्थानवर्जितं दक्ष तदेवं बीजमाद्यकम् ॥७१॥ उत्थानहीनभावेन सदा सांख्यं विराजति । स्वयं च स्वत उत्थानं निःसृतं तत् प्रभावतः ॥७२॥ सांख्येन न कृतं चैतत्तथाप्युत्थानहीनतः । स्वयं च स्वत उत्थानं जायते नात्र संशयः ॥७३॥ यदाऽसृतं भवेद्दक्ष तदा सत्यं प्रकीर्त्यते । एकं ब्रह्म यदा तिष्ठेत सत्यं तत केन कथ्यते ॥७४॥ न दृष्टमसृतं येन न जानाति स सत्यकम् । सदा तादृशरूपत्वादेकभावप्रदर्शनात् ॥७५॥ अत उत्थानहीनत्वं धृतं तेन विशेषतः । स्वत उत्थानभावाख्यं स्वयमेवोपजायते ॥७६॥ न कृतं तेन सांख्येन स्वयमेव विनिःसृतम् । अतः परत उत्थानं प्राप्तं तत्र न संशयः ॥७७॥ संख्याहीनप्रकाशाख्यं चित्तं तत्र प्रवर्तते । बोधहीनप्रकाशेन ज्ञायते तन्निरोधकम् ॥७८॥ उत्थानेन युतं ब्रह्म बोधसयं प्रकीर्तितम् । सांख्यमुत्थानहीनं च तयोर्योगे निजात्मकम् ॥७९॥ स्वतः परत उत्थानं तत्र नैव प्रजापते । जगतां ब्रह्मणां योगे भवति स्वस्वरूपकम् ॥८०॥ स्वस्वरूपात् परो नास्ति संयोगः तन्मयः कदा । स समाधिः समाख्यातो ब्रह्मणस्यान्वयात्मकः ॥८१॥ स्वकीयाभेदभावस्य तत्र प्रकाशकारकम् । चित्तं निरोधसंज्ञं तु निष्ठत्यत्र न संशयः ॥८२॥ संयोगः पंचधा दक्ष भवति शृणु रूपकम् । तस्य भिन्नं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकारणात् ॥८३॥ एते भेदाः समाख्याता योगेन लयतां ययुः । स्वसंवेद्येन संदेहस्तेन सृष्टाश्च पालिताः ॥८४॥ एतेषां रूपमास्थाय खेलति स्वस्वरूपकम् । नानालीलाकरं प्रोक्तं तदेवं वेदवादिभिः ॥८५॥ उत्पत्तिनाशसंयुक्ता भेदा एते मनीषिभिः । तेषां निजस्वभावत्वादसत्वानंद उच्यते ॥८६॥ तद्ब्रह्म शक्तिरूपाख्यं ज्ञातव्यं भेदधारणात् । तत्रासत्काशभावेन चित्तं तिष्ठति निश्चितम् ॥८७॥ एतैर्भेदैर्विहीनं यदसृतं ब्रह्म कथ्यते । एतेषां जीवनं नित्यं तच्च सत्स्वस्वरूपकम् ॥८८॥ तद्ब्रह्म सौरमाख्यातं भेदहीनप्रभावतः । तत्र

निरुपस्य काशाख्यं चित्तं निरोधकं मतम् ॥८९॥ असत् सत् द्विविधं प्रोक्तं तयोर्योगे समात्मकम् । स्वसंवेद्यं परं ब्रह्म विष्णु-द्वंद्वप्रवेशनात् ॥९०॥ तत्रानंदप्रकाशाख्यं चित्तं निरोधसंज्ञितम् । तिष्ठेत् तेन योगींद्रास्तं गच्छंति समाधिना ॥९१॥ त्रिभिर्हीनं त्रिभिर्युक्तमव्यक्तं नेति कारकम् । मोहहीनप्रभावेण तुरीयं ब्रह्म कथ्यते ॥९२॥ तदेव शिवसंज्ञाख्यं ज्ञानव्यं योगसेवया । तत्र नेति प्रकाशाख्यं चित्तं तिष्ठति तद्गतम् ॥९३॥ त्रिविधं मोहसंयुक्तं मोहहीनं चतुर्थकम् । तेषां संयोग-भावे वै स्वसंवेद्यं प्रकीर्तितम् ॥९४॥ पूर्णसंयोगभावाख्यं पंचमं ब्रह्म तत् स्मृतम् । तस्मात् परो न संयोगः कथ्यते योगिभिः सदा ॥९५॥ स एव गणनाथस्तु स्वानंदाख्यः प्रकीर्तितः । तत्र निजप्रकाशाख्यं चित्तं तिष्ठति सर्वगम् ॥९६॥ अतः परमयोगाख्यं ब्रह्म मायाविवर्जितम् । तदेव योगिभिः प्रोक्तं निवृत्तिसुखदायकम् ॥९७॥ न तत्र जगतां दक्ष ब्रह्मणां योग उच्यते । तस्याऽपि तेषु तद्वच्च तेनायोग इति स्मृतः ॥९८॥ ब्रह्मणि तन्मयत्वेन स्वस्य संयोग उच्यते । तस्मान्नि-वृत्तिरापन्ना तेन निवृत्तिसंज्ञकम् ॥९९॥ स्वसंवेद्यस्य नाशेन लभ्यते व्युत्समाधिना । नाऽगतं न गतं ब्रह्म संयोगः कुत्र जायते ॥१००॥ तत्रायोगप्रकाशाख्यं चित्तं निरोधसंज्ञितम् । तिष्ठति चापवादेषु निवृत्तिसुखदायकम् ॥१॥ इदं पंचविधं चित्तं कथितं ते प्रजापते । जगत्सु ब्रह्मसु तज्ज्ञं नानाप्रकाशदायकम् ॥२॥ भूमयः पंच विख्याताश्चित्तस्य विविधात्मनः । भूमीनां त्यागभावे तच्चित्तं ब्रह्ममयं भवेत् ॥३॥ अतः पंचविधं चित्तं त्यज त्वं योगसेवया । योगी भविष्यसि दक्ष चिंतामणौ न संशयः ॥४॥ संयोगायोगसंज्ञस्थं निरोधाख्यं मतं बुधैः । अतः परो निरोधो न विद्यते सर्वसंमते ॥५॥ सार्वभौमात्मधर्मेण योगी भवति मानवः । तत्र शांतिं लभेच्चित्तं त्यक्त्वा भूमिभवं भ्रमम् ॥६॥ योगरूपे सुखं यद्वै योगिनां हृदि वर्तते । तदेव कथितुं दक्ष शक्यते न कदाचन ॥७॥ मनोवाणीमयं चित्तं चतुर्विधं प्रकीर्तितम् । मनोवाणी-विहीनं तु निरोधसंज्ञकं मतम् ॥८॥ अतो योगः समाख्यातो मनोवाणीमयो न च । मनोवाणीविहीनोऽपि कथ्यते नैव योगिभिः ॥९॥ कीदृशं ब्रह्म तत्राहं योगेन कीदृशेन च । ब्रह्मभूतः स्वयं जात एभ्यः शांतिं लभेन्नरः ॥११०॥ योगे योगी नरो जानस्तत्र न ज्ञायते कदा । ब्रह्म वा साधनं किंचिद्ब्रह्मभूतस्य कारकम् ॥११॥ तन्मयत्वं ब्रह्मणि न न च तन्मयवर्जनम् । अतः शांतिं समागृह्य शांतियोगपरो भवेत् ॥१२॥ पंचविधेषु चित्तेषु दृश्यते जगतां परम् । ब्रह्मणामैश्वरं सौख्यं रसं तत्र न धारयेत् ॥१३॥ नानारसविहीनं तु चित्तं कृत्वा प्रजापते । तत्त्यक्त्वा स भवेद्योगी शांत्या शांतिमवाप्नुयात् ॥१४॥

स्रोतसोर्णवमानंदाद्गच्छंत्यप्रेरितान्यपि । प्रारब्धेन तथा कामान् भुनक्ति योगिसत्तमः ॥१५॥ नानाद्वंद्वविहारेषु समभावपरायणः । योगी भवति शांत्या च सदा योगसुखे रतः ॥१६॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे
योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधेन सार्वभौमयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु समासात् प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । योगस्यानुभवं ब्रूहि यत्र शांतिं लभेत मनः । स्वसं त्यक्त्वा सुशांत्या तद्युक्तं तिष्ठेत् महामुने ॥१॥ मुद्गल उवाच । न तत्र दृश्यते दक्ष जगद्ब्रह्मभवं सुखम् । तन्मायामयगं दृष्ट्वा तस्मान्निर्वृतिगो भवेत् ॥२॥ नाहं देहो न मे देहो नाहं नानाश्रमान्वितः । चराचरमयो नैव ताभ्यां संवर्जितो न च ॥३॥ न समष्टिसमायुक्तो व्यष्टिगो न कदाचन । ब्रह्माऽहमखिलेष्वेव तत्तद्भावविवर्जितः ॥४॥ न बाह्यसुखभोक्ताऽहं नांतरस्यपरायणः । न समानगतोऽहं तु नात्मप्रतीतिधारकः ॥५॥ न स्थूलो नैव सूक्ष्मोऽहं नानंदगः कदाचन । न नादेदेहसंस्थश्च सर्वाकारः सदा मतः ॥६॥ चतुष्पादाः संति मे येन मायया संधृता मया । मायाहीनप्रभावेण पादहीनोऽहमंजसा ॥७॥ मायायुक्तवियुक्तत्वं मयि नैव प्रतिष्ठितम् । मायासंस्थापितं द्वंद्वं तदप्याश्चर्यमुत्तमम् ॥८॥ अनेनानुभवेनैव योगी विंदुगतो भवेत् । तत्र लीनस्वभावेन सदा शांत्या प्रवर्तते ॥९॥ अथाहं भेदहीनश्च न भेदो मयि वर्तते । सदा संततभावेन संस्थितोऽत्र निरंतरम् ॥१०॥ न सृजामि हरास्येव पालयामि न निश्चितम् । स्वयमेव जगद्भाति यथा मयि धृतं भवेत् ॥११॥ उत्पन्नं स्वस्वभावेन स्थितं नष्टं तथा किल । विश्वं तत्र न मे हानिर्वृद्धिर्भवति कर्हिचित् ॥१२॥ न विश्वस्मिन्नहं जीवो न शिवः साक्षिभावगः । भ्रांत्या मायायुतं हीनं वदंत्ययोगिनः सदा ॥१३॥ यथाऽऽकाशभवं मेघपटलं सर्वतः स्थितम् । तत्र सूर्यस्य किं दक्षाच्छादनं संभवेत् कदा ॥१४॥ नष्टेऽभ्रे किं रविः साक्षाच्छादनेन विवर्जितः । तथा मोहविमोहौ च मयि भ्रांत्या वदंति ये ॥१५॥

सदैकात्मस्वरूपाख्ये मयि मोहविमोहकौ । कथं भेदौ प्रवर्तेते पश्य मायाप्रभावजौ ॥१६॥ तथापि विश्वसंयुक्तो मोहितो-
हं न संशयः । ज्ञात्वाऽऽत्मानं विमोहोऽहं सदा साक्षी न संशयः ॥१७॥ मायया जीवसंज्ञोऽहं तथा शिवो न संशयः ।
मयि ब्रह्मणि विश्वं तत दृश्यते नैव दृश्यते ॥१८॥ एवं ज्ञात्वा स्वयं योगी सदा शांत्या प्रवर्तते । द्वंद्वभावं परित्यज्य
सोऽहं ब्रह्मणि संस्थितः ॥१९॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मानुभवरूपकम् । न देहो नैव देहस्थोऽहं भवामि कदाचन ॥२०॥
संततं मयि नास्त्येव विश्वं मयि न विद्यते । भेदाभेदविहीनत्वाद्ब्रह्म ब्रह्मण्यहं रतः ॥२१॥ विश्वरूपोऽहमेवेदं मयि सर्वं
प्रतिष्ठितम् । विश्वहीनो न संदेहः सदैकरूपधारकः ॥२२॥ न सृष्टं पाल्यते नैव ह्रियते न मया कदा । विश्वं सृष्टं हृतं
नित्यं पालितं सर्वदा मया ॥२३॥ मयि संततभावश्च दृश्यते न विनिश्चितम् । न विश्वं विविधाकारं नानादेहपरायणम् ॥२४॥
सदा बोधमयोऽहं तु देहदेहियुतस्तथा । मम तत्र न भो दक्ष बंधाऽबंधौ प्रकीर्तितौ ॥२५॥ मायया संयुतो नित्यं देहदेहिमयो
रतः । मायाहीनप्रभावेण देहदेहिविवर्जितः ॥२६॥ मायायुक्तवियुक्तत्वं मयि कुत्र प्रदृश्यते । सदाऽहं बोधरूपाख्यो
ब्रह्मणि ब्रह्मभावितः ॥२७॥ एवं बोधात्मकेनैवानुभवेन प्रजापते । योगी योगसमायुक्तः सदा शांत्या प्रवर्तते ॥२८॥
अतः परं विबोधाख्यं वक्ष्यामि ब्रह्मभूतकम् । प्रकृतिर्न तथा दक्ष पुरुषोऽहं न निश्चितम् ॥२९॥ तयोर्योगेन बोधोऽहं
ब्रह्माऽहं भोगवर्जितः । सदा ब्रह्मणि संस्थश्च खेलहीनप्रभावतः ॥३०॥ मिथ्यारूपं जगत् सर्वं जगदात्मा तथा मतः ।
तयोर्योगकरं ब्रह्म मिथ्यामूलप्रकाशकम् ॥३१॥ मयि ब्रह्मणि नास्त्येव प्रकृतिर्वा पुमान् क्वचित् । तयोर्योगो भ्रमाकारः
सदा खेलपरायणः ॥३२॥ बोधेनोत्थानभावश्च जायते ब्रह्मणः सदा । मिथ्याभूतं तदेवाऽपि कथं मयि प्रवर्तते ॥३३॥
सत्यं ब्रह्म इति प्रोक्तं वेदेषु वेदवादिभिः । तत्र खेलोऽनृताकारः कुतस्तिष्ठति भ्रांतिदः ॥३४॥ सदा ब्रह्मसुखे सक्तो
ब्रह्मणि ब्रह्मभावितः । तत्र भेदादिकं नास्ति स्त्रीपुंभावमयं कदा ॥३५॥ मायया रचितं सर्वमनृताख्यं न संशयः । सा
मयि न स्थिता दक्ष निराधारा भ्रमान्विता ॥३६॥ ब्रह्मरूपं च मां दृष्ट्वा स्वयमेव विनश्यति । माया ततः स्वयं साक्षात्
सत्यरूपो भविष्यति ॥३७॥ यद्यहं मायया युक्तस्तया स्त्रीपुंमयं जगत् । सृजामि चेत्तदा सत्यं मयि कुतः प्रतिष्ठति ॥३८॥
यत्रानृतस्वरूपं तु नास्त्येव वेदवादतः । तदेव सत्यमाख्यातमतो बोधो न दृश्यते ॥३९॥ अनृतं विश्वमखिलं प्रकृतिपुरुषा-
त्मकम् । तस्माद्भिन्नोऽहमेकश्च सत्यरूपो न संशयः ॥४०॥ योगेनैतादृशेनैव शांतियुक्तो भवेन्नरः । संख्यां त्यक्त्वा स

विविधां ब्रह्मभूतस्वभावतः ॥४१॥ अथ स्वानंदयोगं तु वदिष्यामि हिताय ते । तं शृणुष्व प्रजानाथ सावधानेन चेतसा ॥४२॥ सत्यमुत्थानहीनं चानृतमुत्थानसंयुतम् । ब्रह्मणि द्विविधं नास्ति स्वस्वरूपिणि नित्यदा ॥४३॥ योगयुक्तं स्वतोत्थानं सांख्यमुत्थानवर्जितम् । तयोर्योगं परं ब्रह्माऽसत्स्वानंदमयं भवेत् ॥४४॥ उत्थानवर्जितोऽहं नोत्थानयुक्तोऽपि तांजसा । उत्थानयुक्तहीनोऽहं पश्य मे योगमुत्तमम् ॥४५॥ मयि ब्रह्मणि सर्वं तत् स्वस्वरूपमयं भवेत् । तत्रोत्थानेन युक्तत्वं हीनत्वं नैव दृश्यते ॥४६॥ अहो मायाप्रभावेण मां वदंति विमोहिताः । उत्थानेन युतं हीनं स्वस्वरूपं निजं स्तम् ॥४७॥ उत्थानसंयुतं ब्रह्मोत्थानहीनं प्रकीर्तितम् । ब्रह्मणि तन्मयं सर्वं संयोगायोगभावतः ॥४८॥ मयि ब्रह्मणि संयोगो जायते योगिनां यदा । उत्थानेन युतं हीनं कः पश्यति ततः परम् ॥४९॥ समाधिहीनभावेन पश्यंति विविधं सदा । अयोगिनो न संदेहो योगिनां वै न विद्यते ॥५०॥ सर्वं ब्रह्मेति वेदेषु कथ्यते वेदवादिभिः । अतो मायां परित्यज्य ब्रह्माकारो भवेन्नरः ॥५१॥ अनेन विधिना योगं साधयेद्यः समाधिना । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतः स शांतिं प्राप्नोति शाश्वतीम् ॥५२॥ अथ सत्स्वस्वरूपस्य विधियोगं वदामि भोः । तं ज्ञात्वा योगमार्गेण योगी भवति मानवः ॥५३॥ सर्वं ब्रह्मेति वेदेषु कथितं नात्र संशयः । तदेवोपाधिसंयुक्तं सर्वं मायाप्रभावतः ॥५४॥ एकमेवाद्वितीयं यद्ब्रह्म वेदविवादतः । तत्र सर्वं कुतो भाति नानाभावपरायणम् ॥५५॥ नाहमुत्थानसंयुक्तो नाहमुत्थानवर्जितः । तयोर्योगमयोऽहं नाद्वितीयेऽस्मिन् स्थितः सदा ॥५६॥ न सत्यं मयि नास्त्येवानृतं तत् संयुतं परम् । ब्रह्म संयोगदं नास्ति सदाऽहं ब्रह्मसंज्ञकः ॥५७॥ न मया सत्यरूपं तु सृष्टं नानृतरूपकम् । तयोर्योगमयं नैवामृतोऽहं चात्मभावतः ॥५८॥ आदिमध्यांतभावाश्च कुतो मयि भवंति ते । सदामृतमये संस्थोऽहमात्मा ब्रह्मभाविनः ॥५९॥ मायया संयुताः सर्वे सर्वेषां जीवनं परम् । मां वदंति विशेषेण मयि सर्वं न विद्यते ॥६०॥ सर्वात्मकं परं ब्रह्म नानात्वलयुतं भवेत् । त्वलहीनं भवति च तदेवापि तयोः परम् ॥६१॥ तत्राहं नागतो दक्ष न गतोऽपि कदाचन । स्वयमेव भवेत् पश्य जीवनं मे प्रभावतः ॥६२॥ तत्र किं मयि सर्वात्मविकारो दृश्यते कदा । भ्रांतियुक्ता मां वदंति जीवनं ब्रह्मणां परम् ॥६३॥ ब्रह्मणां जगतां नैव जीवनं संधृतं मया । स्वयमेव प्रभावेण मयि तत् दृश्यते वृथा ॥६४॥ सदा ब्रह्मणि संस्थोऽहं भेदाभेदादिवर्जितः । अद्वितीयप्रभावेणात्माऽहं पूर्णस्वभावतः ॥६५॥ अनेन योगमुख्येन योगी संजायते नरः । ब्रह्मणिब्रह्मभूतत्वाच्छांतियुक्तो भवेत् सदा ॥६६॥ अतः परं समाख्यं यद्ब्रह्मानु-

भवरूपकम् । कथयामि महाप्रीत्या येन योगी भवेत्परः ॥६७॥ नाहं सर्वात्मको दक्ष नाहमात्मात्मकः कदा । आनंदोऽहं तयोः साम्ये ब्रह्मणि ब्रह्मभावतः ॥६८॥ मया मायाबलेनैव सर्वात्मकं प्रतिष्ठितम् । एकमेवाद्वितीयाख्यं तयोः साम्येऽहमास्थितः ॥६९॥ ब्रह्मणि सर्वभावश्च भावहीनं कुतो भवेत् । अमृतं मृतमूलं यत्तास्त्येव मयि सर्वदा ॥७०॥ अनंतलीलया युक्तं लीलाहीनं न विद्यते । मयि लीलायुतं हीनं वर्तते पश्य मे महः ॥७१॥ अखंडरूपभावेन संस्थितोऽहं सदाऽमलः । नानाविकारहीनत्वाद् द्वाभ्यां हीनोऽहमंजसा ॥७२॥ ब्रह्मणि सर्वभावश्च वर्तते नात्र संशयः । सदात्मभावस्तत्रैव साम्यं वेदे ततः स्मृतम् ॥७३॥ यद्यत् संकथ्यते वेदे तेषु ब्रह्म स्थितं मतम् । न वर्ण्यते तथा तत्र न तद्ब्रह्ममयं किल ॥७४॥ अतः समं समाख्यातं ब्रह्म वेदविवादतः । आनंदमुभयानंदादासमंताद्विचारय ॥७५॥ आनंदोऽहं न संदेहो ब्रह्म ब्रह्मसु संस्थितम् । अनेनानुभवेनैव शांतियुक्तो नरो भवेत् ॥७६॥ अतस्ते व्यक्तसंज्ञस्थं कथयामि प्रजापते । ब्रह्मानुभवमाहात्म्यं येन योगी भवेत्परः ॥७७॥ अहमव्यक्तरूपश्च त्रिभिर्हीनः सदा मतः । त्रिषु मोहविहीनोऽहं त्रिनेतिकारकः परः ॥७८॥ सर्वात्मकं मयि नास्ति तथाऽमृतमयं न च । साम्यं स्वाधीनसंज्ञेऽथ ब्रह्मणि नंदनात्मकम् ॥७९॥ उत्थानयुक्तहीनाख्यो मोहः सर्वमये स्थितः । सदाऽमृतमयो मोहोऽखंडब्रह्मणि कथ्यते ॥८०॥ नंदनं सर्वभावेषु समत्वात्मोहरूपकम् । सदा स्वाधीनता तेषु कुतस्त्रिषु भवेत् किल ॥८१॥ त्रिभिर्युक्तोऽहमत्यंतं तदपि त्रिविमोहनः । भिन्नः सदा त्रयाणां तु नेति कर्ताऽहमंजसा ॥८२॥ नानाभावसमायुक्तं भावहीनं ततः परम् । साम्यमुभयगं तेभ्यः परोऽव्यक्तस्ततः स्मृतः ॥८३॥ सृष्ट्वाऽहं त्रिविधां मायां तत्र खेलकरो मुदा । मोहहीनोऽहं तदपि मायायाः स्वप्रभावतः ॥८४॥ मदाज्ञया त्रयं नित्यं चलत्यत्र न संशयः । स्वस्वव्यापारसंयुक्तं स्वाधीनोऽहं प्रभावतः ॥८५॥ त्रयाणामंतरे प्रज्ञस्तिष्ठाम्यत्र न संशयः । ममांतरे कोऽपि न वै प्रेरकः साधुसत्तम ॥८६॥ स्वस्वभावेषु नित्यं तु प्रेरकस्त्रिषु संस्थितः । तथापि नैव मे मोहो नाहं प्रेरक उच्यते ॥८७॥ अहमव्यक्तरूपश्च वेदे संकथितो मतः । नेह नानास्तिभावाख्यः सदा नानात्रिवर्जितः ॥८८॥ नेह नानाप्रमाणेनाऽव्यक्तं ब्रह्म सनातनम् । तदेवाहं सुखे सक्तः सदा ब्रह्मणि योगतः ॥८९॥ सर्वेषां नेति कर्ताऽहं महादंडधरः प्रभुः । नेति कर्ता नास्ति मे कस्तेनाव्यक्तोऽहमंजसा ॥९०॥ मनोवाणीविहीनोऽहमव्यक्तः परमो मतः । अनेनानुभवेनैव शांतिं प्राप्नोति मानवः ॥९१॥ अथ पूर्णनिजानंदानुभवं शृणु सौख्यदम् । येन स्वानंदसंयुक्तो भविष्यसि महामते ॥९२॥ अहं ब्रह्ममयः

साक्षात् मयि मोहविवर्जितम् । कुतो मोहयुतं ब्रह्म निजरूपे भवेत् कदा ॥९३॥ महावाक्ययुता वेदा यदा लीनाः समाधिना । तदा स्वानंदगाः प्रोक्ताः पश्य वेद महात्मभिः ॥९४॥ अहंभावयुतो जंतुर्माययया तुर्यभावया । मोहहीनश्च युक्तश्च भवति भ्रमभावतः ॥९५॥ चतुर्विधं मया सृष्टं नानाभावपरायणम् । भावहीनं समानं चाव्ययं तेषु स्थितेन वै ॥९६॥ ब्रह्मदोषविहीनं तु दोषयुक्तं प्रकीर्तितम् । साम्यं तेतिमयं वेद चतुर्हीनपरं भवेत् ॥९७॥ स्वानंदे तन्मयो योगी भवेत् यः समाधिना । न पश्यति पुनर्यत्र चतुर्षु मोहितात्मसु ॥९८॥ समाधिना युतो योगी निजरूपे लयं गतः । न पुनर्दर्शनं तस्य तेषां तत्र प्रवर्तते ॥९९॥ कीदृशोऽहमिमां मायां यस्त्यक्त्वा योगसंयुतः । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतः स भवति स्वस्वरूपिणि ॥१००॥ यदा ब्रह्मणि योगेन तन्मयो भवति स्वयम् । स्वपरादिकमेवेदं पुनर्वद कुतः प्रभो ॥१॥ अहं ब्रह्मेति यत् प्रोक्तं पश्य वेद विचारतः । तेनैव कृतकृत्यः स भवति योगसेवया ॥२॥ एवं संयोगयोगेन भवेत् ब्रह्मणि तन्मयः । शांतियुक्तः स वै साक्षात् वर्तते शांतिधारकः ॥३॥ अतः परमयोगाख्यं वदामि योगमुत्तमम् । तत्रानुभवमात्रेण शांतियुक्तो नरो भवेत् ॥४॥ अहं ब्रह्मेति यत् प्रोक्तं कुतस्तत्र भवेदिदम् । तन्मयत्वं प्रजानाथ ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥५॥ ब्रह्म वार्ताविहीनं च मनोगतिविवर्जितम् । तदेव नागतं कुत्र न ब्रह्मणि गतं पुनः ॥६॥ यदा भिन्नं विहारेषु संसक्तं जायते परम् । तदा योगेन स्वानंदयुक्तं भवति नान्यथा ॥७॥ ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थं च नागतं न गतं मतम् । कुतो योगेन तत्रैव तन्मयो जायते नरः ॥८॥ सदाऽहं ब्रह्मरूपश्च न मायासंयुतः कदा । भ्रांत्या मां नैव जानंति स्वमहिम्नि स्थितं परम् ॥९॥ सर्वसंयोगयोगाख्या माया नानाभ्रमात्मिका । मयि ब्रह्मणि सा कुत्र तिष्ठति ब्रह्मवर्जिता ॥१०॥ यथा मरीचिसंस्थं च तोयं व्यर्थभ्रमप्रदम् । तथा मयि महामाया व्यर्था संयोगधारिका ॥११॥ ब्रह्मदोषविहीनं तु वेद संकथितं पुरा । तदेव मायया युक्तं कथं भवति मोहितम् ॥१२॥ भ्रांतियुक्तं सुयोगेन भ्रांतिहीनं भवेत् कथम् । ब्रह्ममायायुता मूर्खा वदंति ब्रह्मवर्जिताः ॥१३॥ अतोऽहं नागतः पश्य जगत्सु ब्रह्मसु प्रभुः । न ब्रह्मणि गतस्तत्र पुनर्योगस्य सेवया ॥१४॥ ब्रह्मणि विविधाकारा माया नैव प्रतिष्ठति । मायायां नैव तद्ब्रह्म ह्यपवादप्रभावतः ॥१५॥ अयोगस्त्रिविधः प्रोक्तो मृदुमध्याधिमात्रतः । तेषां भेदं प्रवक्ष्यामि मायामूलनिकृंतनम् ॥१६॥ स्वतोत्थानभ्रमं त्यक्त्वाऽहं ब्रह्म ह्यपवादतः । यस्तिष्ठति नरः सोऽपि मृदुयोगयुतो मतः ॥१७॥ परतोत्थानजं दक्ष भ्रमं त्यक्त्वा ह्ययोगतः । तिष्ठति

मध्यगः सोऽपि मतो योगस्य सेवया ॥१८॥ स्वतः परत उत्थानहीनं संयोगधारकम् । ब्रह्म तस्य भ्रमं त्यक्त्वा तिष्ठति सोऽस्मिमात्रगः ॥१९॥ नाऽऽगतोऽहं यदा भ्रान्त्या जगत्सु ब्रह्मसु भ्रमत । तदा मे गमनं कुत्र योगेनैव भविष्यति ॥१२०॥ ब्रह्मभूतस्वभावेन स तिष्ठति नरोत्तमः । निवृत्तियोगमाश्रित्य सदा शान्त्या प्रवर्तते ॥२१॥ अधुना पूर्णयोगस्यानुभवं ते वदाम्यहम । योगी येन नरो भूत्वा तिष्ठति गणपप्रियः ॥२२॥ नाहं न ब्रह्म वेदेषु कथितं भेदभ्रांतिदम् । ब्रह्मणि द्विविधं दक्ष कुतो भवति चित्तगम् ॥२३॥ अहं चित्तमयश्चैव ब्रह्म चित्तमयं तथा । चित्तं पंचविधं त्यक्त्वा योगी भवति मानवः ॥२४॥ जगद्रूपं महच्चित्तं ब्रह्मरूपं तथा मतम् । जगतां ब्रह्मणां संयोगायोगं चित्तमुच्यते ॥२५॥ भ्रांतियुक्तं भवेच्चित्तं नानामायाविमोहितम् । योगमेवापरं चित्तं भ्रांतिहीनं तथा भवेत् ॥२६॥ अहं कुतस्तथा ब्रह्म कुतस्तयोश्च योगतः । अभेदः सर्वगं चित्तं क्रीडत्यत्र न संशयः ॥२७॥ नाहं सर्वत्र योगेन संयोगाभेदभावतः । तिष्ठामि चित्तमोहेन वदंत्ययोगिनो मुधा ॥२८॥ ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थं यन्नागतं न गतं कदा । अयोगधारकोऽहं न चित्तं तदेव संमतम् ॥२९॥ धर्ममिच्छति चित्तं च भ्रमयुक्तं तथार्थकम् । कामं मोक्षं ब्रह्मभूतं पंचभूमिप्रभावतः ॥१३०॥ चित्तं त्यक्त्वा महायोगी पंचरूपं सुशांतिगः । ब्रह्मभूतो भवेन्नूनं चिंतामणिः प्रकथ्यते ॥३१॥ चित्तरूपा महाबुद्धिस्तत्र भ्रांतिप्रदायिका । सिद्धिस्तयोः पतिः साक्षात् क्रीडति स्वेच्छयाऽपरः ॥३२॥ तं ज्ञात्वा ब्रह्मभूतश्च भवत्यत्र न संशयः । सिद्धिबुद्धिमयं सर्वं त्यक्त्वा योगी प्रजापते ॥३३॥ नैव ब्रह्मणि संयोगो नायोगो वर्तते कदा । सिद्धिबुद्धिभ्रमेणैव परं वाञ्छति तत्पतिः ॥३४॥ गणेशोऽहं न संदेहो कुतो मयि भवेदिदम् । सिद्धिबुद्धिकृतं सर्वं तेन योगी स जायते ॥३५॥ सिद्धिबुद्धिसमायुक्तो ब्रह्मभूतो नरो भवेत् । शांतियोगेन शांतिस्थो वर्तते नित्यमादरात् ॥३६॥ ब्रह्मणि योगभावेन मायायुक्तविहीनता । शांतिं प्राप्तः स्वयं त्यक्त्वा योगं योगी स जायते ॥३७॥ एतादृशभवेनैवानुभवेन युतं परम् । चित्तं भ्रांतिभवं सर्वं रसं त्यक्त्वा सुतिष्ठति ॥३८॥ योगे रससमायुक्तं सदा भवति तत्परम् । निश्चलं शांतिसंयुक्तं मायामलविवर्जितम् ॥३९॥ एतत्ते कथितं सर्वमनुभवभवं

सुखम् । यज्ज्ञात्वा ब्रह्मभूतः स तिष्ठत्यत्र न संशयः ॥१४०॥ शृणुयाद्यः पठेद्वाऽपि योगानुभवरूपगम् । माहात्म्यं स लभेत् सर्वं वाञ्छितं शांतिमाप्नुयात् ॥१४१॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधेन योगिचित्तानुभवशांतिसुखवर्णनयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । स्थितिं वद महायोगिन् जीवन्मुक्तस्य सौख्यदाम् । शुभाशुभकृतं तेन कुत्र गच्छति तत्परम् ॥१॥ कायिकं वाचिकं मानसिकं सांसार्गिकं प्रभो । कर्म योगिकृतं सर्वं कीदृशं तस्य का गतिः ॥२॥ मुद्गल उवाच । जीवन्मुक्तः स्वयं योगी स्वेच्छाचारी भवेत् सदा । प्रारब्धप्रेरितः साक्षाद् वर्तते नित्यमादरात् ॥३॥ स्वयं ब्रह्मणि संस्थश्च विश्वं चित्ते प्रतिष्ठति । योगिनस्तत्कृतं सर्वं न कदा बंधदं भवेत् ॥४॥ नरवत् सर्वकर्ताऽपि तथाऽपि दोषवर्जितः । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतत्वाच्छुभाशुभविवर्जितः ॥५॥ प्रारब्धेन स्वयं योगी प्रेरितः पुण्यमाचरेत् । तीर्थयात्रादिकं सर्वं यज्ञदेवार्चना-दिकम् ॥६॥ सदा शौचसमायुक्तो नित्यं धर्मपरायणः । तथापि पुण्यजं भोगं भुनक्ति नैव निश्चितम् ॥७॥ अथवा पूर्वजेनैव प्रारब्धेन नियंत्रितः । पापानि नित्यमानंदात् प्रकुर्याद्विविधानि सः ॥८॥ ब्रह्महत्यादिकं सर्वं मातृगमनकादिकम् । मद्य-पानादिकं चौर्यं प्रकुर्याद् दैवयोगतः ॥९॥ एवं पापसमाचारो यदि तिष्ठति मानवः । योगी पापफलं नैव भुनक्ति नरवत् कदा ॥१०॥ पूर्वजन्मार्जितेनैव प्रारब्धेन प्रजापते । कारितं योगिना तत्र तेन किंचित् कृतं न च ॥११॥ मरणे या मतिः प्राप्ता तादृशीं लभते गतिम् । नरो ह्ययोगयुक्तो यो योगी ब्रह्मैव जायते ॥१२॥ इदं संशयनाशार्थं कथितं ब्रह्मणः सुत । योगिनां कर्मजं सर्वं माहात्म्यं लेशतो मया ॥१३॥ योगी योगसमायुक्तो न पापानि कदाचन । चरति धर्मनिष्ठः स भवत्यत्र न संशयः ॥१४॥ लोकोद्धारकराः सर्वे योगिनः परिकीर्तिताः । नाचरंति कदा पापमहिंसादिसमन्विताः ॥१५॥

फलहीनस्वभावेन धर्मं चरति नित्यदा । योगी लोकोपकारार्थं स्वयं ब्रह्मपरायणः ॥१६॥ कदाचित् पूर्वसंस्कारात् पापं तेन कृतं परम् । न तत्र पापयुक्तोऽसौ तदर्थो वर्णितः पुरा ॥१७॥ किमर्थं प्राणिनां योगी दुःखदायकमाचरेत् । पापं पापसमायुक्तो न भवेन्निश्चितं पुरा ॥१८॥ सर्वत्र गणनाथं स पश्यत्यनन्यचक्षुषा । पुण्येन सुखसंयुक्तं विश्वं भवति तच्चरेत् ॥१९॥ प्रारब्धं योगिनां दक्ष न भवेत् पापकारकम् । पुण्यचेष्टासमायुक्तं तेषां प्रारब्धमंजसा ॥२०॥ योगार्थं धर्मसंयुक्तो ब्रह्मार्पणविधानतः । यतते जन्मसु प्राज्ञस्तदा योगी भवेन्नरः ॥२१॥ तस्य प्रारब्धकं दक्ष कुतो दुर्बुद्धिदायकम् । भवति च महायोगी धर्मयुक्तो भवेत् सदा ॥२२॥ अथ योगिजनानां ते स्थितिं वदामि सर्वदा । क्रमयुक्तो यथा योगी भ्रांतो नैव भवेत् कदा ॥२३॥ साधयित्वा महायोगं चित्तनिरोधकारकम् । पंचविधं परित्यज्य चित्तं योगी भवेन्नरः ॥२४॥ चित्तं चिंतामणिं ज्ञात्वा सचित्तः सहसा गतः । तदाकारः स वै योगी तत्र ब्रह्मणि संरतः ॥२५॥ प्रारब्धं योगिनां नास्ति भोगदं शास्त्रसंमतम् । यदा हठयुतो योगी भवेत् प्रारब्धचालकः ॥२६॥ देहपातं प्रकुर्याच्चेदात्महत्यां लभेन्न च । आयुषा संयुतो वाऽपि देहं त्यजति निश्चितम् ॥२७॥ तथापि योगसंयुक्तो न देहं त्यजति प्रभुः । न प्रारब्धमतिक्रम्य करोति किंचिदंजसा ॥२८॥ शांतियुक्तस्वभावेन निष्ठत्यत्र न संशयः । यद्भावि तद्भवत्येव मायामोहविवर्जितः ॥२९॥ देहपातेन किं ग्राह्यं देहरक्षणतस्तथा । रचितं गणनाथेन सदा भवतु तादृशम् ॥३०॥ एवं निश्चित्य चित्तेन शांतियुक्तस्वभावतः । आचरेद्योगसंयुक्तः स्वधर्मे संस्थितां क्रियाम् ॥३१॥ वर्णाश्रमयुतो योगी भवेद्यदि स सर्वदा । तदा स्वधर्मजं कुर्यात् कर्म निःसंगभावतः ॥३२॥ देहः कर्ममयः प्रोक्तस्तस्थोऽकर्मी कुतो भवेत् । व्यवस्थासंभवं कर्म कृतं भवति न ह्यपि ॥३३॥ यदि कर्म परित्यज्य निष्ठद्योगपरायणः । तदा देहनिपातेन युक्तो भवेन्न संशयः ॥३४॥ अन्नभक्षणरूपं यद्भवति कर्म निश्चितम् । जागृत्स्वप्नादिकं सर्वं त्यक्त्वा जीवति तत्कथम् ॥३५॥ क्रियतेऽनेन यत्किंचित् सा क्रिया परिकीर्तिता । अतः कर्ममयो देहस्तेन धर्मं समाचरेत् ॥३६॥ देहत्यागे समुद्युक्तो यदि योगी भवेत् प्रभो । सहने द्वंद्वभावस्य न समर्थः स वै स्मृतः ॥३७॥ अशांतिसंयुतः सोऽपि योगहीनो यथा नरः । तथा द्वंद्वं समालोक्य सहने न समर्थकः ॥३८॥ गणेशेन कृतं तस्येच्छया सर्वं च यद्भवेत् । भवतु तादृशं सर्वं सहे नित्यं सुशांतिगः ॥३९॥ स योगी शांतिहीनो न प्रभवेत् क्वचिदंजसा । ब्रह्मभूतो महाश्रेष्ठः पावनः सर्वदेहिनाम् ॥४०॥ अतो वर्णाश्रमस्थो यो योगी भवेत् स तत् क्रियाम् ।

ब्रह्मार्पणतया कुर्याद् हृदि ध्यात्वा गजाननम् ॥४१॥ यदि स्वधर्मसंयुक्तं कर्म नैव समाचरेत्। तमसक्रियं समालोक्यान्ये त्यजेयुः स्वधर्मकम् ॥४२॥ अतो लोकोपकारार्थं योगी कर्म समाचरेत्। अन्यान् कर्मयुतान् कुर्यात् स्ववशान् धर्मपालकः ॥४३॥ सर्वेभ्यश्चाधिको योगी कुर्यात् सत्कर्म धर्मदम्। तादृशं कर्म सर्वेऽपि करिष्यंति विशेषतः ॥४४॥ तेन प्रामाण्यमानंदात् कृतं कर्म प्रजापते। तदेव सर्वलोकाश्च मान्यं कुर्वंति निश्चितम् ॥४५॥ ब्रह्मार्पणतया कर्म बंधदं न भवेत् कदा। ब्रह्मप्राप्तिकरं तस्य फलं प्रोक्तं मनीषिभिः ॥४६॥ योगिभिश्च कृतं कर्म लोकसंग्रहकारणात्। असक्तमनसा नित्यं नैमित्तिकं न बंधदम् ॥४७॥ सदा ब्रह्ममयत्वेन तेन किंचित् कृतं न च। देहस्वभावजो भावो भवेदस्य निरंतरम् ॥४८॥ अन्यं मार्गं प्रवक्ष्यामि ये निंदंति स्तुवंति तम्। योगिनं पापभोक्तारो भवंति पुण्यभोगिनः ॥४९॥ योगिना यत् कृतं पापं तत् स्प्रष्टुं न क्षमं कदा। निंदकांस्तत् समाश्रित्य प्रतिष्ठेत्तस्य नित्यदा ॥५०॥ योगिना यत् कृतं पुण्यं तदेव तं न संस्पृशेत्। स्तुवतस्तान् समाश्रित्य नित्यं तिष्ठेत् स्वभावजम् ॥५१॥ अतो न योगिनां निंदां कदा कुर्याद्विचक्षणः। सेवां समाचरेत्तेषां तेन सौख्ययुतो भवेत् ॥५२॥ वने यदि स्थितो योगी प्रारब्धेन नियंत्रितः। फलादिकं तत्र भुंजन् शांत्या तिष्ठेत् स नित्यदा ॥५३॥ तत्र निंदाकरास्तस्य तथा सेवाकरा न च। एक एव महायोगी शुभाशुभं समाचरेत् ॥५४॥ तदेव देहपातेऽस्य योगिनश्च मृतं भवेत्। शुभाशुभं निराधारमुपोषणसमन्वितम् ॥५५॥ एतत्ते कथितं दक्ष ब्रह्मीभूतस्य चेष्टितम्। कर्म योगमयं पूर्णं श्रवणाच्छुभदं भवेत् ॥५६॥ अथ योगं प्रवक्ष्यामि ज्ञानात्मकमहं परम्। योगिभ्यः सुखदं पूर्णं शांतियुक्तं विशेषतः ॥५७॥ देहः कर्मात्मकः प्रोक्तस्तत्र योगं समाचरेत्। ब्रह्मार्पणतया कर्म चाचरन् शांतिधारकः ॥५८॥ ज्ञानं स्फूर्तिमयं प्रोक्तं हृदि तिष्ठति सर्वदा। विवेकात्ममयं तत्र ज्ञानयोगं समाचरेत् ॥५९॥ हृदि यद्यद् भवेज्ज्ञानं नानायोगार्थसौख्यदम्। अथवा विषयार्थानां बोधकं तत् स संत्यजेत् ॥६०॥ उत्पत्तिनाशसंयुक्तं ज्ञानं विषयबोधकम्। ब्रह्म सौख्यप्रदं ज्ञानं योगभूमिप्रभावजम् ॥६१॥ उपाधिसंयुतं चैकमनुपाधियुतं परम्। तत्त्यक्त्वा योगसंयुक्तो भवेद्योगी महायशाः ॥६२॥ ज्ञानानां सकलानां च योगे ज्ञानमयः स्मृतः। योगस्तत्र भवेल्लीनो ब्रह्मीभूतस्वभावतः ॥६३॥ ब्रह्मणि ब्रह्मीभूतोऽहं मम ज्ञानं कुतो भवेत्। नानाभ्रांतिकरं हृत्स्थं त्यक्त्वा ब्रह्मपरो भवेत् ॥६४॥ अनेन विधिना सर्वं ज्ञानं त्यक्त्वा हृदि स्थितम्। शांतियुक्तः स्वयं योगी तिष्ठेद्ब्रह्मपरायणः ॥६५॥ न कर्ताऽहं कदाचिद्वै कारयिता

न निश्चितम् । मायामोहयुता मां ते वदंति कर्मकारिणम् ॥६६॥ अहं साक्षी शरीरस्य यद्देहेन कृतं भवेत् । तन्मया न कृतं क्वापि ब्रह्माहं परतः परः ॥६७॥ यस्यात् स्फूर्तिर्भवेत् मे वै सा माया भ्रांतिदायिका । न तस्यां संस्थितो जीवः सदा साक्षित्वभावतः ॥६८॥ न मोहेन समायुक्तो न कदा मोहवर्जितः । मायया मां वदंत्येव ह्ययोगिनो न संशयः ॥६९॥ एवं सदा महायोगी साक्षिवत्संस्थितो भवेत् । हृदयज्ञानयोगस्थस्त्यक्त्वा स्फूर्तिभवं भ्रमम् ॥७०॥ सर्वत्र रसहीनं यत् मनस्तस्य महात्मनः । शांत्या युक्तं भवेद्दक्ष ब्रह्मीभूतस्य नित्यदा ॥७१॥ एष ते कथितो योगो ज्ञानात्मको विशेषदः । साक्षिवद्देहसंस्थः स मया तिष्ठति लेशतः ॥७२॥ अतः परं समं योगं शृणु स्थितिपरायण । यं ज्ञात्वा ब्रह्मभूतो यः शांतिहीनो भवेन्न सः ॥७३॥ देहः कर्मत्रयस्तत्र कर्मयोगं समाचरेत् । मनो विवेकरूपं तु साक्षित्वं तत्र संचरेत् ॥७४॥ अहं ब्रह्म यदा दक्ष कृतस्तत्र भवेदिदम् । द्वंद्वरूपं विशेषेण तस्य वक्ष्यामि रूपकम् ॥७५॥ देहः कर्ममयः प्रोक्तो विवेकः कर्मवर्जितः । द्वंद्वं ज्ञात्वा महायोगी समयोगं समाचरेत् ॥७६॥ देहे कर्ममयोऽहं तु हृदि साक्षी तथाऽमलः । उभयोर्योग-भावेन भवति किंचिदंजसा ॥७७॥ यदा विवेकहीनश्चेत् देहः किं तु करिष्यति । देहहीनं मनस्तद्वज्ज्ञानदं कस्य वा भवेत् ॥७८॥ आनंदमयभावेन संस्थितोऽहं तदात्मकः । उभयत्र ततः स्वस्वव्यापारं कुरुतः परौ ॥७९॥ देहे कर्ममयोऽहं वै हृदि विवेकधारकः । द्विविधां रचयतां मायां सदानंदतधर्मगः ॥८०॥ तयोः समानभावेन संस्थितोऽहं न संशयः । अनुपाधेरुपाधेश्च वर्जितो ब्रह्मसंज्ञितः ॥८१॥ अतः समं समाश्रित्य बाह्यांतरैकभावतः । यादृशं संस्थितं ब्रह्म तादृशं तत्र चाचरेत् ॥८२॥ देहे कर्मकरो भूत्वा हृदि साक्षिमयो भवेत् । उभयं तत् परित्यज्यानंदावस्थां समा-चरेत् ॥८३॥ यद्यदुभयभावाख्यं नानाभेदमयं परम् । तत्र योगमयो भूत्वा तिष्ठदानंदसंयुतः ॥८४॥ आनंदानां समायोगे ब्रह्मानंदः प्रकीर्तितः । उभयेषां प्रजानाथ तादृशं चाचरेद्बुधः ॥८५॥ मदीयसंगयोगेनोभयं प्रवर्तते सदा । उभयं चाचरेत् सर्वसुभाभ्यां वर्जितोऽपि सः ॥८६॥ इयमानंदरूपाख्या कथिता योगिभिः पुरा । ब्रह्मीभूतः समास्थाय तिष्ठेत्तां शांति-संयुतः ॥८७॥ अतः परं प्रजानाथावस्थां शृणु सुखप्रदाम् । सहजाख्यां महायोगी चाचरेत्तां विशेषतः ॥८८॥ देहः कर्म-मयः प्रोक्तस्तत्र योगं समाचरेत् । ब्रह्मार्पणतया नित्यं कर्मणां योगिसत्तमः ॥८९॥ हृदि साक्षिस्वभावेन तिष्ठेत्तयोः परे ततः । समभावं समाश्रित्य त्रिषु त्रैधं प्रकीर्तितम् ॥९०॥ तेषु विस्मृतिभावेन भ्रांत्या वा विस्मृतं भवेत् । विपरीतं

भवेद्वाऽपि ततः खेदं न धारयेत् ॥९१॥ त्रिविधं मायया युक्तं पराधीनं प्रकीर्तितम् । तुर्यं स्वाधीनरूपाख्यं प्रोक्तं शास्त्रेषु सर्वदा ॥९२॥ तुर्येच्छया त्रिधा भूतं चलत्यत्र न संशयः । स्वस्वप्रारब्धसंयुक्तं सदा भ्रांतमिव स्थितम् ॥९३॥ न कस्याहंकृतिस्तस्य तुरीयस्य कदाचन । यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ॥९४॥ अतः प्रारब्धयोगेन विस्मृतोऽहं स्थितिं पराम् । योगरूपां च तुर्येण प्रेरितः सर्वधारिणा ॥९५॥ अथवा ज्ञानमोहेन विपरीतं कृतं मया । त्यक्त्वा योगस्थितिं पूर्णां प्रारब्धं तत्र मुख्यकम् ॥९६॥ प्रारब्धधारकं प्रोक्तं तुरीयं नात्र संशयः । तस्येच्छया च यज्जातं तदेवं योगदं भवेत् ॥९७॥ पराधीनोऽहमत्यंतं तुर्येच्छया समन्वितः । करोमि कर्म साक्षित्वमानंदं वा न संशयः ॥९८॥ सदा स्वाधीनभावेन तिष्ठति ब्रह्म तुर्यगम् । तुरीयैः खेलकं प्रोक्तं तस्य किं बंधनं भवेत् ॥९९॥ यज्जातं तत्कृतं तेन तुरीयेण न संशयः । तत्र कुत्र स्थितोऽहं तु स्वेच्छया क्रीडति प्रभुः ॥१००॥ इयं तु सहजावस्था कथिता ते प्रजापते । यज्जातं तत्र सा प्रोक्ता न कृता तदपि ह्यहो ॥१॥ यत्कृतं सह जातेन स्वयमेव प्रवर्तते । योगस्तेन समाख्याता सहजा तुर्यसंज्ञिता ॥२॥ अतः परं ब्रह्मभूतं स्वानंदाख्यं प्रकीर्तितम् । तत्र योगस्वरूपाख्यां स्थितिं शृणु सुखप्रदाम् ॥३॥ स्वाधीनं तुर्यभावाख्यं पराधीनं त्रिधा मतम् । तेषां योगे निजात्मस्थो भवेद्योगी निजात्मसु ॥४॥ त्रिविधं खेलरूपं तु तुर्यः खेलक उच्यते । तयोर्योगे प्रजानाथ स्वानंदस्थो भवेन्नरः ॥५॥ ब्रह्मणि ब्रह्मभूतस्य योगिनश्च कुतो भवेत् । स्वाधीनं तु पराधीनं मायायुक्तं न संशयः ॥६॥ योगस्थितिं समाश्रित्य बुधश्चत्वारि चाचरेत् । तेषां संयोगरूपेण तिष्ठेत्तेषु महात्मवान् ॥७॥ कर्मयोगं समाश्रित्य देहचेष्टां समाचरेत् । ज्ञानयोगं तथाऽऽश्रित्य साक्षित्वं चाचरेत् बुधः ॥८॥ समयोगं समाश्रित्य आनंदं आचरेत् परम् । सहजं स समाश्रित्य विपरीतेन शोकभाक् ॥९॥ चतुर्भिः संयुतो भूत्वा चतुर्भिर्वर्जितस्तथा । तिष्ठेद्योगमयीं दक्षावस्थामाश्रित्य सर्वदा ॥११०॥ अवस्था निजरूपे तु कुतोऽवस्थाप्रधारकः । तयोर्योगे योगमयी व्यवस्था ते प्रकीर्तिता ॥११॥ चतुर्मयी चतुर्हीना योगावस्था प्रकीर्तिता । योगिभिस्तां समाश्रित्य शांतिहीनो भवेन्न सः ॥१२॥ अधुना शृणु योगस्थामवस्थां द्वितीयां पराम् । अयोगधारिकां पूर्णां सदा निवृत्तिदायिकाम् ॥१३॥ ब्रह्मणि ब्रह्मभूतो यो योगी तां संश्रयेत् पराम् । यदा निवृत्तिसंयुक्तः शांतिहीनो भवेन्न सः ॥१४॥ ब्रह्मणि ब्रह्मसंस्थं तन्नागतं न गतं पुनः । मायायां ब्रह्मभूतो योऽवस्थाया धारकः कुतः ॥१५॥ यत् कुर्यात् कारयेच्च तत्र नैवावलोकयेत् ।

मायामयं विनिश्चित्य पंचकं पंचकेषु गम् ॥१६॥ नाहं पंचकगश्चैव ततस्तत्कृतमंजसा । कुतो मयि प्रहर्षेनाधार्यनिवृत्तिगो भवेत् ॥१७॥ जीवनं मरणं जन्म योगो योगात्मिका परा । अवस्था मे कुतो मायामोहयुक्तं स्मृतं बुधैः ॥१८॥ अथ योगमयीं पूर्णामवस्थां शृणु मानद । संयोगायोगहीनां तां यया शांतो भवेन्न सः ॥१९॥ ब्रह्मणि ब्रह्मभूतोऽहं मयि मायामयं परम् । पंचकं च कुतो भाति मायाहीनमयोगकम् ॥१२०॥ विधिनिषेधसंयुक्तं चित्तं भवति सर्वदा । विधिनिषेधहीनं तु तदेवं जायते मुधा ॥२१॥ देहेन कर्मयोगश्च ज्ञानगो हृदि जायते । उभयत्र समश्चैव तुर्येषु सहजात्मकः ॥२२॥ सर्वसंयोगभावेषु स्वानंदाख्यः प्रवर्तते । निवृत्तिषु ह्ययोगाख्यो योगेषु शांतियोगकः ॥२३॥ एवं नानाविधं योगं समास्थाय महामतिः । योगी शांत्या समातिष्ठेद्ब्रह्मीभूतोऽपि निश्चितम् ॥२४॥ योगस्थितिः समाख्याता ब्रह्मीभूतसुखप्रदा । अनेन विधिना देहनिर्वाहो योगिनां भवेत् ॥२५॥ वर्णाश्रमस्थितो योगी चाचरेत् स्थितिमुत्तमाम् । लोकसंग्रहकार्यार्थमसक्तस्तत्फलादिषु ॥२६॥ यदा वर्णाश्रमं त्यक्त्वा पंचमाश्रमधारकः । न तस्य स्थितिरूपं तु कदाचिन्नात्र संशयः ॥२७॥ विधिनिषेधहीनोऽयं विनायको भवेत् सदा । यद्यत् कुर्यात् स तत् सर्वं योगरूपं भवेत् सदा ॥२८॥ यदि स्थितिसमायुक्तो वेदादिषु प्रमाणतः । तदा विधियुतः सोऽपि भवेत् पश्य प्रजापते ॥२९॥ यदा स्थितिविहीनोऽयं तिष्ठेत् संकथितं परम् । वेदेषु स निषेधेन तदा युक्तो भवेत् परः ॥१३०॥ अतः स्थितियुतो योगी स्थितिहीनो यथारुचि । वर्णाश्रमान् परित्यज्य तिष्ठेद्विनायको यथा ॥३१॥ शांत्या नित्यं चरेत् सर्वं मनसीप्सितमंजसा । विधिनिषेधहीनश्च ब्रह्मणि रसधारकः ॥३२॥ एतत् सर्वं समाख्यातं योगिनां चेष्टितं महत् । ब्रह्मभूतात् परं पूर्णं चरेदेवं निरंतरम् ॥३३॥ शृणुयाद्यः पठेद्वाऽपि स सर्वं हीप्सितं लभेत् । अंते योगमयो भूत्वा तिष्ठेत् स गणपे रतः ॥१३४॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे योगस्थितिवर्णनयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । योगशांतिं समाश्रित्य योगमभ्यस्य नित्यदा । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतः स योगभ्रष्टः कथं भवेत् ॥१॥ मायामयं जगत् सर्वं नानाभ्रमसमन्वितम् । ज्ञात्वा स्वयं पुनर्भ्रष्टः कौतुकं वद मे मुने ॥२॥ मुद्गल उवाच । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतस्य योगिनो बिंबसंस्थितम् । बुद्धौ तस्यां विमोहेन मोहयुक्तं प्रजापते ॥३॥ दृष्ट्वा नानाविधान् भोगान् स्वयं मोहेन मोहितः । तेषु भूत्वा रसयुतो नानिच्छति निरंतरम् ॥४॥ तत्र तस्य हृदि दक्ष विवेकः संस्थितो भवेत् । तस्य रूपं प्रवक्ष्यामि शृणु बुद्धिविशारद ॥५॥ अहं ब्रह्मणि योगेन ब्रह्मीभूतो न संशयः । पापपुण्यादिकं मे न शुभाशुभकृतं भवेत् ॥६॥ यदा भोगं परित्यज्य तिष्ठामि नित्यमादरात् । तदा योगस्य वृद्धिर्मे न भविष्यति निश्चितम् ॥७॥ यदा नित्यं प्रभुंजाने भोगान्नानाविधान् परान् । पापपुण्यमनाहत्य तदा योगक्षयो न च ॥८॥ अतोऽहं योगमुत्सृज्य किमर्थं दुःखसंयुतः । तिष्ठामि शांतिमाश्रित्य विधिनिषेधसंयुतः ॥९॥ एवं मनसि संधार्य योगी भोगेषु लालसः । विविधेष्वेव भवति रसयुक्तः क्रमेण सः ॥१०॥ अयं मोहः समाख्यातो योगिहृच्छांतिदायकः । तेन शांतिं परित्यज्य पापपुण्यपरो भवेत् ॥११॥ ततः कामं समाश्रित्य देहसौख्यप्रदायकम् । इच्छेत् स विविधान् भोगान् पुण्यपापपरायणः ॥१२॥ भोगार्थं यतमानस्य योगिनः क्रमभावतः । तत्र विघ्नः कृतः केन ततः क्रोधयुतो भवेत् ॥१३॥ येन विघ्नः कृतस्तेषु भोगेषु तस्य भोगिनः । तं शत्रुं स हि जानाति भिन्नभावपरायणः ॥१४॥ ततो ह्यज्ञानसंभूतिः क्रमेणोत्पद्यते परा । योगिनश्च तया युक्तो हंतुं तं यतते सदा ॥१५॥ शत्रुशिक्षार्थमर्थान् स नानाभावसमन्वितः । संपाद्य तं तु निर्जित्य भोगान् भुंक्ते प्रयत्नतः ॥१६॥ स्वपरज्ञानहीनत्वं गतं तस्य प्रजापते । तदेवाज्ञानसंभूतिः शत्रुमित्रप्रदर्शिनी ॥१७॥ ततः शांतिः क्रमेणास्य विस्मृतिर्जायते परा । तया युतः स्वयं देहं मन्यते सत्यरूपकम् ॥१८॥ देहं संतोषमापन्नं कृतकृत्यमिव स्थितम् । मन्यते विपरीतं स आत्मानं भाग्यवर्जितम् ॥१९॥ ततो योगं परित्यज्य स्वयं बिंबी प्रजायते । बिंबं तन्मयभावेनागमिष्यति न संशयः ॥२०॥ एवं क्रमेण योगी स शांतिहीनस्वभावतः । सदा तिष्ठति तं योगं नाश्रयते कदाचन ॥२१॥ सुखयुक्ते शरीरे स सुखयुक्तो भवेत् स्वयम् । दुःखयुक्ते तथा दुःखी नानाभावपरायणः ॥२२॥ लेशमात्रमयं शांतिं लभते न कदाचन । असंतोषयुतो नित्यं भ्रमते भोगलिप्सया ॥२३॥ भोगार्थं विविधान्येव नित्यं पापानि चादरात् । चरते सर्वपुण्यानि विधिनिषेधवर्जितः ॥२४॥ वर्णाश्रमयुतो योगी स्वधर्मं त्यजय नित्यदा । पापं चरति वा पुण्यं स्वधर्मैः संयुतः कदा ॥२५॥

योगान् भुंक्ते विशेषेण मोहयुक्तो निरंतरम् । योगभ्रष्टोऽयमाख्यातस्त्यक्त्वा योगं नरो भवेत् ॥२६॥ हृदि तस्य विवेकश्च सदा तिष्ठति मोहदः । पुण्यपापविहीनोऽहं ब्रह्मैव ब्रह्मभावितः ॥२७॥ अंते स नरकान् गच्छेद् द्वंद्वदुःखप्रदायकान् । यातनां घोररूपां तु पतेद्भुक्त्वा यतानले ॥२८॥ दक्ष उवाच । योगभ्रष्टगतिं ब्रूहि योगींद्र दयया परम् । कथं नरकगो भुक्त्वा यातनां प्राप्नुयात् परम् ॥२९॥ कर्मफलपरित्यागादिह जन्मधरः कथम् । संभवेद्विस्मयो भाति चेष्टितं योगिनः परम् ॥३०॥ मुद्गल उवाच । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतस्य पुनर्विषयसेवनात् । ब्रह्मणो भक्तिहीनस्यांते स्थानं न भवेत् किल ॥३१॥ अपारपुण्ययोगेन ब्रह्मणि देहिनः कदा । रसोत्पत्तिर्भवेद्दक्ष सर्वश्रेष्ठस्य योगदा ॥३२॥ देहविषयसंयोगाद् द्वंद्वभावपरात्मनः । नानापापादियोगेन पुण्यं स्वल्पं प्रहीयते ॥३३॥ मृतोऽयं शिवलोके वै वैकुंठे सौरशाक्तयोः । ब्रह्मण इंद्रलोके वा पतेदंते न संशयः ॥३४॥ शोकहर्षप्रदं विश्वं नानाद्वंद्वसमन्वितम् । नरको नात्र संदेहो योगिनां शास्त्रसंमतम् ॥३५॥ उत्पत्तिनाशसंयुक्तं त्यक्त्वा ब्रह्मपरायणः । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतः स पुनर्द्वंद्वपरो यतः ॥३६॥ वैकुंठादिपदे संस्थो द्वंद्वं भुंक्ते निरंतरम् । उत्पत्तिनाशसंयुक्तं नानाभोगपरायणः ॥३७॥ अतो योगी प्रजानाथ स्वर्गाख्यान्नरकान् परान् । भुक्त्वा द्वंद्वमयान् पश्चादिह जन्मधरो भवेत् ॥३८॥ भवेद्योगिकुले तस्य जन्म वा तापसे कुले । ऋद्धिमतां स तत्रापि पुनर्योगं चरिष्यति ॥३९॥ पूर्वसंस्कारयोगेन न भोगे स रमेत् कदा । चित्तं तस्य महायोगी प्रभवेत् स्वल्पयोगतः ॥४०॥ पुनर्न योगभ्रष्टः स संभवेद्ब्रह्मणः सुत । शांत्यायुक्तस्वभावेन शरीरं पोषयेत् मुदा ॥४१॥ अंते ब्रह्मणि योगी स तदाकारो भवेत् परम् । योगसंस्कारपुण्येन स्थितिं लब्ध्वा महामतिः ॥४२॥ एतत्ते कथितं पूर्णं योगभ्रष्टस्य चेष्टितम् । किं पुनः श्रोतुमिच्छा ते वद धातर्वदाम्यहम् ॥४३॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे योगभ्रष्टचरितनिरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । चित्तं चंचलमत्यंतं विषयेषु परायणम् । दुर्ग्रहं शांतिसंयुक्तं न भवेत मुनिसत्तम ॥१॥ अतो योगस्य प्राप्त्यर्थं सिद्ध्यर्थं सुगमं ततः । उपायं वद चित्तस्य जयार्थं वाऽपरं प्रभो ॥२॥ मुद्गल उवाच । पंचचित्तेषु यद्दिष्टं स्थितं भ्रांत्या समन्वितम् । चिंतामणेः समाख्यातं तस्यैव भजनं चरेत् ॥३॥ तेन चित्तं जयेद्योगी नान्यं पश्यामि भो विधे । विना चित्तजयं योगदायकं नात्र संशयः ॥४॥ दक्ष उवाच । सुगमं वद मार्गं मे सर्वेभ्यो ब्रह्मदायकम् । संसेव्य जंतवः सर्वे ब्रह्मीभूता भवंति वै ॥५॥ मुद्गल उवाच । अज्ञानेन समायुक्तो नरो विषयलंपटः । शिश्नोदरपरो नित्यं योगं नेच्छति कर्हिचित् ॥६॥ तस्य सकामिकं कर्म सुखदं बोधयेत् परम् । अलभ्यप्रापकं ह्यस्माचरेल्लोभसंयुतः ॥७॥ अलभ्यलभ्यलोभेन त्यक्त्वा पापं महाखलः । सत्कर्मनिरतो भूत्वा चरेत् पुण्यं निरंतरम् ॥८॥ ततस्तेनैकभावेन पापं नश्येन्निरंतरम् । शुद्धोऽत्यंतं नरः कुर्यात् कर्म कामयुतं परम् ॥९॥ समाप्नुयात्ततोऽलभ्यं हृद्यं चेत् पुनरेव सः । विश्वासेन समायुक्तः कुर्यात् कर्म विशेषतः ॥१०॥ अथवा नैव संप्राप्तमलभ्यं तेन तं तदा । उपादिशेद्विशेषेणाधिकं सत्कर्म चाचर ॥११॥ अनंतजन्मभिः पापं त्वया कृतमसंशयम् । अपारमंतरायो भवति ते तद्विघातकम् ॥१२॥ एवं कर्मपरः सोऽपि दुःखितोऽत्यंतमाचरेत् । पापनाशार्थमानंदात्तेन शुद्धांतरो भवेत् ॥१३॥ सत्कामिकपरस्यास्य कर्मात्यंतप्रभावतः । तस्य बुद्धिर्भवेत् दक्ष निःकामिकपरायणा ॥१४॥ जन्ममृत्युप्रदा भोगा भुक्ता विविधजन्मसु । अपारसुखदं ब्रह्म न प्राप्तं देहधारिणा ॥१५॥ अलभ्यं न मया प्राप्तं प्रारब्धाधीनतोऽथवा । प्रारब्धं चालितुं कोऽपि न समर्थो भविष्यति ॥१६॥ अतो निःकामिकं कर्म करोमि नित्यमादरात् । जन्ममृत्युविहीनोऽहं भविष्यामि न संशयः ॥१७॥ ब्रह्मसुखमपारं यल्लब्ध्वा ब्रह्मपरायणः । ब्रह्मीभूतो भविष्यामि यत्नं करोमि तत्परः ॥१८॥ एवं धार्यं परित्यज्य कामान् सेवेत स पंचकान् । देवान् गणेशमुख्यांश्च मुक्तिमार्गपरायणः ॥१९॥ सालोक्यादिभवं सौख्यमिच्छति नित्यमादरात् । क्रमेण तपसा युक्तो प्रभवेत मानवस्ततः ॥२०॥ विभूतिर्ब्रह्मणः प्रोक्ता नानारूपा प्रजापते । तत्र तस्य रमेचित्तमैश्वर्यैर्युक्तभावतः ॥२१॥ इमे समर्थरूपा वै ब्रह्मणः परमात्मनः । अंशतेजोधरास्तस्य सर्वाधीशा भवंत्यतः ॥२२॥ एवं सर्वत्र संचिंत्य तेषां पूजापरो भवेत् । लभेत्तत्कृपया दक्ष चित्तशुद्धिं नरोत्तमः ॥२३॥ विचारेण गणेशानं ज्ञात्वा संपूर्णमंजसा । सर्वपूज्यादिचिह्नैस्तं श्रेष्ठं तत्र रतो भवेत् ॥२४॥ ज्ञात्वा स्वानंदनाथं तं स्वानंदार्थं विशेषतः । प्रभजेद्गणराजं स निष्कामभक्तिसंयुतः ॥२५॥ ततोऽहर्निशमत्यंतं

भजेत्तत्परमो युतः । मोक्षार्थं सर्वभावेन विरक्तो विषयादिषु ॥२६॥ गणेशकृपया तस्य चित्तशुद्धिर्भवेत् परा । तया सर्वस्वभावेन भजेत्तं गणनायकम् ॥२७॥ विश्वं चराचरं सर्वं जानीयात्तत्स्वरूपकम् । सर्वेषां हितभावेन भजेत्तं द्विरदाननम् ॥२८॥ कस्यापि संभवेत् दुःखं तादृशं प्रचरेन्न सः । सहेत सत द्वंद्वजं भावमार्जवेन समन्वितः ॥२९॥ देवकार्यं विना साधुर्न हिंस्यात स कदाचन । पत्रादिकं विशेषेण विश्वरूपपरायणः ॥३०॥ एकांते निर्जने स्थाने स्थित्वा ध्यात्वा गजाननम् । पूजयेद्भक्तिसंयुक्तो ध्यानं कुर्याद्विशेषतः ॥३१॥ अनन्यमनसा देवं भजेत्तं भावधारकः । शमदमपरो भूत्वा चित्तनिग्रहमाचरेत् ॥३२॥ दुर्जयं चित्तमत्यंतं ज्ञात्वा वायुनिबंधनः । प्राणायामपरो भूत्वा जयेत्तन्नात्र संशयः ॥३३॥ अथ वायुनिरोधस्य वदामि मार्गमुत्तमम् । येन पापं परित्यज्य शुद्धचित्तो नरो भवेत् ॥३४॥ पूरयेद्वामनासायां वायुं तस्माच्चनुगुणम् । धारणं तस्य कुर्यात् स स्वोदरे नियतो भवेत् ॥३५॥ पूरकाद् द्विगुणं कुर्याद्रेचकं च प्रजापते । पुनस्तया दक्षिणया पूरयेत् कुंभकं चरेत् ॥३६॥ वामया रेचकं चैव पुनः पुनर्निरंतरम् । प्राणायामं चरेद् धीमान् पापहीनो नरो भवेत् ॥३७॥ एवं त्रैकालिकं कुर्यात् प्राणायामं विशेषतः । नातिनिरोधसंयुक्तं वायुं हठसमन्वितः ॥३८॥ अतिहठेन संरुद्धो वायू रोमभ्य एव च । निःसृत्य कुष्ठसंयुक्तं तं करोति न संशयः ॥३९॥ नाभिमूलस्थिता नाडी इडा च पिंगलाऽपरा । सुषुम्णा तत्र रोधेन मार्गो भवति निर्मलः ॥४०॥ अपानो नाभिमूलस्थो ह्यधो गच्छति सर्वदा । प्राण ऊर्द्ध्वं तथा जन्तोर्नाडीभिः प्रेरितः सदा ॥४१॥ मार्गरोधनभावेन नाड्यां मार्गो भविष्यति । वायुर्मूलं समाश्रित्य तिष्ठति क्रमतस्ततः ॥४२॥ तत्र लघ्वक्षराण्येव द्वादशापि प्रतिष्ठति । वायुश्चेत् स लघुः प्रोक्तः प्राणायामश्च योगिभिः ॥४३॥ ततो द्विगुणतस्तिष्ठेद्यदा वायुः सुरोधितः । मध्यमः स समाख्यातस्त्रिगुणादुत्तमोत्तमः ॥४४॥ एवं प्राणमपानं च स्वमूले संनयेद् बुधः । तयो रोधनभावेन मूलगौ तौ भविष्यतः ॥४५॥ एवं क्रमेण मूलेऽयं वायुर्मुहूर्तं संस्थितः । तदा समानगा नाडी भिद्यते तत्र संस्थिता ॥४६॥ सा सुषुम्णा समाख्याता तत्र संमिलितौ क्रमात् । प्राणापानौ समौ भूत्वा तद्रूपौ तौ भविष्यतः ॥४७॥ त्रिकालज्ञः स्वयं सिद्धो भविष्यति नरोत्तमः । वायुसाधनपात्रत्वं प्राप्य तेजःसमन्वितः ॥४८॥ ततः स्वाधीनतां यातौ प्राणापानौ विशेषतः । स नयिष्यति तौ यत्र क्रमात्तत्र गमिष्यतः ॥४९॥ ततो ध्यानपरो भूत्वा षट्चक्रभेदने रतः । चक्रस्थं स्वस्वरूपं स पश्येत्तद्वायुना गतः ॥५०॥ एवं क्रमेण योगींद्रो गच्छेद्भेद्य प्रजापते । सहस्रारे स

चक्राणि तत्र पश्येद्गजाननम् ॥५१॥ तत्र क्रमेण वायुं संस्थापयेत सुसमाधिना। वायुना संयुतस्तिष्ठेत पश्यन् विघ्नेश्वरं परम् ॥५२॥ क्रमाद्वायुबलेनैवं शुद्धचित्तो भविष्यति। पश्येत सर्वत्र भावेषु स्थितं ब्रह्म सनातनम् ॥५३॥ ततः स्वाधीनतायुक्तः प्रभवेत स्वेन तेजसा। यं यमिच्छेत स तं तं तु सद्यो वै सफलं भवेत ॥५४॥ किंचिदिच्छेन्न यो योगी तदा योगमवाप्नुयात। नो चेच्छंदरतो भूत्वा भोगयुक्तः पुनः पतेत ॥५५॥ साधनं द्विविधं प्रोक्तं क्रियारूपं प्रजापते। बाह्यं कर्मस्वरूपाख्यं तपोयुक्तं स्वधर्मजम् ॥५६॥ आंतरं वायुरोधाख्यं सर्वसिद्धिप्रदायकम्। ताभ्यां चित्तं विनिगृह्य स्ववशं कारयेन्नरः ॥५७॥ बाह्यकर्मरताच्चांतोरांतरं शीघ्रसिद्धिदम्। सहस्राधिकभावाख्यं प्रोक्तं योगींद्रमुख्यकैः ॥५८॥ अतः परं तृतीयं ते साधनं कथयाम्यहम्। येन योगींद्रसेव्यः स ध्रुवं भवति मानवः ॥५९॥ चित्तशुद्धेश्च कार्यार्थं कर्म द्विविधमुच्यते। शुद्धचित्तो नरः पश्चात संपश्येद्ब्रह्म शाश्वतम् ॥६०॥ सर्वत्र पूर्णभावेन संस्थितं परमव्ययम्। अवयवादिभिर्हीनं तत्र लीनो भवेत स्वयम् ॥६१॥ एतावान फलादानाऽयं क्रियायोगः प्रकीर्तितः। बाह्यांतरात्मकः पूर्णस्ततोऽन्यत साधनं चरेत ॥६२॥ चित्तं स्मयुतं कुत्र जायते योगिनः परम्। तज्जयेद्ब्रह्मभावेन शमदमपरायणः ॥६३॥ स्वधर्मसंयुतो भूत्वा देहनिर्वाहकं चरेत्। देहस्य शमनं तत्र जायते स दमः स्मृतः ॥६४॥ विषयार्थं मनस्तस्य संकल्पं यत समाचरेत। तत्रक्रैश्चित्तमागृह्य कुर्याद्ब्रह्मपरायणम् ॥६५॥ अयं शमः समाख्यातस्तेन चित्तं भवेत परम्। स्वाधीनं सर्वभावं च त्यक्त्वा ब्रह्मपरं भवेत ॥६६॥ शनैः शनैरुपरमेद्विषयेभ्यो महात्मवान। धृतिं योगमयीं धृत्वा भवेद्योगी स मानवः ॥६७॥ कर्ममार्गं परित्यज्य द्विविधं योगिसत्तमः। ध्यानयोगपरो भूत्वा निष्ठन्नित्यं वदामि तम् ॥६८॥ मनोवाणीविहीनं यद्ब्रह्म तत्र समाचरेत। ध्यानं संकल्पत्यागाख्यं विषयेषु निरंतरम् ॥६९॥ यो यश्चित्तेन संकल्पः क्रियते विषयेषु च। तत्तत्संकल्पहीनं स कारयेद्योगतत्परः ॥७०॥ एवं चित्तं नरस्यैव स्वाधीनं जायते सदा। यदा धर्तुं स नो शक्तस्तदान्यदाचरेद्बुधः ॥७१॥ देहेंद्रियाणि संगृह्य तिष्ठेद्भूमौ महायशाः। न चलेत स्थाणुवत सोऽपि क्रियां नैव समाचरेत ॥७२॥ तत्र यत्मिलितं चान्नं जलपानादिकं चरेत। परेच्छया समायुक्तः सदा तिष्ठेत महायशाः ॥७३॥ केनापि जलपानादि न दत्तं तादृशो वसेत। न तदर्थं भ्रमेत सोऽपि नेच्छेत प्रारब्धधारकः ॥७४॥ सर्पवृश्चिकव्याघ्राद्यैः पीडितो यदि मानवः। नानाप्रहारयोगैश्च मानवादिभिरेव वा ॥७५॥ तथापि न चलेत् सोऽपि स्वस्थानाज्जडवत्परः। देहप्रारब्धमाश्रित्य न तेषु क्रोधमाचरेत् ॥७६॥ पूर्वजन्मकृतं कर्म

मया तेन प्रबोधितः । इमं संपीडयंत्येवमेषां दोषो न विद्यते ॥७७॥ अथवा सात्त्विकैस्तत्र पूजितः सर्वभावतः । नित्यं नानाजनैः सोऽपि सेवितो न चलेत्तदा ॥७८॥ पूर्वजन्मकृतं कर्म प्रेरितास्तेन मानवाः । मया मां पूजयंत्येव गुण एषां न विद्यते ॥७९॥ एवं मनसि संधार्य तेषां नेच्छेच्छुभं कदा । द्वंद्वमेवं परिगृह्य तिष्ठन्नित्यं महायशाः ॥८०॥ अनेन विधिना सोऽपि स्वल्पकालेन भो विभो । चित्तं जयेन्न संदेहः शांतिं पूर्णामवाप्नुयात् ॥८१॥ नान्यत् किंचिच्चरेत् कर्म न ध्यानादिक-मादरात् । एवं शमदमौ धृत्वा भवेद्योगी स मानवः ॥८२॥ विचारं ब्रह्मणस्तत्र कुर्यान्नित्यं विशेषतः । कीदृशं ब्रह्म इत्यर्थं से वेदाद्यैः प्रतिपादितम् ॥८३॥ पंचभूमिमतिक्रम्य तिष्ठन् क्रमेण मानवः । नानाब्रह्मणि पश्यन् सन्नंते शांतिमवाप्नुयात् ॥८४॥ शांतियुक्तो नरः पश्चात् संत्यजेत्तां महाद्भुताम् । जडावस्थां पुनः सोऽपि यथेच्छाचारगो भवेत् ॥८५॥ हृदि चिंतामणिं दृष्ट्वा पंचभूमिप्रचालकम् । शांत्या युक्तो भवेन्नित्यं स्वाधीनहृदयः परः ॥८६॥ दृष्ट्वा ब्रह्म स्वयं योगी रसहीनो भवेत् मुदा । सर्वत्र नात्र संदेहः शांत्या सर्वं समाचरेत् ॥८७॥ अनेन विधिना दक्ष ज्ञानी पापपरायणः । क्रमेण साधयेद्योगं स योगी संभवेत् परः ॥८८॥ एवं कर्तुमशक्तश्चेत्तदा श्रुत्वा महामतिः । इमं योगं स्वयं तत्र निष्ठायुक्तो भवेत् सदा ॥८९॥ स्वधर्मनिरतो भूत्वा योगमिच्छेन्निरंतरम् । नियभोगान् प्रभुंजन् सन्नंते स्वानंदगो भवेत् ॥९०॥ गणेश्वरं तत्र दृष्ट्वा योगयुक्तो भविष्यति । ज्योतिर्देहधरो भूत्वा प्रभजेद्गणनायकम् ॥९१॥ ब्रह्म कल्पमयं स्थित्वा कालं तत्र महामतिः । तद्देहे लीनतां प्राप्य ब्रह्मभूतो भविष्यति ॥९२॥ एवं कर्तुमशक्तश्चेत्तदा स धर्मसंयुतः । कर्माचरेत् प्रजानाथ ब्रह्मार्पणविधानतः ॥९३॥ तेनैव शुक्लगत्या स ब्रह्मीभूतो नरो भवेत् । निःकामयोगमार्गेण सदा ब्रह्मणि तत्परः ॥९४॥ एवं कर्तुमशक्तश्चेत्तदाऽहं ब्रह्मभावतः । त्रिविधं फलमुत्सृज्य कर्मजं योगमाप्नुयात् ॥९५॥ कर्मत्यागबले-नैवाहं ब्रह्म निश्चयेन सः । क्रमेण कर्मसंयुक्तो भविष्यत्यन्यजन्मनि ॥९६॥ निःकामकर्मकर्ता स पुनरन्यभवे नरः । योगरससमायुक्तो भवेद्विषयनिंदकः ॥९७॥ एवं क्रमेण शांतिं स लभेत् पूर्णां न संशयः । क्रमार्थं रचितं सर्वं नानामतसमन्वितम् ॥९८॥ सुगमं सर्वभावेषु गणेशभजनं परम् । तेन योगी भवेन्नूनं सर्वशास्त्रेषु संमतम् ॥९९॥ यत्किंचिद् गणराजस्य व्रतपूजादिकं प्रभोः । कीर्तनश्रवणाद्यं तु ब्रह्मीभूतप्रदायकम् ॥१००॥ नानाविषयसंयुक्तो नरः स्मरेद्गणाधिपम् । अहर्निशं तदास्यांते गणेशस्मरणं भवेत् ॥१॥ तेन स्वानंदगो भूत्वा योगमभ्यस्य तन्मयः । ब्रह्मकल्पांत-

भावे स भविष्यति न संशयः ॥२॥ स्मरणं गणराजस्य प्रकुर्यान्नित्यमादरात् । तस्यांते गणराजस्य स्मृतिं दद्यान्नराय सः ॥३॥ अतोऽहर्निशमेकं तं संस्मरेत् मानवः परम् । नानायोगादिकं सर्वं साध्य योगिसमो भवेत् ॥४॥ आयासेन विहीनोऽपि सदा विषयलंपटः । गणेशस्मरणे सक्तः सः शुकसमतां व्रजेत् ॥५॥ शिवविष्णुमुखादीनां नरो यः स्मरणं चरेत् । अंते तेषां स्मृतिं तस्मै स दद्याच्चित्तगः प्रभुः ॥६॥ तेषां लोकं समासाद्य भुक्त्वा भोगान् मनोहरान् । प्रपतेन्नाऽत्र संदेहो मृत्युलोके विशेषतः ॥७॥ पुराणेषु प्रपञ्चेते त्रिगुणानां लयाः सदा । अतः स जन्ममृत्युभ्यां युक्तो भवति तद्गतः ॥८॥ अतः सारं समाख्यातं गणेशभजनं परम् । तेनाज्ञानसमायुक्तो नरो ब्रह्ममयो भवेत् ॥९॥ एतत्ते कथितं दक्ष योगप्राप्त्यर्थमादरात् । अज्ञानसंयुतस्यापि ब्रह्मीभूतप्रदायकम् ॥१०॥

॥ इति श्रीमदान्त्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचर्यायां मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे अज्ञानिनां क्रमयोगवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतामृतान्तर्गतस्तु सुगमास्तु पंचमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । विभूतीर्वद योगीश गणेशस्य महात्मनः । या ज्ञात्वा ताः समाराध्य गणेशज्ञो भवेन्नरः ॥१॥ मुद्गल उवाच । अपारा गणनाथस्य विभूतयो न संशयः । ता न शक्ताः कथयितुं भवंति शंकरादयः ॥२॥ क्षणे क्षणे गणेशानो नानाविल्पराणः । विभूतिभिर्जगत्सर्वं भावयति परात्परः ॥३॥ लोकेषु तत्त्वमुख्येषु जगत्सु ब्रह्मसु प्रभोः । ये श्रेष्ठास्तस्य ते सर्वे विभूतिपदधारकाः ॥४॥ कल्पे कल्पे विभूतीनामवतारा असंख्यकाः । गणेशस्य तथा दक्ष तात वक्तुं कः क्षमो भवेत् ॥५॥ अतः संक्षेपतस्तुभ्यं कथयिष्यामि ताः शृणु । विभूतीर्गणनाथस्य नानासिद्धिप्रदायिनीः ॥६॥ जगत्सु ब्रह्मसु प्राज्ञ योगरूपो गजाननः । कथं न भिन्नभावाख्यं वर्तते वर्णयाम्यहम् ॥७॥ मायाभ्यां संयुतः सोऽपि नानावेषप्रधारकः । अयोगिनामिदं हृद्यं सत्यं संभासते सदा ॥८॥ मायायुक्तप्रभावेण किं किं गजाननस्य

च । न संभवेदहं मायां समाश्रित्य वदामि ताः ॥९॥ कलांशाः कलया युक्ताः कलांशांशाः कलात्मकाः । तेषामंशधरा ये ते सर्वे विभूतिधारकाः ॥१०॥ एवमेव गणेशानः पृष्टश्च नारदेन सः । जगाद ताः शृणुष्व त्वं विभूतीः परमाद्भुताः ॥११॥ श्रीगणेश उवाच । पूर्णां योगेषु सर्वेषु चित्तरोधमयः परः । मायाहीनप्रभावाणामयोगोऽहं महामुने ॥१२॥ स्वानंदो निजभक्तेषु तुर्येष्वव्यक्तसंज्ञितः । आनंदसमभावेषु जीवेष्वात्माहमंजसा ॥१३॥ नानाभेदेषु ब्रह्माहमसद्रूपप्रधारकम । सत्येषु सांख्य-रूपोऽहं बोधः खेलकेषु च ॥१४॥ देहाभिमानयुक्तेषु सदैकोऽहं महामते । देहेषु बिंदुरूपोऽहं चेतनासु गुणेश्वरः ॥१५॥ कोशेष्वानंदकोशोऽहं विज्ञानं सूक्ष्मजातिषु । विवेकेषु मनश्चाहं चालकेषु समीरणः ॥१६॥ स्थूलेष्वन्नस्वरूपोऽहं समष्टिषु तथेश्वरः । व्यष्टिषु प्राज्ञरूपोऽहमणुषु च महाविराट् ॥१७॥ इंद्रियेषु मनश्चाहं भूतेष्वाकाशसंज्ञितः । तन्मात्राणामहं शब्दो ज्ञाताहं देवतासु च ॥१८॥ तत्त्वेषु विविधेष्वेव महत्तत्त्वमहं परम् । गुणेषु गुणपोऽहं तु पालकेषु जनार्दनः ॥१९॥ हरः संहारकर्तॄणां स्रष्टॄणां प्रपितामहः । कर्मणामर्यमाऽऽत्माऽहं मोहकानां च शक्तिका ॥२०॥ देवानां मघवाऽहं तु आदित्यानां विनायकः । तेजसां भानुरूपोऽहममृतेषु विधुः परः ॥२१॥ अग्निः प्रतापदेष्वेव धर्मः समप्रवृत्तिषु । यमो यमवतां चाहं रक्षसां निर्ऋतिः स्वयम् ॥२२॥ जलेषु वरुणोऽहं तु बलवत्सु समीरणः । निधीनां धनदाताऽहं रुद्राणां शंकरः प्रभुः ॥२३॥ कामो धनुर्धराणां च रतिर्भोगेषु भोगदा । नागेशानामहं शेषः सर्पाणां तक्षकः स्वयम् ॥२४॥ नागानां वासुकिर्नाम जंबुद्वीपेषु सर्वदः । स्वादूदकः समुद्राणां पर्वतेषु हि मेरुकः ॥२५॥ पितॄणां यमरूपोऽहं वृक्षेषु शमिका मता । देववृक्षेषु मंदारस्तरूणां कामदायकः ॥२६॥ धेनूनां कामधेनुर्या दूर्वा चौषधिषु प्रभुः । पक्षिषु तु मयूरोऽहं मृगाणां सिंहरूपधृक् ॥२७॥ मासानां श्रावणश्चाहं चौराणां मूषकाधिपः । वाहनेष्वश्ववाहोऽहं सिद्धिरैश्वर्यदेषु च ॥२८॥ विद्यासु बुद्धिरूपोऽहं चित्तं प्रकाशकारिणाम् । अहं मनश्च वेगानां मोहदेष्वभिमानकः ॥२९॥ नराधिपो नराणां तु वर्णेषु ब्राह्मणो-ऽप्यहम् । आश्रमेषु तुरीयोऽहं पोषकेषु गृहस्थकः ॥३०॥ त्यागिनामवधूतोऽहं तिथीनां च चतुर्थिका । प्रजापतिषु दक्षोऽहं ब्रह्मर्षिषु भृगुस्तथा ॥३१॥ नारदो दैवतर्षीणां दत्तोऽवधूतरूपिणाम् । कपिलस्तत्त्वविज्ञानां योगिनां शुक एव यः ॥३२॥ जनकोऽहं विदेहानां निःसंगेषु महामुने । सनकादय एवाऽहं ज्ञानिनां बादरायणः ॥३३॥ वसिष्ठः कर्मकर्तॄणां गाणपत्येषु मुद्गलः । भ्रूशुंडी चैकनिष्ठेषु ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ॥३४॥ अन्नानां तिलरूपोऽहं गव्यानां घृतमंजसा । मधु सर्वरसानां च

मकरो जलजात्मनाम् ॥३५॥ कौमंडली नदीनां च तीर्थेषु गाणपं परम् । क्षेत्राणां मयूरक्षेत्रं काशिराजः सुबुद्धिषु ॥३६॥ मयूरेशोऽवताराणां गार्ग्य उपासकात्मनाम् । ध्याननिष्ठेषु सर्वेषु गृत्समदोऽहमेव च ॥३७॥ सुबोधौ दैत्यजातीनां ज्ञानारिर्दूषकारिणाम् । दुर्जयेषु मनश्चाहं वर्णेष्वोंकार एव सः ॥३८॥ शुक्रोऽहं भाविकेष्वेव त्रिशिराः शुद्धचेतसाम् । उपदेशप्रदातॄणां याज्ञवल्क्यः प्रतापवान् ॥३९॥ पौराणिकेषु सूतोऽहं श्रोतॄणां शौनको मुनिः । सेनानीनामहं स्कंदो विष्णुर्यशस्विनामहम् ॥४०॥ पापेष्वनृतरूपोऽहं कलहो भेदधारिणाम् । प्राप्तिषु लोभरूपोऽहं मणीनां चिंतितार्थदः ॥४१॥ ज्ञानं पवित्रं भावानां सामगायकधर्मिणाम् । वेदेष्वथर्वसंज्ञोऽहं शस्त्रेषु परशुः परः ॥४२॥ निर्लेपानामहं साक्षी राजश्रीषु राजसस्था । विषयो भ्रांतिदानां च रंभा ह्यप्सरसामहम् ॥४३॥ गंधर्वाणां चित्ररथो वैद्यानां वैद्यनायकः । धन्वंतरिस्तु भिषजां समुद्रः सरसात्मनाम् ॥४४॥ स्रोतसां जाह्नवी विप्र मंत्राणामेकवर्णजः । सूक्तेषु ब्राह्मणस्पत्यं यज्ञेषु ज्ञानरूपधृक् ॥४५॥ प्राणेषु तु समानोऽहं शक्तिः शक्तिमतामहम् । बृहदारण्यकं विद्धि नानोपनिषदां परम् ॥४६॥ शास्त्रेषु योगशास्त्रं च पुराणेषु च मौद्गलम् । अरण्यानां महारण्यं दंडकाख्यमहं परम् ॥४७॥ नियंतॄणामहं दंडो मायाऽहं भावकारिणाम् । स्मृतीनां याज्ञवल्क्यस्य स्मृतिरेव परा मता ॥४८॥ गायत्री छंदसां विप्र स्वानंदो नगरात्मनाम् । व्याकरणमंगभूतेषु कलासु योगदा ह्यहम् ॥४९॥ नीतिज्ञेषु तथा काव्यो वृषभो भूमिधारिणाम् । नंदिकेशो गवां चाहं नग्नो भैरवभाविनाम् ॥५०॥ एवं नानाविधाऽऽकारा विभूतिर्गणपस्य या । कथितुं नैव शक्या सा सारा संकथिता मया ॥५१॥ यद्यच्छ्रेष्ठतमं विप्र सा विभूतिर्न संशयः । लोकेषु गणराजस्य तां भावय विशेषतः ॥५२॥ मुद्गल उवाच । एवमुक्त्वा गणेशानो विरराम प्रजापते । नारदस्तं प्रणम्यैव जगाम तादृशोऽभवत् ॥५३॥ य इमां श्रावयेद्दक्ष शृणुयाद्वा प्रयत्नतः । न मोहं स लभेत क्वापि ज्ञात्वा सामर्थ्यजं महः ॥५४॥ अपारमहिमायुक्ता जीवाश्च परमेश्वराः । ते सर्वे विघ्नराजस्य विभूतिपदधारकाः ॥५५॥ एवं ज्ञात्वा गणेशानं ये भजंति मनीषिणः । ते सर्वे ब्रह्मभूताश्च भविष्यंति प्रजापते ॥५६॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे

योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधने विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । त्वया प्रोक्तः पुरा विप्र विचारो ब्रह्मणः परः । तं कृत्वा योगमाप्नोति तद्वदस्व हितावहम् ॥१॥ क्रियया शुद्धचित्तो यो नरो ब्रह्मपरायणः । सर्वत्र ब्रह्मरूपं यद्विधिना केन पश्यति ॥२॥ मुद्गल उवाच । शास्त्रांतरं क्रियां कृत्वा शुद्धचित्तो नरोत्तमः । तत्त्वविचारमार्गेण पश्यति ब्रह्म शाश्वतम् ॥३॥ ततोऽहं कथयिष्यामि तत्त्वज्ञानं प्रजापते । आदौ योगिजनानां यत् साधनं योगदायकम् ॥४॥ पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुराकाशमेव यत् । पंचभूतमयो देहः प्रकृतिः सा च पंचधा ॥५॥ क्रियारूपा महाभागा नानाभेदपरायणा । विभज्यात्मानमेवं सा क्रीडति विविधं रता ॥६॥ भूतानामेकभावाख्या पंचानां ज्ञानरूपिणी । प्रकृतिर्हृदि संस्था सा जीवभावधरा परा ॥७॥ तया ज्ञानं भवेत् सर्वं नानाविवेकदायकम् । तदाधारं जगत् सर्वमेकरूपा प्रकीर्तिता ॥८॥ तयोर्योगे प्रजानाथ ब्रह्मैवमभिधीयते । क्रियाज्ञान-स्वरूपाख्यं द्वंद्वहीनं परात्परम् ॥९॥ तदेव पंचधा जानं शृणु तद्योगदायकम् । स्थूलं सूक्ष्मं समं चात्मप्रतीतं बिंदु-संज्ञितम् ॥१०॥ समष्टिव्यष्टिभावेन द्विविधं ब्रह्म कथ्यते । पृथक्त्वेन स्वयं भाति पंचसु पंचभेदतः ॥११॥ स्थूलं जागृन्मयं ब्रह्म तदेव द्विविधं मतम् । विश्वाख्यं व्यष्टिरूपेण वैश्वानरं समष्टिगम् ॥१२॥ अंडेषु विविधा रूपा जंतवो दृष्टिगोचराः । जागृद्भावधराः सर्वे विश्वात्मका उदाहृताः ॥१३॥ तस्य बोधं प्रवक्ष्यामि सुगमार्थप्रकाशकम् । क्रियात्मकेषु देहेषु क्रियारूपा भवंति ते ॥१४॥ ज्ञानात्मकेषु देहेषु ज्ञानरूपधरा मताः । उभयोर्योगभावेन विश्वाख्यास्ते प्रकीर्तिताः ॥१५॥ बाह्यदेहस्य भो दक्ष वितस्तिर्यादृशी भवेत् । तावन्मानेन सर्वेषां ज्ञानदेहो हृदि स्थितः ॥१६॥ विराट् जागृत् स्वरूपस्थो वैश्वानर इति स्मृतः । व्यापकात्मकदेहेन तिष्ठति विश्वभाविषु ॥१७॥ तस्यापि द्विविधो देहः क्रियाज्ञानप्रभेदतः । तयोर्योगे समाख्यातो वैश्वानरश्च तन्मयः ॥१८॥ विश्ववैश्वानरयोश्च योगे ब्रह्म प्रकीर्तितम् । जागृद्भावधरं पूर्णं स्थूलभूतप्रकाशकम् ॥१९॥ एतत् स्थूलस्य तत्त्वं ते कथितं तु समासतः । तत्र तत्त्वविधिं भिन्नं शृणु योगसमाधिदम् ॥२०॥ जन्ममृत्युयुतं यच्च नानाभाव-परायणम् । त्वंपदाख्यं प्रजानाथ विद्धि तत् सर्वभावगम् ॥२१॥ जन्ममृत्युविहीनं यदेकरूपं प्रकीर्तितम् । तत्पदाख्यं च तद्विद्धि परं सर्वात्मधारकम् ॥२२॥ तयोर्योगे भवेत्तत्वं तदेवासिपदं परम् । द्वंद्वभावविहीनं यद् द्वंद्वरूपप्रकाशकम् ॥२३॥ त्वंपदं क्रियया युक्तं ज्ञानाख्यं तत्पदं भवेत् । तयोर्योगे भवेद्विश्वं तत्त्वरूपं न संशयः ॥२४॥ एवं वैश्वानराख्यं त्वं जानीहि तत्त्वसंज्ञितम् । क्रियाज्ञानसमायोगे तयोः प्रकाशकारकम् ॥२५॥ अथान्यच्छृणु दक्ष त्वं तत्त्वरूपं पुरातनम् । विश्वाख्या

जंतवः सर्वे नानाभावात्मका बुधैः ॥२६॥ जन्ममृत्युयुताः प्रोक्तास्त्वंपदधारका मताः । वैश्वानरस्त्वंपदश्चैकरूपाद्व्यापको मतः ॥२७॥ तयोरभेदभावे यद्ब्रह्मतत्त्वं प्रकीर्त्यते । जागृद्भावधरं पूर्णं स्थूलभावपरायणम् ॥२८॥ एवं नानाविभागेषु ज्ञातव्यं तत्स्वरूपकम् । सूक्ष्मादिषु प्रजानाथ ब्रह्मसौख्यप्रदायकम् ॥२९॥ अथ सूक्ष्मं प्रवक्ष्यामि योगमार्गप्रसिद्धये । शुद्धचित्तप्रभावेण तज्ज्ञानं तन्मयं भवेत् ॥३०॥ बाह्यं स्थूलं विशेषेण जागृदसमयं परम् । आंतरं स्वप्नभावाख्यं सूक्ष्मं जानीहि मानद ॥३१॥ प्राणो दशविधः प्रोक्तः सूक्ष्मरूपोऽतरे स्थितः । तस्मात् सूक्ष्मं मनः प्रोक्तं प्राणांतः संव्यवस्थितम् ॥३२॥ तस्मात् सूक्ष्मं च विज्ञानं देहद्वंद्वजमुत्तमम् । मनोऽन्तरे स्थितं पूर्णं तदंतरे च विद्यते ॥३३॥ त्रिविधं कोशसंयुक्तं स्वप्नं सूक्ष्मस्वरूपकम् । सर्वांतरे स्थितं ब्रह्म द्वंद्वमायाप्रचालकम् ॥३४॥ क्रियारूपस्तथा देहः सूक्ष्मभूतमयः स्मृतः । सर्वांतरे समास्थाय कल्पिताभोग-कारकः ॥३५॥ ज्ञानदेहः समाख्यातः सदैकभावधारकः । पूर्ववत् सर्वं विज्ञेयं सूक्ष्ममायाप्रकाशकम् ॥३६॥ भिन्नभावधराः सर्वे जंतवः स्वप्नगाः पराः । तैजसास्ते मताः शास्त्रे क्रियाज्ञानप्रकाशकाः ॥३७॥ विराट् तत्र समाख्यातो हिरण्यगर्भ-संज्ञितः । व्यापकः स्वप्नभावेषु नानाजंतुप्रचालकः ॥३८॥ तयोरभेदभावे यद्ब्रह्म स्वप्नात्मकं परम् । सूक्ष्ममायाप्रकाशत्वात् सूक्ष्मं तत कथ्यते बुधैः ॥३९॥ पूर्ववत्तत्त्वभावश्च विज्ञेयः सूक्ष्मगः परः । शुद्धचित्तप्रभावेण साक्षात्कारं करोति सः ॥४०॥ अतः परं समाख्यं यद्ब्रह्म सुषुप्तिसंज्ञितम् । कथयामि महाप्रीत्या लोकानामुपकारकम् ॥४१॥ बाह्यं जागृन्मयं दक्ष वपुः सर्वत्र पठ्यते । आंतरं स्वप्नमित्युक्तं तयोर्योगे समात्मकम् ॥४२॥ बाह्यांतरैकभावाख्यं बाह्यांतरविवर्जितम् । आनंदकोशगं साम्यं कृतं भूतैर्गुणात्मकैः ॥४३॥ जागृत्त्यक्त्वा नरो यस्तु स्वप्नं गच्छति तत्र सः । तयोः संधिं समाश्रित्य सुषुप्तिर्जायते परा ॥४४॥ तथा स्वप्नं परित्यज्य जागृतिं गच्छति स्वयम् । तयोः संधिं समास्थाय तिष्ठति सा सुषुप्तिका ॥४५॥ यत्र सुप्तो नरो दक्ष ज्ञानयुक्तो भवत्यसौ । न जानाति स्वकं चान्यं स्वप्नं नैव प्रपश्यति ॥४६॥ सा सुषुप्तिः समाख्याता निद्रां संश्रित्य तिष्ठति । जागृतिस्वप्नबोधं या करोति सा सुषुप्तिका ॥४७॥ सा द्विधा मायया युक्ता प्राज्ञेश्वरस्वभावतः । भिन्नदेहधराणां तु प्रज्ञाख्या सा प्रकीर्तिता ॥४८॥ विराड्रूपधरा नित्या सेश्वराख्या प्रकथ्यते । ब्रह्मरूपा तयोर्योगे तत्त्वसंज्ञा यथा पुरा ॥४९॥ अथ तुरीयरूपं ते कथयामि समासतः । नादरूपधरं भूततन्मात्राभेदमंजसा ॥५०॥ व्यवस्थासंश्रितं पूर्णं त्रिषु साक्षिव-दुच्यते । तस्यानुभवमाहात्म्यं कथयामि हिताय ते ॥५१॥ मया जागृन्मयं भुक्तं मया स्वप्नं विलोकितम् । निद्रायां न मया

किंचिज्ज्ञानं वदति यः स वै ॥५२॥ यदा जागर्ति विश्वस्थस्तदा द्वाभ्यां विवर्जितः। यदा स्वपिति स द्वाभ्यां हीनस्तिष्ठति निश्चितम् ॥५३॥ यदा सुषुप्तिसंस्थोऽयं तदा द्वाभ्यां विवर्जितः। एवं भेदप्रकारैः स व्यवस्थासंयुतो मतः ॥५४॥ तस्य तत्त्वं प्रवक्ष्यामि वैश्वतैजसप्राज्ञतः। त्वंपदाख्यः समाख्यातो नादरूपधरः प्रभुः ॥५५॥ त्रिविगुणमय एवासौ तत्पदाख्यः प्रकीर्त्यते। तयोरभेदभावे स तत्त्वरूपोऽस्मितामयः ॥५६॥ अवस्थानां समायोगो नादस्तुरीयधारकः। सदैकभावसंयुक्तः सर्वत्राऽसौ विराजति ॥५७॥ न बाह्यो नाऽऽन्तरस्थोऽयं नोभयात्मक उच्यते। अहमित्येव कोशात्माऽस्मिताख्यः परमेश्वरः ॥५८॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि बिंदुतत्त्वं सुसौख्यदम्। पंचमं ब्रह्मसंज्ञं तत् देहानां देहगं परम् ॥५९॥ व्यवस्थामयसंस्थं यत्त्वंपदस्थं प्रकथ्यते। तुरीयसंज्ञितं देहं तत्पदाख्यं प्रकीर्तितम् ॥६०॥ तयोरभेदभावे यत्तत्त्वं योगमयं परम्। चतुर्षु संस्थितं पूर्णं चतुर्भिर्वर्जितं सदा ॥६१॥ एवं तत्त्वविचारेण शमदमपरायणः। संकल्पजान् सदा कामांस्त्यक्त्वा योगमयो भवेत् ॥६२॥ सर्वत्र ब्रह्मसंस्थं यत् पश्येत्तत्नात्र संशयः। तत्त्वरूपधरं पूर्णं तत्त्वविचारतः सदा ॥६३॥ अथान्यत्तत्त्वमार्गं ते कथयिष्यामि सर्वदम्। बिंदुस्त्वंपदसंज्ञस्थः सोऽहं तत्पदगं मतम् ॥६४॥ तयोर्योगे प्रजानाथ बोधस्तत्त्वमयः स्मृतः। मनोवाणीविहीनत्वात् दृश्यते योगिना परः ॥६५॥ बोधस्त्वंपदरूपश्च विबोधस्तत्पदात्मकः। तयोर्योगे स्वसंवेद्यं तत्त्वं वेदे प्रकीर्तितम् ॥६६॥ असत्त्वंपदरूपं सत्तत्पदस्थमुदुच्यते। तयोर्योगे समं ब्रह्म तत्त्वं योगप्रदं मतम् ॥६७॥ समं त्वंपदसंज्ञस्थमव्यक्तं तत्पदस्थितम्। तयोर्योगे तथा तत्त्वं स्वानंदाख्यं प्रकीर्तितम् ॥६८॥ स्वानंदस्त्वंपदाख्यश्चायोगस्तत्पदमुच्यते। तयोर्योगे परं तत्त्वं पूर्णयोगमयं मतम् ॥६९॥ सिद्धिस्त्वंपदगा प्रोक्ता बुद्धिस्तत्पदगा मता। तयोर्योगे गणेशानस्तत्त्वरूपः प्रकथ्यते ॥७०॥ एवं नानामतैर्युक्ता वेदांतार्थविचक्षणाः। तत्त्वं वदंति दक्ष त्वं जानीहि नात्र संशयः ॥७१॥ अनंतभावसंयुक्तं त्वंपदं विद्धि सर्वदा। अकल्पितं तत्पदाख्यं तयोर्योगे परं भवेत् ॥७२॥ इदं सारं रहस्यं ते कथितं योगदं परम्। येन सर्वत्र योगं स संपश्येज्ज्ञानचक्षुषा ॥७३॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधेन तत्त्वविचारयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । शुक्लां कृष्णां गतिं ब्रूहि याभ्यां मुक्तिमवाप्नुयात् । संसारं च तथा योगिन् दयया सर्वनायक ॥१॥ मुद्गल उवाच । कर्मत्वं त्रिविधं विद्धि कर्माकर्मविकर्मगम् । स्वधर्मवर्जितं सर्वं कर्म विकर्मसंज्ञकम् ॥२॥ स्वधर्मसंयुतं कर्म भोगवासनया युतम् । कर्मसंज्ञं विजानीहि कृष्णगतिपदप्रदम् ॥३॥ ब्रह्मार्पणतया कर्म स्वधर्मस्थं भवेत् परम् । शुक्लगतिमयं विद्धि मुक्तिदं तदकर्मकम् ॥४॥ आग्नेयं ज्योतिरयनमुत्तराख्यं दिवा तथा । शुक्लगतिमयं सर्वं जानीहि मुक्तिदायकम् ॥५॥ चांद्रं ज्योतिर्धूमरात्री दक्षिणायनमेव यत् । कृष्णगतिस्वरूपं तज्जानीहि जनिमृत्युदम् ॥६॥ तयोर्भेदं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया । येन द्वैतं परित्यज्य ब्रह्मणि निरतो भवेत् ॥७॥ निःकामिकं कर्म कृत्वा मृतो नरो यदा भवेत् । रात्रौ स दक्षिणार्के वा न तं गृह्णन्ति देवताः ॥८॥ देवभोगांस्तिरस्कृत्य ब्रह्मार्पणपरायणम् । नरं तं किं करिष्यन्ति देवाः स्वर्गसुखप्रदाः ॥९॥ अतो दाहे स वै दक्ष अग्निज्योतिःस्थगो भवेत् । दिवसे समनुप्राप्ते दिवा दैवतरा-स्तथा ॥१०॥ उत्तरायणसंभूते स गच्छेद्भानुमंडले । प्रलये मंडलस्यैव नाशे पुरुषगो भवेत् ॥११॥ महाप्रलयवेलायां प्रकृतेः पुरुषस्य च । नाशे ब्रह्मणि गच्छेत स ब्रह्मभूतो भवेत्ततः ॥१२॥ सकामकं कर्म कृत्वा दिवसे उत्तरायणे । मृतं नरं न तं भानुर्गृह्णाति कामनायुतम् ॥१३॥ सदाग्ने धूमसंस्थश्च यदा रात्रिः समागता । तदा तस्यां समाश्रित्य तथा तिष्ठेत प्रजापते ॥१४॥ दक्षिणायनमानंदादागतं वीक्ष्य तत्क्षणात् । विमानवरमारुह्य गच्छेत स्वर्गं विहायसा ॥१५॥ चांद्रं ज्योतिः समाश्रित्य भोगान् भुंक्ते स्वकर्मजान् । कर्मप्रमाणमार्गेण नानास्वर्गपरायणः ॥१६॥ विधिं तत्र प्रवक्ष्यामि चंद्र-कलासमुद्भवम् । अमृतं देवलोकेषु स्वर्गेषु भोगदं परम् ॥१७॥ इह कर्म कृतं पूर्णं नरैस्तदमृतात्मकम् । भवति चंद्रगं सर्वं तेन कलायुतो भवेत् ॥१८॥ शुक्लपक्षे क्रमेणायमेकैककलया प्रभुः । वृद्धियुक्तः स्वयंपूर्णः पूर्णिमायां प्रदृश्यते ॥१९॥ कृष्णपक्षे सुराः सर्वे क्रमेणामृतभोजिनः । पिबंति चंद्रसंस्थं तदमृतं तृप्तिकारकम् ॥२०॥ तेन तृप्तियुताः सर्वे भवंति माससमाततः । अमायां पतितश्चंद्र ओषधीषु न संशयः ॥२१॥ अत ओषधयश्छेद्या नरेण नैव निश्चितम् । अमायां चंद्रसंयोगयुक्ताः सुखपरायणाः ॥२२॥ अतश्चंद्रभवं सर्वममृतं देवभूमिषु । चांद्रः स्वर्ग इति प्रोक्तस्तेनैवं वेदवादिभिः ॥२३॥ देवानां विविधानां स कर्म कृत्वा सकामकम् । कर्मागदेवमभ्यर्च्य गच्छेत् समर्प्य तत्क्रियाम् ॥२४॥ तत्तल्लोकसुखं भुक्त्वा नानाभोगसमन्वितम् । भोगांते पुनरेवाऽसौ मेघमंडलगो भवेत् ॥२५॥ तत्र जलमयो भूत्वा पतेद् वृष्ट्या स भूमिषु ।

ततः ओषधिगो भूत्वा भवेदन्नमयस्ततः ॥२६॥ ततो वीर्यं समाश्रित्य गच्छेत स जठरे स्त्रियः । तत्र तत्त्वानि तं दक्ष आविशंति न संशयः ॥२७॥ क्षेत्रज्ञः संस्थितस्तत्र तत्त्वैः क्षेत्रं विनिर्ममे । विधिं तस्य प्रवक्ष्यामि गर्भोपनिषदि भवम ॥२८॥ तत्रैकदिवसेनैव स्त्रीवीर्यं रक्तसंश्रितं । तस्मिन संमिलनं कृत्वा तदाकारो भवेन्नरः ॥२९॥ ततस्त्रिदिवसैः सोऽपि फेनरूपो भवेन्नरः । बुद्बुदः पंचदिवसैः पेशी सप्तदिनैस्तथा ॥३०॥ ततश्चतुर्दशैः सोऽपि दिवसैः फुल्लतां गतः । पंचविंशतिभिस्तत्र मांसरूपो भवेत स्वयम ॥३१॥ मासेन कठिनत्वं स प्रगच्छेत्तत्र संस्थितः । द्विमासाभ्यां शिरो युक्तो भवेत्तत्र प्रजापते ॥३२॥ त्रिमासैः कंठसंयुक्तश्चतुर्मासैस्त्वचा युतः । पंचमासैर्भवेज्जंतुरिंद्रियैः संयुतः क्रमात् ॥३३॥ अवयवादिसंयुक्तो नखरोम-समन्वितः । भवेत मुखेन संयुक्तो मासैः षड्भिर्न संशयः ॥३४॥ तत इंद्रियसंभूतं ज्ञानं भवेत क्रमेण वै । षण्मासैः परिपूर्णश्चाऽऽकृतिः पूर्णा भवेत् परा ॥३५॥ पूर्वकर्मानुसारेण यादृशी योनिराभवेत् । तादृशाकृतिसंयुक्त इंद्रियैश्च समन्वितः ॥३६॥ सप्तमासैर्भवेज्जंतुश्चेतनया समन्वितः । उदरे प्रचरेत् सोऽपि मातुर्दुःखसमन्वितः ॥३७॥ अवकाश-विहीनः स पीडितो जंतुभिः सदा । मूर्च्छां गच्छेत् पुनः संज्ञां कोमलोऽतीव मानवः ॥३८॥ अष्टमासैस्ततस्तत्र बुद्धियुक्तो भवेन्नरः । सांख्ययोगपरो भूत्वा ध्यायेद्ब्रह्म सनातनम् ॥३९॥ अतिसंकोचभावेन पीडितो जंतुभिस्तथा । मातुर्भक्ष्यान्न-दोषैः स वेदनासंयुतो भवेत् ॥४०॥ गर्भदुःखं स विज्ञाय तन्निवृत्त्यर्थमादरात् । सांख्ययोगपरो भूत्वा भजेत्तं गणनायकम् ॥४१॥ ततस्तत्र भवेत्तस्य ज्ञानं परमसौख्यदम् । तेनानंतभवानां स दृष्ट्वा दुःखं निवृत्तिगः ॥४२॥ अनन्यमनसा देवं स्तुयात् स्तोत्रैर्महामतिः । गर्भवासप्रशांत्यर्थं ब्रह्म भूयार्थमादरात् ॥४३॥ गर्भ उवाच । नमस्ते गणनाथाय ब्रह्मणे ब्रह्मरूपिणे । अनाथानां प्रणाथाय विघ्नेशाय नमो नमः ॥४४॥ ज्येष्ठराजाय देवाय देवदेवेशमूर्तये । अनादये परेशाय चादिपूज्याय ते नमः ॥४५॥ सर्वपूज्याय सर्वेषां सर्वरूपाय ते नमः । सर्वादये परब्रह्मन् सर्वेशाय नमो नमः ॥४६॥ गजाकारस्वरूपाय गजाकारमयाय ते । गजमस्तकधाराय गजेशाय नमो नमः ॥४७॥ आदिमध्यांतभावाय स्वानंदपतये नमः । आदि-मध्यांतहीनाय त्वादिमध्यांतगाय ते ॥४८॥ सिद्धिबुद्धिप्रदात्रे च सिद्धिबुद्धिविहारिणे । सिद्धिबुद्धिमयायैव ब्रह्मेशाय नमो नमः ॥४९॥ शिवाय शक्तये चैव विष्णवे भानुरूपिणे । मायिनां मायया नाथ मोहदाय नमो नमः ॥५०॥ किं स्तौमि त्वां गणाधीश यत्र वेदादयोऽपरे । योगिनः शांतिमापन्ना अतस्त्वां प्रणमाम्यहम् ॥५१॥ रक्ष मां गर्भदुःखात्त्वं त्वामेव

शरणागतम्। जन्ममृत्युविहीनं वै कुरुष्व ते पदप्रियम् ॥५२॥ एवं संस्तुवतं तं नवमासादनंतरम्। प्रसूतिजो महावायुर्बहिः कुर्यात्तरं क्षणात् ॥५३॥ वायुना चालितः सोऽपि मुमूर्च्छ दुःखसंयुतः। संकीर्णांगः पतेज्जंतुर्धरण्यां योनिमार्गतः ॥५४॥ भवेत् स सावधानोऽत्र विस्मृतो ज्ञानमुत्तमम्। बालभावधरः कुर्याद्रोदनं धरणीतले ॥५५॥ फलहीनं भवेत् सर्वं गर्भागारकृतं महत्। ज्ञानादिकमतो भूमौ मायया सर्वमंजसा ॥५६॥ न साधितं नरेणात्र कर्मभूमौ प्रजापते। ज्ञानादिकं तदा सोऽपि गर्भजं दुःखमश्नुते ॥५७॥ एवं कृष्णा गतिश्चैव कथिता ते विशेषतः। जन्ममृत्युकरी जंतोः सुखदुःखप्रदायिनी ॥५८॥ इदं गर्भकृतं स्तोत्रं यः पठिष्यति मानवः। स भुक्त्वा सकलान् भोगानंते स्वानंदगो भवेत् ॥५९॥ न कदाचिल्लभेत् सोऽपि गर्भवासं प्रजापते। अतो विशेषतो जंतुर्निरंतरमिदं जपेत् ॥६०॥ अधुना कथयिष्यामि ह्यन्यमर्थं सुखप्रदम्। शुक्लकृष्णगतिसंस्थं येन ज्ञानं तयोर्भवेत् ॥६१॥ भक्तिमुक्तिफलोभार्थं नरः कुर्यान्निरंतरम्। कर्म स्वधर्मसंयुक्तो नानादेवं स योगवित् ॥६२॥ उत्तरायणगे भानौ दिवसे वा मृतो भवेत्। स चाग्निलोकमासाद्य तपोयुक्तो भवेत् सदा ॥६३॥ तत्र भोगप्सुतां त्यक्त्वा गच्छेच्छक्तिं महामतिः। तत्राभिमानमुत्सृज्य गच्छेत् दिवं दिवाकरम् ॥६४॥ अतिध्यानेन संयुक्तस्तत्रात्मानं स चिंतयेत्। अंतरात्मानमुत्सृज्य गच्छेद्वैकुंठमेव च ॥६५॥ तत्रानंदं परित्यज्य शिवं गच्छेन्न संशयः। तत्र साक्षित्वमुत्सृज्य गच्छेत् स्वानंदमंजसा ॥६६॥ तत्र गणेश्वरं दृष्ट्वा ब्रह्मीभूतो नरो भवेत्। शुक्लगतिप्रभावेण कथितं ते प्रजापते ॥६७॥ यदा दक्षिणगे भानौ रात्रौ वा स मृतो भवेत्। भुक्तिमुक्तिपरः सोऽपि गच्छेत् स्वर्गं ततो नरः ॥६८॥ नानास्वर्गफलं भुक्त्वा स्वकर्मनिर्मितं नरः। पुनः पतेद्धि भूमौ तत्र मोक्षरुचिर्भवेत् ॥६९॥ ततः शुक्लां समाश्रित्य मोक्षं गच्छेत् स योगवित्। एवं जानीहि भो दक्ष गत्योर्मार्गं पुरातनम् ॥७०॥ यदैकदेवतां श्रित्वा तद्भक्तस्तत्परः सदा। उपासनाविधानेन स्वधर्मस्थो भजेत् स ताम् ॥७१॥ स मृतः स्वेष्टदेवस्य लोकं गच्छेन्न संशयः। तत्क्षणाच्चंद्रसूर्याख्यौ मार्गौ नैव प्रकीर्तितौ ॥७२॥ तत्र भोगान् प्रभुंजानः स पतेदिह निश्चितम्। त्रिगुणात्ममया देवास्तेषां नाशे प्रजापते ॥७३॥ यदा गणेश्वरं सोऽपि भजेदत्रैव मानवः। अंते स्वानंदगो भूत्वा ब्रह्मीभूतो भविष्यति ॥७४॥ स्वानंदो नाशहीनश्च सदा ब्रह्मसुखप्रदः। अतः स्वानंदमाश्रित्य ब्रह्मीभूतो भविष्यति ॥७५॥ मरणे दाघहीनश्चेत्तेजस्तत्त्वं समाश्रितः। अथवा धूम्रतत्त्वं स शुक्लकृष्णगतिश्रितः ॥७६॥ पूर्ववत् सर्वमाख्यातं तस्य सर्वं

प्रजापते । एवं विस्तरतो गत्योः कथितं ते प्रजापते ॥७७॥ अतो गणेश्वरं दक्ष समाश्रय हितप्रदम् । योगक्षेमं स ते कुर्यादनन्यचेतसः सदा ॥७८॥ न शुक्ला नैव कृष्णा ते भविष्यति गतिः कदा । ब्रह्मभूयमयं भावं प्राप्स्यसे नात्र संशयः ॥७९॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदान्त्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खण्डे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधने शुक्लकृष्णगतियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच । क्षेत्रं वद महाभाग क्षेत्रज्ञं च तयोः परम् । सर्वगं ब्रह्म यत् प्रोक्तं येन ज्ञानं तयोर्भवेत् ॥१॥ मुद्गल उवाच । देहं क्षेत्रमयं विद्धि देही क्षेत्रज्ञमंजसा । तयोर्योगे महद्ब्रह्म स्वत उत्थानसंज्ञितम् ॥२॥ भूतानि पंचतन्मात्राः पंच ज्ञानेंद्रियाणि तु । कर्मेंद्रियाणि पंचैव वायवः पंच देवताः ॥३॥ इंद्रियाणां दशैवाऽपि द्वेष इच्छा धृतिस्तथा । अव्यक्तं चेतना दुःखं सुखं मोहनमेव च ॥४॥ चित्तं बुद्धिः स्थूलसूक्ष्मे कारणं च तुरीयकम् । एतेषां योगभावे यत् क्षेत्रं तत् कथितं बुधैः ॥५॥ सदैकभावरूपश्च भेदैः संवर्जितः परः । क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमास्थाय सर्वांतर्यामितां दधे ॥६॥ तयोर्योगे परं ब्रह्म दृश्यादृश्य-विवर्जितम् । दृश्यादृश्यमयं पूर्णं बोधरूपं प्रजापते ॥७॥ स्थूलसूक्ष्मसमात्माख्यैर्भावैर्माया विशेषतः । क्षेत्रज्ञं मोह्यस्वाधीनं करोति नित्यमादरात् ॥८॥ चतुर्भेदैर्विशेषेण मोहितोऽत्यंतमेव सः । अहं देहस्वरूपाख्यो मन्यते सततं मुधा ॥९॥ ततः क्षेत्रस्य भोगार्थं नानाकर्मपरायणः । त्रिगुणेषु भ्रमेणैव भ्रमतेऽहंममात्मकः ॥१०॥ ततस्तमोगुणं त्यक्त्वा राजसं धारयेन्नरः । राजसं च ततस्त्यक्त्वा सात्त्विकः संभवेत् क्रमात् ॥११॥ ततस्तुरीयमाश्रित्य गणेशं स भजेत् परम् । सर्वगं पंचमं साध्यं ब्रह्मीभूतो भवेन्नरः ॥१२॥ इह सौख्यप्रदं यच्च कर्म संजायते सदा । पापरूपमयं तेन ज्ञायते न कदाचन ॥१३॥ देहभोग-करं पूर्णं शिश्नोदरपरायणम् । तामसं तद्विजानीहि चांते नरकदं भवेत् ॥१४॥ तत्र तामससंयुक्ता भुक्त्वा दुःखं महाद्भुतम् ।

पुना रोगादिसंयुक्ता भवंति नीचयोनिषु ॥१५॥ काणमूकादिदोषैस्ते संयुक्ताः पापचेतसः । दरिद्रादिसमायुक्ता भोगैर्हीना भवंत्यपि ॥१६॥ पुनः पापसमाचारा भवंति यदि मानवाः । अंते यमस्य गेहे ते नरकस्थाः पुनः पुनः ॥१७॥ अतस्तमोगुणस्थं स्वभावं त्यक्त्वा च मानवाः । धर्मार्थधृतिसंयुक्ता यत्नेन दैवयोगतः ॥१८॥ विद्धि राजसगं भावं नरा भुवि सकामकम् । सततं कर्म कुर्वंति भोगदं धर्मसंयुताः ॥१९॥ वासनासंयुतं कर्म स्वधर्मस्थं भवेत्किल । तदेव राजसं विद्धि नानाभावगतं परम् ॥२०॥ राजसाः सर्वभोगं तु भुक्त्वा पुनः पतंत्यपि । इह ये यादृशं कर्म कुर्वते तादृशं फलम् ॥२१॥ अथवा स्वल्पभावेन कृतं राजससंभवम् । कर्म तेन नरा भूमौ भवंते तत्क्षणात् पुनः ॥२२॥ अथवा विविधास्ते ते योनिषु संभवंत्यपि । नीचोंचासु विशेषेण जन्ममृत्युपरायणाः ॥२३॥ राजसानां प्रजानाथ नरको नैव विद्यते । स्थावरं जंगमं श्रित्वा भवंते जन्मसंयुताः ॥२४॥ तत्र दुःखं सुखं नाना भुंजते नात्र संशयः । एवं राजसगं सर्वं कथितं ते समासतः ॥२५॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि सात्विकं कामवर्जितम् । स्वधर्मस्था जना विद्धि तत्कुर्वंति निरंतरम् ॥२६॥ ब्रह्मार्पणतया यद्यद्भवति कर्म धर्मजम् । नानाविधं परं तत्तत् स्वात्त्विकं विद्धि मानद ॥२७॥ तेन शुक्रगतिं श्रित्य गच्छंति मोक्षसंज्ञसा । अतः सत्त्वगुणेनैव युक्ता भवंति मानवाः ॥२८॥ अतःपरं तुरीयं ते कथयामि समासतः । रसहीनस्वभावेन चित्तं देहसमन्वितम् ॥२९॥ तदा भवति चेत्तुर्यं कर्म संजायते परम् । नानाविधं जगत् सर्वं ब्रह्माकारं न संशयः ॥३०॥ यद्यत्तेन कृतं कर्म तदेव ब्रह्मदं भवेत् । स्तुतिनिंदादिकं किंचिन्नैव तत्र प्रकीर्तितम् ॥३१॥ देवभक्तादिकं दक्ष नैव तुर्ये प्रतिष्ठितम् । ब्रह्मणि समभावेन वर्तते सर्वदा स्वयम् ॥३२॥ अंतरे सर्वभावेषु पश्यति विश्वरूपिणम् । तदा तुरीयगं कर्म क्वचिद्भवति नान्यथा ॥३३॥ एवं सर्वसमन्वेन यद्भवेत्तत्तुरीयकम् । कर्म प्रारब्धयोगेन ब्रह्मणो रसभावतः ॥३४॥ अंतेऽस्मिन्नामये तेन लीनो भवति मानवः । महाकारणभावेन भवेत् त्रिगुणचालकः ॥३५॥ अतः परमहं कर्म कैवल्यं कथयामि ते । निषेधविधिहीनं यद्भवेत् कर्म स्वेच्छया ॥३६॥ ब्रह्मभूयमयं विद्धि पंचमं योगिसंमतम् । कर्ता देहो न संदेहस्तुरीयं प्रेरकं मतम् ॥३७॥ कुतस्तत्र व्यवस्थाख्यं तुरीयं वर्तते परे । चतुर्विधं येन सृष्टमिदं सर्वं स्वलीलया ॥३८॥ स एव कर्तृभावेन कारयितृप्रभावतः । तत्र तिष्ठति कोऽहं तु कुतो ब्रह्मविचारतः ॥३९॥ नाहं नरो न वै ब्रह्म मया साध्यं निरंतरम् । भ्रांत्या सर्वं न संदेहो दृश्यते मायया मयि ॥४०॥ स्वेच्छया खेलति ब्रह्म चतुर्भेदमयं परम् । शुभाशुभं तस्य नास्ति वृथाऽहंता

त्यजेन्नरः ॥४१॥ अनेनानुभवेनैव शान्त्या संवर्तते नरः । रसं सर्वत्र संत्यज्य ब्रह्मणो रसधारकः ॥४२॥ एवं चतुर्विधं भाव स्थितं देहिस्वरूपकम् । देहभ्रान्तिविहीनं तत्कृत्वा सोऽहंपरो भवेत् ॥४३॥ एवं क्रमेण योगीन्द्रो भवयोगान्नरोत्तमः । कथितं विस्तरात् सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसाधनम् ॥४४॥ अथ वर्णाश्रमाचारं शृणु सर्वसुखप्रदम् । येन धर्मार्थकामांश्च लभेत् मोक्षं नरोत्तमः ॥४५॥ चित्तेंद्रियाणि वश्यानि क्षमार्जवतपांसि च । शौचं श्रुतिस्मृतीनां वै ज्ञानं यत्र प्रतिष्ठति ॥४६॥ वेदाचार-विहीनं यन्न करोति कदाचन । सदा ब्रह्मपरो यस्माद्ब्राह्मणः स च संस्मृतः ॥४७॥ शौर्यं दाक्ष्यं तथा दार्ढ्यं युद्धे संमुखता सदा । शरण्यरक्षणं नित्यं प्रभुत्वं दंडधारणम् ॥४८॥ धृतिः क्षात्रं सदा तेजश्चित्तमौदार्यसंयुतम् । सुनीत्या पालनं पंच कर्मयुक्तः स बाहुजः ॥४९॥ क्रयविक्रयको नित्यं वस्तूनां भूमिकर्षणम् । गवां पालनकं त्रेधा कर्मयुक्तः स वैश्यकः ॥५०॥ त्रिवर्णसेवनं दानं नाममंत्रं जपेत् परम् । पुराणश्रवणं शौद्रं कर्म पौराणिकं द्विजात् ॥५१॥ अंत्यजानां पुराणोक्तं कर्म विप्रमुखोद्गतम् । नैव शूद्रसमं चान्यदस्पर्शत्वं द्विजादिषु ॥५२॥ कृतोपवीतको विप्रः क्षत्रियो वैश्य एव यः । वेदादिकं समभ्यस्यन् ब्रह्मचर्ययुतो भवेत् ॥५३॥ भिक्षाशनो भवेन्नित्यं गुरोराज्ञावशानुगः । गायत्रीं संजपेन्नित्यं त्रिकालेषु च रोमधृक् ॥५४॥ सायं प्रातश्च जुहुयात् हविर्नित्यं जितेंद्रियः । षोडशाब्दं द्वादशाब्दं ब्रह्मचर्यं चरेत् परम् ॥५५॥ पंचयज्ञपरो नित्यं नैमित्तं स समाचरेत् । कृतदारः प्रजार्थं स ऋतुगामी भवेद् गृही ॥५६॥ स्त्रीसंगं संपरित्यज्य स्त्रिया युक्तो वसेद्वनम् । वन्येन सर्वकर्माणि कुर्यान्नित्यं तपः परम् ॥५७॥ नखलोमयुतश्चैव न ग्रामेषु प्रवेशयेत् । कुर्यादेवं वानप्रस्थो वायुभक्ष्यादिकं चरेत् ॥५८॥ मनसाऽपि स्मरेन्नैव स्त्रीसंगं न्याससंयुतः । चित्तनिग्रहसंयुक्तो भिक्षाशी सततं नरः ॥५९॥ कपर्दिकादिकं किंचिन्न स्पृशेत् स कदाचन । ब्रह्मणि ब्रह्मभूतत्वं तदर्थं श्रमयेत् सदा ॥६०॥ साक्षिवद् देहसंस्थोऽपि मौनादिदंडधारकः । अथवा दंडहीनः स ज्ञानदंडधरो भवेत् ॥६१॥ एवं संन्यासकं कृत्वा सदा तिष्ठेद्यतात्मवान् । मुक्तिमार्गमयं शास्त्रं स्पृशेन्नान्यद्विनिश्चितम् ॥६२॥ वर्णाश्रमविहीनश्चेद्योगी पंचमगः स्मृतः । विधिनिषेधहीनः स यथा विनायको भवेत् ॥६३॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं स्वधर्माचरणादिकम् । येनैव प्राप्यते योगो नरेण ब्रह्मदायकः ॥६४॥ दक्ष उवाच । धर्मार्थकाममोक्षाणां स्वरूपं वद मानद । ब्रह्मीभूतस्य भिन्नं मे भ्रमनाशकरं परम् ॥६५॥ केचिद्धर्मं महाश्रेष्ठमर्थं कामं तु मोक्षकम् । परात्परं वदंत्येव ब्रह्मभूयं तथाऽपरे ॥६६॥ मुद्गल उवाच । धर्मेण ब्रह्मलोकश्च लभ्यते मानवैः परः । ब्रह्मा सर्वसमानश्च स्वधर्माख्यः

प्रकीर्तितः ॥६७॥ अर्थः समर्थभावाख्य ईशलोकप्रदायकः । ईश्वरात्र समर्थोऽन्यः परस्य ब्रह्मांडमंडले ॥६८॥ कामो भोगात्मकः प्रोक्तो विष्णुलोकप्रदायकः । स लक्ष्मीपतिराख्यातो नानाकामप्रदः प्रभुः ॥६९॥ मुक्तिः सौरात्मिका प्रोक्ता सूर्यः पुरुष उच्यते । शुक्लमार्गचरः पूर्णः साक्षात साक्षी विभावसुः ॥७०॥ ब्रह्मीभूतमयः प्रोक्तः स्वानंदः पूर्णयोगदः । वदंति न परं लोकं स्वानंदाद्वेदवादिनः ॥७१॥ अन्यच्छृणु प्रजानाथ पंचैते योगदायकाः । योगार्थवाचकाः सर्वे तत्र भेदं वदाम्यहम् ॥७२॥ योगधर्मेण योगश्च लभ्यते मानवैः परः । न योगादपरः श्रेष्ठस्तेनार्थोऽयं प्रकीर्त्यते ॥७३॥ योगकामेन योगोऽयं लभ्यते सर्वभावतः । मायाया वरणं त्यक्त्वा मोक्षयोगः प्रकीर्त्यते ॥७४॥ ब्रह्म ब्रह्मणि वेदेषु कथितं नात्र संशयः । तत्र योगेन योगी यो ब्रह्मीभूतः स वै स्मृतः ॥७५॥ धर्मार्थकाममोक्षाख्या योगशास्त्रे विशेषतः । भिन्ना मायामयाः प्रोक्ता ब्रह्मीभूतस्तु पंचमः ॥७६॥ ब्रह्मणि ब्रह्मभूतो यो योगी एव स उच्यते । न भिन्नः सर्वथा तस्माद्ब्रह्मणो ब्रह्मगः परः ॥७७॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदंत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमितिरोधेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतामृतार्थतत्त्वम् सुगमार्तु नवमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ मुद्गल उवाच । वक्ष्यामि भावनां चैकां वेदशास्त्रार्थसंयुताम । नानामतभयं त्यक्त्वा तया योगी भवेत्परः ॥१॥ चैतन्यं न्यायशास्त्रज्ञा वदंति ब्रह्ममुख्यकम । चैतन्येन युताः सर्वे स्वस्वकार्यपरायणाः ॥२॥ सर्वप्रकाशकत्वात्तचैतन्यं ब्रह्मसंज्ञितम । चैतन्येन यदा त्यक्तं तदा नाशमुपैष्यति ॥३॥ पंचचित्तात्मयोगेन चैतन्यं ब्रह्मसंज्ञितम् । भवत्यत्र न संदेहः शब्दार्थानामनेकतः ॥४॥ तार्किकाः प्रवदंत्येव सर्वाभेदं परं मतम् । ब्रह्मवेदांतवादेषु विद्यते शास्त्रसंमतौ ॥५॥ पंचचित्तमया भेदा अभेदा योगिना कृताः । योग एकार्थभावाख्यो भवत्यर्थप्रमाणतः ॥६॥ धर्मशास्त्र-

विदः सर्वे बोधात्मैव परं पदम्। ब्रह्म बोधमयं मुख्यं भावाभावविवर्जितम् ॥७॥ पंचचित्तगतो धर्मस्त्यक्तव्यस्तेन योगकः। धर्मो भवेन्न संदेहो ब्रह्मधर्मधरः प्रभुः ॥८॥ सांख्या वदंति सांख्यं यद्ब्रह्म संख्याविवर्जितम्। विबोधान्न परं ब्रह्म खेलहीनप्रभावतः ॥९॥ तत्र पंचविधं चित्तं परं योगेन संख्यया। हीनं तदेव भवति योगाख्यं शब्दमानतः ॥१०॥ मीमांसका वदंत्येव स्वसंवेद्यं परं मतम्। कारणं ब्रह्म तत्रान्यन्नास्ति ब्रह्मणि संस्थितम् ॥११॥ पंचचित्तं परित्यज्य ब्रह्मरूपं करोति तत्। मीमांसया स्वयं योगी योगवाच्यं भवेत् परम् ॥१२॥ एवं नानामतैर्युक्ता वदंति शास्त्रभेदतः। ब्रह्म नानाविधं दक्ष तदेवं योगगं भवेत् ॥१३॥ शक्तिर्ब्रह्मेति शाक्ता वै न वदंति न तत्परम्। संयोगो द्वंद्वयोर्यत्र तदेवं योगगं भवेत् ॥१४॥ शक्तिः पंचमचित्तंगा सा ब्रह्मणि समागता। परिगृह्य निरोधाख्यं चित्तं देवी ततः स्मृता ॥१५॥ सौरं ब्रह्मेति सौराश्च वदंति तु परात्परम्। तस्मात्परं न विद्येत सर्वाधारप्रमाणतः ॥१६॥ भेदात्मकं स संजीव्य नित्यं तिष्ठति चादरात्। तेन योगमयः सूर्यो भवत्यत्र न संशयः ॥१७॥ वदंति विष्णुर्ब्रह्मेति मुख्यं यद्वैष्णवा जनाः। तस्मात् परं पदं नास्ति सदानंदप्रमाणतः ॥१८॥ चित्तं यत् पंचमं तत्र मोहं त्यक्त्वा तदात्मकम्। ब्रह्मयोगे भवेद्योग आनंदो नात्र संशयः ॥१९॥ शैवाः शैवं परं ब्रह्म वदंति मुख्यभावतः। वेद तस्मात् परं नास्ति किंचित् मोहविहीनकम् ॥२०॥ निरोधं त्रिविधं दक्ष पराधीनं न संशयः। तत्रस्थं योगरूपाख्यं स्वाधीनं योगगं भवेत् ॥२१॥ एवं नानामतैर्युक्ता स्वस्वदेवपरायणाः। वदंति तत् प्रमाणं वै शब्दानामर्थभावतः ॥२२॥ अनेकार्थमयाः शब्दास्तेषु किं किं न संभवेत्। सर्वे योगार्थवाच्या वै जायंते योगिनः क्रमात् ॥२३॥ अन्नप्राणादिकाः शब्दा एवं ब्रह्मप्रवाचकाः। ते सर्वे योगदा दक्ष भवंति ब्रह्मधारणात् ॥२४॥ वेदांतमथ वक्ष्यामि सर्वमान्यं विशेषतः। शास्त्राणि च तदंगानि तत्प्रमाणानि सर्वदा ॥२५॥ यः सर्वं सर्वभावेषु युतो जानाति मायया। मायाहीनप्रभावेण योगस्तिष्ठति नित्यदा ॥२६॥ तदेव ब्रह्ममुख्यं तु सर्वेभ्यो नात्र संशयः। ब्रह्मभ्य ऋग्जगादैव प्रज्ञानं योगगं स्मृतम् ॥२७॥ पंचचित्तभवं सर्वं यो जानाति तदेव सः। योगस्तद्गतभावैः संवर्जितो भवति प्रभुः ॥२८॥ अहं ब्रह्मेति यद्ब्रह्म सर्वदोषविवर्जितम्। सदैवं यजुषा प्रोक्तं मुख्यं वै परतः परम् ॥२९॥ पंचचित्तभवा भेदास्तेष्वेवं भेदवर्जितम्। योगं विद्धि प्रजानाथ योगशास्त्रप्रमाणतः ॥३०॥ मायामोहयुतं यच्च मायामोहविवर्जितम्। तयोर्योगे परं ब्रह्म साम्ना संकथितं किल ॥३१॥ मायामोहयुतं ब्रह्म स्वानंदाख्यं ततः परम्। अयोगं मायया

हीनं तयोर्योगे तु योगगम् ॥३२॥ ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थं यन्मनोवाणीमयं न तत् । मनोवाणीविहीनं नाथर्ववेदो जगाद ह ॥३३॥ मनोवाणीमयः प्रोक्तः संप्रज्ञातो न संशयः । असंप्रज्ञातकस्ताभ्यां हीनो योगस्तयोः परः ॥३४॥ एवं वेदार्थयुक्तानि महावाक्यानि मानद । योगाख्यानि विशेषेण जानीया योगसेवया ॥३५॥ कर्मादयः समाख्याताः शब्दा ब्रह्ममया बुधैः । भवंति योगसंज्ञस्यास्ते सर्वं योगिनां मतं ॥३६॥ सर्वशास्त्रमनैक्यं ते कथितं शब्दधारणात् । तज्ज्ञात्वा मोहहीनः स सदा भवति मानवः ॥३७॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांते पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खण्डे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधेन नानात्मैक्ययोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतामृतनिषत्सु सुगमासु दशमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ मुद्गल उवाच । अथो लयं प्रवक्ष्यामि येन चित्तं लयं व्रजेत् । ब्रह्मण्यास्थाय योगं च ज्ञात्वा योगं प्रजापते ॥१॥ लयश्चतुर्विधः प्रोक्तो नित्यो नैमित्तिकः परः । तृतीयः प्राकृतो विप्रैः सारस्वतश्चतुर्थकः ॥२॥ कर्माकर्मविकर्माख्यो नित्यः प्रोक्तो बुधैः पुरा । कर्मानुकूलभावेन जनानां जननादिकम् ॥३॥ क्षणक्रमादिमारभ्यायुषामंतः समास्थितः । गर्भाधानाद्यवस्थानां प्रकाशश्च प्रकथ्यते ॥४॥ ब्रह्मणो दिवसांते स कुंठितो नात्र संशयः । नैमित्तिकलयेनैव त्रिलोकलयकारिणा ॥५॥ शुभाशुभयुताः सर्वे जंतवो लयमाययुः । शुभाशुभफलैर्हीना बभूवुः कर्मकुंठनात् ॥६॥ स्वर्गमंडलपर्यंतं त्रैलोक्यं प्रलयं गतम् । तावता स प्रमाणेन नित्यः संकथितो बुधैः ॥७॥ अथो नैमित्तिकं दक्ष कथयामि समासतः । चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते ॥८॥ नैमित्तिको दिनांतो यस्तदाख्यं वर्तते लयः । तेन नैमित्तिकः प्रोक्तो नाम्ना सर्वार्थकोविदैः ॥९॥ अधुना प्राकृतं वच्मि व्यवस्थाभिर्युतं लयम् । महाकारणगं चेदं स प्राकृत उदाहृतः ॥१०॥ तत्त्वानामेकभावोऽयं स्थूलसूक्ष्मसमात्मनाम् । प्राकृतः प्रकृतिस्थत्वात् कथ्यते विबुधैः परः ॥११॥ सारस्वतं परं पूर्णं शृणु योगप्रदं प्रभो । निरोधचित्तभावेन पंचचित्तलयात्मकम् ॥१२॥ मनोवाणीमयं सर्वं

विश्वं नानास्वभावगम् । मनोवाणीविहीनं त्वमसंप्रज्ञातं विदुर्बुधाः ॥१३॥ वाण्या संकथ्यते भावो मनस्तत्र प्रगच्छति । नानापदार्थभिन्नत्वात् सर्वेषां प्राणिनां प्रभो ॥१४॥ वाण्या वाणीविहीनं यत् कथितं ब्रह्म हृद्गतम् । चित्तं समाधिना तत्र सदा तिष्ठति तादृशम् ॥१५॥ वाणी सा द्विविधा प्रोक्ता ब्रह्माकारा जगन्मयी । तयोर्नाशे लयः प्रोक्तः परः सारस्वतो बुधैः ॥१६॥ सरस्वतीलयं यत्र योगभावात् प्रगच्छति । महावाक्यादिसंयुक्ता स सारस्वत उच्यते ॥१७॥ सारस्वतलयेनैव चित्तं पंचविधं प्रभो । चिंतामणौ लयं कृत्वा तिष्ठ त्वं योगिसंमतः ॥१८॥ एतत् सर्वं समाख्यातं योगदं ते समासतः । गोपयैनं महायोगं ततो योगी भविष्यसि ॥१९॥ मा योगं कथयस्व त्वमिमं कस्मै प्रजापते । पात्रहीन-प्रभावेण भ्रंशदस्ते भविष्यति ॥२०॥ वासनाहीनभावेन गणेशज्ञानलालसान् । तान् बोधय विशेषेण तदाऽयं शुभदो भवेत् ॥२१॥ अत्र ते कारणं दक्ष कथयामि समासतः । तस्य श्रवणमात्रेण संशयस्तु लयं व्रजेत् ॥२२॥ योगाकारो गणेशानो यदा खेलपरोऽभवत् । तदा तं वचनं मायि सिद्धिबुद्धी समूचतुः ॥२३॥ सिद्धिबुद्धी ऊचतुः । यदि खेलं करोषि त्वमावाभ्यां गणनायक । आवां त्वां छादयिष्यावो नानाभावप्रदर्शनात् ॥२४॥ वेदादिभिस्तत्र वाणीमयी गाथा गजानन । स्वरूपं ते यथातथ्यं कथयिष्यति मानवान् ॥२५॥ तेन त्वां ब्रह्मणां नाथं ज्ञास्यंते मानवादयः । त्वदुपासन-मात्रेण भवेयुर्ब्रह्मभूतकाः ॥२६॥ न त्वां छादयितुं शक्ते वाणीस्थं गणनायक । अतस्तदर्थमानंदात् कुरु किंचिद्गजानन ॥२७॥ एवं तयोर्वचः श्रुत्वा ते जगाद गजाननः । मा खेदं कुरुतं देव्यौ वाणीं संमोहयाम्यहम् ॥२८॥ मोहिता सा मया वाणी वर्णनं भ्रांतिदं च मे । करिष्यति प्रगूढार्थयुतं सत्यार्थभाषितम् ॥२९॥ गूढार्थं नैव देवेशा योगीशास्तत्त्वदर्शिनः । ज्ञास्यंति तेन मां सर्वे न भजिष्यंति भावतः ॥३०॥ सिद्धिबुद्धियुतं ब्रह्म वाणी प्रकटयिष्यति । न गणेशमयीं गाथां कथयिष्यति योगदाम् ॥३१॥ सिद्धिबुद्धिमयं सर्वं जगद्ब्रह्म प्रसेव्य यः । यदा शुद्धो नरो भावी तदा मां ज्ञास्यति प्रिये ॥३२॥ परं सिद्धियुतं ब्रह्म कथितं सिद्धिदायकम् । स एव गणनाथोऽयं पतिः सिद्धेः प्रमाणतः ॥३३॥ परं बुद्धियुतं ब्रह्म परं बुद्धेः प्रकथ्यते । गणेश एव संप्रोक्तः पतिर्बुद्धेः प्रमाणतः ॥३४॥ एवं त्रैविध्यगं वाणी वदिष्यति सदा तु माम् । सिद्धिदं बुद्धिगं ब्रह्म शास्त्रेष्वेतत् त्रयं मतम् ॥३५॥ एवमुक्त्वा गणेशानः पुनस्तूष्णीं बभूव तम् । उवाच प्रणनामादौ भक्तिः परम-दुःखिता ॥३६॥ भक्तिरुवाच । वरो दत्तस्त्वया नाथ सिद्ध्यै बुद्ध्यै गजानन । तेन भक्तिविहीनाश्च भविष्यंति सदा नराः ॥३७॥

अतोऽहं दुःखसंयुक्ता चरिष्यामि निरंतरम् । मां पालय गणाध्यक्ष भक्तियुक्तान् जनान् कुरु ॥३८॥ एवमुक्तो गणाध्यक्ष-स्तामुवाच सुदुःखिताम् । भक्तिं भक्तिप्रियः पूर्णः स्मयमानः प्रजापते ॥३९॥ श्रीगणेश उवाच । मा शोकं कुरु कल्याणि नरा मद्भक्तिकारकाः । देवनागासुराद्याश्च भविष्यंति न संशयः ॥४०॥ नानादेवपरा ये तु भक्त्या जन्मनि जन्मनि । संतुष्टा अमरास्तेभ्यो दास्यंत्यग्निरुचिं मुदा ॥४१॥ ततस्तेऽग्निं समाराध्य भक्तियुक्ता निरंतरम् । तुष्टं तं वै करिष्यंति नानायज्ञ-परायणाः ॥४२॥ ततस्तस्य कृपायोगात् देवीभक्तियुता नराः । भविष्यंति च ते सर्वे तां भजिष्यंति संयताः ॥४३॥ एवं बहौ गते काले संतुष्टा सा प्रदास्यति । तेभ्यः सौरीं महाभक्तिं भजिष्यंति तया रविम् ॥४४॥ ततो बहौ गते काले सूर्यस्तोषसमन्वितः । उग्रां दास्यति भक्तिं तु वैष्णवीं तेभ्य आदरात् ॥४५॥ तया युक्ता भजिष्यंति विष्णुं भावसम-न्विताः । नरास्ततः स संतुष्टो बहुकाले भविष्यति ॥४६॥ तुष्टो विष्णुः स्वयं तेभ्यो दाता स्याद्भक्तिमुत्तमाम् । शैवीं तया ततस्ते तं भजिष्यंति सदाशिवम् ॥४७॥ ततो बहौ गते काले तुष्टः शंभुः प्रदास्यति । भक्तिं गाणेश्वरीं तेभ्यो भजिष्यंति तया च माम् ॥४८॥ नराः शांतिं समालभ्य सत्तो योगपरायणाः । ब्रह्मीभूता भविष्यंति भजिष्यंति तथाऽपि ते ॥४९॥ एवं क्रमेण मद्भक्ता भविष्यंति नरादयः । त्वद्युक्ता मां भजिष्यंति तेषां वश्यो भवाम्यहम् ॥५०॥ न भक्ते ते समं मे वै प्रियं किंचिद्भविष्यति । यत्र भक्तिर्गता तत्र यथा स्यास्यामि किंकरः ॥५१॥ स्वानंदं लक्षलाभौ च सिद्धिं बुद्धिं मदीयकम् । सर्वं तेभ्यः प्रदास्यामि भक्तेभ्यो नात्र संशयः ॥५२॥ अयं मदीयदेहश्च भक्त्यधीनो भविष्यति । भक्ताग्रे भक्तरूपेण सदा स्यास्यामि दासवत् ॥५३॥ कर्मभ्यश्चाधिकं भक्ते तपः परमदुश्चरम् । तपोभ्यश्चाधिकं ज्ञानं निःसंगपददायकम् ॥५४॥ ज्ञानाद्योगः समाख्यातोऽधिकः शांतिप्रदायकः । तस्माच्च त्वं महाभक्ते भविष्यस्यधिका प्रिया ॥५५॥ भक्तेः परं न किंचित् मे ह्यधिकं शास्त्रसंमतम् । भविष्यति महाभागे मा चिंतां कुरु सर्वथा ॥५६॥ अन्यद्वाणी मदीयं यद् गूढं रूपं वदिष्यति । तदर्थं ते प्रियं भक्ते करोमि शृणु मे वचः ॥५७॥ मदीयभुज-संस्थोऽयं मुद्गलः सर्वदर्पहा । स एव ब्राह्मणो भूत्वा चरिष्यति निरंतरम् ॥५८॥ कृतं तेन मदीयं वै पुराणं वेदबृंहितम् । गूढार्थद्योतनं भावि सर्वेभ्यो भक्तिदायकम् ॥५९॥ स्वरूपं तत्र मे भक्ते प्रकटं पश्यतां नृणाम् । शृण्वतां तत्तदा पूर्णं भविष्यति न संशयः ॥६०॥ तथापि दुर्लभा भक्तिर्मदीया त्वं भविष्यसि । अतोऽल्पप्रज्ञा न मां देवि भजिष्यंति कदा-

चन ॥६१॥ विघ्नं मौद्गलशास्त्रेऽहं करिष्यामि भ्रमप्रदम्। अश्रद्धं तेन नष्टं तद्भविष्यति कदा कदा ॥६२॥ तव भावस्य रक्षार्थं मौद्गलं निर्मितं मया। अतः परं महाभक्त वद किं ते करोम्यहम् ॥६३॥ एवं तस्य वचः श्रुत्वा हर्षिता सा ननाम तम्। गणेशं भावगंभीरा न किंचित् पुनरब्रवीत् ॥६४॥ एतत्ते कथितं दक्ष गुह्यं विघ्नेश्वरस्य यत्। अतो गुप्तं प्रकर्षेण शास्त्रं कुरु मदीयकम् ॥६५॥ त्वं दक्षः सर्वभावेषु दक्षादक्षो न विद्यते। अतस्तुभ्यं मया सर्वं कथितं शास्त्रमुत्तमम् ॥६६॥ हृदिस्थेन गणेशेन प्रेरितोऽहं प्रजापते। तदाज्ञया हृदिस्थं मे कथितं शास्त्रमुत्तमम् ॥६७॥ अनेन विधिना दक्ष भज त्वं गणनायकम्। तेनेप्सितं समासाद्य गाणपत्यो भविष्यसि ॥६८॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे
योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधनं गणेशरहस्ययोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु एकादशोऽध्यायः

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ दक्ष उवाच। धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं कृतस्त्वया महामते। त्वदाज्ञावशगः स्वामिन् गुप्तं ग्रंथं करोमि ते ॥१॥ अधुना वद मे भक्तिं गणेशस्य तया परम्। भजिष्यामि विशेषेण सदा भक्तिपरायणः ॥२॥ मुद्गल उवाच। सांख्ययोगौ प्रजानाथ शृणु ते कथयाम्यहम्। ताभ्यां युक्तस्ततो भक्तिं करिष्यसि परां मुदा ॥३॥ चित्तं पंचविधं प्रोक्तं पंचसंख्याविवर्जितम्। कुरु चिंतामणौ लीनभावेन त्वं सुयोगतः ॥४॥ एतत् सांख्यं समाख्यातं गणेशाभेददायकम्। तेन योगी भवेत् सद्यः शांतियुक्तो विशेषतः ॥५॥ पंचचित्तोद्भवेषु त्वं भोगेष्वसि सुसंस्थितः। बिंबरूपेण तान् भुंक्ष्व शांत्या रससमन्वितः ॥६॥ चित्तेषु चित्तभूतेषु कर्म ज्ञानादिकं भवेत्। तद्गणेशार्पणं सर्वं कुरु त्वं नित्यमादरात् ॥७॥ स्वधर्मसंस्थितं देहं चित्तं शांतिसमन्वितम्। कुरुष्व सततं दक्ष ब्रह्मभावपरायणः ॥८॥ अयं योगः समाख्यातः शास्त्रे वै सर्वसंमतः। वेदेषु च पुराणेषु ब्रह्मभूयप्रदायकः ॥९॥ सांख्ययोगौ समाराध्य भजस्व गणनायकम्। योगाकारं समाध्याय तन्निष्ठस्तत्परायणः ॥१०॥ श्रवणं गणनाथस्य गुणानां नित्यमादरात्। कीर्तनं तस्य तद्भक्त्वं कुरुष्वैतद्रसैर्युतम् ॥११॥

गाणेशस्य च भावस्य विस्मृतिं मा कुरु प्रभो। गणेशपादजं मोहं धारयेः सत्यभावनः ॥१२॥ सांगं गणेश्वरस्यैव कुरु सर्वं विशेषतः। गणेशान्न परं श्रेष्ठं तस्मात्तन्निष्ठको भव ॥१३॥ गाणपत्यस्य मार्गस्य सेवनं कुरु सर्वदा। साक्षिरूपं गणेशानं ज्ञात्वा हृत्स्थं भजस्व च ॥१४॥ गणेशान्नैव भिन्नोऽहं भावयस्व निरंतरम्। एवं नवप्रकारैस्त्वं भज त्वं भक्तिसंयुतः ॥१५॥ बाह्यांतरं गणेशार्थं कुरु त्वं कर्म चादरात्। नवधा स्वेड भावेन पूर्णभक्तो भविष्यसि ॥१६॥ अथो चतुर्विधां भक्तिं कथयामि शृणुष्व ताम्। कायिकां वाचिकां पूर्णां मानसीं नित्यदा कुरु ॥१७॥ तथा सांसर्गिकीं दक्ष तस्याश्चिह्नं वदाम्यहम्। गणेशार्थं सदा देहश्रमं कुरु महामते ॥१८॥ गणेशभावहीनां यां वाचं मा त्वं वदस्व ताम्। गणेशचिंतनं तद्वद्गणेशे भावकस्य वा ॥१९॥ गणेशभक्तियुक्तानां संगतिं कुरु सर्वदा। एवं भजस्व भक्त्या त्वं भक्तराजो भविष्यसि ॥२०॥ भक्तिः सा द्विविधा दक्ष मानवैः क्रियते परा। पाखंडसंयुता पूर्णा देवप्रीत्यर्थमेव वा ॥२१॥ देहे विषयभोगार्थं भजनं संप्रवर्तते। पाखंडिनां सदा दक्ष लोकमोहकरं परम् ॥२२॥ पाखंडभजनस्यैव चिह्नं मुख्यं वदाम्यहम्। तच्छृणु त्वं हितार्थाय लोकानां लोकनायक ॥२३॥ सर्वाहंकारनिर्मुक्तः पाखंडी दृश्यते जनैः। जना मोहयुता येन भवंति भजनं यतः ॥२४॥ यत्र येषां रुचिर्दक्ष यादृशी तादृशं सदा। करोति तत्र यत्नेन सर्वभावं प्रदर्शयन् ॥२५॥ येनैव विषयाणां च प्राप्तिः संजायते परा। तादृशं भजनं तस्य परं भवति सर्वदा ॥२६॥ अथवा चैकनिष्ठः स भवति देवतत्परः। स्वदेवभक्तान् संमोह्य भुंक्ते दुष्टोऽर्थलालसः ॥२७॥ स्वदेवभजने सक्ता जनाः स्वल्पमतो बहु। तेषां रुचिप्रमाणेन भवति भजनं यतः ॥२८॥ जनानां मोहदा भक्तिः कथिता ते प्रजापते। पाखंडिभिः सदा पूर्णा सेव्यते सा रुचिप्रदा ॥२९॥ पाखंडसंयुता नित्यं भक्तिं कुर्वंति शाश्वतीम्। चांडालास्ते मताः शास्त्रे देवानां दुःखदायकाः ॥३०॥ सत्यसंकल्पसिद्ध्या ते संयुतं देवमुत्तमम्। संगृह्य भिक्षुकं दुष्टाः कुर्वंतेऽथः प्रगामिनः ॥३१॥ अथ देवप्रियां भक्तिं शृणुष्व सुसमाहितः। विचार्य हृदये भक्तिं कुरुते देवतुष्टये ॥३२॥ सदा देवपरो भूत्वा भजनेऽनन्यमानसः। लोकानां तत्र संभूयाद्रुचिर्वा ह्यरुचिः कदा ॥३३॥ लोका निंदंति तं भक्तमुत्तमाश्च स्तुवंति वा। नानताहत्य देवस्य प्रीत्यर्थं भजते सदा ॥३४॥ स्वकीये हृदये सोऽपि विचार्य कुरुते सदा। भक्तिं यां तां प्रजानाति देवस्तस्य हृदि स्थितः ॥३५॥ यदा दैवस्य मार्गस्यापमानं वा ह्यनादरम्। कुर्वंति तान् परित्यज्य तदा भजति सर्वदा ॥३६॥ लोकानां रुचिदं तस्य भजनं जायते कदा। कदा तेषां विरुद्धं वा भक्त्या

नदैवतुष्टिदम् ॥३७॥ अनेन विधिना दक्ष भजस्व गणनायकम् । गाणपत्यो न संदेहो भविष्यसि परात् परः ॥३८॥ पंच चित्तेषु यज्ज्ञानं तद्बुद्धि विषयात्मकम् । तत्र रुचिविहीनस्त्वं भजस्व गणनायकम् ॥३९॥ सदा गणेश्वरे दक्ष रसोत्पत्तिः प्रजायते । चित्तस्य नान्यभावेषु यस्य भक्तः स उच्यते ॥४०॥ एतद्भक्तिरहस्यं ते कथितं भक्तिदायकम् । समासेन भजस्वैव गणेशं ब्रह्मनायकम् ॥४१॥ इमं योगं नरो यस्तु शृणुयाच्छ्रावयेत् परम् । योगिभ्यो वाऽन्यजंतुभ्यः स ईप्सित-मवाप्नुयात् ॥४२॥ नानेन सदृशं किंचिद्योगदं शास्त्रसंमतम् । अस्य श्रवणमात्रेण ब्रह्मीभूतो भवेन्नरः ॥४३॥ महापापोप-पापेभ्यो मुच्यते पठनात् किल । श्रवणादस्य योगस्यांते ब्रह्म प्राप्नुयात् परम् ॥४४॥ पुत्रपौत्रादिसंयुक्तो धनधान्य-समन्वितः । आरोग्यादिसमायुक्तो लभेदंते परं पदम् ॥४५॥ सकामको लभेद्भोगान् पठनादस्य निश्चितम् । अंते ब्रह्ममयो भावी श्रवणान्नात्र संशयः ॥४६॥ योगगीतां पठेद्यस्तु निष्कामः शृणुयादथो । स विघ्नहीनतां प्राप्य ब्रह्मीभूतो भविष्यति ॥४७॥ योगगीतां पठेद्यस्तु स भवेत् शांतिसंयुतः । शृणुयाद्ब्रह्मभूतश्च ज्ञानवान् स्थितिसंयुतः ॥४८॥ कर्म-निष्ठैरियं सेव्या तपोनिष्ठैः प्रजापते । तत्तत्सिद्धिसमायुक्तैरिहांते ब्रह्म चाप्यते ॥४९॥ नित्यं पठेदिमां गीतां स गणेशो धरातले । दर्शनात् पावनो नृणां सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥५०॥ एककालं द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेदिमाम् । कृत्वाऽवश्यं गणेशानं स भवेत् सर्वदायकः ॥५१॥ शुक्लकृष्णचतुर्थ्योस्तु पठेदेतां नरोत्तमः । स भुक्त्वा सकलान् भोगानंते ब्रह्म लभेत् परम् ॥५२॥ अथवा शुक्लजायां स चतुर्थ्यां भाद्रमाघयोः । ज्येष्ठे माघे च कृष्णायां पठेदीप्सितमाप्नुयात् ॥५३॥ अथवा गणराजस्य तीर्थक्षेत्रादिके गतः । पठेदिमां सुभावेन स ईप्सितमवाप्नुयात् ॥५४॥ वेदशास्त्रपुराणेषु यत् सारं समुदाहृतम् । योगगीतामयं तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥५५॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमदान्त्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खण्डे योगचरिते मुद्गलदक्षसंवादे योगामृतार्थशास्त्रे चित्तभूमिनिरोधेन भक्तिरहस्यवर्णनयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

॥ इति योगगीतासूपनिषत्सु सुगमासु द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगजाननार्पणमस्तु ॥

॥ गीताश्लोकसंख्या ॥ ९९८ ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ मुद्गल उवाच । एतत्ते कथितं सर्वं रहस्यं परमं मया । गणेशस्य प्रजानाथ समासेन शुभप्रदम् ॥१॥ अतो भज गणाध्यक्षं सर्वेप्सितमवाप्स्यसि । मा शोकं कुरु दक्ष त्वं यज्ञध्वंसभवं परम् ॥२॥ सूत उवाच । एवमुक्त्वा ददौ तस्मै मंत्रमेकाक्षरं परम् । विधियुक्तं विधानेन मुनिर्दक्षाय मुद्गलः ॥३॥ तेन संपूजितो योगी ह्यभवद्दंतमुख्यतः । तस्मिन् काले गणाध्यक्षः प्रकटोऽभूच्छुभप्रदः ॥४॥ मूषकोपरिसंस्थं तं सिद्धिबुद्धिसमन्वितम् । पाशांकुशवरैर्युक्तमभयं धारकं प्रभुम् ॥५॥ गजास्यं रक्तवस्त्रैः संछादितं भूषणैर्युतम् । नाभिशेषं गणैर्युक्तं प्रमोदाद्यैः सुसेवितम् ॥६॥ त्रिनेत्रमेकदंतं च महाकुक्षिं परात्परम् । दृष्ट्वा समागतं दक्षो मुद्गलो हर्षितोऽभवत् ॥७॥ उत्थाय सर्वसंयुक्तो ननाम द्विरदाननम् । दक्षश्च मुद्गलो विप्रो दंडवत् पृथिवीतले ॥८॥ ततोऽतिहर्षसंयुक्तो दक्षस्तं प्रजगाद ह । गणेशं भक्तिसंयुक्तः सरोमांचोऽश्रुसंयुतः ॥९॥ दक्ष उवाच । धन्योऽहं सर्वभावैश्च दर्शनात्ते गजानन । वेदांतागोचरोऽसि त्वं ब्रह्मरूपः समागतः ॥१०॥ धन्योऽयं मुद्गलो योगी पुराणं धन्यमुत्तमम् । मौद्गलं येन विघ्नेशो मया प्राप्तः परात्परः ॥११॥ मुद्गलेन समाख्यातं भक्त्याधीनो गजाननः । तदद्य सत्यरूपं यत् मया ज्ञातं प्रमाणतः ॥१२॥ मुद्गलस्यैव भक्त्या त्वं मोहितः सहसाऽऽगतः । त्वत्तः श्रेष्ठो गणेशान मुद्गलो नात्र संशयः ॥१३॥ एवं प्रवदतस्तस्य दक्षस्यासीत् महात्मनः । भक्ते रसः समुत्पन्नो ननर्त स हि विह्वलः ॥१४॥ भ्रांतस्तत्र स्म जानाति कृत्यं विघ्नेश्वरस्य सः । जय हेरंब विघ्नेश गणेश मूषकध्वज ॥१५॥ गजानन परेशान जय लंबोदर प्रभो । उच्चरन् साश्रुनेत्रश्च देहातीत इवाऽभवत् ॥१६॥ एतस्मिन्नंतरे सर्वे समाजग्मुः सुरेश्वराः । शिवविष्णुमुखास्तत्रागतं ज्ञात्वा गजाननम् ॥१७॥ मुनयो भृगुमुख्याश्च नारदाद्याः सुरर्षयः । शुकाद्याः सनकाद्याश्च कपिलाद्या महामुने ॥१८॥ वसवः साध्यरुद्राश्च गंधर्वाप्सरसस्तथा । अश्विनौ शेषमुख्याश्च नागाः पर्वतनायकाः ॥१९॥ सिद्धाश्चारणमुख्याद्या असुरा धर्मपालकाः । विद्याधराः कामदुघा गावो विप्रा अनेकशः ॥२०॥ प्रणेमुर्गणराजं ते हर्षयुक्ताः प्रतुष्टुवुः । भक्तियुक्ता विशेषेणात्मानं धन्यं च मेनिरे ॥२१॥ ततः स मुद्गलो योगी विस्मितः प्रबभूव ह । पुराणश्रवणस्यैतत् दृष्ट्वा फलमनंतकम् ॥२२॥ बोधयामास दक्षं स ततो दक्षोऽतिहर्षितः । हर्षं नियम्य विघ्नेशं यथाविधि पुपूज ह ॥२३॥ ततो देवेश्वरान् देवान् विप्रादीन् योगिमुख्यकान् । पूजयित्वा पुनः सोऽपि प्रणनाम गजाननम् ॥२४॥ साश्रुनेत्रः प्रतुष्टाव भक्तिनम्रात्मकंधरः । अनु तं देवविप्राद्यास्तुष्टुवुस्तं परेश्वरम् ॥२५॥ सदेवर्षिर्दक्ष उवाच । नमस्ते गणेशाय सर्वात्मने ते सदा

भक्तिमोहन मोहात्मकाय । महेशादिदेवैः शुकाद्यैः स्तुताय अयोगाय संयोगधारिन्नमस्ते ॥२६॥ गजाननाय वै तुभ्यं नमः परशुपाणये । गदाधराय शंखं वै धारिणे ते नमो नमः ॥२७॥ विघ्नेशाय परेशाय महाविघ्नविदारिणे । अनाथाय सनाथाय हेरंबाय नमो नमः ॥२८॥ नमो नमस्तेऽस्तु महोदराय स्वभक्तसंरक्षणतत्पराय । अभक्तकामान् विनिहंतृकाय सदा सुशांतिप्रद ते नमो वै ॥२९॥ ब्रह्मेशाय नमस्तुभ्यं सदा स्वानंदवासिने । सिद्धिबुद्धिवरायैव मूषकध्वजिने नमः ॥३०॥ दैत्यमस्तकधाराय दितिपुत्राय ते नमः । कंठाधो देवकायाय नमो सुरसुराय ते ॥३१॥ योगाय सर्वात्मकसर्वपूज्य मायाविनां मोहकराय तुभ्यम् । मायाप्रचालाय तु सिद्धिदाय धर्मस्य पालाय तु शूलपाणे ॥३२॥ अनंतलीलया नाथ स्वयं खेलसि मायया । तत्र किं वर्णयाम्येवाऽतो ब्रवीमि नमो नमः ॥३३॥ सदा योगस्वरूपाय भक्तिभावप्रदाय ते । भक्तिप्रियाय पूर्णाय भक्तवत्सल ते नमः ॥३४॥ प्रसीद पाहि विघ्नेश दासं ते भक्तिलालसम् । मां मुद्गलस्य शिष्यं वै भक्तराजस्य मानद ॥३५॥ एवमुक्त्वा गणेशानं प्रणनाम प्रजापतिः । अनु तं देवविप्राद्याः प्रणेमुस्तं परात्परम् ॥३६॥ तमुत्थाप्य गणाधीशो जगाद वच उत्तमम् । दक्षं मुद्गलमालोक्य स्वभक्तं भक्तपालकः ॥३७॥ श्रीगणेश उवाच । वरान् वृणु प्रजानाथ दास्ये ते तुष्टिमागतः । श्रवणेन पुराणस्य स्तोत्रेण मनसीप्सितान् ॥३८॥ त्वया कृतमिदं स्तोत्रं भुक्तिमुक्तिप्रदं भवेत् । यं यमिच्छति तं तं वै दास्यामि स्तोत्रपाठतः ॥३९॥ ब्रह्मप्रदं सुशांतेश्च दायकं भक्तिवर्धनम् । भविष्यति महाप्राज्ञ परं मत्प्रीतिवर्धनम् ॥४०॥ गणेशवचनं श्रुत्वा दक्षो हर्षसमन्वितः । प्रणम्य तं जगादाऽथ भक्तिनम्रात्मकंधरः ॥४१॥ दक्ष उवाच । वरदोऽसि गणाध्यक्ष तदा ते भक्तिमुत्तमाम् । देहि मे यच्च कृत्यं तदादिशेः करवाणि किम् ॥४२॥ तच्छ्रुत्वा गणनाथस्तं जगाद वच उत्तमम् । ज्ञात्वा भक्तिप्रियं दक्षं हृष्टरोमा महामुने ॥४३॥ श्रीगणेश उवाच । मदीयां भक्तिमत्यंतं करिष्यसि महामते । दक्षाऽद्यप्रभृति प्राज्ञो भविष्यसि यथार्थगः ॥४४॥ यज्ञं कुरु महेशेन मया ध्वस्तं समन्वितः । किंचित् कृष्टं प्रदत्तं ते शापैः शैवैः सुखी भव ॥४५॥ योगशांतियुतो नित्यं मां भजिष्यसि सर्वदा । सर्वमान्यः सर्वमुख्यो भविष्यसि प्रजापतिः ॥४६॥ एवमुक्त्वा गणेशानो विरराम च शौनक । दक्षो हृष्टमना भूत्वा स चक्रे यज्ञमुत्तमम् ॥४७॥ संपूज्यादौ गणाध्यक्षं ततः शंभुमुखान् सुरान् । मुनीन्नागादिकान् सर्वान् विससर्ज सुहर्षितः ॥४८॥ ततो मुद्गलविप्रेशं पूजयन् भक्तिसंयुतः । उवाच तं सरोमांचो दक्षो दक्षगणाग्रणीः ॥४९॥ दक्ष उवाच । किं ददामि महायोगिन् शिष्योऽहं ते नमाम्यतः । शरीरं पादपद्मे ते समर्पितमिदं

प्रभो ॥५०॥ ततो दक्षं समानंद्य मुद्गलः प्रययौ मुने । स्वाश्रमं गाणपत्यैः संसेवितं गणपप्रियः ॥५१॥ इदं दक्षस्य माहात्म्यं कथितं ते समासतः । मुद्गलस्य तथा श्रेष्ठं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥५२॥ पुराणं मौद्गलं पूर्णं कथितं योगभावितम् । सर्वमान्यं विशेषेण सर्वसंशयनाशनम् ॥५३॥ पुराणश्रवणस्यापि फलं प्रोक्तं मया परम् । श्रवणेन प्रजानाथो दक्षो दक्षो बभूव ह ॥५४॥ अधुनाऽहं गमिष्यामि स्वाश्रमं विप्रनायक । त्वदाज्ञया वद स्वामिन् किं करोमि हितं पुनः ॥५५॥

॥ ओमिति श्रीमदांत्ये पुराणोपनिषदि श्रीमन्मौद्गले महापुराणे नवमे खंडे योगचरिते दक्षसिद्धिप्राप्तिवर्णनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ शौनक उवाच । धन्योऽस्मि सूत सर्वेभ्यो भवान् ज्ञानाधिको मतः । समस्त्रिभुवने नैव संशयानां विनाशकः ॥१॥ सर्वसंशयहीनोऽहं धन्यश्चाद्य त्वया कृतः । अधुना कृतकृत्यश्च जातो मुनिसमन्वितः ॥२॥ न मुद्गलसमं किंचित् मया ज्ञातं परात्परम् । तेनोक्तं मौद्गलं सूत मुद्गलेन सदृक् परम् ॥३॥ वेदशास्त्रपुराणानां नानामतनिकृंतनम् । मौद्गलं मुद्गलाकारं सर्वमार्गप्रकाशकम् ॥४॥ त्रैलोक्ये मुद्गलो योगी मान्यः सर्वैः प्रकीर्तितः । सर्वाभिमानहीनत्वाद्यथार्थकरणात् किल ॥५॥ मुद्गलेन कृतं यद्धि पुराणं मुद्गलाकृति । तस्यापमानभावेन नारकी जायते नरः ॥६॥ यामा मुद्गरहस्तास्तं मारयिष्यंति निश्चितम् । न वक्ता कुत्र योगींद्रो मुद्गलेन सदृक् भवेत् ॥७॥ न भूतो नाधुना कुत्र वर्तते सूत निश्चितम् । निरहंकारसंयुक्तं भाषणं मुद्गलस्य च ॥८॥ पुराणानि च सर्वाणि स्वस्वब्रह्मपराणि वै । अभिमानेन संगोप्य स्वदोषं प्रवदंति हि ॥९॥ यथार्थभाषणं सर्वं पुराणानां न संशयः । मुनीनां देवतादीनां स्थितस्तत्राप्यहं किल ॥१०॥ तेन भिन्नमतादीनां प्रकाशस्तेषु जायते । मौद्गलं सर्वमान्यं वै निरहंकारभावतः ॥११॥ अभिमानो महाघोरो ह्यजेयो देवयोगिभिः । मुद्गलेन समाचूर्ण्य कृतो जीवविवर्जितः ॥१२॥ अतोऽयं मुद्गलः प्रोक्त एक एव महर्षिभिः । तत्र चित्रं न वै सूत सर्वमान्यं वदेत् परम् ॥१३॥ अहो गणेशहस्तस्थो मुद्गलः पतितो भुवि । नराकारस्वरूपेणांगिरसेन प्रपालितः ॥१४॥ स एव मुद्गलो योगी योगरूपप्रकाशकः । तत्र किं चित्रकं मन्येऽभिमानैर्वर्जितात्मकम् ॥१५॥ मुद्गलस्य च दक्षस्य संवादेन युतं परम् । पुराणं चांगिरःप्रोक्तं श्रुतं शांतिप्रदं मया ॥१६॥ अधुना वद सूत त्वं पुराणस्य प्रविस्तरात् ।

सप्तम अध्याय

पुराणों में योगशास्त्र सम्बन्धी मोक्ष की अवधारणा

संसार में द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध ही दुःख को उत्पन्न करता है, और इस सम्बन्ध या संयोग का कारण अविद्या यानि अज्ञान है।[1] ये अविद्या यानि अज्ञान अनादिकालीन है, अतएव यह संयोग भी अनादिकाल से चला आ रहा है। इस संयोग के परिणामस्वरूप ही प्रकृति एवं पुरुष भ्रमित होकर अपने स्वरूप को भुला बैठे हैं, अतः समस्त दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु इस अविद्या निमित्तक संयोग को हटाना परमावश्यक है।[2] अविद्या का नाश हो जाने पर जो बुद्धि, सत्व एवं पुरुष के संयोग का अभाव है, वही मोक्ष कहा जाता है।[3] जबकि सांख्य ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग की संज्ञा दी है, तथा विज्ञानवाद में बन्धन को सक्लेश या अशुद्धि और मोक्ष को व्यवदान या विशुद्धि कहा जाता है। विज्ञान परिणाम अविद्याजन्य होने से बन्धन और मोक्ष दोनों ही अविद्याकृत हैं। अनादि विद्या से ग्राह्यग्राहकविकल्पवासना या कर्म संस्कार होते हैं और वासना से विज्ञान तथा विज्ञान से वासना की उत्पत्ति–विनाश की संतति निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यही प्रतीत्य–समुत्पाद या भवचक्र है। ग्राहन्द्रयवासना या अविद्या के नाश से अद्वय विज्ञानमात्र का साक्षात्कार होता है, यही मोक्ष या निर्वाण है। अविद्या, कर्म और क्लेश को बन्धन, संक्लेश, मल, अशुद्धि कहते हैं; निर्विकल्प प्रज्ञा के द्वारा इनके प्रहाण को व्यवदान, विशुद्धि, निर्वाण, मोक्ष कहते हैं। बौद्ध भी मोक्ष को निर्वाण के नाम से व्यवहित करते हैं। भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश में स्पष्ट किया है कि–दुःख है, और दुःख निरोध है। दुख संसार है तथा दुख निरोध निर्वाण है। महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट किया है कि जीव दीर्घ मार्ग पर जीवन–यात्रा दीर्घ समय तक जीवन मरण चक्र में पिसता रहता है।

१– तस्य हेतुरविद्या– यो० सू० २/४८

२– तदभावात्संयोगाभावो हानं, तद्दृशेः कैवल्यम्। –यो० सू० २/२५

३– तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषं सयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतत् हानम्। – व्याकरण भाष्य, पृ० सं० २३१

यह बार–बार जन्म लेता है, दुख भोगता है और आँसू बहाता हैं। अविघा दुख का कारण है, इसके नाश से दुःख का नाश सम्भव है। निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति द्वारा अविद्या का नाश किया जा सकता है। जब निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति होगी, तब निर्वाण प्राप्त होता है।

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है–बुझना। जिस प्रकार तेल समाप्ति पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अविद्या तथा क्लेश के नाश होने पर धीर पुरुष को निर्वाण प्राप्त होता है।[1] अविद्या तथा इसके नाना कार्यों की समाप्ति ही निर्वाण है। निर्वाण, अतीन्द्रिय, बुद्धि विकल्पातीत तथा अनिर्वचनीय है। इसमें अविद्या की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी प्रज्ञा द्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। गम्भीर, भ्रान्त, तर्कागम्य, निपुण तथा पण्डितों द्वारा ही साक्षात्कार के द्वारा निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। निर्वाण में सभी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण अच्युत, अमृत, अकुतोभय, परमसुख आदि है।[2] सभी धर्मों से परे तथा निरपेक्ष परमतत्त्व है। यह सभी धर्मों की धर्मता है, सभी धर्मों से परे भी तथा उसमें व्याप्त भी है। यस्मा च खो भिक्खवे। अत्थि अजातं अमतं अकतं असंखतं तस्मा जातस्म मतस्स कतस्ससंखतस्त निस्सरणं पञ्चाय।[3] अर्थात् भिक्षुओं। यह अजात, अमृत, अकृत तथा असंस्कृत तत्त्व है इसलिए यह जात, नश्वर, कृत तथा संस्कृत धर्मों का आधार है।

निर्वाण की प्राप्ति जलीवन काल में सम्भव है। राग–द्वेष आदि को जीतकर शुद्ध आचरण के द्वारा, निरन्तर चार आर्य सत्यों का स्मरण करते हुए व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। निर्वाण की अवस्था में व्यक्ति इच्छारहित रहता है तथा सर्वथा वह मुक्त हो जाता है। मुक्ति या मोक्ष प्राप्त व्यक्ति को अर्हत कहते हैं। अतः निर्वाण राग–द्वेष आदि तथा तज्जनित दुःखों के नाश की अवस्था

१– सौन्दरानन्द, १६, २८, २६, उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० ६६

२– निब्बानं पद्मच्चुतम्।–सुत्तनिपात, रतनसुत्त।

निब्बानं अकुतोभयम्। – इतिवुत्तक, ११२

निब्बानं परम सुखम। –धम्मपद, १८

–उद्धृत–भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन, वही, पृ०सं० ५६

३– उदान, ७३ सुत्त, उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन, वही, पृ० सं० ५६

है। क्या निर्वाण निष्क्रिय अवस्था है? निर्वाण निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जब व्यक्ति शील,समाधि तथा प्रज्ञा द्वारा निर्वाण प्राप्त कर लेता है तब उसे समाधिस्थ रहने की आवश्यकता नही रहती है। व्यक्ति जीवन कर्मों में संलग्न रह सकता है। बौद्ध धर्म प्रवर्तक भगवान बुद्ध निर्वाण प्राप्त होने के बाद भी निरन्तर कर्मों में संलग्न रहे। निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् पुनर्जन्म तथा तज्जनित दुःखों का विनाश हो जाता है तथा मृत्युपर्यन्त पूर्ण ज्ञान एवं शान्त युक्त रहता है। यह अवस्था शान्त, स्थिर तथा तृष्णा रहित अवस्था है। निर्वाण अनिर्वचनीय है, इसका साधारण अनुभवों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। नागसेन जो एक बौद्ध धर्मोपदेशक थे, उन्होंने स्पष्ट किया है कि–निर्वाण, सागर समान गहरा, पर्वत सदृश ऊँचा तथा मधु सदृश मधुर है।[१]

जैन दर्शन में बन्ध के विषय में कहा गया है कि कर्म भौतिक और पौद्गलिक है। कर्म पुद्गलों का जीव को जकड़ लेना बन्ध है, और जीव का कर्म–पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। जीव स्वभाव से मुक्त है, किन्तु अनादि अविद्या या वासना के कारण कर्म–बन्धन में फँस जाता है। बन्धन के पाँच कारण बताए गए हैं–मिथ्यात्व (सद्सद्विवेक), अविरति (वैराग्य का अभाव अर्थात् रागादि) प्रमाद, कषाय (क्रोध, लोभ, मान और माया) और योग (मानसिक वाचिक और कायिक क्रिया)।[२] कषायों के कारण जीव कर्म– पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है, जो उसमें प्रवेश कर उसे जकड़ लेते हैं, यही बन्ध है।[३] सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है।[४] जैन दर्शन में आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पाँच पदार्थ या अवस्थाएँ हैं। इनमें जीव और अजीव को जोड दिया जाय तो इनकी संख्या सात हो जाती है तथा इनके साथ पुण्य, पाप को जोड़ देने पर उनकी संख्या नौ हो जाती है। आश्रव का अर्थ है–बहना, प्रवाह अर्थात कर्म–पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह। भावास्रव तथा द्रव्यास्रव नामक दो आश्रव हैं। जीव में कर्म को उत्पन्न करने वाले

१– डा० गायत्री प्रसाद : दर्शन–शास्त्र, इलाहाबाद पृ०सं० ३२२

२– तत्त्वार्थ सूत्र–८,१ उद्‌धृत–भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ०सं० ४१

३– सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते। स बन्धः। – तत्वार्थ सूत्र–८,२,–३

४– कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। – तत्वार्थ सूत्र–१०,३

रागादि भावों का उदय एवं मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया का संकल्प भावाश्रव है एवं कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाहित होना द्रव्यास्रव है। जब ये कर्म पुद्गल जीव में घुसकर उसे जकड लेते हैं, तब इनसे बँध जाना जीव का 'बन्ध' है। 'बन्ध' भी दो प्रकार का है–भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध। कषाय और कर्म का उदय भावबन्ध है तथा कर्म पुद्गलों का जीव में घुसकर उसे बांध लेना, द्रव्य बन्ध है। एक बार कर्म में फॅस जाने पर कर्म–चक्र निरन्तर चलता रहता है। कर्म–मल गहराता जाता है। कर्म–बन्धन बढता जाता है। एक कर्म से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा, इस प्रकार कर्म–प्रवाह अनवरत चलता रहता है, जब तक इसे सायास रोका न जाय। आने वाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा अवरुद्ध कर देना 'संवर' कहलाता है। जीव में कर्मों का प्रवेश द्वार बन्द हो जाने से नये कर्म प्रविष्ट नही हो सकते। यह क्रिया आस्रव की क्रिया से ठीक विपरीत है। कर्म–प्रवाह का मार्ग खोलना आस्रव है और इस मार्ग को बन्द कर देना संवर है संवर भी भाव संवर और द्रव्य संवर के भेद से दो प्रकार का है। भाव संवर में वे मानस व्यापार, नैतिक आचरण और योग क्रियाएँ आती हैं, द्रव्य संवर नए कर्म पुद्गल के प्रवेश के वास्तविक निरोध को कहते हैं संवर से जीव में नवीन कर्म–मल प्रविष्ट नहीं होते किन्तु प्राचीन कर्म–मल तो जीव को दूषित कर रहे हैं। अतः अगला सोपान 'निर्जरा' है। जिसमें जीव में विद्यमान कर्म–मल को दर्शन–ज्ञान, चरित्र की रगड़ से साफ करके सर्वथा हटा देना होता है। जब कर्म मल का अन्तिम कण भी जीव से हटा दिया जाता है, जब कर्म पुद्गल का जीव में आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, तब जीव अपने सहज सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है, यही 'मोक्ष' है, यही केवल ज्ञान की प्राप्ति है।[१]

जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न कहा गया है। उमास्वामी ने स्पष्ट किया है–"सम्यगदर्शन ज्ञान–चरित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं।[२] तीनो में से किसी एक द्वारा मोक्ष प्राप्ति संभव नही है, बल्कि तीनों के सम्मिलित होने पर मोक्ष

१– चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, पृ०स० ४२

२– सम्यग्ज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः। तत्वार्थ सूत्र १,१

प्राप्ति सम्भव होती है। जैन अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिए सर्वप्रथम जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और तत्त्वों के गहन एवं यथार्थ ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। इन सिद्धान्तों और तत्त्वों के गहन एवं यथार्थ ज्ञान को सम्यक ज्ञान कहा गया है। इस ज्ञान को अपने आचरण में चरितार्थ करना सम्यक चरित्र है।[1]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड में कहा गया है कि जो हरि का ध्यान करते हैं, उन्हें मोक्ष अर्थात् परम पद की प्राप्ति होती है। क्योंकि वह रूप रहित, गुण रहित, नाम रहित, मन के धर्म से भी रहित है।[2] गरुड पुराण में यह भी बताया गया है कि जो व्यक्ति योग उर्शन में वर्णित अष्टाड्.ग योग के आठों अड्.गों का विशेष ज्ञान प्राप्त कर उसे क्रियान्वित भी करता है। उसे मोक्ष अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

शिव पुराण में अष्टाड्.ग योग वर्णित निर्वाण को मोक्ष के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि जो प्रकृति आदि आठ बन्धनों से बंधा हुआ है वह जीव बद्ध कहलाता है और जो उन आठों बन्धनों से छूटा हुआ है उसे मुक्त कहते हैं। प्रकृति आदि को वश में कर लेना मोक्ष कहलाता है। बन्ध आगन्तुक है, और मोक्ष स्वतः सिद्ध है। बद्ध जीव सब बन्धन से मुक्त हो जाता है तब उसे मुक्त जीव कहते हैं।[3] कर्म से लेकर प्रकृति पर्यन्त सब कुछ जब वश में हो जाता है, तब वह जीव मुक्त कहलाता है और स्वात्मारामरूप से विराजमान होता है। परमेश्वर शिव की कृपा से जब कर्म जनित शरीर अपने वश में हो जाता है, तब भगवान शिव के लोक में निवास का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसी को सालोक्य मुक्ति कहते हैं। जब तन्मात्राएँ वश में हो जाती हैं, तब जीव जगदम्बा सहित शिव का सामीप्य प्राप्त कर लेता है। यही सामीप्य मुक्ति है उसके आयुद्ध आदि और क्रिया आदि सब कुछ भगवान शिव के समान हो जाता है। भगवान का महाप्रसाद प्राप्त होने पर बुद्धि भी वश में हो जाती है। बुद्धि प्रकृति का कार्य है। उसका वश में होना सृष्टि मुक्त कहा गया है।

१– चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन और अनुशीलन, पृ०सं० ४२

२– गरुड पुराण, अनूदित सम्पादक, पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य, बरेली पृ० सं० ४२

३– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार पृ०सं० ५२

पुनः भगवान का महान अनुग्रह प्राप्त होने पर प्रकृति वश में हो जाएगी। उस समय भगवान शिव का मानसिक ऐश्वर्य बिना यत्न के ही प्राप्त हो जायेगा। सर्वज्ञता और तृप्ति आदि को जो शिव के ऐश्वर्य हैं, उन्हें पाकर मुक्त पुरुष आत्मा में ही विराजमान होता है। वेद और शास्त्रों में विश्वास रखने वाले विद्वान पुरुष इसी को सायुज्य कहते हैं।[1]

योगाग्नि के द्वारा किस प्रकार अपने शरीर को भस्म किया जाता है। इसके विषय में शिव पुराण में सती द्वारा किए गए आत्म दाह के माध्यम से बताया गया है। सती ने पहले अपने पति का स्मरण किया फिर शान्त चित्त होकर अचानक उत्तर दिशा की ओर भूमि पर बैठ गयी। उन्होंने आसन को स्थिर कर प्राणायाम द्वारा प्राण और अपान वायु को एक रूप करके नाभिचक्र में स्थित किया। फिर उदान वायु बल–पूर्वक नाभिचक्र से ऊपर उठकर बुद्धि के साथ हृदय में स्थापित किया। तत्पश्चात शंकर की प्राणवल्लभा अनिन्दिता सती हृदय स्थित वायु को कण्ठ मार्ग से भृकुटियों के बीच में ले गयी। इस प्रकार दक्ष पर कुपित हो सहसा अपने शरीर को त्यागने की इच्छा से सती ने अपने सम्पूर्ण अड्.गों में योग मार्ग के अनुसार वायु और अग्नि की धारणा की। तदनन्तर अपने पति के चरणारविन्दों का चिन्तन करती हुई सती ने अन्य सब वस्तुओं का ध्यान भुला दिया। उनका चित्त योग मार्ग में स्थित हो गया था। इसलिए वहाँ उन्हें पति के चरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई दिया। सती का निष्पाप शरीर तत्काल गिरा और उनकी इच्छा के अनुसार योगाग्नि से जलकर उसी क्षण भस्म हो गया।[2]

वस्तुतः मोक्ष साधन केवल ज्ञान है, आत्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान मोक्ष है। आत्मा नित्य मुक्त है, अतः मोक्ष किसी नई अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, वह तो आत्मा का ही निजी स्वरूप है। अतः बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्या के अन्तर्गत आते हैं, तथापि जब तक जीवात्मा स्वयं को बद्धजीव मानता है, तब तक उसके लिए मोक्ष प्राप्ति चरम लक्ष्य है और इसके लिए साधना करना आवश्यक है। जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति यहीं, इसी

१– सक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५३

२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही, पृ० सं० १६६–१७०

लोक और इसी जन्म में हो सकती है और होती है। उस परम तत्त्व को यहीं प्राप्त किया जाता है।[1] जीवन्मुक्त को प्रिय और अप्रिय, लौकिक सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते है।[2] जिस प्रकार सर्प को केंचुल उतार फेंकने के बाद उससे कोई मोह नहीं रहता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त को अपने शरीर से कोई मोह नहीं रहता।[3] प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर जीवन्मुक्त का शरीर छूट जाता है और विदेह मुक्त हो जाता है।[4]

'योगश्च चित्त वृत्ति निरोधः' अर्थात् चित्त वृत्ति का निरोध ही योग है। योग के सिद्ध हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है किन्तु योग व्यवधानों से घिरा हुआ माना जाता है। योग मार्ग आलस्य, तीक्ष्ण व्याधियॉ, प्रमाद, स्थान संशय, अनवस्थितचिन्तता, अश्रद्धा, भ्रांति–दर्शन, दुःख दौर्मनस्य और विषयलोलुपता–ये दस योग साधन में लगे हुए पुरुषों के लिए योगमार्ग के विघ्न कहे गये हैं।[5] योगियों के शरीर और चित्त में जो अलसता का भाव आता है, उसी को यहाँ आलस्य कहा गया है। वात, पित्त और कफ–इन धातुओं की विषयता से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को व्याधि कहते हैं। कर्मदोष से इन व्याधियों की उत्पत्ति होती है। असावधानी के कारण योग के साधनों का न हो पाना 'प्रमाद' है। यह है या नहीं है इस प्रकार उभयकोटि से आक्रांत हुए ज्ञान

१– (क) ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।
(ख) अत्र ब्रह्म समश्नुते।
(ग) इहैव तदाप्नोति।

२– न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दोग्य, ८–१२–१

३– वृहदारण्यक ४–४–७

४– भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० १४

५– संक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित, सम्पादक–हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ०सं० ६६६
(योगदर्शन समाधि पाद के ३० वे सूत्र में नौ प्रकार के चित्त विक्षेपों को योग का अन्तराय बताया गया है और ३१ वे सूत्र में पाँच 'विक्षप सहभू' संज्ञक विघ्न अथवा प्रतिबन्धक कहे गये हैं। किन्तु यहाँ शिव पुराण में दस प्रकार के अन्तराय बताये गये हैं। इनमें योग दर्शन कथित 'अलब्ध भूमिकत्व को छोड़ दिया गया है और 'विक्षेप सहभू' में परिगणित दुःख और दौर्मनस्य को सम्मिलित कर लिया गया है। योग सूत्र में 'स्यान और संशय–ये दो पृथक–पृथक अन्तराय हैं और यहाँ 'स्थान–संशय' नाम से एक ही अन्तराय माना गया है, साथ ही इस पुराण में 'अश्रद्धा को भी एक अन्तराय के रूप में गिना गया है।)

का नाम 'स्थान—संशय' है। मन का कहीं स्थिर न होना ही अनवस्थित चित्तता (चित्त की अस्थिरता) है। योग मार्ग में भाव रहित (अनुराग शून्य) जो मन की वृत्ति है, उसी को 'अश्रद्धा' कहा गया है। विपरीत भावना से युक्त बुद्धि को 'भ्रांति' कहते हैं। 'दुःख' कहते हैं कष्ट को, उसके तीन भेद हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। मनुष्यों के चित्त का जो अज्ञान जनित दुःख है, उसे आध्यात्मिक दुःख समझना चाहिए। पूर्वकृत कर्मों के परिणाम से शरीर में जो रोग आदि उत्पन्न होते हैं, उन्हें आधिभौतिक दुःख कहा गया है। विद्युत्पाद, अस्त्र—शस्त्र और विष आदि से जो कष्ट प्राप्त होता है, उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं। इच्छा पर आघात पहुँचने से मन में क्षोभ होता है, उसी का नाम है—'दौर्मनस्य'। विचित्र विषयों में जो सुख का भ्रम है, वही 'विषय लोलुपता' है।[1]

योग परायण योगी के इन विघ्नों के शान्त हो जाने पर जो 'दिव्य उपसर्ग' (विघ्न) प्राप्त हैं, वे सिद्धि के सूचक हैं। सिद्ध योगी के पास स्वयं ही रत्न उपस्थित हो जाते हैं और बहुत सी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। मुख से इच्छानुसार नाना प्रकार की मधुर वाणी निकलती है। सब प्रकार के रसायन और दिव्य औषधियॉ सिद्ध हो जाती हैं। देवाङ्.नाए इस योगी को प्रणाम करके मनोवाञ्छित वस्तुएं देती हैं। योग के एक देश का भी साक्षात्कार हो जाय तो मोक्ष में मन लग जाता है।[2] देवता असुर तथा नृपों के गुणों और भागों को जो तिनकों की तरह त्याग' देता है, उसे ही· उत्कृष्ट योग सिद्धि प्राप्त होती है, अथवा यदि जगत पर अनुग्रह करने की इच्छा हो तो उसे योग सिद्धि मुनि की इच्छानुसार विचरण करना चाहिए। इस जीवन में गुणों और भोगों का उपभोग करके अन्त में उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी। किन्तु प्रश्न उठता है कि योग किस समय तथा किस स्थान पर करना चाहिए। वस्तुतः योग शुभकाल, शुभदेश, भगवान शिव के स्थान पर एकान्त स्थान जहाँ पर जीव जन्तु न रहते हों, कोलाहल न हो और किसी प्रकार की बाधा न हो करना चाहिए।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर पृ०सं० ७००

२– सं० शि० पु०, वही

वहॉ की भूमि को लीप–पोत कर, गन्ध और धूप से सुवासित करके, फूल बिखेर कर, चन्दोवा आदि तानकर उसे विचित्र रीति से सजाकर और वहाँ कुश, पुष्प, समिधा, जल, फल और मूल की सुविधा म करके योग का अभ्यास करना ही पुराणों में उल्लिखित है। इसके साथ–साथ अग्नि के निकट, जल के समीप और सूखे पत्तों के ढेर पर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। जहाँ डाँस और मच्छर भरे हों, सॉप और हिंसक पशुओं की अधिकता हो, दुष्ट पशु निवास करते हों–ऐसे स्थान में भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। श्मशान में चैत्य वृक्ष के नीचे, बॉबी के निकट, जीर्ण–शीर्ण घर में, चौराहे पर, नदी–नद और समुद्र के तट पर, गली या सड़क के बीच में, उजड़े हुए उद्यान मे, गोष्ठ आदि में, अनिष्टकारी और निन्दित स्थान में भी योगाभ्यास नही करना चाहिए। जब शरीर में अजीर्ण का कष्ट हो, खट्टी डकार आती हो, विष्ठा और मूत्र से शरीर दूषित हो, सर्दी हुई हो या अतिसार रोग का प्रकोप हो, अधिक परिश्रम के कारण थकावट हुई हो, जब मनुष्य अत्यन्त चिन्ता से व्याकुल हो, अधिक भूख–प्यास सता रही हो तथा जब वह अपने गुरूजनों के कार्य आदि में लगा हुआ हो, उस अवस्था में भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।[१]

जिस योगी के आहार–विहार उचित एवं परिमित हों, जो कर्मों में यथा योग्य समुचित चेष्टा करता हो तथा जो उचित समय से सोता और जागता हो एवं सर्वथा अभ्यास रहित हो, उसी को योगाभ्यास में तत्पर होना चाहिए। आसन–मुलायम, सुन्दर, विस्तृत, सब ओर से बराबर और पवित्र होना चाहिए। पद्मासन और स्वस्तिकासन आदि जो यौगिक आसन हैं, उन पर भी अभ्यास करना चाहिए। अपने आचार्य पर्यन्त गुरूजनों की परम्परा को क्रमशः प्रणाम करके अपनी गर्दन, मस्तक और छाती को सीधी रखे। होठ और नेत्र अधिक सटे हुए न हों। सिर कुछ–कुछ ऊँचा हो। दाँतो से दॉतो का स्पर्श न करे दॉतो के अग्रभाग में स्थित हुई जिह्वा को अविचल भाव से रखते हुए एडियों से दोनों अण्डकोशों और प्रजनेन्द्रिय की रक्षापूर्वक दोनों जॉघों के ऊपर बिना किसी यत्न

१– सक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०स० ७०२

के अपनी दोनों भुजाओं को रखें। फिर दाहिने हाथ के पृष्ठ भाग को बायें हाथ की हथेली पर रखकर पीठ को ऊँची करें और छाती को आगे की ओर से सुस्थिर रखते हुए नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमायें। अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करें। प्राण का संचार रोकर पाषाण के समान निश्चल हो जाये। अपने शरीर के भीतर मानस मन्दिर में हृदय कमल के आसन पर पार्वती सहित भगवान शिव का चिन्तन करके ध्यान यज्ञ के द्वारा उनका पूजन करें।[१]

मूलाधार चक्र में, नासिका के अग्रभाग में, नाभि में, कण्ठ में, तालु के दोनों छिद्रों में,भौहों के मध्य भाग में, द्वार देश में, ललाट में या मस्तक में ध्यान केन्द्रित करें। दोनों भौहों के मध्य में, द्विदल कमल हैं, जो विद्युत के समान प्रकाश मान हैं। भूमध्य में स्थित जो कमल है, उसके क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग में दो पत्ते हैं, जो विद्युत के समान दीप्तिमान हैं। उनमें दो अन्तिम वर्ण 'ह' और 'क्ष' अङि्.कत हैं। षोडशदल कमल के पत्ते सोलह स्वरूप वाले हैं, जिनमें 'अ' से लेकर 'अः' तक के अक्षर क्रमशः अंकित हैं। कमल की नाल के मूल भाग से बारह दल प्रस्फुटित हुए हैं, जिनमें 'क' से लेकर 'ठ' तक के बारह अक्षर क्रमशः अंकित हैं। सूर्य के समान प्रकाशमान इस कमल के उन द्वादश दलों का अपने हृदय के भीतर ध्यान करना चाहिए। तत्पश्चात गो–दुग्ध के समान उज्जवल कमल के दस दलों का चिन्तन करें। उनमें क्रमशः 'ड' से लेकर 'फ' तक के अक्षर अंकित हैं। इसके बाद नीचे की ओर दल वाले कमल के छः दल हैं जिनमें 'ब' से लेकर 'ल' तक के अक्षर अंकित हैं। इस कमल की कान्ति धूमरहित अंगार के समान है। उसमें क्रमशः 'व' से लेकर 'स' तक के चार अक्षर चार दलों के रूप में स्थित हैं। इन कमलों में से जिनमें ही अपना मन रमे उसी में अपनी धीर बुद्धि से चिन्तन करें। उनका स्वरूप अंगूठे के बराबर, निर्मल और सब ओर से दीप्तिमान है। अथवा वह शुद्ध दीपशिखा के समान आकारवाला है, और अपनी शक्ति पूर्णतः मण्डितहै अथवा चन्द्रलेख या तारा के समान रूप वाला है अथवा वह नींवार की सींक या

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ७०२

कमलनाल से निकलने वाले सूत के समान है। कदम्ब के गोलक या ओस के कण से भी उसकी उपमा दी जा सकती है। वह रूप पृथ्वी आदि तत्त्वों पर विजय प्राप्त करने वाला है। ध्यान करने वाला पुरुष जिस तत्त्व पर विजय पाने की इच्छा रखता हो, उसी तत्त्व के अधिपति की स्थूल मूर्ति का चिन्तन करे। सौम्य मूर्ति में ध्यान करने से विशेषतः मुक्ति, शान्ति एवं शुद्ध, बुद्धि प्राप्त होती है।[१]

योग दर्शन में दो प्रकार का मोक्ष माना गया है—प्रथम जीवन्मुक्ति तथा द्वितीय विदेह मुक्ति। अणिमासेन—सांख्य योग में वर्णित जीवन्मुक्ति को असम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक स्थिति मानती हैं, उनके मत में साधक को इस दिशा में विवेक ख्याति के परिणामस्वरूप स्वरूपावस्थिति तो हो जाती है, परन्तु उसे अभी दृढ़ करना शेष रहता है, उसे अपने चित्त को पूर्णरूप से निवृत्त करना होता है। यह जीवन्मुक्ति कितने काल तक रहती है, इसका कोई नियम नहीं है, क्योंकि जब तक साधक के प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक उसे शरीर धारण किये रहना पड़ता है।[२] सांख्यकारिका मे इसकी उपमा देते हुए ईश्वर कृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा चक्का चलाना बन्द कर दिये जाने पर भी पूर्व प्राप्त शक्ति से कुछ समय तक घूमता रहता है।[३] वेदान्त दर्शन में प्रारब्ध कर्मों के भोग के अनन्तर ही मुक्ति की कल्पना की गई है।[४] वेदान्तवादी शंकर आदि ने जीवन्मुक्ति की दशा में क्लेश वृत्ति की जो कल्पना की है, विज्ञान भिक्षु के मत में

१— संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ७०३

२- The jivanmuktā has risen upto the stage of svarupavasthana but this stage not become firmly rooted as yet. Hence, the Jivanmukta will have to make efferts to attain this svarupavasthi permanently. Vriti should not rise (even for a moment) either spontaneously or by efforts. This is the first stage of asmpragyanth samadhi or the stage of Jivanmukti according to samakhya yoga. How long this stage will continue, will depend upon Prarabdha-Karma.-Sen Anima, S.A.V., P.-105

३— सम्यग्ज्ञानाधिगमाद धर्मादीनामकारण प्राप्ता। तिष्ठिति संस्कारवंशाचक्रभमिवद् धृतशरीरः — सांख्यकारिका,६७

४— भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते—ब्रह्म सू० ४/१/१९

वह नितान्त भ्रामक है।[1] क्योंकि जीवन्मुक्ति की दशा धर्ममेध समाधि काल में मानी है।[2] उस समय मात्र विवेक ख्याति का ही निरन्तर प्रवाह होता रहता है, अतः उस दशा में क्लेश की विद्यमानता स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। स्वयं भाष्यकार व्यास ने स्पष्ट ही कहा है कि क्लेश एवं कर्म की निवृत्ति होने पर विद्वान जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है।[3] वाचस्पति मिश्र लिखते हैं क्योंकि क्लेश एवं कर्मवासना ही जात्यादि का कारण होती है और बिना कारण के कार्य हो ही नहीं सकता।[4] अतः पुनः जन्म इनका नहीं होता। इस कारण इनका मोक्ष माना जा सकता है।

यद्यपि जीवन्युन्ति के व्यापार की आपाततः तो अन्य व्यक्तियों की भांति ही प्रतीत होते हैं, परन्तु उसे विवेक ज्ञान हो गया है। अतः दोनों के समान रूप से कार्य करते हुए भी दृष्टिकोण का अन्तर है। इसी के परिणाम स्वरूप अन्यों के कर्म कर्माशय को उत्पन्न करते हैं जबकि जीवन्मुक्त के नहीं।

जीवन्मुक्त के प्रारब्ध कर्मों के भोग द्वारा जब क्षय हो जाता है तब साधक शरीर त्याग कर विदेह कैवल्य का लाभ करता है। अणिमा सेन लिखती हैं कि चित्त के अपने कारण में लीन हो जाने पर पुरुष सदा सर्वदा के लिए शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है, विदेह मुक्ति है।[5]

धर्ममेघ समाधि में जो विवेक ख्याति रूप सात्विक वृत्ति होती है, उसके प्रति वैराग्य हो जाने पर परवैराग्य कहा जाता है, और इस परवैराग्य के फलस्वरूप साधक असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ करता है। इस समाधि के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का तत्काल ही क्षय हो जाता है अर्थात् उन्हें भोगने

१– अत्र जीवन्मुक्तस्य सवासक्लेशाप्यन्तदाहनिर्णयाद् आधुनिक वेदान्ति नामविद्याक्लेशस्वीकारोऽविद्या मूलक एवेतिस्मर्त्तव्यम्। –योग वाशिष्ठ, पृ०स० ४५६

२– अस्य भवस्थाया जीवन्मुक्त इत्युच्यते– योग सार संग्रह, पृ०सं० १७

३– क्लेश कर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति –व्याकरण भाष्य, पृ०सं० ४५५

४– क्लेशकर्मवासनेद्धः किल कर्माशयो जात्यादि निदानम्। न चासति निदाने भवितुमर्हति। – त०वै०, पृ०सं०४५५

५– As soon as chitta gets merged in the gunas, the vital function tll stops automatically and the yogin is separated for ever from the body. This is the stage of videhnaukti according to samakhya yoga —Anima Sen, S&A. V.P. 106

की आवश्यकता नहीं रहती, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है।[1] अन्य स्थल पर वह लिखते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात ही मोक्ष का होना नियमित एवं निश्चित है जबकि उसके बिना कर्मों के फल भोग मे समय लगने से मोक्ष में विलम्ब हो सकता है। अतः उनका मत है कि असम्प्रज्ञात समाधि के बिना भी कैवल्य की प्राप्ति जीवन्मुक्ति के पश्चात् हो सकती है।

जीवों का बन्धन अविद्या और कर्म के कारण है। बन्ध और मोक्ष दोनों वास्तवकि हैं। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि से सम्बद्ध होता है और यही उसका बन्धन है। शुद्ध चेतन जीव कर्म में क्यों फॅसता है? इसका कोई उत्तर नहीं है शिवाय इसके कि कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध अनादि है। मोक्ष के लिए जीव को इस कर्म–मल को सर्वथा नष्ट करना आवश्यक है। ज्ञान कर्मसमुच्चय इसमें सहायक है। सत्कर्मचित्त को शुद्ध करते हैं। ज्ञान से चित्त, अचित्त और ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। रामानुजाचार्य के अनुसार परज्ञान और पराभक्ति एक ही है।[2] और यही मोक्ष का कारण है। रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति का अर्थ है प्रपत्ति और ध्रुवास्मृति इस भक्ति का चरम उत्कर्ष भगवद्नुग्रह से भगवान के साक्षात् अनुभव में होता है। यही पराभक्ति है, यही परज्ञान है यही ब्रह्म साक्षात्कार ही, यही मोक्ष है।[3]

भगवद्कृपा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय और ध्रुवास्मृति की भगवद्साक्षात्कार में परिणति एक साथ होती है। रामानुजाचार्य जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि जब तक शरीर है तब तक कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता। मुक्त जीव का ब्रह्म में विलय नहीं होता। मुक्त जीव का ब्रह्म के साथ स्वरूपैक्य या एकात्म्य सम्भव नहीं है। अविद्या तथा कर्म की निवृत्ति हो जाने पर भी जीवात्मा का स्वरूप नाश नहीं होता; उसकी सत्ता बनी रहती है, क्योंकि वह नित्य

१– असम्प्रज्ञात योगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वारा झटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तम। – यो० सार संग्रह, पृ०सं० १७

२– भवतुमम् परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा। – श्री भाष्य, मङ्गलाचरण। उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन, पृ०सं० ३०६

३– भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन, पृ०सं० ३०६–०७

तत्त्व है। मुक्त जीव ईश्वर का शुद्ध अङ्.ग बनकर ईश्वर के समान हो जाता है। उसका ज्ञान और आनन्द का ही अनुभव करता है। वह ब्रह्म प्रकार या ब्रह्म समान हो जाता है। यह सायुज्य मुक्ति है, जो वैष्णव मुक्ति के चतुर्विध रूपों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य में सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि मुक्त जीव और ईश्वर के ज्ञान और आनन्द में कोई अन्तर नहीं है, तथापि दोनों में अन्य भेद बने रहते हैं। मुक्त जीव अणुरूप है, ईश्वर भिक्षु है। मुक्त जीव ईश्वर का अङ्.ग और शरीर है। मुक्त जीव ईश्वर के समान अर्न्तयामी नहीं है और न उसमें ईश्वर के समान, सृष्टि का कर्ता, धर्ता संहर्ता होने की शक्ति है, तथा न ही उसमें निग्रह और अनुग्रह की शक्ति है।

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म नित्य, शुद्ध, चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ओर मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। जिस प्रकार भगवान बुद्ध के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही हैं। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[1] इस श्रुति वाक्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक हैं। वस्तुतः जीव ब्रह्म 'होता' या 'बनता' नहीं है, ब्रह्म ज्ञान में कोई क्रिया नहीं है क्योंकि जीव सदैव ब्रह्म है। बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्याजन्य है। जब बन्धन वास्तविक नहीं है तो मोक्ष के वास्तविक होने का प्रश्न नहीं उठता। जीव का जीवत्व अविद्या के कारण है। अविद्या के कारण जीव देहेन्द्रियान्त कारणादि से तादात्म्य कर लेता है अहङ्.कार–ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभाशुभ कर्मों का कर्ता, सुख–दुःख रूपी कर्मफल का भोक्ता मानकर जन्म मरण चक्र में संसरण करता है। यही उसका बन्धन है। जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्त हो जाती है, तो जीव नित्य शुद्ध–बुद्ध, मुक्त ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी बन्धन से मुक्ति है। किन्तु ब्रह्मात्म्यैक्य के त्रिकाल सिद्ध और नित्य होने के कारण जीव का न तो बन्धन होता है और न मोक्ष। केवल अविद्या ही आती है और अविद्या ही जाती है, और अविद्या भ्रान्ति है, अतः उसका आवागमन, उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों भ्रांतिरूप है। बन्धन और मोक्ष दोनों व्यावहारिक हैं, तथा परमार्थतः मिथ्या हैं। यद्यपि भ्रम की

१– ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। – मुण्डक उपनिषद ३/२/६

अवस्था से भ्रम निवारक ज्ञान की अवस्था में आने में समय का अन्तर होता है, क्योंकि भ्रम की अवस्था पूर्वकालिक और भ्रम निवृत्ति की अवस्था उत्तर कालिक होती है, तथापि भ्रम–पदार्थ के त्रिकाल में असत् होने के कारण भ्रम और उसकी निवृत्ति को काल–सापेक्ष नहीं माना जा सकता। भ्रम और उसकी निवृत्ति दोनों अन्ततः मिथ्या हैं। अधिष्ठान का ज्ञान और भ्रम–निवृत्ति, एक साथ होती है, और दोनों एक ही हैं। ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्या–निवृत्ति प्रपञ्च–विलय और मोक्ष प्राप्ति–ये सब एक हैं। 'ये एक साथ होते हैं, यह कथन भी उपचार मात्र है, क्योंकि यहाँ कोई 'होना' या क्रिया नहीं है। अविद्या–निवृत्ति और ब्रह्म भाव मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है।[१] आत्म ज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रूप में उत्पन्न नहीं करता। मोक्ष प्रतिबन्ध रूप अविद्या की निवृत्ति मात्र ही आत्म–ज्ञान का फल है।[२] ज्ञान वस्तु तन्त्र और प्रकाशक या ज्ञापक होता है, कारक नहीं, क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है। अतः ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्तिमात्र है, जो ज्ञान के प्रकाश से स्वतः हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा या ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है। मोक्ष या ब्रह्म हेय और उपादेय रहित है, मोक्ष में न कुछ खोना है न पाना है।[३] मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान भी अविद्याजन्य है। मोक्ष किसी अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है; मोक्ष आत्म भाव है, जो सदा प्राप्त है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष के तीन लक्षण हैं –

१– मोक्ष अविद्या निवृत्ति है।

२– मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार है।

३– मोक्ष नित्य अशरीरत्व है।[४]

१– श्रुतयो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। – शा० भाष्य, १/१/४

२– मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्। – शा० भाष्य, वहीं।

३– हेयापादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमात्। – शा० भा०, १/१/५

४– (क) अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः।

(ख) ब्रह्मभावश्च मोक्षः।

(ग) नित्यमशरीररत्वं मोक्षाख्यम्। – शा० भा० वही,।

आचार्य ने मोक्ष का अत्यन्त सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है– यह पारमार्थिसत् है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य तृप्त हैं, निरवयव है, स्वय ज्योति स्वभाव है, यह धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मों तथा (सुख–दुःख रूपी) उनके कर्मों से स्पष्ट है, यह कालत्रयातीत है, यह अशरीरत्व मोक्ष कहलाता है।[१]

मोक्ष पारमार्थिक सत् है। बन्धन और मोक्ष अविद्याकृत होने से सापेक्ष और मिथ्या है, किन्तु परब्रह्म या परमात्मतत्त्व के रूप मे मोक्ष पारमार्थिक सत् है। यहॉ आचार्य को बन्धन–सापेक्ष मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। आचार्य के अनुसार ब्रह्म ही मोक्ष अर्थात नित्य मुक्त परमार्थ है। यह कूटस्थ नित्य है क्योकि इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन परिणाम या विकार सम्भव नहीं है। यह परिणाम नित्य नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार का परिणाम इसकी नैसर्गिक शुद्धता को नष्ट कर सकता है। यह अनन्त और सर्वव्यापी भूतवस्तु है। यह कारण कार्य भाव के पार हैं, क्योंकि यह सब प्रकार के विकारों से रहित है। यह नित्य तृप्त है अर्थात आप्तकाम है, तथा नित्य अखण्डानन्द है। यह ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान या वेदक–वेद्य–वेदना त्रिपुटी के पार है। अतः इसका ज्ञान और आनन्द स्वसम्वेद्य नहीं है। यह स्वयं शुद्ध, चैतन्य और आनन्द है। यह अद्वैत, निरवयव और अखण्ड है। यह स्वयं ज्योति या स्वप्रकाश है। यह स्वतः सिद्ध है। यह दिक्कालातीत है। यह अविद्या कर्म (धर्म और अधर्म), फल (सुख और दुःख) और शरीरेन्द्रिय–विषयादि से सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक, सुख–दु.खातीत है। इसका आनन्द लौकिक सुख नहीं है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है, देहाध्यास के कारण है, मिथ्या ज्ञान निमित्त है। अतः अविद्या–निवृत्त होने पर देहाध्यास भी निवृत्त हो जाता है, तथा शरीर के रहने पर भी शरीर सम्बन्ध की आत्यन्तिक निवृत्ति के कारण अशरीरत्व सिद्ध होता है, एवं जीवन्मुक्त सिद्ध होती है। यह स्वातन्त्र्य है, स्वराज्य है, अभयपद है और परम पुरुषार्थ है।

१– इदं तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वय ज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण, कालत्रय च नोपावर्तेत तदेतत् अशरीरत्व मोक्षाख्यं। शा० भा० वही।

मोक्ष कार्य या उत्पाद्य नहीं है। मोक्ष को किसी कारण द्वारा उत्पन्न कार्य नहीं माना जा सकता। मोक्ष न तो कर्म का फल है, और न उपासना का फल है। मोक्ष को कार्य या उत्पाद्य मानने पर वह निश्चित रूप से अनित्य होगा । मोक्ष में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्ति मोक्ष को नित्य मानते है।[1] मोक्ष नित्य आनन्द है, और लौकिक (सांसारिक) तथा परलौकिक (स्वर्गिक) सुखों से भिन्न एवं अत्यन्त उत्कृष्ट है। लौकिक एवं स्वर्गिक सुख कर्म जन्य है, वे सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं।तथा पुण्य समाप्त हो जाने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते हैं।[2] स्वर्गिक सुख भले ही चिरस्थाई हो, किन्तु है विनाशशील और अनित्य। यदि मोक्ष को कर्म या उपासना द्वारा उत्पन्न माना जाय तो वह निश्चित ही नश्वर और अनित्य होगा, भले ही उसे लौकिक या स्वर्गिक सुखों से अधिक चिरस्थाई और श्रेष्ठ माना जाये। मोक्ष को ब्रह्म—ज्ञान द्वारा उत्पन्न फल भी नहीं स्वीकार किया जा सकता । प्रथम तो, कार्य होने से मोक्ष अनित्य होगा, और द्वितीय ज्ञान प्रकाशक है, कारक नहीं। ब्रह्म—ज्ञान केवल मोक्ष—प्रतिबन्ध भूत अविद्या को निवृत्त करता है, मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। ब्रह्म—ज्ञान, अविद्या—निवृत्ति और मोक्ष एक ही है, और एक साथ होते हैं एवं उनमें कार्यान्तर नहीं होता। 'एक साथ होते है', यह कथन भी उपचार मात्र है, क्योंकि वस्तुतः वे एक ही हैं। उपासना या ध्यान के समान, शुद्ध ज्ञान, मानसी क्रिया नहीं है। यह अपरोक्ष अनुभव या प्रकाशमात्र है। वेदान्त—शास्त्र इदं तया, विषयभूत, ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित वेदक—वेद्य—वेदना की त्रिपुटी के पार स्वानुभूति—गम्य बताता है।[3] आत्म ज्ञान का फल मोक्ष—प्रतिबन्धक अविद्या की निवृत्ति मात्र है।[4]

---

१. नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरूपगम्यत।

२. यावत् सम्पातमुषित्वा। क्षीणे—पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। शा० भा०

३— शारीरिक भाष्य, १—१—४

४— मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्ति मात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्—शा० भा०।

मोक्ष कार्य या उत्पाद्य नहीं है। वह विकार्य या कारण का विकार भी नहीं है क्योंकि कार्य और विकार्य दोनों अनित्य होते हैं। वह संस्कार्य भी नहीं है, क्योंकि उसमें गुणाधान या दोषापनयन रूपी संस्कार सम्भव नहीं है वह तो स्वभाव से ही नित्य विशुद्ध है। वह आप्य या प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है, अपितु सदा प्राप्त है।

जीवन्मुक्त सिद्ध है। मोक्ष मृतकों के लिए आरक्षित नहीं है। उसे यहीं इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है।[1] मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। स्थूल शरीर पञ्चभौतिक है, सूक्ष्म शरीर इन्द्रियान्तः करणादिनिर्मित है; कारण शरीर अविद्या और कर्म संस्कार निमित्त है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म और कारण शरीर जीव के साथ लगे रहते हैं, और उसे पुनर्जन्म हेतु बाध्य करते हैं। मोक्ष अशरीरत्व अर्थात् त्रिविधशरीरसम्बन्धराहित्य है, नित्य अशरीरत्व आत्मा का स्वभाव है। अविद्या के कारण आत्मा पर शरीरादि का अध्यास होता है। जिससे शरीरादि में आसक्ति होती है। अध्यास भ्रान्ति है, और अधिष्ठान रूप आत्मा के साक्षात् ज्ञान से सर्वदा के लिए निवृत्त हो जाती है। आत्मा और शरीर का तादात्म्य मिथ्या है, भ्रान्ति हैं, अध्यास है। अतः अधि ष्ठान भूत आत्मसाक्षात्कार से अविद्या–निवृत्ति होते ही शरीर के रहने पर भी अशरीरत्व या जीवन्मुक्ति सिद्ध है।[2] इस शरीर को सुख–दुःख स्पर्श नहीं करते है।[3] जिस प्रकार सर्प की अपनी केंचुल उतार फेंकने पर उसमें कोई आसक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार जीवन्मुक्त की अपने शरीर में कोई आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि वह अशरीर अमृत ब्रह्म ही है।[4] जिस प्रकार मदिरामदान्ध व्यक्ति को यह बुद्धि और चिन्ता नही रहती, कि उसका वस्त्र उसके शरीर पर है या गिर रहा है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त सिद्ध को यह बुद्धि और चिन्ता नहीं रहती कि उसका नश्वर शरीर पड़ा है

१– अत्र ब्रह्मसमश्नुत्ते। इहैव तदाप्नोति। अभय प्राप्तोऽसि।

२– तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् – शा० भा०, १–१–११

३– अशरीर वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। – छान्दोग्य उप०, ८–१२–१

४– अथायम् अशरीरोऽमृतः ब्रह्मैव। – वृहदारण्यक उप० ४–४–७

या खड़ा है।[1] जिस प्रकार कुम्हार का चाक, उसके हाथ हटा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर घूमता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्म के कारण कुछ समय तक बना रहता है किन्तु इस अविद्या में नवीन कर्म संचय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म नष्ट होने पर देहपात होकर विदेह मुक्ति होती है।

चूँकि शिव पुराण में शिव की महिमा बताई गई है। अतएव ध्यान के लिए भी शिव का ही ध्यान बतलाया गया है। जबकि ध्यान किसी भी वस्तु पर केन्द्रित किया जा सकता है। जब स्थूल रूप में ध्यान लगाया जाता है, तब चित्त निश्चल हो जाता है, तब सूक्ष्म रूप में वह स्थिर होता है। ईश्वर का ध्यान चिन्तन करने पर सब सिद्धियॉ प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती हैं। जिस–जिस रूप में मन की स्थिरता लक्षित हो, उसी का बार–बार ध्यान करें। ध्यान पहले सविषय होता है फिर निर्विषय होता है। इस विषय पर कुछ लोगों का मत है कि कोई भी ध्यान निर्विषय होता ही नहीं। बुद्धि की ही कोई प्रवाह रूपा सन्तति ध्यान कहलाती है, इसलिए निर्विषय बुद्धि केवल–निर्गुण निराकार ब्रह्म में ही प्रवृत्त होती है।

अत. सविषय ध्यान प्रातः काल के सूर्य की किरणों के समान ज्योति का आश्रय लेने वाला है, तथा निर्विषय ध्यान सूक्ष्म तत्त्व का अवलम्बन करने वाला है इन दो के सिवा और कोई ध्यान वास्तव में नहीं है, अथवा सविषय ध्यान साकार स्वरूप का अवलम्बन करने वाला है, तथा निराकार स्वरूप का जो बोध या अनुभव है, वही निर्विषय ध्यान माना गया है। वह सविषय और निर्विषय ध्यान ही क्रमशः सबीज और निर्बीज कहा जाता है। निराकार का आश्रय लेने से उसे निर्बीज और साकार का आश्रय लेने से सबीज की संज्ञा दी गई है। अतः पहले सविषय या सबीज का ध्यान करके अन्त में सब प्रकार की सिद्धि के लिए निर्विषय अथवा निर्बीज ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम करने से क्रमशः शान्ति आदि दिव्य सिद्धियाँ सिद्ध होती है। उनके नाम हैं–शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति

१– देहं च नश्वरम वस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्। दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासोयथा परिकृतं मदिरामदान्धह।। – भागवत, ११–१३–३६

और प्रसाद। समस्त आपदाओं के शमन को ही शान्ति कहा गया है। तम (अज्ञान) का बाहर और भीतर से नाश ही प्रशान्ति है। बाहर और भीतर जो ज्ञान का प्रकाश होता है, उसका नाम दीप्ति है तथा बुद्धि की जो स्वस्थता (आत्मनिष्ठता) है, उसी को प्रसाद कहा गया है। बाह्य और आभ्यन्तर सहित जो समस्त कारण हैं, वे बुद्धि के प्रसाद से शीघ्र ही प्रसन्न (निर्मल) हो जाते हैं।

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानप्रयोजन इन चार को जानकर ध्यान करने वाला पुरुष ध्यान करे। जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न हो, सदा शान्त चित्त रहता हो श्रद्धालु हो, और जिसकी बुद्धि प्रसाद गुण से युक्त हो, ऐसे साधक को ही सत्पुरूषों ने ध्याता कहा है। 'ध्यै चिन्तायाम' यह धातु है। इसका अर्थ है चिन्तन। किसी भी व्यक्ति का सतत् चिन्तन ही ध्यान कहलाता है। जैसे—थोड़ा सा भी योगाभ्यास पाप का नाश कर देता है, उसी तरह क्षणमात्र भी करने वाले पुरुष के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। श्रद्धा पूर्वक विक्षेप—रहित चित्त से परमेश्वर का जो चिन्तन है, उसी का नाम 'ध्यान' है। बुद्धि के प्रवाह रूप ध्यान का जो आलम्बन या आश्रय है, उसी को साधु पुरुष 'ध्येय' कहते है। स्वयं साम्ब सदाशिव ही वह ध्येय है। मोक्ष—सुख का पूर्ण अनुभव और अणिमा आदि ऐश्वर्य की उपलब्धि—ये पूर्ण शिवध्यान के साक्षात् प्रयोजन कहे गए हैं। ध्यान से सौख्य और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है, इसलिए मनुष्य को सब कुछ छोड़कर ध्यान में लग जाना चाहिए। बिना ध्यान के ज्ञान नहीं होता और जिसने योग का साधन नहीं किया है, उसका ध्यान नहीं सिद्ध होता। जिसे ध्यान और ज्ञान दोनों प्राप्त हैं, उसने भवसागर को प्राप्त कर लिया है। समस्त उपाधियों से रहित, निर्मल ज्ञान और एकाग्रता पूर्ण ध्यान—ये योगाभ्यास से युक्त योगी को ही सिद्ध होते हैं। जिनके समस्त पाप नष्ट हो गए हैं, उन्हीं की बुद्धि, ज्ञान और ध्यान में लगती है। जिनकी बुद्धि पाप से दूषित है, उनके लिए ध्यान और ज्ञान की बात भी अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे—प्रज्वलित हुई आग सूखी और गीली लकड़ी को भी जला देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि शुभ और अशुभ

१— संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ७०४

कर्म को भी क्षण भर में दग्ध कर देती है। जैसे—बहुत छोटा दीपक भी महान अन्धकार का नाश कर देता है, इसी तरह थोडा सा योगाभ्यास भी महान पाप का विनाश कर डालता है। श्रद्धापूर्वक क्षण भर भी परमेश्वर का ध्यान करने वाले पुरुष को जो महान श्रेय प्राप्त होता है, उसका कहीं अन्त नहीं है।[1]

ध्यान के समान कोई तीर्थ नहीं है, ध्यान के समान कोई तप नहीं है, और ध्यान के समान कोई यज्ञ नहीं हैं, इसलिए ध्यान अवश्य करना चाहिए।[2] अपने आत्मा एवं परमात्मा का बोध प्राप्त करने के कारण योगीजन केवल जल से भरे हुए तीर्थों और पत्थर एवं मिट्टी की बनी हुई देवमूर्तियों का आश्रय नहीं लेते। जैसे—अयोगी पुरुषों को मिट्टी और काठ आदि की बनी हुई स्थूल मूर्तियों का प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह योगियों को ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। जैसे—राजा को अपने अन्तःपुर में विचरने वाले स्वजन एवं परिजन प्रिय होते हैं और बाहर के लोग उतने प्रिय नहीं होते, उसी प्रकार भगवान शंकर को अन्तः करण में ध्यान लगाने वाले भक्त ही अधिक प्रिय हैं, बाह्य उपचारों का आश्रय लेने वाले कर्म काण्डी नहीं। जैसे—लोक में यह देखा गया है कि बाहरी लोग राजा के भवन में राजकीय पुरुषोचित्त फल का उपभोग नही कर पाते, केवल अन्तःपुर के लोग ही फल के भागी होते हैं, उसी प्रकार यहाँ बाह्य कर्मी पुरुष उस फल को नहीं पाते, जो ध्यान योगियों को सुलभ होता है। ज्ञान योग की साधना के लिए उद्यत हुआ पुरुष यदि बीच में ही मर जाय तो भी योग के लिए उद्यत करने मात्र से रुद्र लोक में जायेगा। योग का जिज्ञासु पुरुष भी जिस गति को जाता है उसे यज्ञ कर्ता सम्पूर्ण महायज्ञों

१— यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं निर्दहेत्। तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहते क्षणत्।।
ध्यायतः क्षणमात्रं व श्रद्धया परमेश्वरम्। यद्भवेत् समुहच्छेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते।।
(शि०पु० वा० स० उ० ख० ३६/२५/२७)

२— नास्ति ध्यान सम तीर्थं नास्ति ध्यानसम तपः।
नास्ति ध्यानरूपो यज्ञस्तस्माद्धयान समाचरेत्।।
(शि०पु० वा० स० उ० ख० ३६/२८)

का अनुष्ठान कर नहीं पाता। करोड़ों वेदवेत्ता द्विजों की पूजा करने से जो फल मिलता है, वह सारा फल योगियों को अन्न देने मात्र से प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति हेतु अपनाए जाने वाले उपायों के लिए भी पुराणों में चर्चा मिलती है। शिव पुराण में उद्धृत है कि जब दूसरी वृत्तियों का विरोध हो गया हो, ऐसे चित्त की जो निश्चल वृन्ति है, वही संक्षेप में योग कहा जाता है। वह योग पाँच प्रकार का है– मंत्रयोग, स्पर्श योग, भावयोग, अभाव योग और महायोग। मन्त्र जप के अभ्यास और मन्त्र के वाच्यार्थ में स्थित हुई विक्षेपरहित जो मन की वृत्ति है, उसका नाम मंत्रयोग है। मन की वही वृत्ति जब प्राणायाम को प्रधानता दे तो उसका नाम 'स्पर्श योग' होता है। वही स्पर्शयोग जब मन्त्र के स्पर्श से रहित हो तो 'भावयोग' कहलाता है, जिससे सम्पूर्ण विश्व के रूपमात्र का अवयव विहीन (तिरोहित) हो जाता है, उसे अभावयोग कहा गया है, क्योंकि उस समय सद्वस्तु का भी भान नहीं होता। जिससे एक मात्र उपाधि शून्य शिव–स्वभाव का चिन्तन किया जाता है, और मन की वृत्ति शिवमयी हो जाती है, उसे 'महायोग' कहते है।[१]

लौकिक और पारलौकिक विषयों की ओर से जिसका मन विरक्त हो गया हो उसी का योग में अधिकार है, दूसरे किसी का नहीं है। लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयों के दोषों का और ईश्वर के गुणों का सदा ही दर्शन करने से मन विरक्त होता है। प्रायः सभी योग आठ या छः अड्.गों से युक्त होते हैं। यम, नियम, स्वस्तिक आदि, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये विद्वानों द्वारा योग के आठ अड्.ग़ बताये गये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन्हें यम कहा गया है। इस प्रकार यम पाँच अवयवों के योग से युक्त है। शौच, संतोष, जप, तप (स्वाध्याय) और प्रणिधान इन पॉच भेदों से युक्त दूसरे योगाड्.ग को नियम कहा गया है। तात्पर्य यह है कि नियम अंशों के भेद से पॉच प्रकार का है। आसन के आठ भेद कहे गये हैं– स्वास्तिक आसन, पद्मासन, अर्धचन्द्रासन, वीरासन, योगासन, प्रसाधितासन,

---

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० सं० ६६६

पर्यङ्.कासन और अपनी रुचि के अनुसार आसन।[1] अपने शरीर में प्रकट हुई जो वायु है, उसको प्राण कहते हैं। उसे रोकना ही उसका आयाम है। इस प्राणायाम के तीन भेद कहे गये हैं–रेचक, पूरक और कुम्भक्। नासिका के एक छिद्र को दबाकर या बन्द करके दूसरे से उदर स्थित वायु को बाहर निकाले। इस क्रिया को रेचक कहा गया है। फिर दूसरे नासिका–छिद्र के द्वारा बाह्य वायु से शरीर को धौकनी की भांति भर लें। इसमें वायु के पूरण की क्रिया होने के कारण इसे 'पूरक' कहा गया है। जब साधक भीतर की वायु को न तो छोड़ता है और न बाहर की वायु को ग्रहण करता है, केवल भरे हुए घडे की भॉति अविचल भाव से स्थित रहता है, तब उस प्राणायाम को 'कुम्भक' नाम दिया जाता है। योग की साधना करने वाले को चाहिए कि वह रेचक आदि तीनों प्राणायामों को न तो बहुत जल्दी–जल्दी करे न बहुत देर से करे।[2]

रेचक आदि में नाडी शोधन पूर्वक जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, उसे स्वेच्छा से उत्क्रमण करते रहना चाहिए–यह बात योग शास्त्र में बताई गई है। कनिष्ठ आदि के क्रम से प्राणायाम चार प्रकार का कहा गया है। मात्रा और गुणों के विभाग–तारतम्य से ये भेद बनते हैं। चार भेदों में से जो कन्यक या कनिष्ठ प्राणायाम है, यह प्रथम उद्घात[3] कहा गया है, इसमें बारह मात्राएँ होती है। उससे भी श्रेष्ठ जो सर्वोत्कृष्ट चतुर्थ[4] प्राणायाम है, वह शरीर में स्वेद और कम्प आदि का जनक होता है।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६६

२– स० शि० पु० वही, पृ०स० ६६६

३– उद्घात का अर्थ नाभिमूल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिमाण है।

४– योग सूत्र मे चतुर्थ प्राणायाम का परिचय इस प्रकार दिया गया है–बाह्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर विषयों को फेंकने वाला प्राणायाम चौथा है।

–उद्धृत–शिव पुराण, अनूदित–वही, पृ०स० ६६६

योगी के अन्दर आनन्द जनित रोमाञ्च नेत्रों से अश्रुपात, जल्प, भ्रान्ति और मूर्च्छा आदि भाव प्रकट होते हैं। घुटने के चारों ओर प्रदक्षिणक्रम से न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे–धीरे चुटकी बजाएँ। घुटने की एक परिक्रमा में जितनी देर तक चुटकी बजती है, उस समय का मान एक मात्रा है। उद्घात क्रम योग से नाड़ी शोधन–पूर्वक प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम के दो भेद बतलाए गए हैं– अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है, और जप तथा ध्यान के सहयोग पूर्वक किए जाने वाले प्राणायाम को 'सगर्भ' कहते हैं। जब शरीर में कम्प पैदा हो तो मन में बडे भारी पर्वत को धारण करे। बोलने में रुकावट होने पर वाग्देवी की, बहरापन आने पर श्रवण शक्ति को धारण करे। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित होने पर ऐसी धारणा करे कि जिह्वा पर आम का फल रखा हुआ है और उससे रस मिल रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस–जिस अङ्ग में रोग पैदा हो, वहाँ–वहाँ उसमें लाभ पहुँचाने वाली धारणा करे। गर्मी में सर्दी की और सर्दी में गर्मी की धारणा करे। धारणा के द्वारा ही अपने मस्तक पर काठ की कील रखकर दूसरे काष्ठ के द्वारा उसे ठोंकने की भावना करे। इससे योगी की लुप्त हुई अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक उत्तम है। इसलिए योगी जन प्रायः सगर्भ प्राणायाम किया करते हैं। प्राण विजय से ही शरीर की वायुओं पर विजय पाई जाती है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाम, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय– ये दस प्राण वायु है। प्राण प्रयाण करता है, इसलिए इसे प्राण कहते हैं। जो कुछ भोजन किया जाता है, उसे जो वायु नीचे ले जाती है, उसको अपान कहते हैं। जो वायु सम्पूर्ण अङ्गों को बढ़ाती हुई उनमें व्याप्त रहती है, उसका नाम 'व्यान' है। जो वायु मर्मस्थानों को उद्वेलित करती है, उसकी 'उदान' संज्ञा है। जो वायु सब अङ्गों को समभाव से ले चलती है, वह अपने उस समनयन रूप कर्म से 'समान' कहलाती है। मुख से कुछ उगलने में कारणभूत वायु को नाग कहा गया है। आँख खोलने के व्यापार में 'कूर्म' नामक वायु की स्थिति है। छींक में कृकल और जँभाई में 'देवदत्त' नामक वायु की स्थिति है। धनंजय नामक वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। वह मृतक शरीर को भी नहीं छोडती। क्रम से अभ्यास में लाया हुआ यह

प्राणायाम जब उचित प्रमाण या मात्रा से युक्त हो जाता हैं, तब वह कर्त्ता के सारे दोषों को दग्ध कर देता है और उसके शरीर की रक्षा करता है।[1]

प्राण पर विजय प्राप्त हो जाये तो उससे प्रकट होने वाले चिह्नों को भली–भाँति देखे। पहली बात तो यह होती है कि विष्ठा, मूत्र और कफ की मात्रा घटने लगती है, अधिक भोजन करने की शक्ति हो जाती है और विलम्ब से साँस चलती है। शरीर में हल्कापन आता है, शीघ्र चलने की शक्ति प्रकट होती है, हृदय में उत्साह बढ़ता है, स्वर में मिठास आती है, समस्त रोगों का नाश हो जाता है। बल, तेज और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। घृति, मेधा और युवापन, स्थिरता और प्रसन्नता आती है। तप, प्रायश्चित, यज्ञ, दान और व्रत आदि जितने भी साधन है–ये प्राणायाम के सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं है। अपने–अपने विषय में आसक्त हुई इन्द्रियों को वहाँ से हटाकर जो अपने भीतर निगृहीत करता है, उस साधन को 'प्रत्याहार' कहते हैं। मन और इन्द्रियाँ मनुष्य को स्वर्ग तथा नरक में ले जाने वाली हैं। यदि उन्हें वश में रखा जाये तो वे स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं, और विषयों की ओर खुली छोड़ दिया जाय तो वे नरक में डालने वाली होती हैं। इसलिए सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान पुरुषों को चाहिए कि वह ज्ञान, वैराग्य का आश्रय ले। इन्द्रिय रूपी अश्वों को शीघ्र ही काबू में करके स्वयं ही आत्मा का उद्धार करे।[2]

चित्त को किसी स्थान–विशेष में बाँधना किस ध्येय–विशेष में स्थिर करना–यही संक्षेप में धारणा का स्वरूप है। एक मात्र शिव ही स्थान हैं, दूसरा नहीं, क्योंकि दूसरे स्थानों में त्रिविध दोष विद्यमान हैं। किसी नियमित काल तक स्थान स्वरूप शिव में स्थापित हुआ मन जब लक्ष्य से च्युत न हो तो धारणा की सिद्धि समझना चाहिए अन्यथा नहीं। मन पहले धारणा से स्थिर होता है, इसलिए धारणा के अभ्यास से मन को धीर बनाए। ध्यान में 'ध्यै चिन्तायाम' यह धातु माना गया है। इसी धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'ध्यान' की सिद्धि होती है; अतः विक्षेप रहित चित्त से जो

१– सक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६८
२– सक्षिप्त शिव पुराण, अनुदित, वही, पृ०सं०, ६६९

शिव का बारम्बार चिन्तन किया जाता है, उसी का नाम 'ध्यान' है। ध्येय में स्थित हुए चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और बीच में दूसरी वृत्ति अन्तर नहीं डालती उस ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह रूप से बना रहना 'ध्यान' कहलाता है। इस ध्यान के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं–पहला है मोक्ष और दूसरा प्रयोजन है अणिमादि सिद्धियों की उपलब्धि। ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान –प्रयोजन–इन चारों को अच्छी तरह जानकर योगवेत्ता पुरुष योग का अभ्यास करे जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, ममता रहित तथा सदा उत्साह रखने वाला है। ऐसा ही पुरुष ध्याता कहा गया है अर्थात् वही ध्यान करने में सफल हो जाता है।[१]

योगी को हमेशा जप से थकने पर ध्यान करना चाहिए और ध्यान से थकने पर पुनः जप करना चाहिए। इस तरह जप और ध्यान में लगे हुए पुरुष का योग जल्दी सिद्ध होता है। बारह प्राणायामों की एक धारणा होती है, बारह धारणाओं का ध्यान होता है, और बारह ध्यान की एक समाधि कही गयी है। समाधि को योग का अन्तिम अड्.ग कहा गया है। समाधि से सर्वत्र बुद्धि का प्रकाश फैलता है। जिस ध्यान में केवल ध्येय ही अर्थ रूप से भासता है, ध्याता निश्चल महासागर के समान स्थिर भाव से स्थिर रहता है, और ध्यान स्वरूप से शून्य सा हो जाता है उसे 'समाधि' कहते हैं। जो योगी ध्येय चित्त को लगाकर सुस्थिर भाव से उसे देखता है और बुझी हुई आग के समान शान्त रहता है, वह 'समाधिस्थ' कहलाता है। वह न सुनता है, न सूँघता है, न बोलता है, न देखता है, न स्पर्श करता है, न अनुभव करता है, न मन से संकल्प–विकल्प करता है, न उसमें अभिमान की वृत्ति का उदय होता है और न वह बुद्धि के द्वारा ही कुछ समझता है। केवल काष्ठ की भाँति स्थिर रहता है। जैसे–वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक कभी हिलता नहीं है–निस्पन्द बना रहता है, उसी तरह समाधिनिष्ठ शुद्ध चित्त योगी भी उस समाधि से कभी विचलित नहीं होता–सुस्थिर भाव से स्थिर रहता है। इस प्रकार उत्तम योग का अभ्यास करने

१– संक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६६

वाले योगी के सारे अन्तराय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण विघ्न भी धीरे–धीरे दूर हो जाते हैं।[1]

गायत्री पुराण में ज्ञान को परम श्रेयस्कर माना गया है। उसी के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। पुराण में आत्मा को देह से अलग माना गया है, क्योंकि इस पञ्च भौतिक शरीर का पोषण भौतिक पदार्थों से ही होता है। जल और मिट्टी के द्वारा स्थित रहने वाले इस शरीर को प्राणवान तो आत्मा से ही होना है किन्तु आत्मा स्वयं इसमें लिप्त नहीं होता। जब आत्मा शरीर से बाहर हो जाता है तब शरीर में सड़न उत्पन्न हो जाती है। इससे भी स्पष्ट है कि शरीर का सुख नष्ट हो जाने वाला है तब उसके लिए चिन्ता ही क्यों की जाये? मल रहित तथा ज्ञान मय आत्मा ही निर्वाण रूप है दुःख सुख आदि धर्म आत्मा के नहीं, शरीर के ही हैं, किन्तु देह का संसर्ग प्राप्त होने पर अहंकार आदि से दूषित होकर प्रकृति के धर्मों को अपना लेता है, अन्यथा आत्मा तो अव्यय स्वरूप है, उसका इन सांसारिक धर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जो अविद्या का बीज है उसका निवारण योग के द्वारा ही सम्भव है।[2] योग का अर्थ है–साध्य से जुड़ना। जब परमात्म तत्त्व का आभास होने लगता है, तब योग की सिद्धि सफल होती है, किन्तु योगियों को साधना करते–करते अनेक सिद्धियाँ अनचाहे ही स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। वे सिद्धियॉ भी साध्य पक्ष से विचलित करने वाली हैं। उन्हें प्राप्त करके भी साधक की बुद्धि फिरने लगती है। वह सोचता है कि मुझे आकाश में उड़ने की, जल पर चलने की, अग्नि में प्रविष्ट होने की अथवा और भी कोई बड़ी सिद्धि प्राप्त हो गयी है। वह इन सिद्धियों में भी भ्रमित होकर उनका प्रदर्शन करने लगता है किन्तु इससे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। वरन् वे सिद्धियाँ भी बन्धन में डालने वाली ही सिद्ध होती है।[3] इसमें गायत्री की उपासना तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहङ्.कार

१– सक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६६
२– गायत्री पुराण, अनूदित, केशिध्वज का खाण्डिक्य को गायत्री योगोपदेश, पृ०सं० ४३१
३– गायत्री पुराण वही, पृ०सं० ४३१

आदि का त्याग ही मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है। वही योग प्राप्त कराती है, वही ब्रह्म से योग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराती है।

संक्षिप्त भविष्य पुराण में मात्र सूर्य की उपासना के द्वारा ही निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त सहज रूप में बतलाया गया है। इसके अलावा अन्य मार्गों को अत्यन्त दुष्कर रूप में सम्बोधित किया गया है। सूर्य की उपासना हेतु सभी प्राणियों को सूर्यवत् समझने के लिए कहा गया है।[१]

मार्कण्डेय पुराण में मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को बताया गया है कि 'सड़्.ग' (आसक्ति का सब प्रकार से त्याग करना चाहिए; किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का सड़्.ग करना चाहिए; क्योंकि सत्पुरुषों का सड़्.ग ही उसकी औषधि है। कामना को सर्वथा छोड़ देना चाहिए; परन्तु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्ति की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिए, क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने वाली दवा है।[२]

योगी को ज्ञान की प्राप्ति होकर, जो उसका ज्ञान से वियोग होता है, वही मुक्ति है, और वही ब्रह्म के साथ एकता एवं प्राकृत गुणों से पृथक होना है। मुक्ति होती है, योग से। योग प्राप्त होता है, सम्यक् ज्ञान से, सम्यक् ज्ञान होता है–वैराग्य जनक दुःख से और दुःख होता है ममता के कारण, स्त्री, पुत्र, धन आदि में चित्त की आसक्ति होने से। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष, आसक्ति को दुःख का मूल समझकर, उसे छोड़ दे। आसक्ति न होने पर 'यह मेरा है' ऐसी धारणा दूर हो जाती है। ममता का अभाव सुख का साधक है। वैराग्य से सांसारिक विषयों में दोष का दर्शन होता है। ज्ञान से वैराग्य और वैराग्य से ज्ञान होता है। जहाँ रहना हो, वही घर है। जिससे जीवन चले, वही भोजन है, और जिससे मोक्ष मिले वही ज्ञान बताया गया है। इसके अलावा सब अज्ञान है। पुण्य और पापों को भोग लेने से, नित्य कर्मों का निष्काम भाव से अनुष्ठान

१– संक्षिप्त–भविष्य पुराणाड़्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १४५

२– संक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्म–पुराणाड़्.क– इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड़्.क, कल्याण कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर –पृ०स० १२६

करने से, अपूर्व का संग्रह न होने से तथा पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों का क्षय हो जाने से मनुष्य बारम्बार देह के बन्धन में नहीं पडता।[1]

योगियों को पहले आत्मा (बुद्धि) के द्वारा आत्मा (मन) को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि उसको जीतना बहुत कठिन है। अतः उस पर विजय पाने के लिए हमेशा प्रयत्न करना चाहिए। प्राणायाम के द्वारा राग आदि दोषों को, धारणा[2] के द्वारा पाप को, प्रत्याहार[3] के द्वारा विषयों को और ध्यान के द्वारा ईश्वर विरोधी गुणों को हटाएँ जैसे–पर्वतीय धातुओं को आग में तपाने से उनके दोष जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रिय जनित दोष दूर हो जाते हैं। अतः योग के ज्ञाता पुरुष को पहले प्राणायाम ही साधन करना चाहिए जैसे–सिंह, व्याघ्र और हाथी, सेवा के द्वारा कोमल हो जाते हैं, उनकी कठोरता दब जाती है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से प्राण योगी के वश में हो जाता है। जैसे–हाथीवान मतवाले हाथी को भी वश में करके उसे इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार योगी वश में किए हुए प्राण को अपनी इच्छा के अधीन रखता है। जैसे वंश में किया हुआ सिंह केवल मृगों को ही मारता है, मनुष्यों को नहीं। योगाभ्यास में निरन्तर लगे हुए उपवमासन, अर्द्धासन, स्वस्किासन आदि आसनों का भी सेवन करना चाहिए जैसे कछुआ अपने सब अड्.गों को समेट लेता है, उसी प्रकार जो समस्त कामनाओं को संकुचित कर लेता है। वह निरन्तर आत्मा में रमण करने वाला, और एक मात्र परमात्मा में स्थित हुआ पुरुष अपनी आत्मा मे ही आत्मा का साक्षात्कार करता है। प्राणवायु के निरोध को ही उनकी ओर से योग द्वारा प्रत्याहृत निवृत्त करते हैं, इसलिए यह प्रत्याहार कहलाता है। जैसे–जलार्थी मनुष्य यन्त्र और नली आदि की सहायता से धीरे–धीरे जल पीते हैं; उसी प्रकार योगी पुरुष श्रम को जीतकर धीरे–धीरे वायु

१– मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क्, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १२८

२– देश बन्धश्चित्तस्य धारणा–किसी एक स्थान में चित्त को बाँधना अर्थात् परमात्मा को मन में स्थापित करना 'धारणा' है।

३– इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर चित्त में लीन करना ही प्रत्याहार है।

का पान करें। पहले नाभि में, फिर हृदय में, तदनन्तर तीसरे स्थान वक्ष–स्थल में। उसके बाद क्रमशः कण्ठ, मुख नासिका के अग्रभाग, नेत्र, भौहों के मध्य भाग तथा मस्तक में प्राण वायु को धारण करें। उसके बाद परब्रह्म परमात्मा में उसकी धारणा करनी चाहिए। यह सब उत्तम धारणा मानी गई है। इन दस धारणाओं को प्राप्त होकर योगी अविनाशी ब्रह्म की सत्ता को प्राप्त होता है। सिद्धि की इच्छा रखने वाला योगी पुरुष बड़े आदर के साथ योग में प्रवृत्त हो। वह अधिक खाये हुए अथवा खाली, पेट, थका और व्याकुल चित्त न हो। जब अधिक सर्दी या अधिक गर्मी पड़ती हो, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों की प्रबलता हो, अथवा बडे जोर की आँधी चलती हो, ऐसे अवसरों पर ध्यान परायण होकर योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए। कोलाहल पूर्ण स्थान में, आग और पानी के समीप, पुरानी गोशाला में, चौराहे पर, सूखे पत्तों के ढेर पर, नदी में, श्मशान भूमि में, जहाँ सर्पों का निवास हो वहाँ, भयपूर्ण स्थान में, कुएँ तट पर, मन्दिर में तथा दीमकों की मिट्टी के ढेर पर–इन सब स्थानों में तत्त्वज्ञ पुरुष योगाभ्यास न करें। जहाँ सात्विक भाव की सिद्धि न हो, ऐसे देश काल का परित्याग करें। योग में असत् वस्तु का दर्शन भी निषिद्ध है; अतः उसे भी छोड़ दें। जो मूर्खतावश उक्त स्थानों की परवाह न करके, वहीं योगाभ्यास आरम्भ करता है, उसके कार्य योगाभ्यास आरम्भ करता है, उसके कार्य में विघ्न डालने के लिए बहरापन, जडता, स्मरण शक्ति का नाश, गूँगापन, अंधापन और ज्वर आदि अनेक दोष तत्काल प्रकट होते हैं।[1]

यदि वात रोग, गुल्म रोग, उदावर्त्त (गुदा सम्बन्धी रोग) तथा कोई उदर सम्बन्धी रोग हो जाय तो उसकी शान्ति के लिए घी मिलायी हुई जौ की गरम–गरम लप्सी खा लें अथवा केवल उसकी धारणा करें, वह रुकी हुई वायु को निकालती और वायु गोला को दूर करती है। इसी प्रकार जब शरीर में कम्प पैदा हो तो मन में बड़े भारी पर्वत की धारणा करे। बोलने में रुकावट होने पर वाग्देवी की, बहरापन आने पर श्रवण शक्ति को धारण करें। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित होने पर ऐसी धारणा करें कि जिह्वा पर आम का फल रखा हुआ है और उससे रस मिल रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस–जिस अड्.ग में रोग पैदा हो, वहाँ–वहाँ उसमें लाभ पहुँचाने वाली धारणा करें।

गर्मी में सर्दी की, और सर्दी में गर्मी की धारणा करे। धारणा के द्वारा ही अपने मस्तक पर काठ की कील रखकर दूसरे काष्ठ के द्वारा उसे ठोंकने की भावना करे। इससे योगी की लुप्त हुई स्मरण शक्ति का तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है। इसके सिवा सर्वत्र व्यापक द्युलोक, पृथ्वी, वायु और अग्नि की भी धारणा करें। इससे अमानवीय शक्तियों तथा जीव–जन्तुओं से होने वाली बाधाओं की चिकित्सा होती है। यदि कोई मानवेतर जीव योगी के भीतर प्रवेश कर जाये तो वायु और अग्नि की धारणा करे, उसे अपने शरीर के भीतर ही जला डाले। इस प्रकार योगवेत्ता पुरुष को सब प्रकार से अपनी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थ का साधक है।[१]

चञ्चलता न होना, नीरोग रहना, निष्ठुरता न धारण करना, उत्तम सुगन्ध का आना, मल–मूत्र कम न होना, शरीर में कान्ति, मन में प्रसन्नता और वाणी के स्वर में कोमलता का उदय होना–ये सब योग प्रवृत्ति के प्रारम्भिक चिह्न हैं। यदि योगी को देखकर लोगों के मन में अनुराग हो, परोक्ष में सब लोग उसके गुणों का बखान करने लगे और कोई भी जीव–जन्तु उससे भयभीत न हो तो यंह योग में सिद्धि प्राप्त होने की उत्तम पहचान है। जिसे अत्यन्त भयानक सर्दी, गर्मी आदि से कोई कष्ट नहीं होता तथा जो दूसरों से भयभीत नहीं होता, सिद्धि उसके निकट खडी है।

योग सिद्धि के मार्ग में प्रारम्भ में कुछ विघ्न उपस्थित हो जाते हैं उसका सकाम कर्म की ओर लगने लग जाता है और वह माननीय भोगों की अभिलाषा से युक्त हो जाता है। दान के उत्तमोत्तम फल, स्त्री, विद्या, माया, सोना–चाँदी आदि धन सोने आदि के अतिरिक्त वैभव, स्वर्ग, लोक, देवत्व, इन्द्रत्व, रसायन–संग्रह, उसे बनाने की क्रियाएँ, हवा में उड़ने की शक्ति, यज्ञ, जल

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड़्.क, अनूदित, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३०

२– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड़्.क, अनूदित, वही, पृ०सं० १३०

और अग्नि में प्रवेश करना श्राद्ध तथा समस्त दानों का फल तथा नियम, व्रत, इष्ट, पूर्व एवं देव–पूजा आदि से मिलने वाले फलों की इच्छा करता है। जब चित्त की ऐसी अवस्था हो तो योगी उसे कामनाओं की ओर से हटाए और परब्रह्म के चिन्तन में लगाए। ऐसा करने पर उसे विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है।

इन विघ्नों पर विजय पा लेने के बाद योगी के सामने फिर दूसरे–दूसरे सात्विक, राजस और तामस विघ्न उपस्थित होते हैं। प्रातिभ, श्रावण, दैव, भ्रम और आवर्त–ये पाँच उपसर्ग योगियों के योग में विघ्न डालने के लिए प्रकट होते हैं। इनका परिणाम बड़ा कटु होता है। जब सम्पूर्ण वेदों के अर्थ, काव्य और शास्त्रों के अर्थ, सम्पूर्ण विद्याएँ और शिल्प कला आदि अपने–अपने योगी की समझ में आ जाये तो प्रतिभा से सम्बन्ध रखने के कारण वह प्रतिभा उपसर्ग कहलाता है। जब योगी सहस्त्रों योजन दूर से भी सम्पूर्ण शब्दों को सुनने और उनके अभिप्राय को समझने लगता है, तब वह श्रवण–शक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण 'श्रावण' उपसर्ग कहा जाता है। जब वह देवताओं की भांति आठों दिशाओं की वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखने लगता है, तब उसे दैव उपसर्ग कहते हैं। जब योगी का मन दोष के कारण सब प्रकार के आचारों से भ्रष्ट निराधार भटकने लगता है, तब वह भ्रम कहलाता है। जल में उठती हुई भँवर की तरह जब ज्ञान का आवर्त सब ओर व्याप्त होकर चित्त को नष्ट कर देता है, तब वह 'आवर्त' नामक उपसर्ग कहा जाता है। इन महाघोर उपसर्गों से योग का नाश हो जाने के कारण सम्पूर्ण योगी देवतुल्य होकर भी बार–बार आवागमन के चक्र में घूमते हैं। इसलिए योगी पुरुष को शुद्ध मनोमय उज्जवल केवल ओढ़कर परब्रह्म परमात्मा में मन को लगाकर सदा उन्हीं का चिन्तन करना चाहिए।[1]

पृथ्वी आदि सात प्रकार की सूक्ष्म धारणाएँ हैं, जिन्हें योगी मस्तक में धारण करे। सबसे पहले पृथ्वी की धारणा है। उसे धारण करने से योगी को सुख प्राप्त होता है। वह अपने को साक्षात् पृथ्वी

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

मानता है, अतः उसे धारण करने से योगी को सुख प्राप्त होता है। वह अपने को साक्षात् पृथ्वी मानता है, अतः सूक्ष्म रूप का, वायु की धारणा से स्पर्श का तथा आकाश की धारणा से सूक्ष्म प्रवृत्ति तथा शब्द का त्याग करता है। जब अपने मन से धारणा के द्वारा सम्पूर्ण भूतों के मन में प्रवेश करता है, तब उस मानसी धारणा को धारण करने के कारण उसका मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इसी प्रकार योगवेत्ता पुरुष सम्पूर्ण जीवों की बुद्धि में प्रवेश करके परम उत्तम सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त करता और फिर उसे त्याग देता है। जो योगी इन सातों सूक्ष्म धारणाओं का अनुभव करके उन्हें त्याग देता है, उसको इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता। जितात्मा पुरुष क्रमशः इन सात धारणाओं के सूक्ष्म रूप को देखे और त्याग करता जाय। ऐसा करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त होता है। योगी पुरुष जिस–जिस भूत में राग करता है, उसी–उसी में आसक्त होकर नष्ट हो जाता है। इसलिए इन समस्त सूक्ष्म भूतों को परस्पर संसक्त जानकर जो इन्हें त्याग देता है, उसे परमपद की प्राप्ति होती है। पाँचों भूत और मनबुद्धि के इन सातों सूक्ष्म रूपों का विचार कर लेने पर उनके प्रति वैराग्य होता है, जो सद्भाव का ज्ञान रखने वाले पुरुष की मुक्ति का कारण बनता है। जो गन्ध आदि विषयों में आसक्त होता है, उसका विनाश हो जाता है, और उसे बारम्बार संसार में जन्म लेना पड़ता है। योगी पुरुष इन सातों धारणाओं को जीत लेने के बाद यदि चाहे तो किसी भी सूक्ष्म भूत में लीन हो सकता है। देवता, गन्धर्व, असुर, नाग और राक्षसों के शरीर में वह लीन हो जाता है, किन्तु कहीं भी आसक्त नहीं होता[1] ।कर लेना 'लघिमा' नामक गुण है। सब के लिए पूज्यनीय हो जाना 'महिमा' कहलाता है। जब कोई भी वस्तु अप्राप्य न रहे, तब वह प्राप्ति नामक सिद्धि है। सर्वत्र व्यापक होने से योगी को 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि की प्राप्ति मानी जाती है। जब वह सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर हो जाता है, तो

अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामवसायित्व इन आठ ईश्वरीय गुणों को जो निर्वाण की सूचना देने वाले हैं, योगी प्राप्त करता है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

धारण करना 'अणिमा' है और शीघ्र से शीघ्र कोई काम कर लेना 'लघिमा' नामक गुण है। सबके लिए पूज्यनीय हो जाना 'महिमा कहलाता है। जब कोई भी वस्तु अप्राप्य न रहे, तब वह प्राप्ति नामक सिद्धि है। सर्वत्र व्यापक होने से योगी को 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि की प्राप्ति मानी जाती है। जब वह सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर हो जाता है उसकी वह सिद्धि 'ईशित्व' कहलाती है। सबको वश में कर लेने से 'वशित्व' की सिद्धि होती है। यह योगी का सातवाँ गुण है। जिसके द्वारा इच्छा के अनुसार कहीं भी रहना आदि सब काम हो सके, उसका नाम 'कामवसायित्व' है। ये ऐश्वर्य साधन भूत आठ गुण हैं।

मुक्त होने से साधक का कभी जन्म नहीं होता। वह वृद्धि और नाश को भी प्राप्त नहीं होता। न तो उसका क्षय होता है, न उसका परिणाम। पृथ्वी आदि भूत समुदाय से न तो काटा जाता है न भीगकर गलता है, न जलता है और न सूखता ही है। शब्द आदि विषय भी उसको लुभा नहीं सकते। उसके लिए शब्द आदि विषय हैं ही नहीं। न तो वह उनका भोक्ता है और न उनसे उसका संयोग होता है, जैसे अन्य खोटे द्रव्यों से मिला और खण्ड–खण्ड हुआ सुवर्ण जब आग में तपाया जाता है तब उसका दोष जल जाता है, और वह शुद्ध होकर अपने दूसरे टुकडों से मिलकर एक हो जाता है। उसी प्रकार यत्नशील योगी जब योगाग्नि से तपता है, तब अन्तः करण के समस्त दोष जल जाने के कारण ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है, फिर वह किसी से पृथक नहीं रहता। जैसे आग में डाली हुई आग उसमें मिलकर एक हो जाती है, उसका वही नाम और वही स्वरूप हो जाता है, फिर उसको विशेष रूप से पृथक नहीं क़िया जा सकता, उसी तरह जिसके पाप दग्ध हो गये हैं, वह योगी परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होने पर फिर कभी उनसे पृथक् नहीं होता जैसे जल में डाला हुआ जल उसके साथ मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार योगी की आत्मा परमात्मा में मिलकर तदाकार हो जाती है।[1]

१– सक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

ये जो मान और अपमान है, ये साधारण मनुष्यों को प्रसन्नता और उद्वेग देने वाले हैं। उन्हें मान से प्रसन्नता और अपमान से उद्वेग होता है। किन्तु योगी उन दोनों को ही ठीक उल्टे अर्थ में ग्रहण करता है। अतः वे उसकी सिद्धि में सहायक होते हैं। योगी के लिए मान और अपमान को विष एवं अमृत के रूप में बताया गया है। इनमें अपमान तो अमृत है और मान भयड्.कर विष। योगी मार्ग को भलीभाँति देखकर पैर रखे। वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य वचन बोले और बुद्धि से विचार करके जो ठीक हो उसी का चिन्तन करे।[1] योगवेत्ता पुरुष, आतिथ्य, श्राद्ध, यज्ञ, देवयात्रा तथा उत्सवों में न जाए। कार्य की सिद्धि के लिए किसी बड़े आदमी के घर में न जाये। जिस गृहस्थ के यहाँ रसोई घर से धुँआ निकलता हो, आग बुझ गई हो, और घर के सब लोग खा–पी चुके हों, उस समय योगी भिक्षा के लिए जाय, परन्तु, प्रतिदिन एक ही घर पर न जाय। योग में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सत्पुरुषों के मार्ग को कलंकित न करते हुए प्रायः ऐसा व्यावहार करे जिससे लोग उसका सम्मान न करें, तिरस्कार ही करें। वह गृहस्थों के यहाँ अथवा घूमते फिरते रहने वालों के यहाँ भिक्षा ग्रहण करें। इनमें भी पहली अर्थात् गृहस्थ के घर की भिक्षा ही सर्वश्रेष्ठ एवं मुख्य है। जो गृहस्थ विनीत, श्रद्धालु जितेन्द्रिय, श्रोत्रिय एवं उदार हृदय वाले हों, उन्हीं के यहाँ योगी को सदा भिक्षा के लिए जाना चाहिए। उनके बाद जो दुष्ट और पतित न हों, ऐसे अन्य लोगों के यहाँ भी वह भिक्षा के लिए जा सकता है। परन्तु छोटे वर्ण के लोगों के यहॉ भिक्षा माँगना, निकृष्ट वृत्ति मानी गई है। योगी के लिए भिक्षा से प्राप्त–अन्न, जौ की लस्सी, छाछ, दूध, जौ की खिचड़ी, फल, मूल, कंगनी, कर्ण, तिल का चूर्ण और सत्तू –ये आहार उत्तम और सिद्धि दायक हैं। चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन, त्याग, लोभ का अभाव और अहिंसा–ये भिक्षुओं के पाँच व्रत हैं। क्रोध का अभाव, गुरू की सेवा पवित्रता, हल्का भोजन और प्रतिदिन स्वाध्याय–ये पॉच उनके नियम बतलाये गये हैं।[2]

१– मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेग करौ नृणाम्। तावेव, विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धि कारकौ।। मानापमानौ यावेतौ तावेवाहुर्विषामृते। अपमानोऽमृतं तत्र मानस्तु विषमं विषम्।। चक्षुः पूतं न्यसेत्पाद वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्राणीं बुद्धिपूतं च चिन्तयेत्।। – उदधृत, सं०मा०–ब्र० पुराणाड्.क, पृ०सं० १३२

२– अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च त्यागोडलोभस्तथैव च। व्रतानि पञ्च भिक्षणामहिंसा परमाणि वै।। अक्रोधो गुरूशुश्रुषा शौचमाहारलाधवम्। नित्यस्वाध्याय इत्येते नियमाः पञ्च कीर्तिताः।। –उदधृत संक्षिप्त मार्कण्डेय– ब्रह्म पु०पृ० १३२

जो योगी 'यह जानने योग्य है, वह जानने योग्य है, इस प्रकार भिन्न–भिन्न विषयों की जानकारी के लिए लालायित–सा होकर इधर–उधर विचरता है, वह हजारों कल्पों में भी ज्ञातव्य वस्तु को नहीं पा सकता। आसक्ति का त्याग करके, क्रोध को जीत–कर, स्वल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, बुद्धि से इन्द्रिय द्वारों को रोककर मन को ध्यान में लगावें। योग–मुक्त रहने वाला योगी सदा एकान्त स्थानों में, गुफाओं और वनों में भली–भाँति ध्यान करें। वाग्दण्ड, कर्मण्ड और मनोदण्ड–ये तीन दण्ड जिसके–जिसके अधीन है, वही महायति त्रिदण्डी है। जिसकी दृष्टि में सत्–असत् तथा गुण–अवगुण रूप यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप हो गया है, उस योगी के लिए कौन प्रिय है, और कौन अप्रिय। जिसकी बुद्धि शुद्धि, जो मिट्टी के ढेले और सुवर्ण को समान समझता है, सब प्राणियों के प्रति जिसका समान भाव है, वह एकाग्र चित्त योगी उस सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त होकर, फिर इस संसार में जन्म नहीं लेता। वेदों से सम्पूर्ण यज्ञ कर्म श्रेष्ठ है, यज्ञों से जप, जप से ज्ञान मार्ग और उससे आसक्ति एवम् राग से रहित ध्यान श्रेष्ठ है। ऐसे ध्यान के प्राप्त हो जाने पर सनातन ब्रह्म की उपलब्धि होती है। जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मपरायण, प्रमादरहित, पवित्र, एकान्त प्रेमी और जितेन्द्रिय होता है, वही महात्मा इस योग को पाता है, और फिर अपने उस योग से ही वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1]

योग का अभ्यास करके योगी पुरुष परम दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। योग सदैव उस अवस्था में करना चाहिए, जिस समय मन व्याकुल न हो, भूख, प्यास का कष्ट न हो, हर्ष, शोक

१– त्यक्तसङ्गों जितक्रोधो लध्वाहारो जितेन्द्रियः। पिधाय बुद्धया द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत्।।
शून्यष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च। नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत।।
वाग्दण्डं कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च दो त्रयः। वस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः।।
सर्वमात्ममयं यस्य सदसज्जगदीदृशम्। गुणागुणमयं तस्य कः प्रियः को नृपाप्रियः।।
विशुद्धबुद्धिः समलोष्टकाञ्चनः समस्तभूतेषु समः समाहितः।
स्थानं परं शाश्वतमव्ययं च परं हि गत्वा न पुनः प्रजायते।।
वेदाच्छ्रेष्ठाः सर्वयज्ञक्रियाश्च यज्ञाज्जप्यं ज्ञानमार्गश्च जप्वात्।
ज्ञानाद्व्यानं सङ्गरागव्यपेतं तस्मिन् प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः।।
समाहितोब्रह्मपरोऽप्रमादी शुचिस्तयैकान्तरतिर्यतेन्द्रियः समाप्नुवाद् योगमिमं महात्मा विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः।।
–सं० मार्कण्डेय–ब्रह्म पु० पृ०सं० १३३ पर उद्धृत।

आदि द्वन्द्व सर्दी, गर्मी तथा वायु बाधा न पहुँचाए। ऐसे समय योग साधन करना चाहिए। जहॉ कोई शब्द होता हो तथा जो जल के समीप ही ऐसे स्थान में, टूटी–फूटी पुरानी गोशाला में, चौराहे पर,सॉप–बिच्छू आदि के स्थान में, श्मशान भूमि में, नदी के तट पर, अग्नि के समीप, देववृक्ष के नीचे, बॉबी पर, भयदायक स्थानों में, कुएँ के समीप तथा सूखे पत्तों पर कभी योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। जो मूर्खतावश इन स्थानों की परवाह न करके वही योग साधना करता है, उसके सामने विघ्न कारक दोष आते हैं। विघ्नकारक दोष हैं–बहरापन, जड़ता स्मरण शक्ति का लोप, गूँगापन, अंधापन तथा अज्ञानजनित दोष। अतः योग वेत्ता पुरुष को हमेशा शरीर की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि शरीर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थों का स्थान है। एकान्त आश्रम में, गूढ़ स्थान में, शब्द और भय से एकान्त देवमन्दिर में बैठकर रात के पहले और पिछले पहर में अथवा दिन के पूर्वाह्न और मध्याह्नकाल में एकाग्र चित्त होकर योग साधन करे। भोजन थोडा और नियम के अनुकूल हो। इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण रहे। सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर योगाभ्यास करना चाहिए। आसन सुखद और स्थिर हो। अधिक ऊँचा या अधिक नीचा न हो। योग के साधक निःस्पृह, सत्यवादी और सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर रहे। सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करे। शरीर, चरण और मस्तक को समान स्थिति में रखे। दोनों हाथ नाभि पर रखकर शान्त हो पद्मासन लगाए। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर लगाकर प्राणायाम पूर्वक मौन रहे। मन के द्वारा इन्द्रिय समुदाय को विषयों की ओर से हटाकर हृदय में स्थापित करे। दीर्घ स्वर से प्रणव का उच्चारण करते हुए, मुख को बन्द रखें और स्वयं भी स्थिर रहें। योगी पुरुष नेत्र बन्द करके बैठे। वह तमोगुण की वृत्ति को रजोगुण से और रजोगुण की वृत्ति को सत्वगुण से आच्छादित करके निर्मल एवं शान्त हृदय कमल की कर्णिका में लीन, सर्वव्यापी, निरञ्जन, मोक्षदायक भगवान का निरन्तर चिन्तन करे।

योगवेत्ता पुरुष पहले अन्तः करण सहित इन्द्रियों और पञ्च भूतों को क्षेत्रज्ञ में स्थापित करे और क्षेत्रज्ञ को परमात्मा में नियुक्त करें, तत्पश्चात योगाभ्यास करे। जिस पुरुष का चञ्चल मन

समस्त विषयों का परित्याग करके परमात्मा में लीन हो जाता है, उसके सामने योगसिद्धि प्रकाशित होती है। जब योगयुक्त पुरुष का चित्त समाधि काल में सब विषयों से निवृत्त हो, परब्रह्म में एकीभूत हो जाता है, उस समय वह परम पद को प्राप्त होता है। जब योगी का चित्त परमानन्द को प्राप्त कर किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होता, उस समय वह निर्वाण पद को प्राप्त होता है। योगी अपने योग बल से शुद्ध, सूक्ष्म, गुणातीत तथा आत्मगुण सम्पन्न मुक्तात्मा को प्राप्त करके, निस्संदेह मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण भोगों की आरे से निःस्पृह, सर्वत्र प्रेम दृष्टि रखने वाला तथा सब अनात्म पदार्थों में अनित्य बुद्धि रखने वाला योगी ही मुक्त हो सकता है। जो योगवेत्ता पुरुष वैराग्य के कारण इन्द्रियों के विषयों का सेवन नहीं करता, और निरन्तर अभ्यास योग में लगा रहता है, उसकी मुक्ति में तनिक भी सन्देह नहीं है। केवल पद्मासन लगाने से और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखने से ही योग की सिद्धि नहीं होती। वास्तव में मन और इन्द्रियों के संयोग–उनकी एकाग्रता को ही योग कहते हैं।[1]

इन्द्रिय, मन और बुद्धि की वृत्तियों को सब ओर से रोक कर व्यापक आत्मा के साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्र के मत में उत्तम ज्ञान है। योगी पुरुष को शम–दम से सम्पन्न होना चाहिए। वह अध्यात्म शास्त्र का अनुशीलन करे, आत्मा में अनुराग रखे, शास्त्रों का तत्त्व जाने और निष्काम भाव से पवित्र कर्मों का अनुष्ठान करे। इस प्रकार साधन सम्पन्न होकर योगोक्त उत्तम ज्ञान को प्राप्त करे। काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न–ये पाँच योग के दोष हैं। धीर पुरुष मन को वश में रखने से क्रोध पर और संकल्प का त्याग करने से काम पर विजय पाता है। सत्वगुण का सेवन करने से वह निद्रा का नाश कर सकता है। धैर्य के द्वारा योगी शिश्न और उदर की रक्षा करे। नेत्रों की सहायता से हाथ और पैर की रक्षा करें मन के द्वारा नेत्र और कानों की तथा कर्म के द्वारा मन और वाणी की रक्षा करें। प्रमाद के त्याग से भय का और विद्वान पुरुष के

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५८६

सेवन से दम्भ का त्याग करे।[1] इस प्रकार योग के साधक को आलस्य का त्यागकर इन योग सम्बन्धी दोषों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। मन पर प्रभाव डालने वाली हिंसायुक्त उद्दण्डतापूर्ण वाणी न बोलें तेजोमय ब्रह्म ही वीर्य (सबका आदि कारण) है, यह सम्पूर्ण जगत् उसी का कार्य है। समस्त चराचर जगत उसी ब्रह्म के ही ईक्षण (संकल्प) का परिणाम है। ध्यान वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आत्मशुद्धि एवं इन्द्रिय संयम–इनसे तेज की वृद्धि होती है, और पाप का नाश होता है।[2]

योगी को हमेशा सम्पूर्ण प्राणियों में समान भाव रखना चाहिए तथा जो कुछ भी मिल जाये, उसी से निर्वाह करना चाहिए। पाप रहित, तेजस्वी मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोध को वश में करके ब्रह्म पद का सेवन करें। योगी रात के पहले और पिछले पहर में मन एवं इन्द्रियों को एकाग्र करके ध्यानस्थ हुए मन को आत्मा में लगावे। जैसे मशक में एक जगह भी छेद हो जाने पर सारा पानी वह जाता है, उसी प्रकार यदि साधक की पाँच इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय भी विकृत हो विषयों की ओर चली जाय तो वह अपनी बुद्धि और विवेक खो बैठता है। जैसे–मछुआ पहले जाल काटने वाली मछली को पकड़ कर पीछे अन्य मछलियों को पकड़ता है, उसी प्रकार योगवेत्ता साधक पहले अपने मन को वश में करे। तत्पश्चात् कान, नेत्र, जिह्वा तथा

१– (क) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमातृत्य तिष्ठति।।
तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भयो महत्तरम्।
तदन्तः सर्वभूताना ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते।। २३५/३०–३१
(ख) क्रोध शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात्। सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति।।
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा। चक्षुः श्रोत्रं च मनसा मनो वाचं च कर्मणा।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भ प्राज्ञोपसेवनात्।
२३५/४०–४२ – उद्धृत, सं० मा० ब्र० पुराणाङ्.क, पृ०सं० ५६०

२– ध्यानमध्ययनं दानं सत्य हीरार्जवं क्षमा।
शौच चैवात्मनः शुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।।
एर्तैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति।।
–(२३५/४५–४६) –उद्घृत स० मा०–ब्र० पुराणाङ्.क पृ० सं०–५६०

नासिका आदि इन्द्रियों का निग्रह करे। इन सबको अधीन करके मन में स्थापित करे, और मन को भी संकल्प–विकल्प से हटाकर बुद्धि में स्थिर करे। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों को मन में और मन को बुद्धि में स्थापित करने पर जब ये इन्द्रिय और मन स्थिर हो जाते हैं, उस समय इनकी मलिनता दूर होकर इससे स्वच्छता आ जाती है। फिर अन्तःकरण में ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। योगी धूम रहित अग्नि, दीप्तिमान सूर्य तथा आकाश में चमकती हुई बिजली की भाँति आत्मा का हृदय देश में दर्शन करता है।सब कुछ आत्मा में है, और आत्मा सबमें व्यापक हैं, इसलिए वह सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है। जो महात्मा ब्राह्मण, मनीषी, धैर्यवान, महाज्ञानी और सम्पूर्ण प्राणियों के हित में तत्पर रहने वाले हैं, वे ही उस आत्मा का दर्शन कर पाते हैं। जो योगी एकान्त में बैठकर कठोर नियमों का पालन करते हुए थोड़े समय भी इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह अक्षर ब्रह्म की समानता को प्राप्त हो जाता है।[१]

योग साधना में अग्रसर होने पर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं। दिव्य सुगन्ध आती है, दिव्य वाणी का श्रवण तथा दिव्य रूपों के दर्शन होते हैं। अद्‌भुत बातें देखने में आती हैं। अलौकिक रस और स्पर्श का अनुभव होता है। इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी प्राप्त होती है। वायु की भांति आकाश में चलने–फिरने की शक्ति आ जाती है। प्रतिभा बढ़ जाती है और उपद्रवों का अभाव हो जाता है। योग की इन शक्तियों के प्राप्त होने पर भी तत्त्व वेत्ता पुरूष उनकी उपेक्षा करके समभाव से ही उन्हें लौटा दे। वह योग का ही अभ्यास बढ़ाये और नियम पूर्वक रहते हुए पहाड की चोटी पर शून्य देव मंदिर में अथवा वृक्षों के नीचे बैठकर योग का अभ्यास करे। इन्द्रिय समुदाय को संयम में रखकर एकाग्रचित्त होकर निरन्तर आत्मा का चिन्तन करता रहे। योग से मन को उद्विग्न न होने दे। जिस उपाय से चंचल मन को रोका जा सके, उसमें तत्परतापूर्वक लग जाय और साधना से कभी विचलित न हो। अपने रहने के लिए शून्य

१– ब्रह्म पुराण, अनूदित, पृ०सं० ५६१

गृह को स्वीकार करें क्योंकि वहॉ एकाग्रचित्त रह सकते हैं। योग का साधक मन, वाणी अथवा क्रिया द्वारा भी कहीं आसक्त न हो, वह सबकी ओर से उपेक्षा का भाव रखे, नियमित भोजन करे तथा लाभ और अलाभ को समझ सके। जो उस योगी की निन्दा करे और जो उसको मस्तक झुकाए, उन दोनों के प्रति ही वह समान भाव रखे। वह किसी की बुराई या भलाई न करे। कुछ लाभ होने पर हर्षित न हो और लाभ न होने पर चिन्तित न हो, अपितु वायु का सहधर्मी[1] होकर सब प्राणियों के प्रति समान भाव रखे।[2] इस प्रकार स्वस्थ चित्त होकर सर्वत्र समान दृष्टि रखने वाला साधक यदि छः महीने भी निरन्तर योग के अभ्यास में लगा रहे, तो उसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। दूसरे लोग धन की इच्छा या संग्रह के कारण अत्यन्त विकल हैं, यह देखकर उसकी ओर से विरक्त हो जाय। मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को समान समझता हो—इस प्रकार योग मार्ग पर चलने वाला साधक मोहवश कभी भी उससे विचलित नहीं होता है। कोई नीच वर्ण की स्त्री या पुरुष ही क्यों न हो, यदि उसे धर्म करने की अभिलाषा हो तो वह भी इस योग मार्ग से परमगति को प्राप्त कर सकता है। योगी पुरुष अजन्मा, पुरातन, जरावस्था से रहित सनातन, इन्द्रियातीत एवं अगोचर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो मनीषी पुरुष इस योग की पद्धति पर दृष्टिपात करके इसे अपनाते हैं, वे ब्रह्मा जी के समान हो उस उत्तम गति को प्राप्त करते हैं, जहाँ से पुनः संसार में नहीं आना पड़ता।

जिस प्रकार दुर्बल मनुष्य पानी के वेग में बह जाता है, उसी प्रकार निर्बल योगी विषयों से विचलित हो जाता है, किन्तु उसी महान प्रवाह को जैसे हाथी रोक देता है, वैसे ही योग का महान

१— सर्वत्र विचरते हुए भी कहीं आसक्त न होना ही वायु का सहधर्मी होना है।

२— यश्चैनमभिनिन्देत यश्चैनमभिवादयेत्।
समस्तयोगश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम्।।
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु न चिन्तयेत्।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मामातरिश्वनः।।
२३५/६४—६५ —स० मा० —ब्रह्म पुराणाङ्क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५६१

बल पाकर योगी भी समस्त विषयों को रोक लेता है, उनके द्वारा विचलित नहीं होता। योग शक्ति सम्पन्न पुरुष स्वतंत्रता पूर्वक समस्त प्रजापतियों, मनुओं तथा महाभूतों में प्रवेश कर जाते हैं। अमित तेजस्वी योगी के ऊपर क्रोध में भरे हुए यमराज, काल और भयंकर पराक्रम दिखाने वाली मृत्यु का भी जोर नहीं चलता। वह योग बल पाकर अपने हजारो रूप बना सकता और उन सबके द्वारा इस पृथ्वी पर विचरण कर सकता है फिर तेज, को समेट लेने वाले सूर्य की भाँति वह उन सभी रूपों को अपने में लीन करके, उस तपस्या में प्रवृत्त हो जाता है। बलवान् योगी बन्धन तोडने में समर्थ होता है। उसमें अपने को मुक्त करने की पूर्ण शक्ति होती है। जिस प्रकार सदा सावधान रहने वाला धनुर्धर, चित्त को एकाग्र करके प्रहार करने पर लक्ष्य को बेध देता है, उसी प्रकार जो योगी मन को परमात्मा के ध्यान में लगा देता है, वह निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसे—सावधान मल्लाह समुद्र में पडी हुई नाव को शीघ्र ही किनारे लगा देता है, उसी प्रकार योग के अनुसार तत्व को जानने वाला पुरुष समाधि के द्वारा मन परमात्मा में लगाकर देह का त्याग करने के अनन्तर दुर्गम स्थान(परम धाम् को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार सावधान सारथि अच्छे घोड़ों को रथ में जोतकर धनुर्धर श्रेष्ठ वीर को तुरन्त अभीष्ठ स्थान पर पहुँचा देता है वैसे ही धारणाओं को चित्त में एकाग्र करने वाला योगी लक्ष्य की ओर छूटे हुए बाण की भाँति शीघ्र परम पद को प्राप्त कर लेता है। जो समाधि के द्वारा अपने आत्मा को परमात्मा में लगाकर स्थिर भाव से बैठा रहता है, उसे अजर (बुढ़ापे से रहित) पद की प्राप्ति होती है। योग के महान व्रत में एकाग्रचित्त रहने वाला जो योगी नाभि, कण्ठ, पार्श्व भाग, हृदय वक्ष स्थल, नाक, नेत्र और मष्तक आदि स्थानों में धारण के द्वारा आत्मा को परमात्मा के साथ मुक्त करता है, वह पर्वत के समान महान शुभाशुभ कर्मों को भी शीघ्र ही भस्म कर डालता है, और इच्छा करते ही उत्तम योग का आश्रय ले मुक्त हो जाता है। निर्मल अन्तःकरण वाले यति परमात्मा को प्राप्त कर तद्रूप हो जाते हैं। उन्हें अमृत तत्व मिल जाता है, फिर वे संसार में नहीं लौटते यही परम गति है, जो सब द्वन्दों से रहित, सत्यवादी, सरल तथा सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने वाले हैं, उन महात्माओं को ही, ऐसी गति प्राप्त होती है।

सृष्टि की व्याख्या उपनिषदों मे सादृश्यता एव उपमाओं के बल पर किया गया है जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से चिनगारिया निकलती है, सोने से गहने बन जाते है, मोती से चमक उत्पन्न होती है, बासुरी से ध्वनि निकलती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है। मकडी की उपमा से भी जगत् के विकास की व्याख्या की गयी है। जिस प्रकार मकड़ी के अन्दर से उसके द्वारा बुने गये जालों के तागे निकलते हैं उसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि होती है। सृष्टि को ब्रह्म की लीला भी माना गया है क्योंकि यह आनन्ददायक खेल है।

उपनिषदों में कहीं भी विश्व को एक भ्रमजाल नहीं कहा गया है। उपनिषद् के ऋषिगण प्राकृतिक जगत् के अन्दर जीवन-यापन करते रहे और उन्होने इस जगत् से दूर भागने का विचार तक नही किया। जगत् को उपनिषद् में कहीं भी निर्जन एव शून्य नहीं माना गया है। अत उपनिषद् जगत् से पलायन की शिक्षा नहीं देता है।

"माया और अविद्या"

वेदान्त दर्शन में माया और अविद्या को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है उसी प्रकार माया और अविद्या अभिन्न है। शकर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्तमूल प्रकृति आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु बाद के वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद किया है। उनका कहना है कि माया भावात्मक है जबकि अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का प्रदर्शन करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती हैं। अविद्या इसके विपरीत ज्ञान के अभाव को सकेत करने के कारण निषेधात्मक है। माया और अविद्या में दूसरा अन्तर यह है कि माया ईश्वर को प्रभावित करती है जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है। माया का निर्माण मूलत 'सत्व' गुण से हुआ है जबकि अविद्या का निर्माण सत्व, रज् और तम् गुणों से हुआ है। माया का स्वरूप सात्विक है, अविद्या का स्वरूप त्रिगुणात्मक है।

ब्रह्मवैवर्त-पुराण के अनुसार- माया द्वारा प्रत्येक विश्व में दिक्पाल, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, देवगण और मनुष्य आदि स्थित हैं। धर्मात्मा पुरुष तपोबल से मोक्ष के लिए यहां (भारत में) जन्म

लेता है और विष्णु की माया से मोहित एव बद्ध होकर कर्म करता है[1]। क्योंकि सर्वसमर्थ नारायणी माया जिसपर प्रसन्न होती है उसी को भगवान श्रीकृष्ण अपनी भक्ति और उसका अभिलषित मत्र प्रदान करते हैं। उसे भगवान विष्णु की माया से मोहित ही जानना चाहिए।

ब्रह्मखण्ड के तेरहवें अध्याय मे बताया गया है कि विष्णु की माया से मोहित होने के कारण शोक से पीडित हो उसके शरीर के पास गये। तब उपबर्हण की पत्नी मालावती ने कहा- हे कृष्ण! आप सम्पूर्ण जगत् के नाथ है। हे नाथ! मै भी जगत से बाहर नहीं हूँ। प्रभो! आप जगत की रक्षा करते है, तो मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे है? यह मेरा पति है और मै इसकी पत्नी हूँ, यह 'मेरा-तेरा' का भाव आपकी माया है। आप ही सबके स्वामी है और ऐसा होना ही अधिक सभव है, क्योंकि आप ही सबके कारण है[2]। चौदहवें अध्याय में बताया गया है कि- भगवान विष्णु की माया से मोहित होकर गृही ससार में बीज बोता है, समय पर उसमें अकुर निकलता है और समय प्राप्त होने पर वही वृक्ष होकर फलता है जो गृही को प्राप्त होता है[3]- यह सब कुछ माया ही है।

'अज्ञान' अर्थात अविद्या का आधार 'चित्' है। 'चित्' प्रकाशमय है। जब शुद्ध चित् रूप मनुष्य की चित्तवृत्तियों द्वारा धारण किया जाता है तो अज्ञान का विनाश हो जाता है, इसके पूर्व 'चित्' अज्ञान के आवरण में छिपा रहता है। अज्ञान का अधिष्ठान शुद्ध 'चित्' रूप है। माया के 'अविभूत' 'अहम्' या 'मै' के पीछे जो चित् है वह स्वय अविद्या के कारण ही उत्पन्न होता है। अविद्या चित् पर आश्रित है और 'चित्' ही इसका विषय है। स्वय प्रकाश-चित् अविद्या के आवरण में छिपा रहता है। अविद्या की ऐसी योग्यता है कि वह ब्रह्म को उसी प्रकार छिपा लेता है जैसे निद्रा में हमारी ज्ञान-चेतना में किसी भी वस्तु का बोध नहीं है। मनुष्य अज्ञान के कारण सुषुप्तावस्था में

---

[1] धर्मी मोक्षकृते जन्म प्रलभ्य तपस्य फलात्।

निबद्ध कुरुते कर्म मोहितो विष्णमायया।। - ब्र० वै० ब्र० ख १०/७८

२ ब्र० वै० ब्र० ख० - १३/४३, ४४

३ वही - १४/२६

रहता है। पचदशीकार ने माया को सर्वेश्वर अर्थात ब्रह्म की शक्ति कहा है अर्थात- जगत् के कारणभूत सत् वस्तु के पृथक तत्त्व से रहित और कार्य के द्वारा जानने योग्य अर्थात आकाश आदि कार्यो की उत्पत्ति जो सामर्थ्य रूप शक्ति है उसको माया कहते हैं। जैसे- अग्नि के स्वरूप से भिन्न और स्फोट आदि कार्य से जानने योग्य अग्नि का सामर्थ्य होता है ऐसे ही वस्तु की शक्ति माया है[1]। भाव यह है कि वस्तु के तत्व से अभिन्न और कार्य से अनुमित जो अग्नि की शक्ति के तुल्य वस्तु की शक्ति वह माया है क्योंकि कहीं भी कार्य से पहले किसी ने शक्ति को नहीं जाना।

इस पुराण के 'ब्रह्मखण्ड' के तेइसवें अध्याय में भी बताया गया है कि वह ब्रह्म स्वरूपा प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। वे सनातन भगवान उस प्रकृति द्वारा सृष्टि करते है। उस प्रकृति की कला से ससार की सारी स्त्रिया प्रकट हुई। प्रकृति ही माया है। उससे सब विमोहित है[2]। वह सनातनी, नारायणी, परमात्मा पुरूष की परमाशक्ति है जिससे वे आत्मेश्वर शक्तिमान् कहे जाते हैं। और उस (माया) के बिना वे सृष्टि करने में असमर्थ भी रहते है। मूल प्रकृति एक ही है, किन्तु वह विष्णु की सनातनी माया सृष्टि के समय पाच रूपों में प्रकट होती है, जिसका उल्लेख आगे प्रकृति या माया के स्वरूप नामक अध्याय में किया जायेगा।

सारी माया-भ्रान्ति का कारण अज्ञान है। यह अज्ञान अनादि है, यह भावरूप (जिसकी स्थिति है) परन्तु ज्ञान के द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। अज्ञान के लिए कहा गया है कि 'अनादि-भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।' समय की अपेक्षा से जितनी वस्तुए आदि अर्थात् जिनका प्रादुर्भाव होता है उन सब में यह अनादि अज्ञान प्रकट होता है। सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान अधकार के आवरण से आवृत है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। अज्ञान 'चित्' का ही आभावत्मक रूप है और चित् के समान ही अनादि है। अज्ञान 'चित्' से सम्पृक्त है। जहा ज्ञान नहीं वहा अज्ञान है। चित् की स्थिति अनादि अनन्त है। अज्ञान भी चित् का ही अन्यथा रूप है। यह भावरूप है। 'भाव' यहा अभाव का विलोम न होकर अभाव से भिन्नता सूचित करता है परन्तु अज्ञान की स्थिति अन्य पार्थिव वस्तुओं की स्थिति से भिन्न हैं।

---

[1] निस्तत्वा कार्यगम्याऽस्या शक्तिमार्याग्नि शक्तिवत्। नहि शक्ति क्वचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यत पुरा।। पचदशी पचभूत विवके-४७

[2] ब्र० वे० ब्र० ख० ३०/१२

ब्रह्मसूत्र में वादरायण ने बताया है।[1] कि जीवात्मा जिन-जिन वस्तुओं की रचना करता है वे वास्तविक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि स्वप्न में सभी वस्तुए पूर्णरूप से देखने में नहीं आती; जो कुछ देखा जाता है वह अनियमित और अधूरा ही देखा जाता है। प्रश्नोपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि जाग्रत अवस्था में सुनी हुयी, देखी हुयी, और अनुभव की हुई वस्तुओं को स्वप्न में देखता है किन्तु विचित्र ढग से देखता है। देखी सुनी हुई को और न देखी-सुनी हुई को भी देखता है तथा अनुभव की हुई को और न अनुभव की हुई को भी देखता है। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि स्वप्न की सृष्टि वास्तविक नहीं है, जीव को कर्म फल का भोग कराने के लिए भगवान् अपनी योगमाया से उसके कर्मसस्कारों की वासना के अनुसार वैसे दृश्य देखने में उसे लगा देते है अत वह स्वप्न सृष्टि माया मात्र है।

यह माया साख्य दर्शन की प्रकृति के तुल्य स्वतत्र नहीं है अपितु परमेश्वर के परतत्र है। उसकी शक्तिरूपा है, परमेश्वर की शक्ति परमेश्वर से भिन्न नहीं होती किन्तु उसी से उद्भूत होकर उसी में विलीन हो जाती है। परब्रह्म या परमेश्वर इस माया या सनातन प्रकृति के द्वारा ही सृष्टि रचना में समर्थ है। क्योंकि सृष्टि सर्वज्ञतत्व, सर्वशक्तिमत्त्व धर्मो के बिना सभव नहीं और इन धर्मो की उत्पत्ति परमेश्वर में त्रिगुणत्मिका माया के द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए वेदान्त सूत्रों में भगवान वादरायण ने लिखा है कि- 'परादेवता सर्वशक्ति युक्त है'[2] अर्थात वह परमात्मा सभी शक्तियों से पूर्ण है। छदोग्योपनिषद् में बताया गया है कि वह ब्रह्म सत्य संकल्प, आकाश स्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगध, सर्वरस, समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी रहित, और मान रहित है।[3] मुण्डकोपनिषद् में भी कुछ इसी प्रकार कहा गया है कि- "जो सर्वज्ञ, सबको जानने वाला, सबका ज्ञानमय तप है उसी परमेश्वर से यह विराट रूप जगत् और नाम रूप तथा अन्न उत्पन्न होते है।"[4] इस प्रकार माया, अविद्या आदि का कारण एक मात्र ब्रह्म ही है।

---

[1] माया मात्र तु कार्त्स्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्। - ब्रम्हसूत्र - ३/२/३

[2] सर्वोयिता च तद्दर्शनात्। - ब्रम्हसूत्र- २/१/३०

[3] छा० उ० - ३/१४/२

[4] मु० उ० १/१/६

बन्धन और मोक्ष-

वेदान्त के मतानुसार आत्मा का शरीर और मन में अपनापन का सम्बन्ध होना बन्धन है। अर्थात् आत्मा का शरीर के साथ आसक्त हो जाना ही बन्धन है। आत्मा शरीर से भिन्न है फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को निजी अनुभूतिया समझने लगती है। जिस प्रकार पिता अपनी प्रिय सतान की सफलता और असफलता को निजी सफलता और असफलता समझने लगता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर के पार्थक्य के ज्ञान के अभाव में शरीर के सुख-दुख को निजी सुख-दुख समझने लगती है। यही बन्धन है।

आत्मा स्वभावत नित्य, शुद्ध, चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है। परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह बधनग्रस्त हो जाती है। जबतक जीव में विद्या का उदय नहीं होगा, तब तक वह ससार के दु खों का सामना करता जायेगा। अविद्या का नाश होने के साथ ही साथ जीव के पूर्व संचित कर्मा का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुखों से छुटकारा पा जाता है।

अविद्या का अन्त ज्ञान से ही सभव है। शकर के अनुसार मोक्ष को अपनाने के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए कर्म का सहारा लेना व्यर्थ है। मीमासा के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति कर्म से सभव है परन्तु शकर के अनुसार कर्म और भक्ति ज्ञान की प्राप्ति में भले ही सहायक हो सकते है वे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते। ज्ञान और कर्म विरोधात्मक है। कर्म और ज्ञान अधकार और प्रकाश की तरह विरूद्ध स्वभाव वाले है। ज्ञान विद्या है जबकि कर्म अविद्या है। मोक्ष का अर्थ है अविद्या को दूर करना। अविद्या केवल विद्या के द्वारा ही दूर हो सकती है। शकर ने ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष का उपाय नहीं माना है। शकर ने मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड के छठे अध्याय में बताया गया है कि वेत्ताओं ने मोक्ष और अमोक्ष रूपी सृष्टि (ईश्वर के समान सृष्टि करने की शक्ति), सालोक्य (ईश्वर की समान लोक मे रहना), सामीप्य (ईश्वर के समीप रहना), सारूप्य (ईश्वर के समान स्वरूप प्राप्त करना), साम्य (अपनी समता की प्राप्ति), और लीन होना "यही छ· प्रकार की मुक्ति बताई है।[1] इसके अतिरिक्त

---

[1] साष्ट्रिसालोक्य सारूप्य सामीप्य साम्यलीनताम्। वदन्ति षड्विधा मुक्ति मुक्ता मुक्तिविदो विभो।। ब्र० वै० ब्र० ख० -६/१७

'शिव-शिव' शब्द का उच्चारण करते हुये जो मनुष्य प्राण त्याग करता है वह कोटि जन्मों के सचित पापों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है[1]। शिव शब्द कल्याण का वाचक है और कल्याण शब्द मोक्ष का। शिव के उच्चारण से मोक्ष या कल्याण की प्राप्ति होती हैं, इसलिए महादेव को शिव कहा गया है। (शिव शब्द में) 'शि' वर्ण पापनाशक और 'व' मुक्ति प्रदायक हैं। इसलिए मनुष्यों के पापनाशक एव मोक्षदाता होने के कारण वे 'शिव' कहे गये है[2]।

ब्रह्मखण्ड के आठवें अध्याय में नारद ने कहा है कि- पितामह! तीर्थसमूह पापियों के पाप से अपने को शुद्ध करने के लिए वैष्णव का स्पर्श चाहते हैं। भारत में भगवान के मत्रोपदेश मात्र से मनुष्य करोड़ों पूर्वजों तथा वशजों के साथ मुक्त हो जाते हैं[3]। ग्यारहवें अध्याय में बताया गया है कि "जो व्यक्ति नित्य भगवान कृष्ण का उच्छिष्ट या नैवेद्य भोजन करता है वह पवित्र आत्मा भूतल पर 'जीवन्मुक्त' होकर रहता है।[4] भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति से परे तथा तीनों गुणों से अतीत-निर्गुण हैं। ब्रह्म, विष्णु और शिव आदि देवों के सेव्य, उनके आदिकारण, परात्पर, अविनाशी, परब्रह्म एव सनातन भगवान है। साकार, निराकार, ज्योतिःस्वरूप, स्वेच्छामय, व्यापक, सबके आधार, सबके अधीश्वर, परमानन्दमय, ईश्वर निर्लिप्त, तथा साक्षी रूप हैं। वे भक्तों के ऊपर कृपा करने के लिए शरीर धारण करते है। जो उनकी आराधना करता है वह सचमुच जीवन्मुक्त हो जाता है। अट्ठारहवें अध्याय में बताया गया है कि जो आस्तिक व्यक्ति वरदान की भक्ति समेत परम् आस्था से इसे पढ़ेगा, उसे धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष का फल निश्चित रूप से प्राप्त होगा। उसी प्रकार विद्यार्थी को विद्या, धनार्थी को धन, भार्यार्थी को स्त्री, पुत्रार्थी को पुत्र, धर्मार्थी को धर्म, तथा यश के इच्छुक को यश प्राप्त होता है। राज्यच्युत राजा को राज्य एव प्रजाहीन को प्रजा प्राप्त होगी, रोगी को रोग से और बधन में बधे हुये को बंधन से मुक्ति मिल जायेगी[5]।

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ६/४६

[2] पापघ्ने वतति शिश्च वश्च मुक्तिप्रदे तथा। पापघ्नों मोक्षदो नृणा शिवस्तेन प्रकीर्तित।। - ब्र० वे० ब्र० ख० ६/५२

[3] ब्र० वै० ब्र० ख० - ८/५६-५७

[4] ब्र० वे० ब्र० खं० - ११/३४

[5] भ्रष्टराज्योलभेद्राज्य प्रजाभष्ट प्रजा लभेत्।रोगार्तो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्यते् बन्धनात्।। - ब्र० वै० ब्र० ख०- १८/४८

शकर के अनुसार- ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त-दर्शन के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु वेदान्त का अध्ययन करने के लिए साधक को साधना की आवश्यकता होती है, उसे भिन्न-भिन्न शर्तो का पालन करना पडता है। तभी वह वेदान्त का सच्चा अधिकारी बनता है। ये 'साधन-चतुष्ट्य' इस प्रकार है-

(१) नित्यानित्य- वस्तु- विवेक- अर्थात साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए।

(२) इहामुत्रार्थ- भोग- विराग- साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।

(३) **शमदमादि-** साधन- सम्पत्- साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान उपरति और तितिक्षा- इन छ साधनों को अपनाना चाहिए।

(४) मुमुक्षुत्व- साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ सकल्प होना चाहिए। इन प्रणालियों से गुजरने के बाद पूर्व सचित सस्कार नष्ट हो जाते है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म की सत्यता में अटल विश्वास हो जाता है। तब साधक को गुरु 'तत्त्वमसि' (तू ही ब्रह्म है) की दीक्षा देते हुये जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है। जिसके फलस्वरूप वह कह उठता है ' अह ब्रह्मास्मि'। जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है बधन का अन्त हो जाता है, तब मोक्ष की अनुभूति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जिस प्रकार की वर्षा की बूँदे समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। शकर का मोक्ष सम्बन्धी यह विचार रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार से भिन्न है। रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म के सादृश्य मोक्ष की अवस्था में होता है, वह ब्रह्म नहीं हो जाता है।

प्रकृतिखण्ड के छठे अध्याय में बताया गया है कि- भगवान विष्णु का मत्र गुरु के मुख से निकलकर जिसके वर्ण विवर में प्रविष्ट होता है वह वेद-वेदाग से भी पवित्र और नरोत्तम कहा जाता है[1]। जिसके जन्म मात्र से उसके सौ पूर्वज शुद्ध हो जाते है और वे स्वर्ग-नरक कहीं भी हो उसी

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ६/११४

क्षण उनकी मुक्ति हो जाती है।[1] यदि उन पूर्वजों में से किन्हीं का कहीं जन्म हो गया हो तो उन्होनें जिस योनि में जन्म पाया है वहीं उनमें जीवान्मुक्तता आ जाती है। ऐसा इस पुराण में कहा गया है और समयानुसार वे परमधाम को चले जाते है। तथा पुत्रहीन को पुत्र और स्त्रीहीन को स्त्री की प्राप्ति होती है, रोगी रोग से मुक्त हो जाता है और बधन में पडा हुआ व्यक्ति उससे मुक्त हो जाता है[2]।

उपनिषदों में भी बधन और मोक्ष का विचार निहित होने के कारण मोक्ष को जीवन का चरम् लक्ष्य माना गया है। इनके अनुसार अविद्या बधन का कारण है। अविद्या के कारण अहकार उत्पन्न होता है। यह अहकार ही जीवों को बधन-ग्रस्त कर देता है। इसके प्रभावों में जीव इन्द्रिया, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बधन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एव क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है। बधन को उपनिषद् में 'ग्रन्थि' भी कहा गया है। ग्रन्थि का अर्थ 'बध जाना'।

विद्या से ही मोक्ष सभव है क्योंकि अहकार का छुटकारा विद्या से सभव है। विद्या के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। इन अनुशासनों में सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह प्रमुख है। मोक्ष की अवस्था में जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्यता को प्राप्त हो जाता है। जीव का ब्रह्म से एकत्र हो जाना ही मोक्ष है। जिसप्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है।

इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है। मोक्ष की अवस्था में एक ब्रह्म की अनुभूति होती है तभी सभी वेदों का अन्त हो जाता है उपनिषद् में मोक्ष को आनन्दमय अवस्था माना गया है। मोक्ष की

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ६/११५

[2] अपुत्रों लभते पुत्र भार्याहीनो लभेत्प्रियाम्।

रोगान्मुच्यतेत रोगी च बद्धोमुच्येत बन्धनात्।। ब्र० वै० प्र० ख०- १०/१३७

अवस्था में जीव का ब्रह्मसे एकाकार हो जाता है। ब्रह्म आनन्दमय है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है।

अध्याय ४

"प्रकृति या माया का स्वरूप"

ब्रह्मवैवर्त पुराण के 'प्रकृतिखण्ड' में प्रकृति का स्वरूप बतलाते हुए नारायण बोले कि- (प्रकृति शब्द में) 'प्र' का अर्थ है 'प्रकृष्ट' और कृति का अर्थ है 'सृष्टि'। अत· सृष्टि करने में प्रकृष्ट गुण सम्पन्न होने वाली देवी को प्रकृति कहा गया है। वेद में 'प्र' शब्द का प्रकृष्ट सत्त्वगुण अर्थ बताया गया है, 'कृ' शब्द का माध्यम रजोगुण और 'ति' शब्द का तमोगुण अर्थ कहा गया है। इस प्रकार त्रिगुणस्वरूपवाली सर्वशक्तिमती को सृष्टि में प्रधान होने के नाते प्रकृति कहा गया है[1]। प्रथम अर्थ मे 'प्र' शब्द और सृष्टि अर्थ मे 'कृति' शब्द का प्रयोग होता है। अत सृष्टि की आदि देवी को प्रकृति कहते है[2]। सृष्टि विधानकाल में वह परब्रह्म योग द्वारा दो रूपों में प्रकट होते हैं। उनके दाहिने अग से उत्पन्न होने वाले को 'पुरुष' और बायें अग से उत्पन्न होने वाली को प्रकृति कहते है[3]।

वह ब्रह्म स्वरूपा माया जो नित्य और सनातनी है, वह अग्नि में दाहिका शक्ति की भाँति आत्मा की शान्तिरूप है। नारद! इसलिये योगीन्द्र लोग स्त्री-पुरूष का भेद नहीं मानते वे सबको निरन्तर ब्रह्ममय देखते है[4]। ब्रह्मन् वह ईश्वरी मूल प्रकृति स्वेच्छामय भगवान् श्रीकृष्ण की सृष्टि करने वाली इच्छा द्वारा सहसा प्रकट हुई है।

प्रकृति या माया ब्रह्म की शक्ति है, अतएव शक्ति शक्तिमान् के अभेद सिद्धान्त होने से ब्रह्म से अभिन्न है। शक्ति होने से वह ब्रह्म से स्वतत्र नहीं हैं। उसी के कारण ब्रह्म सृष्टि करने में समर्थ होता है। वह आदिशक्ति सनातन है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होने से वस्तुत जगत् का कारण ब्रह्म ही है। जैसे- घट निर्माण में मृत्तिका तथा कुण्डलादि निर्माण में स्वर्ण की सहायता अपेक्षित होने

---

[1] प्रकृष्टवाचक प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक। सृस्टौ प्रकृष्टा या देवी या देवी प्रकृति सा प्रकीर्तिता।। ब्र० वै० प्र० ख० १/५

[2] वही ब्र० वै० प्र० ख० १/८

[3] वही ब्र० वै० प्र० ख० १/६

[4] अतएव हि योगीन्द्र स्त्रीपुभेद न मन्यते। सर्वब्रह्ममय ब्रह्मछश्वत्पश्यति नारद।। ब्र० वै० प्र० ख० १/११

पर भी उसके कर्ता कुलाल-स्वर्णकार ही कहलाते है। अतएव- "इसके पति, गति, रक्षक स्रष्टा महारक एव पुन सृष्टि करने वाला है।"[1]

ब्रह्म, निर्गुण, निर्लेप निष्क्रिय तथा निर्धर्मक है, वह प्रकृत्य पर पर्याया माया के बिना सगुण साकार सर्वज्ञ शक्तिमान् नहीं बनता और न ही सृष्टि की रचना स्थिति तथा सहार कार्य ही कर सकता है जीव और ईश्वर की सत्ता भी माया पर ही निर्भर करती है। पचदशीकार[2] ने बतलाया है कि- वह माया ही आभास के द्वारा जीव और ईश्वर का निर्माण करती है। तब उनमें आवान्तर भेद कैसा? इस प्रश्न के समाधान में कहते है कि ईश्वर और जीव दोनों ही मेघाकाश और जलाकाश के समान सुव्यवस्थित है। अर्थात- ईश्वर और जीव दोनों मायिक हैं, तो भी वासना रूप अस्पष्ट और बुद्धि रूप स्पष्ट उपाधि वाले है इसलिए दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य सत्त्व, रज् और तम् इन गुणों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महेश बनकर प्रपच की सृष्टि, रक्षा व सहार करता है।

माया ब्रह्म में निवास करती है यद्यपि माया का आश्रम ब्रह्म है फिर भी ब्रह्म माया से प्रभावित नहीं होता। जिसप्रकार रूपहीन आकाश पर आरोपित नीले रग का प्रभाव आकाश पर नहीं पडता उसीप्रकार माया भी ब्रह्म को प्रभावित करने में असफल रहती है। माया का निवास ब्रह्म में है, ब्रह्म अनादि है। अत ब्रह्म की तरह माया अनादि है; माया और ब्रह्म में तादात्म्य का सम्बन्ध है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह विश्व का निर्माण करता है। माया के कारण निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय हो जाता है। माया सहित ब्रह्म ही ईश्वर है। गीता में भगवान् ने स्वय कहा है[3] कि- "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहकार भी- इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है, यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात मेरी जड़ प्रकृति है और हे

---

[1] त्वमेव जगता पति। गतिश्च याता सृष्टा च सहर्ता च पुनर्विधि।। ब्र० वै० ब्र० ख० ३/७८

[2] मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।

मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ।। पचदशी चित्रदीप - १५५

[3] भूमिरापोऽनलो वायु रव मनोबुद्धिरेव च।

अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। - गीता ७/४

अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृति विद्धि में मराम्।

जीवभूता महाबाहों ययेद धार्यतेजगत्।। - गीता ७/५

महाबाहों! इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है मेंरी जीवरूपा परा अर्थात चेतन प्रकृति जान"।

परमात्मा की शक्ति रूप प्रकृति सूक्ष्म है, वह देखने और वर्णन करने में नहीं आती, उसी का अश कारण शरीर है अत उसे अव्यक्त करना उचित ही है[1]। परन्तु वेद में उस प्रकृति को परब्रह्म परमेश्वर के ही अधीन रहने वाली उसी को एक शक्ति बताया है[2]। अर्थात्- शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं होती अत. उसका स्वतत्र अस्तित्व नहीं माना जाता। इस प्रकार परमात्मा के अधीन उसी की एक शक्ति होने के कारण उसी की सार्थकता है, क्योंकि शक्ति होने से ही शक्तिमान परमेश्वर के द्वारा जगत् की सृष्टि आदि कार्यो का होना सभव है। यदि परब्रह्म परमेश्वर को शक्तिहीन मान लिया जाय, तब वह इस जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का कर्ता-धर्ता और सहर्ता कैसे हो सकता है? फिर तो उसे सर्वशक्तिमान भी कैसे माना जा सकता है? 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'[3] में स्पष्ट बताया गया है कि[4]- "महर्षियों ने ध्यानयोग मे स्थित होकर परमात्म देव की स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया जो अपने गुणों से आवृत्त है।"

वह परमात्मा सभी शक्तियों सम्पन्न है ऐसी बात वेद में सभी जगह पर कही गयी है। स्वप्न प्रपच के तुल्य दृश्यत्व, जन्मत्त्व, अनिर्वचनीयत्व, अज्ञान कल्पितत्त्व आदि हेतुओं से जाग्रत प्रपच में भी मिथ्यात्त्व सिद्ध होता है। ब्रह्मवैवर्त-पुरण में भी प्रपच मिथ्यात्त्व का स्वप्न दृष्टात तथा जल बुद्-बुद् दृष्टान्त में बताया गया है कि- यह चर-अचरमय सारा संसार जल के बुलबुले की भाँति (क्षणिक) है। प्रात·काल के स्वप्न के समान मिथ्या एव केवल मोह का कारण है। पंचभौतिक शरीर एवं ससार के निर्माण का हेतु भी मिथ्या एव अनित्य है। माया से ही मनुष्य इसे सत्य मान रहा हैं। वह समस्त कर्मो में काम, क्रोध, लोभ और मोह से वेष्टित है तथा माया से सदा मोहित, ज्ञानहीन एव दुर्बल है।

---

[1] सूक्ष्म तु तदर्हत्वात् - ब्रह्मसूत्र- १/४/२

[2] तदधीनत्वादर्थवत् - ब्रम्हसूत्र - १/४/३

[3] 'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।' -श्वेताश्वररोपनिषद् - १/३

[4] जलबुद्बुद वत्सर्व ससार सचराचरम्। प्रभातेस्वप्नवन्मिथ्या मोह कारण मेव च।। ब्र० वै० कृ ख० ७८/१७
मिथ्या कृत्रिमनिर्माण हेतुश्च पाचभौतिक। मापया सत्यबुद्धयाच प्रतीति जायते नर'।। ७८/१८
काम क्रोधलोभमोहै वेंष्टित सर्वकर्मसु। मापया मोहित शश्वज्ज्ञानहीनश्च दुर्बल।। १७/१६

साख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व इसी प्रकार की गुण रहित दशा थी, एक ऐसी दशा जिसमें गुणों के मिश्रण एक वैषम्य की स्थिति में आ गये थे और परस्पर विरोध के कारण सतुलन की स्थिति अर्थात् प्रकृति बनी। बाद में प्रकृति में विकार उत्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप विभिन्न मात्राओं में गुणों के विषम मिश्रण बनने लगे जिससे विविध प्रकार की सृष्टि पैदा हुयी। इस प्रकार गुणों के पूर्ण साम्य और परस्पर विरोध की स्थिति अर्थात् प्रकृति उद्विकसित होकर धीरे-धीरे निश्चित नियत, विभेदीकृत, विषमजातीय और ससक्त होती गयी। गुण हमेशा मिश्रित पृथग्भूत और पुनर्मिश्रित होते रहते है[1] अर्थात-सत्त्व, हल्का अतएव प्रकाशक रजस् प्रवृत्तिशील (चचल) अतएव उत्तेजक, एव तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है। एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते है। (अव्यक्त इत्यादि सूक्ष्म पदार्थो में भी) अविवेकित्व इत्यादि धर्मो की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि ये त्रिगुणात्मक है और इसके अभाव में अव्यक्त आदि पदार्थो में तीनों गुणों का अभाव हो जायेगा, और कार्य के कारण- गुणों से ही युक्त होने से (इन अविवेकित्व आदि धर्मो के आश्रयभूत) अव्यक्त की भी सत्ता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त महदादि कार्यो के परिमित होने, कारण के सादृश्य होने, कारण की शक्ति से उत्पन्न होने, कारण से ही आविर्भूत होने तथा उसी में तिरोभूत होने से सबका एक कारण 'अव्यक्त' अवश्य है, जो अपने तीनों गुणों के स्वरूप से, एवं एक-एक गुण के प्राधान्य से उत्पन्न अनेकत्व के कारण जल की तरह विविध परिणामों के योग से तीनों के मिश्रित रूप से परिणित होता रहता है।

विश्व में दो प्रकार की वस्तुयें दीख पडती हैं जिनमें एक स्थूल है और दूसरी सूक्ष्म नदी, पहाड, टेबुल, वृक्ष आदि विश्व के स्थूल पदार्थ है और मन, बुद्धि, अहकार आदि विश्व के सूक्ष्म पदार्थ हैं। विश्व का कारण उसे ही माना जा सकता है जो विश्व के स्थूल और सूक्ष्म दोनों पदार्थो की व्याख्या कर सकें। यदि विश्व का कारण परमाणु को माना जाय तो सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या असभव है। परमाणुओं द्वारा विश्व की स्थूल वस्तुओं की व्याख्या हो जाती है, परन्तु विश्व के सूक्ष्म पदार्थ जैसे मन, बुद्धि, अहकार आदि की व्याख्या सभव नहीं होती। परमाणुओं को विश्व का कारण मानने से विश्व की पचास प्रतिशत वस्तुओं की ही व्याख्या हो पाती है। इसके अतिरिक्त यदि

---

[1] सा० का०- १३-१६

परमाणुओं को विश्व का कारण मान लिया जाय तो विश्व की व्यवस्था की व्याख्या नहीं हो सकती क्योकि परमाणु चार प्रकार के हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं।

अद्वैतवेदान्त और महायान बौद्ध- दर्शन विश्व का कारण चेतना को मानते है। परन्तु यह विचार भी अमान्य प्रतीत होता है, क्योंकि चेतना से सिर्फ विश्व के सूक्ष्म पदार्थो की व्याख्या हो सकती है। चेतना स्थूल पदार्थो की व्याख्या करने में असमर्थ है। अत- अद्वैत-वेदान्त एव महायान बौद्ध-दर्शन की व्याख्या अधूरी है।

साख्य विश्व का कारण मानने के लिए प्रकृति की स्थापना करता है। प्रकृति एक है इसलिए उससे विश्व की व्यवस्था की व्याख्या हो जाती है। प्रकृति जड होने के साथ ही साथ सूक्ष्म पदार्थ भी है। इसलिए प्रकृति सम्पूर्ण विश्व में जिसमें स्थूल एव सूक्ष्म पदार्थ की व्याख्या करने में समर्थ हैं। इसलिए साख्य ने विश्व का आधार प्रकृति को माना है। प्रकृति को प्रकृति इसलिए कहा जाता है कि यह विश्व का मूल कारण है। परन्तु वह स्वय कारणहीन है।

प्रकृति को प्रधान कहा जाता है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण के प्रकृति खण्ड के प्रथम अध्याय में विष्णु की प्रिया तुलसी को प्रकृतिदेवी का प्रधान अग माना गया है। ये पतिव्रता विष्णु के आभूषण स्वरूप है। ये सदा विष्णु के चरण में विराजमान रहती है। मुने! तपस्या, सकल्प और पूजा आदि सभी शुभ कर्म इन्हीं से शीघ्र सपन्न होते हैं[1]। प्रकृति को प्रधान इसलिए कहा जाता है। क्योंकि वह विश्व का प्रथम कारण है। प्रथम कारण होने के कारण विश्व की समस्त वस्तुयें प्रकृति पर आश्रित है किन्तु प्रकृति स्वय स्वतत्र है। प्रकृति को ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा उसे कहा जाता है जिसका विकास हो। प्रकृति स्वय विकसित होती है इसका विकास भिन्न-भिन्न पदार्थो में होता है, इसलिए उसे ब्रह्मा की सज्ञा दी गयी है। प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है। प्रकृति विश्व का कारण होने के नाते विश्व के सारे पदार्थ प्रकृति में अव्यक्त रूप से मौजूद रहते हैं, इसीकारण प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है। प्रकृति को अनुमान कहा जाता है। प्रकृति का ज्ञान प्रत्यक्ष से सभव नहीं है। प्रकृति का ज्ञान अनुमान के माध्यम से होता है जिसके फलस्वरूप इसे 'अनुमान' कहा जाता है

---

[1] विष्णु भूषणरूपा च विष्णुपादस्थिता सती।

तप सकल्पपूजादि सद्य सपादनी मुने।। - ब्र० वै० प्र० ख० १/६७

प्रकृति को जड कहा जाता है, क्योंकि यह मूलत भौतिक पदार्थ है।

प्रकृति को माया कहा जाता है। माया उसे कहा जाता है जो वस्तुओं को सीमित करती है। प्रकृति विश्व की समस्त वस्तुओं को सीमित करती है, क्योंकि वह कारण है और विश्व की समस्त वस्तुयें कार्य हैं। कारण स्वभावत कार्य को सीमित करता है। अत भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सीमित करने के फलस्वरूप प्रकृति को माया कहा गया है। इस पुराण के 'ब्रह्मखण्ड' के तीसवें अध्याय में बताया गया है कि- प्रकृति ही माया है और पूर्णब्रह्मस्वरूप वाली वह मूल प्रकृति एक ही है, किन्तु वह विष्णु की सनातनी माया सृष्टि के समय पाच रूपों में प्रकट होती है[1]।

इस भाँति भगवान कृष्ण के प्राणों की उस अधिष्ठात्री देवी को, जो समस्त प्रकृतियों में उन्हें सबसे अधिक प्रिय है 'राधा' कहा गया है।[2] समस्त सम्पतियों का रूप धारण करने वाली लक्ष्मी, जो नारायण की प्रिया है दूसरी प्रकृति हैं, एव वाणी की अधिष्ठात्री देवी पूज्या सरस्वती तीसरी प्रकृति हैं। ब्रह्मा की प्रिया वेदमाता सावित्री चौथी, और शकर की प्रिया दुर्गा, जिनके पुत्र गणेश हैं, पाचवी प्रकृति हैं[3]।

'प्रकृतिखण्ड' के प्रथम अध्याय में बताया गया है कि- "गणेश की माता दुर्गा, शिव (कल्याण) रूपा और शिव की प्रिया हैं। उस पूर्ण ब्रह्मस्वरूपिणी, नारायणी, विष्णु की माया का ब्रह्मादि देवगण, मुनिगण और मनुगण सदैव पूजन करते रहते है वह सबकी अधिष्ठात्री देवी एवं सनातनी ब्रह्मरूपा है। वह यश, मगल, धर्म, श्री, सत्य, पुण्य, मोक्ष एव हर्ष प्रदान करने वाली शोक-दु ख का नाश करने वाली है।

प्रकृति को शक्ति कहा जाता है, क्योकि उनमें निरतर गति विद्यमान रहती है। प्रकृति जिस अवस्था में भी हो निरतर गतिशील दीख पड़ती है। पुराण के अनुसार- वह सर्वशक्तिस्वरूपा है तथा शकर को नित्य शक्ति प्रदान करती है। वह सिद्धेश्वरी ,सिद्धिरूपा, सिद्धि देने वाले की अधीश्वरी है[4]।

---

[1] मूल प्रकृतिरेका सा पूर्णब्रह्मस्वरूपिणी। सृष्टौ पन्चविद्या सा च विष्णुमाया सनातनी।। - ब्र० वै० प्र ख० ३०/१८

[2] वहीं - ३०/१६

[3] वहीं ३०/२१

[4] सर्वशक्तिस्वरूपा च शक्तिरीशस्य सततम्। सिद्धेश्वरी सिद्धरूपा सिद्धिदा सिद्धिदेश्वरी।। - ब्र० वे० प्र० ख०- १/१८

बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, पिपासा, छाया, तन्द्रा, दया, स्मृति, जाति, क्षान्ति, शान्ति, कान्ति, भ्रान्ति, चेतना. तुष्टि, पुष्टि, लक्ष्मी, वृत्ति तथा माया नाम से प्रसिद्ध देविया परमात्मा कृष्ण की सर्वशक्ति स्वरूपा प्रकृति हैं[1]। परमात्मा विष्णु की शक्ति पद्मा शुद्ध सत्व स्वरूपा, समस्त सम्पत्ति-स्वरूपा तथा सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं।

प्रकृति को अविद्या कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान का विरोधात्मक है। प्रकृति एक है। साख्य दो तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है जिसमें पहला तत्व प्रकृति है। इसलिए प्रकृति को तत्व माना गया है। प्रकृति स्वय स्वतत्र है, यद्यपि विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रकृति पर आश्रित है। प्रकृति की सत्ता के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नही है, इसलिए प्रकृति को स्वतत्र सिद्धान्त भी कहा गया है। प्रकृति विश्व की विभिन्न वस्तुओं का कारण है, परन्तु स्वय अकारण है। वह जड, द्रव्य, प्राण, मन, अहकार आदि का मूल कारण है। यद्यपि प्रकृति समस्त वस्तुओं का मूल कारण हैं, परन्तु वह स्वय उन वस्तुओं से भिन्न है। प्रकृति स्वतत्र है जबकि वस्तुए परतत्र हैं। प्रकृति निरवयव है जबकि वस्तुयें सावयव हैं, प्रकृति एक है जबकि वस्तुयें अनेक है। प्रकृति दिक्, काल की सीमा से बाहर है जबकि वस्तुयें दिक् और काल में निहित हैं।

प्रकृति अदृश्य है क्योंकि वह अत्यन्त ही सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रकृति का ज्ञान अनुमान से प्राप्त होता है। प्रकृति अव्यक्त है। साख्य सत्कार्यवाद में विश्वास करता है। जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में मौजूद रहता है। प्रकृति विश्व की विभिन्न वस्तुओं का कारण है। अत- सम्पूर्ण विश्व कार्य के रूप में प्रकृति में अन्तर्भूत रहता है। प्रकृति अचेतन है क्योंकि वह जड है। जड मे चेतना का अभाव रहता है। यद्यपि प्रकृति अचेतन है फिर भी वह सक्रिय है। प्रकृति में क्रियाशीलता निरन्तर दीख पडती है क्योकि उसमें गति अन्तर्भूत है। प्रकृति एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं हो सकती है। प्रकृति को व्यक्तित्वहीन माना गया है, क्योंकि बुद्धि और सकल्प व्यक्तित्व के दो चिन्ह का वहा पूर्णत- अभाव है प्रकृति शाश्वत है, क्योंकि वह ससार की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, वह अशाश्वत नहीं हो सकती है। इसलिए प्रकृति को शाश्वत अर्थात् अनादि और अनन्त कहा गया है।

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख०- १/२०

ब्रह्मसूत्र में बताया गया है- साख्यमतावलम्बी प्रकृति को ज्ञेय मानते है। उनके अनुसार- गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यम् अर्थात 'गुणमयी प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य जान लेने से कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है'। प्रकृति के स्वरूप को अच्छी तरह जाने बिना उससे पुरुष का पार्थक्य (भेद) कैसे ज्ञात हो सकता है? अत उनके मत में प्रकृति भी ज्ञेय है। परन्तु वेद में प्रकृति को ज्ञेय अथवा उपास्य कहीं भी नहीं बतलाया गया है। वहा तो एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर को जानने योग्य तथा उपास्य बताया है। इससे यहीं सिद्ध होता है कि वेदोक्त प्रकृति साख्यवादियों के माने हुए 'प्रधान' तत्त्व से भिन्न है। अपने मत की पुष्टि के लिए सूत्रकार स्वय ही शका उठाकर उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि **'वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्'**। कठोपनिषद् में बताया गया है कि 'जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध से रहित, अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्, से परे तथा ध्रुव है, उस तत्व को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है'[1]।

इस मत्र में ज्ञेय तत्व के दो लक्षण बतायें गये हैं ये सब साख्योक्त प्रधान में भी सगत होते है; अत यहा प्रधान को ही ज्ञेय बताना सिद्ध होता हैं। परन्तु ऐसी बात जो कहे उसका यह कथन ठीक नहीं; क्योकि यहा परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप वर्णन का ही प्रकरण है। अत उसमें परमात्मा के ही स्वरूप का वर्णन तथा उसे जानने के फल का प्रतिपादन है।

साख्य दर्शन मे विश्व की अवस्था के लिए प्रकृति को माना गया है। प्रकृति से ही नानारूपात्मक जगत् की व्याख्या होती है। सम्पूर्ण विश्व प्रकृति का रूपान्तरित रूप है। शकर के दर्शन में माया के आधार पर विश्व की विविधता की व्याख्या की जाती है। माया ही नाना रूपात्मक जगत् को उपस्थित करती है। शकर की माया और सांख्य की प्रकृति में दूसरा साम्य यह है कि माया और प्रकृति दोनों का निर्माण सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के सयोजन से हो पाया है। शकर की माया साख्य की प्रकृति की तरह त्रिगुणात्मक है। शकर की माया और साख्य की प्रकृति में तीसरा साम्य यह है कि दोनों भौतिक और अचेतन हैं। साख्य की प्रकृति की तरह शकर की माया भी जड है।

---

[1] अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्त महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।। कठो० १/३/१५

शकर की माया और साख्य की प्रकृति में चौथा साम्य यह है कि दोनों मोक्ष की प्राप्ति में बाधक प्रतीत होते हैं। पुरुष प्रकृति से भिन्न है परन्तु अज्ञान के कारण वह प्रकृति से अपनापन का सम्बन्ध उपस्थित कर लेता है। यही बधन है। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब प्रकृति अपने को पुरुष से भिन्न होने का ज्ञान पा जाये। मोक्ष के लिए पुरुष प्रकृति से पृथक्करण की माग करता है। शकर के अनुसार भी मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब अविद्या का, जो माया का ही दूसरा रूप है अन्त हो जाय। आत्मा मुक्त है, परन्तु अविद्या के कारण वह बधन-ग्रस्त हो जाती है। इन विभिन्नताओं के बावजूद माया और प्रकृति में अनेक अन्तर है।

माया और प्रकृति में पहला अन्तर यह है कि माया को परतत्र माना गया है जबकि प्रकृति स्वतत्र है। माया का आश्रय-स्थान ब्रह्म या जीव होता है, परन्तु प्रकृति को अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरी सत्ता की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। माया और प्रकृति मे दूसरा भेद यह है कि प्रकृति यथार्थ है, जबकि माया अयथार्थ है। साख्य पुरुष और प्रकृति को यथार्थ मानने के कारण द्वैतवादी कहा जाता है; परन्तु शंकर के दर्शन मे ब्रह्म को छोड़कर सभी विषयों को असत्य माना गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे समस्त ईश्वरों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ, जो समस्त कारणों के कारण, सबके आदि सब देवों के सेव्य, सबके अन्तरात्मा, माया द्वारा अनेक रूप धारण करने वाले (सगुण) अथवा निर्गुण एक ही रहने वाले है, अन्य की समता करता है, उसे ब्रह्म हत्या लगती है।'[1] प्रकृतिखण्ड के छत्तीसवें अध्याय में बताया गया है कि उस तत्त्ववेत्ता को उस प्रदीप्त निर्मल ज्ञान द्वारा ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सारा जगत् मिथ्या दिखाई देता है।[2] इस प्रकार पौगाण्डावस्था तक यातनाओं का भोग करता हुआ वह युवावस्था प्राप्त करता है, जिसमें वह जीव गर्भादि के दु:खों का स्मरण भी माया से परवश होने के कारण कभी नहीं कर पाता है।

---

[1] माययाऽनेक रूपे वाऽप्येक एव हि निर्गुणे।

करोत्यन्येन समता ब्रह्महत्या लभेत्तु स ।। - ब्र० वै० प्र० ख० ३०/१५६

[2] "निर्मलज्ञानदीपेन प्रदीप्तेन च तत्ववित्।

ब्रह्मादि तृण पर्यनत सर्व मिथ्यैव पश्यति।।" - ब्र० वै० प्र० ख० ३६/११०

"प्रकृति या माया की विशेषताएं"

शकर के मतानुसार माया की अनेक विशेषताए है। माया की पहली विशेषता यह है कि यह अध्यास रूप है। जहा जो वस्तु नहीं वहा उस वस्तु को कल्पित करना अध्यास कहा जाता है। जिस प्रकार रस्सी में साप और सीपीं में चॉदी का आरोपण होता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में जगत् अध्यासित हो जाता है। चूँकि अध्यास माया के कारण होता है इसलिए माया को मूलविद्या कहा जाता है। माया की दूसरी विशेषता यह है कि माया-विवर्त-मात्र है। माया ब्रह्म का विवर्त है जो व्यवहारिक जगत् में दीख पडता है।

माया की तीसरी विशेषता यह है कि माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह नाना रूपात्मक जगत् का खेल प्रदर्शन करती है। माया पूर्णत ईश्वर से अभिन्न है। माया की चौथी विशेषता यह है कि माया अनिर्वचनीय है; क्योकि वह न सत् है न असत् है और न दोनों है। वह सत् नहीं है; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है वह असत् भी नहीं है, क्योकि वह नानारूपात्मक जगत् को उपस्थित करता है। उसे सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसा कहना विरोधात्मक होगा। इसलिए माया को अनिर्वचनीय कहा गया है।

माया की पाचवी विशेषता यह है कि इसका आश्रय-स्थान ब्रह्म हैं परन्तु ब्रह्म माया की अपूर्णता से अछूता रहता है। माया ब्रह्म को उसी प्रकार नहीं प्रभावित करती है जिस प्रकार नीला रग आकाश पर आरोपित होने पर भी आकाश को नहीं प्रभावित करता है। इसीप्रकार माया की छठी विशेषता यह है कि यह (माया) अस्थायी है माया का अन्त ज्ञान से हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होते ही रस्सी सर्प भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का उदय होते ही माया का विनाश हो जाता है।

माया की सातवीं विशेषता यह है कि माया अव्यक्त और भौतिक है। सूक्ष्मभूत स्वरूप होने के कारण वह अव्यक्त है। माया की आठवीं विशेषता यह है कि माया अनादि है। उसी से जगत् की सृष्टि होती है। ईश्वर की शक्ति होने के कारण माया ईश्वर के समान अनादि है। माया की अन्तिम विशेषता यह है कि माया भावरूप है। इसे भावरूप इसलिये कहा गया है क्योंकि यह केवल निषेधात्मक नहीं है वास्तव में माया के दो पक्ष है निषेधात्मक और भावात्मक निषेधात्मक पक्ष में वह

सत्य का आवरण है क्योंकि वह उस पर पर्दा डालता है। भावात्मक पक्ष में वह ब्रह्म के विक्षेप के रूप में जगत् की सृष्टि करती है। वह अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान दोनों है।

प्रकृति दिशाओं की भाति आत्मा, आकाश और काल नित्य है, एव विश्व-गोल तथा गोलोक धाम नित्य है[1]। उसके एक प्रदेश के लम्बे भाग में स्थित वैकुण्ठ भी नित्य हे। उसी प्रकार ब्रह्म में लीन रहने वाली सनातनी प्रकृति भी नित्य है। जिस प्रकार अग्नि में दाहिका शक्ति चन्द्र और कमल में शोभा तथा सूर्य में प्रभा निरन्तर युक्त रहती है, कभी भिन्न नहीं होती है। उसी प्रकार परमात्मा में प्रकृति नित्य विराजमान रहती है।[2] जिस प्रकार बिना सुवर्ण के सोनार कुण्डल (आदि आभूषण) बनाने में असमर्थ रहता है, बिना मिट्टी के कुम्हार घट आदि नहीं बना सकता है उसी प्रकार बिना प्रकृति के परमात्मा सृष्टि करने में असमर्थ है। जिसके सहारे श्री हरि सदा शक्तिमान् बने रहते है वह प्रकृति देवी ही शक्तिस्वरूपा है।

(शक्ति शब्द में) शक् का अर्थ है 'ऐश्वर्य' और 'ति' का अर्थ है 'पराक्रम'। ये दोनों जिसके स्वरूप है तथा जो इन दोनों गुणों को प्रदान करती है वह शक्ति कहलाती है।[3] भग शब्द समृद्धि, बुद्धि, सम्पत्ति एव यश का बोधक है उससे सम्पन्न होने के कारण शक्ति को भगवती कहते है। क्योंकि वह सदैव भगस्वरूपा है। उसी से सदैव युक्त रहने के कारण परमात्मा को भगवान् कहते है। भगवान् श्रीकृष्ण, स्वेच्छामय एव निराकार होते हुए भी साकार हैं।

उन परब्रह्म परमात्मा एव ईश्वर को योगी लोग सदा तेजोरूप, निराकार कहकर उनका ध्यान करते हैं। वह अदृश्य रहते हुए भी सबको देखने वाले, सर्वज्ञाता, समस्त के कारण, सर्वप्रद, समस्त रूपों में रहने वाले रूपरहित तथा सबके पोषक हैं। वह रत्नमय भूषणों से भूषित, सबके आधार, सबके ईश, समस्त शक्तियों से युक्त, प्रभु, समस्त ऐश्वर्यो के प्रदाता, सर्वरूप स्वतन्त्र, सर्वमगल,

---

[1] नित्यात्मा च नभो नित्य कालो नित्यों दिशों यथा।

विश्वेषा गोलोक नित्य नित्यो गोलोक एव च ।। ब्र० वै० प्र० ख० १/५

[2] ब्र० वै० प्र० ख० १/७

३ वही १/१०

परिपूर्णतम, सिद्ध, सिद्धिदायक और सिद्धि के कारण है। इस प्रकार के सनातन रूप का वैष्णव गण सदैव ध्यान करते हैं। उनकी कृपा से जन्म-मृत्यु, जरा व्याधि, शोक और भय का अत्यन्त नाश हो जाता है। ब्रह्मा की पूर्ण आयु उनके एक निमेष के बराबर है।, वे ही परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

कृष्ण शब्द में कृष् का अर्थ है 'भक्ति' और 'न' का अर्थ है 'दास्य'। इसलिये भक्ति और दास्यभाव के प्रदायक भगवान् श्री कृष्ण है।'कृष' समस्तवाची है और 'ण' का अर्थ है बीज। समस्त बीजस्वरूप परब्रह्म कृष्ण कहे गये हैं। असख्य ब्रह्मा की आयु पर्यन्त जिनके गुणों का नाश नहीं होता है उनके समान गुण में कोई नहीं है वे सृष्टि के आदि में एकाकी थे। उस समय उनके मन में सृष्टि करने की इच्छा हुई। अपने अशभूत काल से प्रेरित होकर ही वे प्रभु सृष्टि कर्म के लिए उन्मुख हुए थे। उनका स्वरूप स्वेच्छामय है वे अपनी इच्छा से ही दो रूपों में प्रकट हुए। उनका वामाश स्त्रीरूप में ओर दक्षिण भाग पुरुष रूप में आविर्भूत हुआ।

यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इसके तीनों गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं। इसलिए प्रकृति के समान इनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता तथा इनके कार्यो से इनका अनुमान किया जाता है। सत्त्वगुण का कार्य सुख प्रदान करना है। रजोगुण का कार्य दुःख प्रदान करना है तथा तमोगुण का कार्य मोह उत्पन्न करना होता है। यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि इसको गुण कहा गया है तथापि ये न्यायवैशेषिक के गुणों के अर्थ में गुण नहीं है। ये प्रकृति रूपी द्रव्य के गुण या धर्म नहीं है। अत प्रकृति तथा गुणों में द्रव्य-गुण सम्बन्ध नहीं है। ये गुण स्वय द्रव्य रूप है। ये वे तत्त्व है जिनसे प्रकृति बनती है; ये प्रकृति के सघटक तत्त्व है। गुण या धर्म द्रव्य के ही होते है, धर्म के अर्थ में गुण के गुण नहीं होते। किन्तु साख्य के त्रिगुणों के भी गुण बताये गये है। प्रकाशत्व, चलत्त्व, लघुत्त्व, गुरुत्त्व आदि इन गुणों के गुण हैं। अत स्पष्ट है कि ये गुण द्रव्यरूप हैं, ये प्रकृति के निर्माणक तत्त्व हैं। अपने सम्मिलित साम्य रूप में ये तीनों गुण ही प्रकृति हैं प्रकृति इनके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इनको गुण इसलिये कहा गया है क्योंकि ये प्रकृति की अपेक्षा गौड़ हैं। अथवा ये पुरुष के उपकरण है। अथवा गुण का अर्थ डोरी भी होता है अतः ये गुण वे तीन डोरिया है जिनको मिलाकर प्रकृतिरूपी रस्सी बनती है जिससे पुरुषरूपी पशु संसार में बँधता है। सत्त्वगुण स्वच्छता या शुद्धता का प्रतीक है। यह प्रकाशक और लघु है, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर सत्त्व से पदार्थ का प्रकाश या ज्ञान

होता है। लघु होने से यह ऊर्ध्वगामी है। सत्त्व से सुख उत्पन्न होता है। सुख के अन्तर्गत सरलता प्रीति, श्रद्धा, सन्तोष, विवके, दया आदि सुखद भाव आ जाते हैं। यह शुक्लवर्ण है। रजोगुण धूलि-धूसरता या अशुद्धता का प्रतीक है यह सक्रिय या चल तथा उपष्टम्भक या सश्लेषजनक होता है। समस्त क्रिया या प्रवृत्ति इसी के कारण होती है। यह दुःख उत्पन्न करता है, दु ख के अन्तर्गत मान, मद्, द्वेष, क्रोध मत्सर आदि दु खद भाव आ जाते हैं। यह रक्तवर्ण है। तमोगुण अन्धकार या अज्ञान का प्रतीक है। यह गुरु (भारी) और वरणक अर्थात् आच्छादक या अवरोधक है। इसका कार्य प्रकाश तथा क्रिया का, सुख तथा दु.ख का अवरोध करना है। भारी होने से यह अधोगामी है। इससे मोह उत्पन्न होता है। मोह के अन्तर्गत प्रमाद, आलस्य, निद्रा, मूर्च्छा, अज्ञान, विषाद आदि आ जाते हैं। यह कृष्ण वर्ण है। तीनों गुण सदा सम्मिलित रहते हैं एवं एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते ये सदा सयुक्त है। अत परस्पर इनका सयोग या विभाग नहीं हो सकता, ये एक दूसरे का तिरस्कार भी करते हैं; उपकार भी करते हैं और परस्पर सहयोग करके सारे पदार्थो को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती और ज्वाला परस्पर विरोधी होते हुए भी मिलकर प्रकाश करते है, उसी प्रकार ये तीनों गुण, परस्पर विरोधी होते हुए भी मिलकर पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिए कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ- सत्त्वगुण की प्रतीक पतिव्रता सुन्दरी अपने पति को सुखी, सपत्नी को दु.खी एव अन्य कामी पुरुष को मोहित करती है।

रजोगुण का प्रतीक वीर योद्धा युद्ध में अपनी वीरता से अपने लोगों को सुखी, शत्रुओं को दु खी तथा अन्य को मोहित करना है, और तमोगुण का प्रतीक मेघ आकाश को आच्छादित करके निदाघसतप्त लोगों को सुखी, कृषकों को क्रियाशील तथा विरह-निमग्नों को विषण्ण करता है। किसी वस्तु या व्यक्ति को सात्त्विक, राजस या तामस् उसमें उस गुण के आधिक्य के कारण कहा जाता है। रसलीन कवि ने अपने एक दोहे में प्रेयसी के नयनों के माध्यम से इन तीनों गुणों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं कि प्रेयसी के नयनों में श्वेत, श्याम और लाल तीनों रग झलक रहें हैं; उनमें अमृत हलाहल, विष और मदिरा भरी हुई है; वे जिसे एक बार देख लेते है वह व्यक्ति मिलन की आशा से जीता है, निराशा में मरता है तथा विरह-वेदना में झुकझुककर तड़पता है। सत्त्वगुण श्वेत है, अमृतमय है सुखद एव जीवनदाता हैं; रजोगुण लाल है, मदिरा के समान है, प्रेम-मद में तड़पता है; तमोगुण श्यामवर्ण है, विष के समान है, मोह, मूर्च्छा मरण का प्रतीक है। इन गुणों में,

रजोगुण की क्रियाशीलता के कारण, निरन्तर परिणाम होता रहता है। यदि प्रकृति में स्वत परिणाम न हो तो बाहर से नहीं आ सकता, और यदि एक बार भी परिणाम रुक जाय तो पुन प्रारम्भ नहीं हो सकता। अत साख्य में प्रकृति और उसके गुणों को प्रतिक्षण-परिणामी माना है। पुरुष कूटस्थ नित्य है; प्रकृति परिणामि-नित्य है। गुणों की साम्यावस्था प्रलय की अवस्था है किन्तु इसमें गुणों में सरूप परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है। विरूप-परिणाम गुणों की विषमावस्था में होता है। यह सघर्ष की तथा सर्ग की अवस्था है।

अव्यक्त प्रकृति और उससे उत्पन्न सघातरूपी समस्त व्यक्त कार्य-समूह जड होने से अपने लिये नहीं है, प्रत्युत उनकी सत्ता किसी अन्य के लिये है जो चेतन हो तथा जिसके प्रयोजन को साधने के लिये हो उनकी सत्ता हो। स्वय प्रकृति तथा उससे प्रसूत समस्त कार्य-समूह चेतन पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। यह प्रयोजन दो प्रकार का है- भोग और अपवर्ग या मोक्ष। प्रकृति तीनों गुण, बुद्धि अहकार, मन इन्द्रिया शरीर आदि सब पुरुष के भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होते है। अत अव्यक्त प्रकृति तथ व्यक्त कार्य समूह से सर्वथा भिन्न चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। यह प्रयोजनमूलक तर्क है। अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त कार्य-समूह त्रिगुणात्मक है क्योंकि सब सत्त्वरज तमोगुण युक्त है। सगुण निर्गुण की ओर तथा त्रिगुण निस्त्रिगुण की ओर एव अचेतन चेतन की ओर तथा परिणामी अपरिणामी की ओर अनिवार्यतया सकेत करता है। यह निस्त्रिगुण अपरिणामी चेतन पुरुष है। अत अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त कार्य-समूह से नितान्त विपरीत निर्गुण अपरिणामी चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। यह तर्कशास्त्रीय तर्क है। हमारा लौकिक ज्ञान सुख-दुख का अनुभव बुद्धि, अहकार या मनोमूलक हमारी सारी चित्तवृत्तियॉं ज्ञाता या अनुभविता की ओर सकेत करती है; जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। यह ज्ञाता ही हमारे सारे ज्ञान को, सारी चित्तवृत्तियों को प्रकाशित करके एकता के सूत्र में पिरोये रखता है। सारे विधि-निषेध इस पर निर्भर है। यह साक्षि-चैतन्य-रूप है तथा प्रमाता या जीवात्मा में भी इसी का चैतन्य प्रकाशित है। अतः ज्ञान और समस्त अनुभव के अधिष्ठान के रूप में पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है; यह तत्त्वमीमासीय या सत्ता मूलक तर्क है।

इसी प्रकार प्रकृति तथा उसके कार्य-समूह जड होने से भोग्य हैं। वे स्वय अपना उपभोग नहीं कर सकते। सब पदार्थ सुख-दुःख और मोह उत्पन्न करते हैं किन्तु इनका भोगने वाला भी कोई

होना चाहिए। जड भोग्य वस्तु के भोगार्थ चेतन भोक्ता की सत्ता अनिवार्य है। यह चेतन भोक्ता पुरुष है, अत पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। यह नीतिशास्त्रीय तर्क है। कुछ आध्यात्मिक स्वभाव के ज्ञानी पुरुषो में कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छा और प्रयत्न दृष्टिगत होता है। त्रिविध दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को कैवल्य कहा गया है। दु ख का अनुभव तो सभी को होता है, और सभी किसी न किसी रूप में दु ख मिटाने का प्रयत्न भी करते है, किन्तु कुछ ज्ञानी जन इस दु ख की आत्यन्तिक के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। यह प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान से सम्भव हे। अत पुरुषों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। यह आध्यात्मिक या रहस्यवादी तर्क हैं।

अध्याय ५

"ब्रह्म-निर्लिप्तता"

वह ब्रह्म तत्त्वों का सारभूत अज्ञानी, अन्धे के नेत्र और द्वैध भ्रमरूपी अन्धकार का नाशक अत्यन्त प्रज्ज्वलित प्रदीप है। वह सनातन परब्रह्म परमात्मास्वरूप है वह समस्त देहों में स्थित और जीवों के कर्मो का साक्षी है। समस्त जीवों के पाचों 'प्राण' स्वय विष्णु 'मन', प्रजापति, ब्रह्मा, समस्त ज्ञानस्वरूप में (शिव) और ईश्वरी प्रकृति शक्ति है। राजा के अनुचरों की भाँति हम सभी परमात्मा के अधीन हैं। शरीर में उसके स्थित रहने पर हम लोग स्थित रहते हैं, और उस परम् (महान्) के चले जाने पर चले जाते है जीव उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब है और कर्मो का भोग करता है। जैसे जल से पूर्ण रूप से भरे हुए घट में सूर्य-चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है और घट के नष्ट हो जाने पर वह प्रतिबिम्ब चन्द्रमा और सूर्य में विलीन हो जाता है, उसी भाँति प्रलय के समय जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

वह ब्रह्म सभी का आत्मा, निलिप्त साक्षिरूप, सर्वव्यापी एवं सबका आदिकारण है।[१] वह निरीह निराकार परमात्मा, ईश्वर, स्वेच्छामय स्वतत्र एव समस्त कारणों का कारण है। वह शरीर में स्थित होने पर भी परमात्मा शरीरादि उपाधियों के दोषों से व शरीरजन्य कर्मो से लिप्त नहीं होता। क्योंकि देहादि आत्मा में अध्यस्त है ओर अधिष्ठान कदापि अध्यस्त वस्तु के दोषों में लिप्त नहीं होता[२]। ब्रह्मा ने कहा हे स्वात्मस्वरूप! आप निर्लिप्त है और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये कातर रहा करते है। अत आप भक्त का अपराध करने वाले इस ब्राह्मण श्रेष्ठ की रक्षा करे।[३]

उपनिषदों की सारी शिक्षाओं का सार यहीं सिद्ध करने में निहित है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। ऋग्वेद में आत्मा को कभी विश्व की आधारभूत चेतन शक्ति के रूप में और कभी मनुष्य के प्राण रूप में देखा गया है। फिर उपनिषदों में ऐसा वर्णन आता है कि विश्व में व्याप्त चेतनशक्ति

---

[1] ब्रह्म चाऽऽत्मा च सर्वेषा निर्लिप्त साक्षिरूपि।
सर्वव्यापी च सर्वादि लक्षणं च श्रुतौ श्रुतम्।। - ब्र० वे० ब्र० ख० २८/३५

२ सर्वदेहे प्रविष्टोऽह न लिप्त सर्वकर्मसु।
जीवन्मुक्तश्च मद्भक्तो जन्ममृत्युजराहर।। - ब्र० वे० कृ० ख० ७८/३०

[3] स्वात्मस्वरू निर्लिप्त भक्तानुग्रह कारण।
भक्ता पराधजनक रक्ष ब्राह्मणपुङ्गवम्।। - ब्र० वे० ब्र० ख० २८/१२६

ब्रह्म है और मनुष्य में जो चेतनशक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। उपनिषद् इस बात पर पुन बल देते है कि ये दोनों चेतन शक्तिया एक ही है। यहा प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का आधार तत्त्व क्या है? मनुष्य के आत्म तत्त्व के बारे में एक अनिश्चयात्मक भावना है अर्थात् इसका स्वरूप अस्पष्ट मा हैं। अन्न से निर्मित मनुष्य के भौतिक शरीर को अन्नमयकोश कहा गया है। लेकिन इस अन्नमयकोश के अन्दर जो मनुष्य की प्राणदायिनी शक्ति है उसको प्राणमय आत्मा के रूप में वर्णित किया है अर्थात् प्राणयम-कोश कहा गया हैं। इस प्राणमयकोश से भी सूक्ष्म मनन शक्ति को मनोमय आत्मा के रूप में अर्थात् मनोमय कोश कहते हैं। मन से सूक्ष्म मनोमय कोश के अन्तर्गत जो चेतन तत्त्व है उसे विज्ञानमय आत्मा या विज्ञानमय कोश कहते है। इस विज्ञानमय कोश के अन्तर में निहित सूक्ष्मात्म कोश आनन्दमय आत्मा अथवा आनन्दकोश है जो आत्मतत्त्व का अन्तिम आधार है और जो दिव्य विशुद्धानन्द का स्थान है।

शास्त्रों में कहा गया है, "वह आनन्दमय हो जाता है जिसको इस आनन्द की प्राप्ति होती है। वह दिव्यामृत का पान करता है। यदि वह आकाश आनन्दमय नहीं होता तो कौन इस विश्व में जीवित रह सकता और कौन प्राण धारण कर सकता? जो आनन्द का व्यवहार करता है वह आनन्दस्वरूप हो जाता है। जिस किसी को उस वर्णनातीत, अदृश्य, अवर्ण्य, अनाधार, विश्वातीत की प्राप्ति हो जाती है वह निर्भय हो जाता है, परन्तु जहां आत्मा और परमात्मा में भेद की अनुभूति है वहा ससार के सारे भय उनको सताते है[1]।

एक दूसरे स्थान पर प्रजापति ने कहा है कि "जो आत्मा पाप से मुक्त है अजर और अमर है, भूख-प्यास आदि के बधों से परे है जो सद्‌विचार सदिच्छाओं से युक्त है ऐसी आत्मा की खोज आवश्यक है। ऐसे आत्म-तत्त्व का चिन्तन और मनन करने से और इस आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने पर सारी जिज्ञासाओं की तृप्ति और पूर्ति हो जाती है[2]। गीता में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है कि- हे अर्जुन! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है।[3]

---

[1] तै० उ० २/७

[2] छा० उ० ८/७/१

[3] "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायम व्यय। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। - गीता - १३/३१

उपनिषदों के अनेक वाक्य आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता पर बल देते हैं। 'तत्त्वमसि' उपनिषद् का महावाक्य है। इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म और आत्मा में एकता प्रमाणित होती है। उपर्युक्त वाक्य की तरह अनेक वाक्यों के द्वारा आत्मा और ब्रह्म में अभेद का ज्ञान होता है। ऐसे वाक्यों में "अह ब्रह्मास्मि" 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि मुख्य हैं शकर ने आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता पर जोर दिया है। आत्मा और ब्रह्म के विवरण उपनिषद् में एक जैसे हैं। दोनों को चरम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। दोनों को सत्+चित्+आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द माना गया है। दोनों को सत्यम् ज्ञानम्, अनन्तम् कहा गया है। दोनों को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, माना गया है। दोनों के आनन्दमय रूप पर जोर दिया गया है। दोनों को सभी ज्ञान का आधार बताया गया है।

आत्मा के जाग्रत अवस्था के तुल्य ब्रह्म का विराट रूप है स्वप्नावस्था के अनुरूप 'हिरण्यगर्भ' रूप है। सुषुप्ति के सदृश ईश्वर रूप है और तुरीयावस्था के अनुरूप परब्रह्म रूप है। विराट् ब्रह्म का विश्व में पूर्ण विकसित रूप है, जो जाग्रत आत्मा जैसा है। विश्व से पृथक् ब्रह्म का मौलिक रूप परब्रह्म है जो कि तुरीयावस्था के अनुरूप है। आत्मा तुरीयावस्था में अपनी सभी अभिव्यक्तियों से अलग है उस अवस्था में विषयी और विषय एक ही है। ब्रह्म और आत्मा एक ही तत्त्व की अलग-अलग दृष्टियों से व्याख्या है। एक ही तत्त्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि ब्रह्म कहा गया है। डा० राधाकृष्णन् ने उपनिषद् दर्शन के आत्मा एव ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा है "विषयी और विषय" ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय और आत्मिक दोनों ही तत्त्व एकात्मक माने गये हैं, ब्रह्म ही आत्मा है। "वह ब्रह्म जो पुरूष के अन्दर है और वह जो सूर्य में है दोनों एक है।" उपनिषद् दर्शन में विषयी और विषय, आत्मा और अनात्मा के बीच तादात्म्यता उपस्थित की गयी है।

समालोच्य पुराण में शुभाशुभ कर्मो के द्वारा उच्च-नीच योनियों में जन्म तथा सुख-दुख, शोक, भय आदि की प्राप्ति का उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है- "इस ससार में अपने किये हुए कर्मफलवश लोग आया-जाया करते है, अत. कौन किसका पुत्र है, कौन किसका पिता है, और कौन किसकी माता है। कर्मानुसार जीव प्रत्येक स्थान में जन्म ग्रहण करता है- कोई जीव कर्मवश योगीन्द्रों के घर जन्म ग्रहण करता है कोई राजरानी के यहां, कोई ब्राह्मणी के यहा, कोई क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्र स्त्रियों में जन्म ग्रहण करता है। इसी प्रकार कोई पक्षियों में और कोई पशु आदि योनियों में उत्पन्न होता है। मेरी माया से मोहित होकर सब लोग विषयों में आनन्दमग्न रहते है और बन्धुओं

के देहत्याग-वियोग में दीन मलीन होते रहते हैं[1]। इस प्रकार श्रीभगवान् ने कहा- मै तो सबका आत्मा, साक्षी, और समस्त जीवों में निर्लिप्त हूँ। जीव मेरा प्रतिबिम्ब है यह सर्वसम्मत है। प्रकृति मेरा विकार रूप है और वह प्रकृति रूप भी मै ही हूँ। हे नृप जिस प्रकार दुग्ध और उसकी धवलता में कोई भेद नहीं है जिस प्रकार जल में शीतलता, अग्नि में दाहकता, आकाश में शब्द, भूमि में गन्ध, चन्द्रमा में शोभा, सूर्य में प्रभा (किरण) एव जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, उसी भाँति राधा और मुझमें अभेद है। इसलिये तुम राधा में गोपीभाव और मुझमें पुत्रभाव त्याग दो[2]। मेरी माया से मोहित होने वाले पापीजन मुझे नहीं जानते है, क्योंकि वे पापग्रस्त दुर्बुद्धि तथा दैववञ्चित रहते है। मै समस्त जन्तुओं की आत्मा हूँ और स्वामी भी मैं जहा रहता हूँ, वहा क्षुधा, पिपासा आदि समस्त शक्तिया रहती हैं, और वहा से मेरे चले जाने पर राजा के पीछे सेवक की भाँति वे सभी चली आती हैं[3]।

यह जीवात्मा वास्तव में सर्वथा शुद्ध परमेश्वर का अश, जन्म-मरण से रहित विज्ञानस्वरूप नित्य अविनाशी है, इसमें कोई शका नहीं है। तो भी यह अनादि परम्परागत अपने कर्मो के अनुसार प्राप्त हुआ स्थावर, जगम (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीरों के आश्रित है, उन-उनके साथ तद्रूप हो रहा है, 'मै शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; इस वास्तविक तत्त्व को नहीं जानता इस कारण उन-उन शरीरों के जन्म-मरण आदि को लेकर गौणरूप से जीवात्मा का उत्पन्न होना श्रुति में कहा गया है[4]।

"कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति प्राप्त होते हैं अर्थात प्रकृति मे लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मै फिर रचता हूँ। अपनी प्रकृति को अगीकार करके स्वभाव के बल से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत-समुदाय को बार-बार उनके कर्मो के अनुसार रचता हूँ और उन कर्मो में आसक्तिरहित और उदासीन के सदृश (अर्थात जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्त्वभाव के बिना अपने आप सत्ता मात्र से ही रहते हैं उनका नाम 'उदासीन के सदृश' है।) स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म

---

[1] ममैव मायया सर्वे सानन्रा विषयेषु च। देहत्यागे विषण्णाश्च विच्देदे बान्धवस्य च।। ब्र० वै० कृ० ख० ७३/८

[2] ब्र० वै० कृ० ख० ७३/४६-५०

[3] ब्र० वै० कृ० ख० ७३/६८

[4] ब्रह्मसूत्र - २/३/१६

नहीं बाधते। मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है और इस हेतु से ही यह ससारचक्र घूम रहा है।"[1] इसके शिवा, परब्रह्म परमात्मा किन्ही नये जीवों को उत्पन्न करते हों, ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीन प्रकार के शरीरों के आश्रित जीवात्मा का परमात्मा से उत्पन्न होना और उसमें विलीन होना श्रुति-स्मृतियों में जगह-जगह कहा गया है। जीवों को भगवान् उनके परम्परागत संचित कर्मो के अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं।

श्रुति का यही निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्मा की स्वरूप से उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही नही, श्रुतियों द्वारा उसकी नित्यता का भी प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में सजीव विश्व के दृष्टान्त से श्वेतकेतु को समझाते हुए उसके पिता ने कहा कि- "जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नही मरता[२]। कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह विज्ञानस्वरूप जीवात्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला और पुराण है, शरीर का नाश होने पर इसका नाश नहीं होता[3]। इसलिये यह सर्वथा निर्विवाद है कि जीवात्मा स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता। वह जीवात्मा स्वरूप से जन्म से मरने वाला नहीं है, नित्य चेतन है, इसलिये वह ज्ञात है[४]। तात्पर्य यह है कि जन्म से मरने वाला या घटने-बढ़ने वाला और अनित्य होता तो ज्ञाता नहीं हो सकता। किन्तु सिद्ध योगी अपने जन्म-जन्मान्तरों की बात जान लेता है तथा प्रत्येक जीवात्मा पहले शरीर से सम्बन्ध छोडकर जब दूसरे नवीन शरीर को धारण करता है, तब पूर्व स्मृति के अनुसार स्तनपानादि में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदि को भी प्रजोत्पादन का ज्ञान पहले के अनुभव की स्मृति से हो जाता है तथा बालकपन और युवा अवस्थाओं की घटनाए जिसकी जानकारी में रहती हैं वह नहीं बदलता, यह सबका अनुभव है, यदि आत्मा का परिवर्तन होता तो वह ज्ञाता

---

[1] गीता- ६/७-१०

[2] जीवोपेत वाव किलेद्र म्रियते न जीवों म्रियते। छा० उ०- ६/११/३

[3] "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।
अजो नित्य· शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" कठोपनिषद् १/२/१८

[4] ब्रह्मसूत्र- २/३/१८

नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव नित्य है और ज्ञान-स्वरूप है, शरीरों के बदलने से जीवात्मा नहीं बदलता।

(एक ही जीवात्मा के) शरीर से उत्क्रमण करने, परलोक में जाने और पुन लौटकर आने का श्रुति में वर्णन है[1] (इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है)। कठोपनिषद् में कहा है कि "मरने के बाद इन जीवात्माओं में से अपने-अपने कर्मों के अनुसार कोई तो वृक्षादि अचल शरीर को धारण कर लेते है और कोई देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जगम शरीरों को धारण कर लेते है[2]।" इसी प्रकार यदि कोई इस ॐकार की दो मात्राओं को लक्ष्य करके मन मे ध्यान करता है, तो यजुर्वेद की श्रुतिया उसे अन्तरिक्षवर्ती चन्द्रलोक में ऊपर की ओर ले जाती है; वहा स्वर्गलोक में नाना प्रकार के ऐश्वर्यो का भोग करके वह पुन मृत्यृलोक में लौट आता है[3]। इसीप्रकार अन्यान्य श्रुतियों में जीवात्मा के वर्त्तमान शरीर को छोडने, परलोक में जाने तथा वहा से पुन लौटकर आने का वर्णन है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता, वह नित्य और अपरिवर्तनशील है।

"आत्मा एक द्रव्य है। सुख, दु:ख, राग-द्वेष, इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के गुण हैं। धर्म और अधर्म भी आत्मा के गुण हैं और शुभ-अशुभ कर्मो से उत्पन्न होते हैं[4]। न्याय आत्मा को स्वरूपत· अचेतन मानता है। आत्मा में चेतना का सचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा में तभी होता है जब आत्मा का सम्पर्क मन के साथ तथा मन का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है तथा इन्द्रियों का वाह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है। यदि आत्मा का ऐसा सम्पर्क न हो तो आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता है। इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। आत्मा वह द्रव्य है जो स्वरूपत· चेतन न होने के बावजूद भी चैतन्य को धारण करने की क्षमता रखती है। आत्मा का स्वाभाविक रूप सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्थाओं में दीख पड़ता है जब वह

---

[1] ब्रम्हसूत्र- २/३/१६

[2] योनिमन्ये प्रपघन्ते शरीरत्वाय देहिन।

स्थाणुमन्येऽनुसयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।- कठोपनिषद् २/२/७

[3] प्र० उ० ५/४

[4] न्यायदर्शन

चैतन्य गुण से शून्य रहती है। जाग्रत अवस्थाओं में मन, इन्द्रियों तथा वाह्य जगत् से सम्पर्क होने के कारण आत्मा में चैतन्य का उदय होता है।

आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर को अपनी चेतना नहीं है। शरीर जड है परन्तु आत्मा चेतन है। शरीर आत्मा के अधीन है इसलिये शरीर आत्मा के बिना क्रिया नहीं कर सकता। आत्मा वाह्य इन्द्रियों से भिन्न है क्योंकि कल्पना, विचार आदि मानसिक व्यापार वाह्य इन्द्रियों के कार्य नहीं है। आत्मा मन से भिन्न है। न्याय दर्शन में मन को अणु माना गया है। अणु होने के कारण मन अप्रत्यक्ष है। मन को आत्मा मानने से सुख-दुख, भी मन के ही गुण होंगे तथा वे अणु की तरह अप्रत्यक्ष होगें; परन्तु सुख, दुख की प्रत्यक्ष अनुभूति हमें मिलती है जो यह प्रमाणित करता है कि सुख, दुख मन के गुण नहीं है। अत मन को आत्मा नहीं माना जा सकता है।

आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानना भी अप्रमाण सगत है। यदि हम आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मात्र मानते है तो वैसी अवस्था में स्मृति की व्याख्या करना असभव हो जाता है। अत बौद्ध दर्शन ने आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानकर भारी भूल की है। आत्मा को शुद्ध चैतन्य मानना जैसा कि शकर ने माना है भी 'भ्रामक' है, इसका कारण यह है कि शुद्ध चैतन्य नामक कोई पदार्थ नहीं है। चैतन्य को आत्मा मानने के बदले द्रव्य को आत्मा मानना जिसका गुण चैतन्य हो, न्याय के मतानुसार मान्य है।

न्याय दर्शन के अनुसार- आत्मा एक ज्ञाता है। जानना आत्मा का धर्म है, वह ज्ञान का विषय नहीं होता है। आत्मा भोक्ता है; वह सुख, दुख, का अनुभव करता है। आत्मा कर्त्ता है। "आत्मा सबका द्रष्टा सुख-दु.ख भोगने वाला और वस्तुओं को जानने वाला है"[1]। आत्मा नित्य हैं; आत्मा निरवयव है। सावयव विषयों का नाश होता है; आत्मा अवयवहीन होने के कारण अविनाशी है। ईश्वर भी न आत्मा को पैदा कर सकता है और न उसे मार सकता है। यद्यपि आत्मा नित्य है फिर भी आत्मा के कुछ अनित्य गुण है: इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि आत्मा के अनित्य गुण हैं। आत्मा कर्म-नियम के अधीन है; अपने शुभ और अशुभ कर्मो के अनुसार ही आत्मा शरीर ग्रहण करती है।

---

[1] न्यायभाष्य

अतीत जन्म के कर्मो के अनुसार आत्मा के अन्दर एक अदृश्य-शक्ति पैदा होती है जो आत्मा के लिए एक उचित शरीर का चुनाव करती है न्याय के मतानुसार आत्मा का पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म मानना पड़ता है।

न्याय ने आत्मा को विभु माना हैं यह काल और दिक् के द्वारा सीमित नहीं होती है। यद्यपि यह विभु है फिर भी इसका अनुभव केवल शरीर के अन्दर ही होता है। आत्माओं की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में एक भिन्न आत्मा का निवास है प्रत्येक आत्मा के साथ एक मनस् रहता है। मोक्ष की अवस्था में यह आत्मा से अलग हो जाता है, बंधन की अवस्था में यह निरन्तर आत्मा के साथ रहता है। न्याय-दर्शन जीवात्मा को अनेक मानकर अनेकात्मवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। न्याय का अनेकात्मवाद शंकर के आत्म विचार का निषेष करता है। शंकर ने आत्मा को एक मानकर एकात्मवाद के सिद्धान्त को अपनाया है। न्याय शंकर के एकात्मवाद की आलोचना करते हुए कहता है कि यदि आत्मा एक होती तो एक व्यक्ति के अनुभव से सबकों अनुभव हो जाता तथा एक व्यक्ति के बन्धन या मोक्ष से सबका बन्धन या मोक्ष हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे प्रमाणित होता है कि आत्मा अनेक है।

कर्म द्वारा ही जीव जन्म-ग्रहण करता है और कर्म द्वारा ही उसका विलयन होता है तथा सुख, दुःख, भय और शोक कर्मवश ही उसे प्राप्त होते है[1]। कर्मवश किसी का जन्म स्वर्ग में, किसी का ब्रह्मा के घर, किसी का ब्रह्मणों और क्षत्रियों के घर एवं किसी का वैश्य के घर तो किसी का शूद्र के यहां जन्म होता है। किसी प्रकार किसी का अति नीच के यहां, किसी का कीड़ो में, किसी का मल के भीतर, किसी का पशु-पक्षियों में और किसी का जन्म क्षुद्र जन्तुओं में होता है। अतः अपने कर्मवश सब लोग बार-बार विभिन्न योनियों में भ्रमण किया करते हैं मेरा प्रिय भक्त सदा कर्म का निर्मूलन करने में लगा रहता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अंश वाले सत्त्व, रज्, तम् ये तीनों गुण ज्ञानात्मक शिव और ज्योतिनिर्गुण आत्मारूप में जब प्रकृति में प्रविष्ट होता हूँ, तब सगुण कहलाता हूँ, ब्रह्मा, विष्णु एवं रूद्र आदि सगुण विषय है अर्थात् इन रूपों में मैं प्रकट होकर निर्माण आदि कार्य करता हूँ। मेरे अंशभूत धर्म, शेष, सूर्य और कलानिधान चन्द्रमा विषयी कहे गये है। इसी मुनिगण,

---

[1] कर्मणा जायन्ते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते।

संखं दुःखं भयं शांकं कर्मणा च प्रपद्यते।। - ब्र० वै० कृ० खं० ७४/६

मनुवृन्द और देवलोग मेरे कलाश हैं। मैं समस्त रेहों में व्याप्त हूँ, किन्तु समस्त कर्मो में भी मैं लिप्त नहीं होता। मेरा भक्त भी जीवन्मुक्त और जन्म-मरण एव जरा का अपहर्त्ता होता है[१]।

श्रुति में कहा है कि- "निश्चय ही यह जीव पुण्य-कर्म से पुण्यशील होता है पुण्ययोनि में जन्म पाता है और पाप कर्म से पापशील होता है- पापयोनि में जन्म ग्रहण करता है[२]।" उस जीव के द्वारा किये हुए कर्मो में से जिनका फल भोगने के लिये उसे स्वर्गलोक में भेजा गया है उन पुण्यकर्मो का पूर्णतया क्षय हो जाने पर वह स्वर्गस्थ जीवात्मा अनुशय से अर्थात् शेष कर्मसस्कारों से युक्त होकर जिस मार्ग से गया था, उसी से अथवा किसी दूसरे प्रकार लौट आता है।[३] अच्छे आचरण वाले जीव अच्छी योनि को प्राप्त होते हैं और बुरे आचरणों वाले बुरी योनियों को प्राप्त होते हैं।[४] "जो वर्णाश्रमी मनुष्य अपने कर्मो से स्थित रहने वाले है वे यहाँ से स्वर्गलोक में जाकर वहा कर्मो का फल भोगकर बचे हुए कर्मो के अनुसार अच्छे जन्म, कुल, रूप आदि को प्राप्त होते हैं।[५]"

आत्मा उस सत्ता को कहा गया है जो चैतन्य का आधार है। इसलिये कहा गया है कि आत्मा वह द्रव्य है जो ज्ञान का आधार है। वस्तुत. वैशेषिक ने दो प्रकार की आत्माओं को माना है[६]-

(१) जीवात्मा

(२) परमात्मा

जीवात्मा की चेतना सीमित है जबकि परमात्मा की चेतना असीमित है। जीवात्मा अनेक है जबकि परमात्मा एक है। परमात्मा ईश्वर का ही दूसरा नाम है।

वैशेषिक के मतानुसार ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म अधर्म इत्यादि आत्मा के विशेष गुण है। जीवात्मा अनेक है। जितने शरीर है, उतनी ही जीवात्मा होती है। प्रत्येक जीवात्मा में मन का निवास होता है जिसके कारण इनकी विशिष्टता विद्यमान रहती है। आत्मा की अनेकता को वैशेषिक ने

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० ७८/२७-३०

२ "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन।" बृह० उ० ३/२/१३

[3] ब्रह्मसूत्र ३/१/८

[4] छा० उ० ५/१०/७

[५] गौतमस्मृति ११/१

[6] वैशेषिक दर्शन

जीवात्माओं की अवस्थाओं में भिन्नता के आधार पर सिद्ध किया है। इन्होंने आत्मा को अमर माना है यह अनादि और अनन्त है।

प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ आधार होता है, चैतन्य एक गुण है। इस गुण का आश्रय शरीर, मन और इन्द्रिय नहीं हो सकता अत इस गुण का आश्रय आत्मा है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप गुण नहीं है अपितु यह इसका आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव तब होता है जब आत्मा का सम्पर्क शरीर इन्द्रियों और मन से होता है। साख्ययोग के मतानुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है। जिस प्रकार कुल्हाड़ी का व्यवहार करने के लिए एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ऑख, कान, नाक आदि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने वाला भी कोई होना चाहिए। वहीं आत्मा है।

प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दु ख की अनुभूति होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुख, दु ख किसी सत्ता के विशेष गुण हैं। सुख-दु.ख, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, दिक् और काल के गुण नहीं हैं। अत सुख-दु.ख आत्मा के ही विशेष गुण हैं।

परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है ईश्वर की चेतना असीमित है जबकि जीव की चेतना सीमित है वह पूर्ण है वह दयावान् है। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है। ईश्वर ने वेद की रचना की है। ईश्वर जीवात्मा को उनके कर्मो के अनुरूप सुख-दुःख प्रदान करता है। विश्व को कार्य मानकर इसके कारण की व्याख्या के लिये ईश्वर की स्थापना हुई है।

वह आत्मा की शक्तिरूपा और समस्त जगत् की श्रेष्ठ जननी है। त्रिशूल, शक्ति, धनुष, खड्ग, बाण, शख, चक्र, गदा, पहन अक्षमाला, कमण्डलु, वज्र, अकुश, पाश, भुशुण्डी, दण्ड, तोमर, नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र रौद्रास्त्र तथा गान्धर्वास्त्र,- इन सब को हाथों में धारण किये वह सती भगवान् कृष्ण के सामने महालक्ष्मी खड़ी होकर बोली।[1]

आत्मा को मीमासा-दर्शन में एक द्रव्य माना गया है जो चैतन्य गुण का आधार है, चेतना आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु गुण हैं चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है। आत्मा स्वभावत. अचेतन है। आत्मा का सम्पर्क जब मन, इन्द्रियों से होता है तब आत्मा में चैतन्य उदय

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ३/७४-७६

होता है। सुषुप्ति की अवस्था में उक्त सयोग का अभाव रहता हैं जिसका फल यह होता है कि आत्मा ज्ञान से शून्य हो जाती है इसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी विशेष गुणों से रहित हो जाती है। यही कारण है कि मोक्षावस्था में आत्मा चेतन-शून्य हो जाती है। आत्मा को यह अमर मानती है, आत्मा की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है। आत्मा बुद्धि और इन्द्रियों से पृथक् है। आत्मा नित्य है, जबकि बुद्धि और इन्द्रिय अनित्य है, आत्मा विज्ञान सतान से पृथक् है। वह विज्ञानों का ज्ञाता है जबकि विज्ञान स्वय को जानने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त विज्ञान-सतान को स्मृति नहीं हो सकती, जबकि आत्मा स्मृति का कर्त्ता है। आत्मा को शरीर से भिन्न कहा गया है, क्योंकि शरीर कभी ज्ञाता नहीं हो सकता

आत्मा स्वय प्रकाशमान् है इसलिये आत्मा को 'आत्मज्योति' कहा गया हैं। आत्मा कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है।मीमासा का आत्म-सम्बन्धी विचार जैन दर्शन के आत्म विचार के समान ही है। जैमिनि ने आत्मा के अस्तित्त्व को प्रमाणित करने के लिए तर्क नहीं दिया है। उन्होंने कर्म का फल भोगने के लिये नित्य आत्मा के अस्तित्त्व को मान लिया है। मीमांसा मानती है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा शरीर को त्यागकर परलोक में अपने कर्मो का फल-सुख-दुःख पाने के लिए विचरण करती है।

आत्मा अनेक है वह धर्म और अधर्म की भिन्नता के कारण आत्मा को अनेक माना गया है। आत्मा के सुख-दु.ख भी इसी कारण अलग-अलग है। आत्मा के विभिन्न गुण माने गये है जो- सुख-दु.ख इच्छा, प्रयत्न, द्वेष, धर्म, अधर्म, सस्कार, और बुद्धि नाम वाले है। आत्मा ज्ञाता है और ज्ञाता के रूप में वह प्रकाशित होती है। प्रत्येक ज्ञान में त्रिपुटी अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान को प्रकाशित करने की क्षमता है।

अद्वैत वेदान्त का केन्द्रगत सम्प्रत्यय आत्मा या ब्रह्म है। इनके अनुसार केवल ब्रह्म या आत्मा ही तात्त्विक पदार्थ है। श्रुतियों में कहा गया है कि- यह सम्पूर्ण चराचर जगत् निश्चय ही ब्रह्म है; क्योंकि यह उसी से उत्पन्न हुआ है, स्थिति के समय उसी में चेष्टा करता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। साधक को राग-द्वेष रहित शान्त चित्त होकर इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। अर्थात् ऐसा ही निश्चयात्मक भाव धारण करना चाहिए; क्योंकि यह मनुष्य संकल्पमय है। इस लोक में यह जैसे सकल्प से युक्त होता है; यहां से चले जाने पर परलोक में यह वैसा ही बन जाता है। इस मन्त्र में उसी परब्रह्म की उपासना करने को कहा गया है; जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति

और प्रलय होते है तो जो समस्त वेदान्त वाक्यों में जगत् के महाकारण रूप से प्रसिद्ध है। अत इससे सिद्ध होता है कि उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है, दूसरा नहीं।[1] यह उपास्यदेव मनोमय, प्राणरूप शरीरवाला, प्रकाशस्वरूप सत्य-सकल्प, आकाश के सदृश व्यापक, सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता, पूर्णकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणीरहित तथा सम्भ्रमशून्य है। 'ब्रह्म' को 'मनोमय' तथा 'प्राणरूप शरीरवाला कहना भी अनुचित नहीं क्योंकि वह सबका अन्तर्यामी आत्मा है। केनोपनिषद् में उसे 'मन' का भी 'मन' और 'प्राण' का भी 'प्राण' बताया गया है इसलिये उपास्यदेव परब्रह्म परमेश्वर ही हैं।

उपासना के लिये श्रुति मे जो सत्यसकल्पता, सर्वव्यापकता, सर्वात्मकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण हैं वे जीवात्मा में नहीं पाये जाते; इस कारण इस प्रसग में बताया हुआ उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है।[2] उक्त प्रकरण में उपास्य देव को प्राप्ति क्रिया का कर्म अर्थात् प्राप्त होने योग्य कहा है और जीवात्मा को प्राप्ति क्रिया का कर्त्ता अर्थात् उस ब्रह्म को प्राप्त करने वाला बताया है। इसलिये जीवात्मा उपास्य नहीं हो सकता।[3] तात्पर्य यह है कि 'सर्वकर्मा' आदि विशेषणों से युक्त ब्रह्म ही मेरे हृदय में रहने वाला ब्रह्म ही मेरी आत्मा है। मरने के बाद यहाँ से जाकर परलोक में मै इसी को प्राप्त होऊँगा। इस प्रकार यहाँ पूर्वोक्त उपास्य देव को प्राप्त होने योग्य तथा जीवात्मा को उसे पाने वाला कहा गया है। अत यहा उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा है और उपासक जीवात्मा। यही मानना उचित है। (उपास्य और उपासक के लिये) शब्द का भेद होने के कारण भी (यह सिद्ध होता है कि यहा उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है)।

श्रीमद्भगवद्गीता आदि स्मृति ग्रन्थ से भी उपास्य और उपासक का भेद सिद्ध होता है जैसे- मुझमें मन को लगा, और मुझमें ही बुद्धि को लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी सशय नहीं है[4] और जो पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को

---

[1] छा० उ० ३/१४/१

[2] ब्रह्मसूत्र १/२/२

[3] कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च - ब्रह्मसूत्र- १/२/४

[4] मरूयेव मन आधस्व मयिबुद्धि निवेशय। निवसिष्यसि गय्येव अत ऊर्ध्वंन सशय।। गीता - १२/८

त्यागकर जाता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है इसमें कुछ भी सशय नही है।[1] अत इसमें उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है। परब्रह्म परमेश्वर भी सबके हृदय में बुद्धिरूप गुफा के भीतर छिपा है। वह अन्नमय स्थूल शरीर है इसको पुरुष के नाम से कहकर उसके अगों की तुलना पक्षी के अगों से की गयी है। क्रमश एक का दूसरे को अन्तरात्मा बताते हुए प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष का वर्णन किया गया है। साथ ही प्रत्येक का आत्मा एक ही तत्त्व को निश्चित किया गया इससे यह ज्ञान होता है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्व के भीतर दृष्टि ले जाकर उस एक ही अन्तरात्मा को लक्ष्य कराया गया है। वहा विज्ञानमय-जीवात्मा का वर्णन करके उसका भी अन्तरात्मा आनन्दमय को बताया गया है। अन्त में सबका अन्तरात्मा आनन्दमय को कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

आत्मा शब्द का प्रयोग तो अधिकतर प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का ही वाचक है। श्रुति के अनुसार[2] आत्मा शब्द को ब्रह्म का वाचक माना गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में -'उसने इच्छा की कि मै बहुत हो जाऊँ।[3] इस श्रुति वाक्य द्वारा उस आनन्दमय आत्मा से समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। अत. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यहा 'आत्मा' शब्द परमात्मा का ही वाचक है और आनन्दमय नाम भी उस परब्रह्म का ही है।

श्रुति यह भी कहती है कि एक को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है, यह तभी सम्भव है जब एकमात्र ब्रह्म ही, जो जगत् का कारण है, सत् पदार्थ हो। छान्दोग्य के छठे अध्याय में अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए, आरुणि ने कहा कि कारण को जान लेने वाला होता है उसके समस्त कार्य जान लिये जाते हैं; क्योकि कार्य नामरूप मात्र है। अद्वैत वेदान्त ब्रह्म अथवा आत्मा को प्रमाणों का विषय नहीं मानता, वह उसे ज्ञान का विषय भी नही मानता। यह सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि 'प्रमाण' शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है- वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय का मापन किया जाता है अथवा जिसके द्वारा ज्ञेय को सीमित या परिच्छिन्न किया जाता है चूँकि आत्मा अपरिच्छिन्न है, इसलिये उसे प्रमाणों अथवा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता।

---

[1] गीता - ८/५

[2] ऐ० उ० १/१/१

[3] 'सोऽकामयत बहुस्याम्'- तै० उ०

उपनिषदों में जगह-जगह ब्रह्म या आत्मा का वर्णन है। ब्रह्म को अपरोक्ष या साक्षात्कार-रूप कहा गया है अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है, उसको मुझे समझाये।[1] इसके उत्तर में कहा है कि 'जो तेरी अन्तरात्मा है, वहीं सबकी अन्तरात्मा है। जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु सबसे अतीत है।'[2] इसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है। अद्वैत मत में आत्मा चैतन्य-रूप है, चैतन्य उसका गुण मात्र नहीं है। अद्वैत का ब्रह्म साख्य के पुरुष के समान है।'

दिशाओं की भाँति आत्मा, आकाश और काल नित्य है एव विश्व-गोल तथा गोलोक धाम नित्य है।[3] उसके एक प्रदेश के लम्बे भाग में स्थित वैकुण्ठ भी नित्य है। उसी प्रकार ब्रह्म में लीन रहने वाली सनातनी प्रकृति भी नित्य है। जिस प्रकार अग्नि में दाहिकता शक्ति, चन्द्र और कमल में शोभा तथा सूर्य में प्रभा निरन्तर युक्त रहती है कभी भिन्न नहीं होती। उसी प्रकार परमात्मा में प्रकृति नित्य विराजमान रहती है।

कृष्ण भक्तिहीन पुरुष का जीवन व्यर्थ है, क्योंकि वह जिस आत्मा से जीवित रहता है वह उसी को नहीं मानता।[4] शरीर में जब तक आत्मा रहती है तब तक शक्तियों से उसका सयोग होता है और आत्मा के चले जाने पर शक्तिया भी चली जाती हैं क्योंकि शक्तियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। प्रकृति से परे रहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही कर्मो के बीजरूप, उसके फलदाता और कर्मरूप हैं एव वही कर्मो हेतु रूप भी हैं, वे सदैव वर्तमान रहते हैं, अत. उन्हीं के द्वारा कर्म की प्राप्ति होती है। कर्मो के फल का भोक्ता जीव है और आत्मा उससे निर्लिप्त रहता है।[5] आत्मा का प्रतिबिम्ब ही देही और जीव कहलाता है। पांच भूतों के नश्वर रूप को देह कहते हैं। भगवान् के सृष्टि विधान में पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज यही सृष्टि के सूत्र हैं। देही (जीवात्मा) कर्ता, भोक्ता है और आत्मा

---

[1] यत् साक्षाद परोक्षाद् ब्रह्म। ब्र० उ० ३/४/१

[2] वही ३/५/१

[3] नित्यात्मा च नभो नित्य कालो दिशो यथा।

विश्वेषा गोलोक नित्य नित्यों गोलोक एव च।। - ब्र० वै० प्र० ख० २/५

[4] ब्र० वै०प्र० ख० ३/३७

[5] ब्र० वै०प्र० ख० २५/१३

(परमात्मा) भोजयिता (भोग करने वाला) है। अनेक भाँति के विभव भोग हैं तथा उनसे पृथक् होने को मुक्ति कहते हैं।

इस स्वप्रकाशित चेतना (चित्) और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। यह 'चित्' ही आत्मा है जो सारी अनुभूतियों का केन्द्र है। यह आत्मा सारी वस्तुओं को प्रकाशित करती है। यह स्वय किसी ज्ञान का विषय नहीं है। किसी को भी अपनी आत्मा के होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता सारी ज्ञान वृत्तियों में आत्मा का बोध निश्चित रूप से उपस्थित रहता है। जिसे हम आत्मा का बोध कहते हैं। वह सासारिक दृष्टि से आत्मा का 'अहम्' रूप का बोध मात्र है। यह अहम् ही हमारे नश्वर शरीर में आत्मरूप में जाना जाता है। शुद्ध चेतन महान् आत्मा सारे विश्व में एकरूपेण स्थित है, यह सर्वव्यापक विश्वात्मा के रूप में अवस्थित है जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सासारिक अनुभूतियों का विषय बनती है तो यह जीवात्मा कहलाती है। यह जीवात्मा ही सारे सासारिक अनुभवों को अनुभूति-चेतना के रूप में ग्रहण करता है परन्तु यह आत्मा का केवल शरीर स्थित रूप है। जिस प्रकार 'ईश्वर' ब्रह्म अथवा परम आत्मा का प्रकृत रूप हैं। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो माया के साथ सारे संसार का निर्माण कर उसमें स्थित है।

आत्मा दृश्य नहीं है, न अस्त्रों का ही लक्ष्य है वह न तो वध के योग्य है और न दृश्य ही है। उसे अग्नि जला नहीं सकती है। वह हिसा करने योग्य भी नहीं है ऐसा अध्यात्मवादियों का कहना[1] है। कृष्ण की देह जो दिखाई पड़ती है वह भक्तों के ध्यानार्थ है। ज्योति स्वरूप एव व्यापक परमात्मा का आदि, मध्य, और अन्त नहीं है। जिस समय निखिल ब्रह्माण्ड जल में विलीन हो जाता है, उस समय भगवान् जनार्दन जल में शयन करते है। जिसके नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते है, उस ईश्वर को एक साधारण कुण्ड में क्या विपत्ति घेर सकती है?[2]

ब्रह्मा बोले- मैं उस सर्वस्वरूप, सबके ईश, समस्त कारणों के कारण, सबके लिये अनिर्वचनीय, जो नये मेघ के समान श्यामल श्याम-सुन्दर शरीर, सभी जीवों में स्थित रहने पर भी

---

[1] नाऽऽत्मा दृश्यो नास्त्रलक्ष्वो च बध्यो न हि दृश्यक। नाग्निग्रस्तो न हिस्यश्चापदिमाध्यत्मिका बिन्दु।। ब्र० वै० कृ० ख० १६/१५७

[2] ब्र० वै० कृ० ख० -१६/१५८

निर्लिप्त, साक्षीरूप अपने आत्मा में रमण करने वाले, पूर्णक्रम, जगत् में व्याप्त और जगत् से परे रहने वाले, सबके स्वरूप, सबके बीजरूप, सनातन सर्वाधार, सर्वश्रेष्ठ समस्त शक्ति सम्पन्न, सबके अराध्य देव, सबके गुरू, समस्त मगलों के कारण, सम्पूर्ण मन्त्र स्वरूप, समस्त सम्पत्तिकारी, शक्ति समेत और रहित भी है; उन स्वेच्छामय एव व्यापक भगवान् की मै स्तुति करता हूँ।[१]

वह शक्ति के ईश, शक्ति के बीज, शक्ति रूपधारी, श्रेष्ठ, घोर ससार सागर में शक्तिरूपी नौका से युक्त, कृपालु, भक्त वत्सल और कर्णधार की मैं स्तुति कर रहा हूँ।[२] आत्मस्वरूप, एकान्त, लिप्त, निर्लिप्त, सगुण एव निर्गुण ब्रह्म तथा स्वेच्छामय की मै स्तुति करता हूँ। क्षण में तेज स्वरूप, निराकार, निरजन, निर्लिप्त, निरीह और परमात्मस्वरूप, अनेक रूपधारी उन स्वेच्छामय को देखकर हिमालय के नेत्र प्रेमवश सजल हो गये और वह उन्हें बार-बार प्रणाम करने लगा।[३] वहीं भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा है, पुरुषों में श्रेष्ठ हैं कठिनाई से आराधना करने योग्य, अत्यन्त साध्य, सभी के आराध्य, सुखदायक, अपने भक्तों के लिए साध्य, अभक्त के लिए बिल्कुल असाध्य, अपने भक्त को निरन्तर दिखायी देने वाले और अभक्त को कभी न दिखायी देने वाले हैं।[४] उनका चरित कार्य और हृदय दुर्ज्ञेय (समझ में न आने योग्य) हैं। उनकी अपार शक्ति वाली माया से समस्त प्राणी बधे और मोहित है।[५]

इसी प्रकार गुरु विष्णु, गुरु, ब्रह्मा, गुरु महेश्वर देव, गुरु धर्म, गुरु शेष और गुरु ही सबकी आत्मा एव निर्गुण स्वरूप है। समस्त तीर्थो के आश्रय एव समस्त वेदस्वरूप होने के कारण वह स्वय गुरु रूप में साक्षात् भगवान् है।[६] गुरु से बढकर न तो आत्मा प्रिय है, न पुत्र प्रिय है, न धन प्रिय है और न स्त्री ही प्रिय है, गुरु से बढ़कर न धर्म प्रिय है, न तप प्रिय है, न सत्य प्रिय है और न गुरु से बढकर कोई पुण्य ही है।

---

1 ब्र० वै० कृ० ख० -२०/३७-४१

2 ब्र० वै० कृ० ख० -२०/४२-४४

3 ब्र० वै० कृ० ख० -४०/१०३-१०५

4 ब्र० वै० कृ० ख० -५५/१-२

5 दुर्ज्ञेय तस्य चरित कार्य हृदयमेव च। बद्धस्तन्मायया सर्वे मोहिताश्च दुरन्तया।। ब्र० वै० कृ० ख० -५५/३

6 ब्र० वै० कृ० ख० -५६/१५१-१५२

श्रीकृष्ण ने नारद से कहा- मैं (सबकी) आत्मा और भक्तों के ध्यान के अनुरोध से नित्य देह धारण करने वाला हूँ। जितने प्राकृतिक (प्रकृति-उत्पन्न) हैं, वे प्राकृत के लय होने पर नष्ट हो जाते हैं। केवल मैं ही सृष्टि के पहले और पश्चात् भी रहता हूँ, जिस प्रकार दूध और उसकी धवलता पृथक् नहीं रहती है, उसी भाँति हम और तुम हैं। इस प्रकार प्राणियों की देहों में निरन्तर स्थित रहते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं और कर्मियों के कर्मो के शुद्ध साक्षी और अविनाशी विभु (व्यापक परमात्मा) है, अत मैं तुम्हारी स्तुति क्या करूँ? क्योंकि तुम रूप-रहित, गुणशून्य एव निर्गुण हो।[1]

---

[1] देहेषु देहिना शश्वत्सिति निर्लिप्तमेव च। कर्मिणा कर्मणा शुद्ध साक्षिण साक्षात् विभुषा।।

कि स्तौमि रूपशून्य च गुणशून्य च निर्गुणम्।। - ब्र० वै० कृ० ख० -१००/२०

अध्याय ६

"जीव स्वरूप"

अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव कहा जाता है।[1] अर्थात् उन्हीं का प्रतिबिम्ब जीव है। मन, ज्ञान, चेतना, प्राण, इन्द्रियाँ, बुद्धि मेघा, घृति और स्मृति। यहाँ तत्प्रतिबिम्बक इस शब्द में तत् चिद्रूप परमात्मा का बोधक है। क्योंकि इसके पूर्व हृदिस्थ[2] अर्थात् हृदय में अन्तर्यामी आत्मा रूप से विराजमान हमारे स्वामी सर्वेश्वर परमात्मा को नहीं जानते, यह आश्चर्य की बात हैं। देहधरियों की देह से परमात्मा के निकल जाने पर देह गिर जाती है और सभी सूक्ष्म इन्द्रिय वर्ग एव प्राण उनके पीछे उसी तरह निकल जाते हैं जैसे राजा के पीछे उसके सेवक जाते हैं वे परमात्मा जब जाने को उद्यत होते हैं। तब उनकी शक्ति आगे-आगे जाती है उपर्युक्त सभी भाव तथा शक्ति उन्हीं परमात्मा के आज्ञापालक हैं। देह में उनके रहने पर ही प्राणी सभी कार्य करने में समर्थ होता है, और उनके चले जाने पर शरीर अस्पृश्य और त्याज्य शव हो जाता है ऐसे सर्वेश्वर शिव को कौन देहधारी नहीं मानता है?

वेदान्त दर्शन में व्यष्टि अविद्या में चैतन्य के आभास या प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्बवादी विवरण का जीव माना है। इसे ही 'आभासवाद' या 'प्रतिबिम्बवाद' कहा जाता है। अर्थात् जो लोग जीवात्मा को उस परब्रह्म का अंश नहीं मानते, सब जीवों को अलग-अलग स्वतन्त्र मानते है उन्होंने अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिये युक्ति-प्रमाण दिये है; वे सबके सब आभासमात्र है;[3] अत उनका कथन ठीक नही है जीवात्माओं को परमात्मा का अंश मानना ही युक्तिसगत है, क्योंकि ऐसा मानने पर ही समस्त श्रुतियों के वर्णन की एकवाक्यता हो सकती हैं। परब्रह्म परमेश्वर को श्रुति में अखण्ड और अवयवरहित बताया गया है इसलिये उसका अंश नहीं हो सकता। फिर भी जो जीवों को उस परमात्मा का अश कहा जाता है, वह अशाशिभाव वास्तविक नहीं है; घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से प्रतीत होता है। 'अदृष्ट' अर्थात् जन्मान्तर में किये हुए कर्मफलभोग की कोई नियम

---

[1] जीवस्तत्प्रतिनिम्बश्च मनोज्ञान च चेतना। प्राणश्चेन्द्रियवर्गाश्च बुद्धिर्मेधा धृति स्मृति ।। ब्र० वै० ब्र० ख० १७/२६

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० १७/२४-२५

[3] 'आभासा एव च' - ब्रह्मसूत्र २/३/५०

व्यवस्था नहीं हो सकेगी;[1] इसलिये (उपाधि के निमित्त से जीवों को परमात्मा का अश मानना युक्तिसगत नहीं है।) तात्पर्य यह है कि जीवों को परमात्मा का अश न मानकर अलग-अलग स्वतन्त्र मानने से तथा घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से जीवगण को परमात्मा का अश मानने से भी जीवों के कर्मफल-भोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी; क्योंकि यदि जीवों को अलग-अलग स्वतन्त्र मानते है तो उनके कर्मफल भोग की व्यवस्था कौन करेगा? जीवात्मा स्वय अपने कर्मो का विभाग करके ऐसा नियम बना ले कि अमुक कार्य का अमुक फल मुझे अमुक प्रकार से भोगना है तो यह सम्भव नहीं है।

कर्म जड़ है, अत वे भी अपने फल का भोग कराने की व्यवस्था स्वय नहीं कर सकते। यदि ऐसा माने कि एक ही परमात्मा घटाकाश की भाँति अनादि सिद्ध शरीरादि की उपाधियों के निमित्त से नाना जीवों के रूप में प्रतीत हो रहा है तो भी उन जीवों के कर्मफल भोग की व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का भेद वास्तविक न होने के कारण समस्त जीवों के कर्मो का विभाग करना, उनके भोगने वाले जीवों का विभाग करना तथा परमात्मा को उन सबसे अलग रहकर उनके कर्मफलों का व्यवस्थापक मानना सम्भव न होगा। अत श्रुति के कथनानुसार यह मानना ठीक है कि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर ही सबके कर्मफलों की यथायोग्यव्यवस्था करता है तब सब जीव उसी से प्रकट होते हैं इसलिये पिता-पुत्र की भाँति उसके अश है।

कूटस्थ में कल्पित हुई बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिम्ब है, वहीं जीव कहलाता है।[2] सभी प्राणों का धारक होने से उसकी 'जीव' सज्ञा होती है। वही ससार के जाल में फँस जाता है। प्रतिबिम्ब का तात्पर्य यहाँ चिदाभास से है। घटाकाश के आश्रित, जल से भरे हुए घट में महाकाश के प्रतिबिम्ब के समान ही कूटस्थ में कल्पित स्थूल शरीर में विद्यमान अविद्याश में प्रतीयमान चेतन का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है और उसी चिदाभास को 'जीव' कहते हैं। यदि कहा जाय कि जीव से भिन्न होने पर भी यह कूटस्थ प्रतीत क्यों नहीं होता? तो इसका उत्तर है कि जलाकाश से घटाकाश के

---

[1] 'अदृष्टानियमात् - ब्रह्मसूत्र २/३/५१

[2] "कूटस्थे कल्पिता बुद्धिरतत्र चित्प्रतिबिम्बित।
प्राणाना धारणाज्जीव ससारेण सा युज्यते।। पचदीप चित्रदीप- २३

आवृत्त रहने के समान ही कूटस्थ भी जीव से घिरा रहता है। इसी तिरोहित भाव को 'अन्योन्याध्यास' कहते हैं।

वह तत्वों का सारभूत, अज्ञानी-अन्धे के नेत्र और द्वैध भ्रमरूपी अन्धकार का नाशक अत्यन्त प्रज्ज्वलित प्रदीप है।[1] सनातन परब्रह्म परमात्मस्वरूप है। वह समस्त देहों में स्थित और जीवों के कर्मो का साक्षी है। (सभी जीवों के) पाचों प्राण स्वय विष्णु, मन, प्रजापति, ब्रह्मा, समस्त ज्ञानस्वरूप मै (शिव) और ईश्वरी प्रकृति शक्ति हैं। राजा के अनुचरों की भॉति हम सभी परमात्मा के अधीन है। शरीर में उसके स्थित रहने पर हम (महादेव) लोग स्थित रहते हैं। और उस परम् (महान) के चले जाने पर चले जाते हैं।[2] जीव उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब है और कर्मो का भोग करता है। जैसे जलपूर्ण घट में सूर्य-चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है और घट के फूट जाने पर वह प्रतिबिम्ब चन्द्रमा और सूर्य में विलीन हो जाता है, उसी भॉति प्रलय के समय जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। समस्त सगीत की सन्धि तथा ताल का कारण उसी का रूप है।

प्रत्येक विश्व में जीवों के लिये वह विषय, ज्ञान और वाणी रूपा है, उसके बिना विश्व-समूह सदा मूक एव मृतक तुल्य है, उसका एक हाथ व्याख्या की मुद्रा में उठा रहता है। वह शतरूपा है तथा हाथ मे वीणा और पुस्तक धारण किये रहती है।[3]

आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है जबकि जीव की व्यावहारिक सत्ता है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है तब वह जीव हो जाता है। आत्मा एक है जबकि जीव भिन्न-भिन्न शरीरों से अलग-अलग हैं इससे सिद्ध होता है कि जीव अनेक हैं। जितने व्यक्ति विशेष हैं उतने जीव हैं। जब आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या में पड़ता है तब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव आत्मा का आभासमात्र है। जीव ससार के कर्मो में भाग लेता है। इसलिये उसे कर्त्ता कहा जाता है, वह विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है; इसलिये उसे ज्ञाता कहा जाता है। सुख-दु.ख की अनुभूति जीव को होती है, वह कर्म-नियम के अधीन है। अपने कर्मो का फल प्रत्येक जीव को भोगना पड़ता है। शुभ और अशुभ कर्मो के कारण वह पुण्य और पाप का भागी होता है।

---

[1] सारभूत च तत्त्वानामज्ञानान्धकलोचनम्। द्वैधभ्रम तमो ध्वस सुप्रकृष्ट प्रदीपकम्।। ब्र० वे० ब्र० ख० २८/११

[2] आत्माधीनावय सर्वे थितेतस्मिन्वय स्थिता। गते गताश्च परमेनरदेवमिवानुगा।। ब्र० वै० ब्र० ख- २८/१४

[3] ब्र० वै० प्र० ख० १/३४-३५

शकर ने आत्मा को मुक्त माना है परन्तु जीव इसके विपरीत बन्धन-ग्रस्त हैं। अपने प्रयासों से जीव मोक्ष को अपना सकता है। जीव को अमर माना गया है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जीव आत्मा में लीन हो जाता है। एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखाई देती है। जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, मठाकाश इत्यादि में दीख पडता है; उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दीख पडती है। जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है। उसके तीन शरीर है। वे है-स्थूल शरीर, लिग शरीर और कारण शरीर जीव शरीर और प्राण का आधारस्वरूप है। जब आत्मा का अज्ञान के वशीभूत होकर बुद्धि से सम्बन्ध होता है तब आत्मा जीव का स्थान ग्रहण करती है। जब तक जीव में ज्ञान का उदय नहीं होगा वह अपने को बुद्धि से भिन्न नहीं समझ सकती है। इसलिये शंकर ने इस सम्बन्ध का नाश करने के लिये ज्ञान पर बल दिया है।

"ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध"

ब्रह्म और जीव वस्तुत. अभिन्न है। जिस प्रकार अग्नि से निकली हुई विभिन्न चिनगारियॉ अग्नि से अभिन्न है उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। रामानुज के मतानुसार जीव ब्रह्म का अश है परन्तु शंकर को यह मता मान्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। बल्लभ के अनुसार जीव ब्रह्म का विकार है। परन्तु शकर को यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविकारी या अपरिणामी है। जीव न आत्मा से भिन्न न आत्मा का अश है। न आत्मा का विकार है बल्कि स्वतः आत्मा है। यदि जीव को ब्रह्म या आत्मा से भिन्न माना जाय तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता है, क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्मता की सम्भावना नहीं सोची जा सकती है।

जीव और ब्रह्म के बीच जो भेद दीख पडता है वह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों का भेद उपाधि के द्वारा निर्मित है। दोनों का भेद व्यावहारिक है। सच तो यह है कि जीव और ब्रह्म में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। शकर का यह कथन कि 'तत्त्वमसि'[1] अर्थात् 'वह ब्रह्म तू है' इत्यादि वचनों द्वारा उस परमात्मा को अपने से अभिन्न मानकर उसकी उपासना करने के लिये उपदेश दिया गया है। फिर उसी को भोक्ता, भोग्य आदि से युक्ति इस विचित्र जड़चेतनात्मक जगत्

[1] तत्त्वमसि - छा० उ० ६/८/७

का स्रष्टा, सचालक तथा जीवों के कर्मफल भोग एव बन्ध मोक्ष की व्यवस्था करने वाला कहा गया है। जीव समुदाय तथा उनके कर्म सस्कारों को अनादि बताकर उनकी उत्पत्ति का निषेध किया गया है। इन सब प्रसगों पर विचार करने से यहीं सिद्ध होता है कि जीव-समुदाय चैतन्य जाति के कारण तो परस्पर एक या अभिन्न है, परन्तु विभिन्न कर्म-सस्कार जनित सीमित व्यक्तित्व के कारण भिन्न-भिन्न है। प्रलयकाल में सब जीव ब्रह्म में विलीन होते हैं, सृष्टि के समय पुन उसी से प्रकट होते है तथा ब्रह्म की ही परा प्रकृति के अन्तर्गत होने से उसी के अश है, इसलिये तो वे परमात्मा से अभिन्न कहलाते हैं और परमात्मा उनका नियामक है तथा समस्त जीव उनके नियम्य है, इस कारण वे उस ब्रह्म से भी भिन्न हैं। यह आत्मा और जीव की अभिन्नता को प्रमाणित करता है।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये शकर प्रति-बिम्बवाद का प्रतिपादन करते है। जिसप्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न-भिन्न सतहों पर पडता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दीख पडता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार प्रकार में दीख पड़ता है। शंकर प्रतिबिम्बवाद की कठिनाइयों से अवगत होकर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये दूसरे सिद्धान्त का सहारा लेता है। जिस प्रकार एक ही आकाश, जो सर्वव्यापी है, उपाधि भेद से अनेक जीवों के रूप में आभाषित होता है। इस सिद्धान्त को 'अवच्छेदवाद' कहा जाता है। यह सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद की अपेक्षा अधिक सगत है। इससे सिद्ध होता है कि जीव सीमित होने के बावजूद ब्रह्म से अभिन्न है। जो लोग दोनों सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो पाते, उन्हें शकर यह कहता है कि जीव अपरिवर्तनशील ब्रह्म है जो अपने स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है।

जब ब्रह्म का माया से सम्बन्ध होता है तब वह ईश्वर हो जाता है। जब ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध होता है तब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों ब्रह्म के विवर्त हैं। ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से दोनों असत्य प्रतीत होते है। जिस प्रकार आग की सभी चिनगारियों में ताप पाया जाता है। वैसे ही शुद्ध चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों में पाया जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि जीव और ईश्वर एक दूसरे के निकट है। "यदि ईश्वर ब्रह्म है और यदि जीव भी आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म के समान है तो ईश्वर

तथा जीव के मध्य का भेद बहुत न्यून हो जाता है।"[1] इन समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ विभिन्नताएँ है-

ईश्वर मुक्त है, जबकि जीव बन्धनग्रस्त है। ईश्वर अकर्त्ता है जबकि जीव कर्त्ता है, ईश्वर उपासना का विषय है जबकि जीव उपासक है। ईश्वर जीवों के कर्मो के अनुसार सुख-दु ख प्रदान करता है। वह कर्मफलदाता है। जीव कर्मो का फल भोगता है, क्योंकि वह कर्म नियम के अधीन है परन्तु ईश्वर कर्म-नियम से स्वतन्त्र है। ईश्वर पाप-पुण्य से ऊपर है क्योंकि वह पूर्ण है। ईश्वर जीव का शासन है जबकि जीव शासित है। जीव ईश्वर के अशों की तरह है। यद्यपि ईश्वर निरावयव है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और अविद्या से शून्य है जबकि जीव अविद्या के वशीभूत तुच्छ तथा कमजोर है।

शकर ने जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को बताने के लिये श्रुति का सहारा लिया है- "दो पक्षी निरन्तर साथ रहते हैं तथा एक दूसरे के अति निकट हैं, एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा बिना खाये सिर्फ देखा करता है। पहला जीव है जबकि दूसरा ईश्वर है। जीव भोगता है जबकि ईश्वर द्रष्टा है। ईश्वर जीव को भोग कराता है। जीव कर्त्ता है ईश्वर नियन्ता है।[2]

प्रकृति से परे रहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही कर्मो के बीजरूप, उसके फलदाता और कर्मरूप है। वहीं कर्मा के हेतुरूप भी हैं। वे सदैव वर्तमान रहते हैं। अत उन्हीं के द्वारा कर्म की प्राप्ति होती है। कर्मो के फल का भोक्ता जीव है और आत्मा उससे निर्लिप्त रहता है। आत्मा का प्रतिबिम्ब ही देही और जीव कहलाता है। पाच भूतों के नश्वर रूप को देह कहते हैं।[3] भगवान् के सृष्टि विधान में पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज यही सृष्टि के सूत्र है देही (जीवात्मा), कर्त्ता , भोक्ता है और आत्मा (परमात्मा) भोजयिता (भोग कराने वाला) है। अनेक भाँति के विभव भोग हैं तथा उनसे पृथक् होने को मुक्ति कहते हैं। सत् असत् भेद का बीजरूप ज्ञान अनेक प्रकार का होता है। घट, पट, आदि विषय तथा उनका भेदज्ञान के भेद में कारण कहा गया है। विवेचनमयी शक्ति को बुद्धि कहते है। वेद में ज्ञानबीज नाम से इसकी प्रसिद्धि है। वायु के ही विभिन्न रूप प्राण है। इन्हीं के प्रभाव से

---

[1] डा० राधाकृष्णन्।
[2] मुण्डकोपनिषद्
[3] ब्र० वै० प्र० ख - २५/१३-१४

प्राणियों के शरीर में शक्ति का सचार होता है। जो इन्द्रियों में प्रमुख, परमात्मा का अश, सशयात्मक, कर्मों के प्रेरक, प्राणियों के लिये दुर्निवार्य, अनिरूप्य, अदृश्य तथा बुद्धि का एक भेद है, उसे 'मन' कहा गया है। यह शरीरधारियों का अग तथा सम्पूर्ण कर्मो का प्रेरक हैं। यहीं इन्द्रियों को विषयों में लगाकार दु खी बनाने का कारण शत्रु रूप हो जाता है। और सत्कार्य में लगाकर सुखी बनाने के कारण मित्र रूप है। ऑख, कान, नाक, त्वचा, और जिह्व आदि इन्द्रियॉं हैं। सूर्य वायु और पृथिवी एव वाणी आदि इन्द्रियों के देवता है। प्राण और देह आदि के धारण करने वाले को 'जीव' कहते है।[1] जीव भले कर्मो द्वारा अनेक भॉति का स्वर्ग प्राप्त करता है और कुकर्मो द्वारा अनेक भॉति के नरक।[2] नरकों के अनेक भॉति के कुण्ड हैं, वे विस्तृत, गम्भीर (अथाह), जीवों को दु ख देने वाले, घोर, भयकर एव कुत्सित है। जो लोभवश अपने पालन के लिये किसी अन्य 'जीव' का हनन करता है, वह लाख वर्ष तक मज्जा के कुण्ड में वही खाकर पडा रहता है। अन्त में सात जन्मों तक वह शशक (खरगोश), मछली, मृग आदि योनियों में उत्पन्न होकर दु खानुभव करता है। इसके उपरान्त उसकी निश्चित शुद्धि हो जाती है।[3]

जो दॉंतों से काटकर या लोहे द्वारा जीवों को मारता है, वह दश सहस्त्र वर्ष तक दन्तु कुण्ड में रहता है, अन्त में अपने कुल में उत्पन्न होकर व्याधि-पीड़ित रहता है। इस प्रकार उसी एक जन्म में कष्टों को भोगकर पुन शुद्ध हो जाता है।[4] भारत में जो निष्करुण और अतिभीषण नरघाती मनुष्य खड्गों द्वारा जीवों को मारता है तथा धन के लोभ से मनुष्य की हत्या करता है वह चौदह इन्द्रों के समय तक असिपत्र नामक नरक में रहता है। यदि वह ब्राह्मणों की हत्या किये रहता है तो सौ मन्वन्तरों के समय तक उस नरक में निवास करता है।[5] जो विनाशशील और इसी लोक मे भस्म हो जाती है पुन भोगने के लिये पुरुषाकार यह जीव वृद्धागुष्ठ के बराबर 'सूक्ष्म देह' धारण करता

---

1 सूर्योवायुश्च पृथिवी वाण्याद्या देवता स्मृता।
प्राण-देहादिभृद्यों हि सा जीव परिकीर्तित ।। ब्र० वै० प्र० ख० २५/२२

2 नाना प्रकार स्वर्ग च याति जीव सुकर्मणा। कुकर्मणा च नरक याति नानाविध नर।। ब्र० वै० प्र० ख० २६/३

3 ब्र० वै० प्र० ख० ३०/३१-३२

4 वहीं - ३०/५६-५७

5 ब्र० वै० प्र० ख ३०/१२१, १२२

है।[1] वसा (चर्बी) के रस से भरा, चार कोष का विस्तृत, अति असह्य एव चर्बी ,खाने वाले पापियों से आच्छन्न वसाकुण्ड है जहा पापी जीव दूतों द्वारा नित्य तड़ित होते हैं।[2]

जीवित और चेतन होने के कारण जीव कहलाता है। जीवों की सख्या अनन्त है। बीजजाग्रत, जाग्रत, महाजाग्रत, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत तथा सुषुप्त कहकर जीव की सात अवस्थाए बतायी गयी है। इन्हीं अवस्थाओं के कारण जीव भी सात प्रकार के होते हैं। वे हैं- स्वप्नजागर, सकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, धनजागर, जाग्रत्स्वप्न और क्षीणजागर। ससार के सब जीवों को १५ जातियों में विभक्त किया गया है। जीव अनादि और अनन्त है। जिस प्रकार हिलते हुऐ जल से लहरों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सभी जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा से होती है।

योगवसिष्ठ के मन में ब्रह्म के साथ तादात्म्य बताया गया है। मन और ब्रह्म को दो अलग वस्तुए नहीं माना गया हैं ब्रह्म ही जब मन का आकार धारण करता है तो मन की भी अनन्त अपार शक्तियॉ हो जाती है। मन जगत् का बीजस्वरूप है और वह जगत् का निर्माण करने वाला है। अत मन ही स्वय पुरुष कहलाता है। मन स्वतन्त्र रूप से शरीर की रचना करता है। मन के शान्त होने पर ही जीव आनन्द का अनुभव करता है। शुद्ध मन मे ही आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। मन का अज्ञान ही जीव का संसार-रूपी अन्धकार है। चित्त की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यानामक चार आवस्थाए हैं।

आत्मा और शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे दोंनों अन्धकार और चॉदनी के समान दो विलक्षण पदार्थ हैं आत्मा शरीर की जनन, मरण आदि अवस्थाओं से परे है। एक शरीर को छोडकर जीव दूसरे शरीर को धारण करता है जबतक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक जीव जन्म-मरण के चक्र में पडा रहता है। आत्मा के लिये जीवन और मरण नहीं है।

जीवात्मा ईश्वर तथा जड़ पदार्थो से बिल्कुल भिन्न तथा परस्पर भिन्न, अनेक अणुरूप, नित्य, कर्त्ता, भोक्ता, रूपवानृ, जन्म-मरण वाला होता है। यह निरवयव तत्त्व है, शरीर के सयोग-वियोग से जन्म-मरण को प्राप्त होता है। स्वरूपतः यह पूर्णज्ञान सम्पन्न होता है, किन्तु धर्म और अधर्म के कारण प्रकट नहीं होता। ईश्वराधीन होने पर भी धर्माधर्म के सचय में स्वतन्त्र है, ऐसा मत

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ३२/२६

[2] वसारसेन पूर्ण च कोशतुर्य सुदु सहम् तद्भोजिभि पातकिभिर्व्याप्त दूतैश्च ताडितै ।। ब्र० वै० प्र० ख० - ३३/१७

मध्व-वेदान्त में सर्वमान्य प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वान कहते है कि कर्तृत्त्व, भोक्तृत्व आदि धर्म यदि जीव के है तो वह अवश्य ही अज्ञान का आश्रम होगा।

अन्य वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों की भाँति मध्व-जीव को अणु-रूप, किन्तु ज्ञान गुण द्वारा विभु-रूप बताते हैं। जिस प्रकार चन्दन की सुगन्ध या दीपक का प्रकाश है, उसी प्रकार जीव का गुण है "जिस प्रकार एक देश में लगाया हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुण से सब जगह फैल जाता है।, वैसे ही एक देश में स्थित आत्मा विज्ञानरूप गुण द्वारा समस्त शरीर को व्याप्त करके सुख-दु खादि का ज्ञाता हो जाता है अत कोई विरोध नहीं हैं।"[1] अर्थात् जीव को अणु मान लेने पर उसको शरीर के प्रत्येक देश में होने वाली पीड़ा का ज्ञान होना, युक्ति विरूद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि जिस प्रकार किसी एक देश में लगाया हुआ या मकान में किसी एक जगह रखा हुआ चन्दन अपने गन्ध रूप गुण से सब जगह फैल जाता है, वैसे ही शरीर के भीतर एक जगह हृदय में स्थित हुआ जीवात्मा अपने विज्ञानरूप गुण के द्वारा समस्त शरीर में फैल जाता है और सभी अंगों में होने वाले सुख-दु खों को जान सकता है।

जीव का कर्म और स्वतन्त्रता ईश्वर की इच्छा के बिना सम्भव नहीं है। ईश्वर ही पूर्णस्वतन्त्र, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीवों के अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर ही सब कुछ कराता है। अत अविद्या आदि से मुक्ति के लिये ईश्वर की अनुकम्पा आवश्यक हैं सुख-दु.ख का अनुभव करने वाला यह जीव ईश्वर से भिन्न है, किन्तु उसका अंश है।[2] स्वरूपत. एव सहज रूप में चैतन्य गुण से युक्त है, भूतों के सम्पर्क में वह प्रकट हो जाता है अतः ज्ञान स्वरूप और ज्ञाता है। जीव आनन्द-स्वरूप भी है ये सभी स्वरूपगत गुण अविद्या के आवरण से आच्छन्न रहते हैं। जीव का ज्ञान आनन्द आदि गुण ईश्वर के समान है, तथापि दोनों बिल्कुल भिन्न तत्त्व हैं जीव अप्राकृत देह से युक्त होता है, अत. एक विशेष प्रकार का देहात्मवाद माध्व सम्प्रदाय को मान्य है।

जीव की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर माध्व कहते हैं कि उपाधि की उत्पत्ति और सम्पर्क के कारण जीव एक विशेष रूप में आविर्भूत होकर सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करता है। जीव की ये उपाधिया १. स्वरूपोपाधि और २. ब्राह्योपाधि भेद से दो प्रकार की है। स्वरूपोपाधि तो जीव से अलग

---

[1] अविरोधश्चन्दनवत् - ब्रह्सूत्र - १/३/२३

[2] "तत्सम्बन्धित्वमेव तदशत्वमिति वक्ष्याम।" - तत्त्वप्रकाशिका, पृ० - १२१

नहीं है, किन्तु वाह्य उपाधियों-सूक्ष्म और स्थूल शरीर तथा मानस तत्त्व आदि हैं। स्वरूपोपाधि जो जीव का विशेष ही है, परमेश्वर से उसका भेद करने का कारण है। जीव ईश्वर का अश भी है जो प्रतिबिम्बवाद पर आधारित है। प्रतिबिम्ब सोपाधिक और अनुपाधिक दो प्रकार का है। जीव ब्रह्म का अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है। जीव को अविद्या का आश्रय कहा गया है यह अविद्या ज्ञान का निषेध परन्तु भावरूप है।[1] और चार प्रकार की है। जीवाच्छादिका- जीव के चैतन्य और आनन्दस्वरूप का आवरण करती है। परमाच्छादिका- जीव को परमात्मा के स्वरूप को जानने से रोकती है। शैवला-जगत् के बधन में जीव कों बाधती है। माया-मायिक कार्यो की सृष्टि करती है।

सम्पत्ति से मतवाला, अत्यन्त मूढ तथा मदमत्त व्यक्ति चेतना से युक्त तथा बान्धवों से घिरा होने पर भी बन्धुओं से द्वेष करता है।[2] सम्पत्ति रूपी मद (नशे) से महामत्त प्राणी (सदैव) विषयों (भोगों) से अन्धा, व्याकुल, महाकामी तथा साहसिक होने से सात्त्विक मार्ग को नहीं देखता है। राजस् और तामस् भेद से विषयान्ध प्राणी दो प्रकार के होते हैं, जिनमें तामस शास्त्रज्ञान से रहित और राजस् शास्त्रज्ञ होते हैं। शास्त्र में जीवों के लिये दो प्रकार के मार्ग बताये गये हैं जिनमें पहला प्रवृत्तिमार्ग का बीज (कारण) है और दूसरा उससे परे निवृत्ति मार्ग का। जीव समूह सर्वप्रथम दु:खपूर्ण प्रवृत्ति मार्ग में, जो स्वच्छन्द, प्रसन्नतारहित और निर्बाध है, निरन्तर भ्रमण करता है। यह (प्रवृत्ति मार्ग) आपात मधुर होते हुए भी दु खमय है। जीव लोभवश उसी दुःख को सुख मान लेता है, जिसका परिणाम उत्पत्ति का कारण होता है, और इसीलिये इसे जन्म, मृत्यु एव जरा का कर्त्ता कहते हैं। अपने कर्मानुसार विविध योनियों में क्रमशः जीववृन्द घूमा करते है। इस प्रकार अनेक जन्म पर्यन्त भ्रमण करते हुए सहस्त्रों सैकडो में किसी एक मनुष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से सत्सग की प्राप्ति होती है, जो इस ससारसागर को पार करने का एक मात्र कारण होता है।[3] क्योकि सज्जन लोग सत्त्वरूपी दीपक से मुक्ति का मार्ग दिखा देते हैं और तभी यह जीव अपने (कर्म) बन्धन को काटने के लिये यत्न करता हैऔर अनन्तर अनेक जन्म के योगाभ्यास, तप एव अनशन करने के द्वारा वह परम सुखदायकमुक्ति-मार्ग को निर्विघ्न प्राप्त करता है।

---

[1] "न वय भावरूपाज्ञानस्य परिपन्थिन।" न्याय सुधा पृ० ६३

[2] सपन्मत्त सुमूढश्च सुरामत्त सचेतन।
बान्धवैर्वेष्टित सोऽपि बन्धुद्वेषकरो मुने।। ब्र० वै० प्र० ख ३६/५०

[3] ब्र० वै० प्र० ख -३६/५६-५७

दान, तप, व्रत और अनशन आदि कर्मो से जीवों कों स्वर्ग-भोगादि सुख प्राप्त होते है। अत सम्प्रति काम्य कर्मो के मूल कारण का नाश तुम प्रयत्नपूर्वक करो क्योकि सकल्परहित कर्म करना ही मोक्ष का कारण है। इसलिये सकल्परहित जितने सात्त्विक कर्म किये जाते हैं, उन्हें कृष्णार्पण कर देने पर व्यक्ति परब्रह्म में हीन हो जाता है। सासारी जीवों के लिये यही निर्वाण मोक्ष कहा गया है। जिसे वैष्णव लोग नहीं चाहते हैं, क्योंकि वे सेवा वियोग को ही दु.ख मानते हैं।[1] धर्म का विषर्यय होने पर (उस) प्राणी को जन्म तथा यम-यातना का भय प्राप्त होता है। जीवों के लिये जन्म दु ख तथा अतिभीषण यम-यातना कही गयी है। इस प्रकार देवता, सूकर तथा पशु आदि छोटे जीवों को गर्भ-दु ख समान ही प्राप्त होता है। गर्भ में रहकर सभी जीव अपने सैकडो जन्मों के किये गये कर्मो का स्मरण करते हैं और पुन· गर्भ से निकलकर भगवान् विष्णु की माया के कारण वे उसे भूल जाते है। देव हो या छोटा कीड़ा हो सभी अपनी देह की सप्रयत्ना करते हैं।[2]

समस्त तत्वों के वेत्ता उस जीव का छठे मास में सचार होता है जो पिजड़े में पक्षी की भाँति दु खी होकर अति संकुचित स्थान में स्थित रहता है। उस अपवित्र स्थान में स्थित रहकर वह जीव माता के भोजन अन्न-पान को खाता है और (असह्य दु.ख के कारण) 'हाय-हाय' शब्द करते हुए प्रतिक्षण उस परमेश्वर का चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार शेष चार मास उस परम यातना का अनुभव करके समय पर वायु द्वारा प्रेरित होकर गर्भ से बाहर निकलता हैं। दिशा, देश और काल में अविच्छिन्न उस जीव को उसी समय भगवान् विष्णु की माया से (पूर्व) ज्ञान विस्मृत हो जाता है। इस भाँति निरन्तर विष्ठा-मूत्र में लिपटे रहकर वह जीव अपनी शैशवावस्था तक निरा बच्चा रहता है।[3] पराधीन रहने के कारण वह मच्छर आदि को भगाने में असमर्थ रहता है; कीड़ों आदि के काटने पर केवल बार-बार रुदन करता है। दुग्धपान करते हुए भी वह अपनी अभिलषित की याचना करने में असमर्थ रहता है। क्योंकि पौगण्डावस्था तक उसकी वाणी अति स्फुट (साफ) नहीं निकलती है।

इस प्रकार पौगण्डावस्था तक यातनाओं का भोग करता हुआ वह युवावस्था प्राप्त करता है। जिसमें वह जीव गर्भादि के दुखों का स्मरण भी माया से परवश होने के कारण कभी नहीं कर पाता

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख ३६/६८-७०

[2] गर्भे स्मरन्ति सर्वे ते कर्म जन्मशतोद्भवम्।
विस्मरेन्निर्गतो जीवों गर्भा द्वै विष्णु मायया स्वदेह पाति यत्नेन सुरो वा कीट एव वा।। ब्र० वै० प्र० ख - ३६/१२६

[3] ब्र० वै० प्र० ख० - ३६/१४१

है।[1] जब वह अत्यन्त वृद्ध, अति बधिर, खासी और श्वास आदि के रोगों से युक्त और अत्यन्त मूढ के समान पराधीन हो जाता है, उस बीच फिर निरन्तर (अपने किये पर) अनुताप करता रहता है, और कहता भी है कि मैने भगवान् के तीर्थो की सेवा कभी नहीं की और कभी सत्सग भी नहीं किया। इस प्रकार केवल मान में सोचविचार करते हुए उस जड़ जीव को अवसर के प्राप्त होते अतिभीषण यम-दूत पकड लेते हैं।

वह उन यम-दूतों को उस समय देखता भी है, जो हाथ में फॉस और दण्ड लिये अतिकोष के कारण रक्त नेत्र तथा विकृत आकार के दिखायी देते हैं। वे यमदूत उपायों द्वारा न रोकने योग्य बलवान् एव भयकर होते है। उनके दर्शन अति दु खप्रद होते हैं। वे समस्त सिद्धियों के ज्ञाता एव अदृश्य होकर (प्राणी के) सामने ही स्थित रहते हैं। उस समय जीव उन्हे देखते ही महाभयभीत होकर विष्ठा-मूत्र करने लगता है। इसके अनन्तर इस पाच भौतिक शरीर और प्राणों के त्याग करते समय यमदूत उस अँगूठे मात्र आकार वाले पुरुष को पकड़कर भोग देह (सूक्ष्मदेह) में रख देते हैं और शीघ्रता से उसे अपने स्थान ले जाते हैं। इसके अनन्तर जीव वहाँ पहुँचकर यम को देखता है, जो समस्त धर्मो का ज्ञाता, रत्नरवचितसिहासनासीन, मन्द मुस्कान करते हुए परम सुस्थिर रहते है। पुण्यात्माओं के लिये शान्तरूप, और पापियों के लिये भयकर रूप में रहते हैं। ऐसे यम को देखकर जीव उन्हें प्रमाण करता है और महाभयभीत होते हुए वहा स्थित रहता है।[2]

इसके उपरान्त चित्रगुप्त के विचार से जिस जीव का जैसा शुभ और अशुभ कर्म रहता है उसे वैसा ही उचित फल (दण्ड) सूर्य पुत्र (यम) प्रदान करते है। इस प्रकार गमनागमन बने रहने के कारण जीवों को कभी उससे निवृत्ति नही मिलती है क्योकि, निवृत्ति का एकमात्र हेतु तो भगवान् श्रीकृष्ण की चरणसेवा है।[3]

जिस सत्ता को अन्य भारतीय दर्शनों में साधारणतया आत्मा कहा गया है, उसी को जैन दर्शन में 'जीव' की सज्ञा दी गयी है। वस्तुतः जीव और आत्मा एक ही सत्ता के दो भिन्न-भिन्न नाम है। चेतन द्रव्य को जीव कहा जाता है। चैतन्य जीव का मूल लक्षण है। यह जीव में सर्वदा वर्त्तमान

---

[1] वहीं ३६/१४४

[2] ब्र० वै० प्र० ख० ३६/१६१

[3] एव तेषा गतायाते निवृत्तिर्नास्ति जीविनाम्।
निवृत्ति हेतुरूप च श्रीकृष्ण पद सेवनम्।। ब्र० वै० प्र० ख० - ३६/१६३

रहता है। चैतन्य के अभाव में जीव की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है। इसलिये जीव की परिभाषा इन शब्दों में दी गयी है। 'चेतना-लक्षणो जीव.'। जैन का जीव सम्बन्धी यह विचार न्याय-वैशेषिक के आत्मा-विचार से भिन्न है। चैतन्य जीव में सर्वदा अनुभूति रहने के कारण जीव को प्रकाशमान माना जाता है। वह अपने आप को प्रकाशित करता है। तथा वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है।

जीव नित्य है। जीव की यह विशेषता शरीर में नहीं पायी जाती है, क्योंकि शरीर नाशवान् है। जीव और शरीर में इस विभिन्नता के अतिरिक्त दूसरी विभिन्नता यह है कि जीव आकार विहीन है जबकि शरीर आकाशयुक्त है। जीव की अनेक विशेषताएँ हैं- जीव ज्ञाता है, वह भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु स्वय ज्ञान का विषय कभी नहीं होता। जीव कर्त्ता है। वह सासारिक कर्मों में भाग लेता है कर्म करने मे वह पूर्णत स्वतन्त्र है। वह शुभ और अशुभ कर्म से स्वय अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है। जैन का जीव सम्बन्धी यह विचार साख्य के आत्मा सम्बन्धी विचार से विरोधात्मक सम्बन्ध रखता हुआ प्रतीत होता है। साख्य ने आत्मा को अकर्त्ता कहा है।

जीव भोक्ता है, जीव अपने कर्मों का फल स्वय भोगने के कारण सुख और दु ख की अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। जैनों के अनुसार जीव स्वभावत· अनन्त है। जीव में चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं; जिन्हें अनन्त चतुष्टय कहा जाता है- ये है- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त सुख। जब जीव बन्धन-ग्रस्त हो जाते हैं। तो उनके ये गुण अभिभूत हो जाते हैं जीव की इन विशेषताओं के अतिरिक्त प्रमुख विशेषता यह है कि जीव अमूर्त होने के बावजूद मूर्ति ग्रहण कर लेता है इसलिये जीव को अस्तिकाय द्रव्यों के वर्ग में रखा गया है। जीव के इस स्वरूप की तुलना प्रकाश से की गयी है। प्रकाश का कोइ आकार नहीं होता; फिर भी वह जिस कमरे को आलोकित करता है, उसके आकार के अनुसार भी प्रकाश का कुछ-न-कुछ आकार अवश्य हो जाता है।

जीव भी प्रकाश की तरह जिस शरीर में निवास करता है, उसके आकार के अनुसार आकार ग्रहण कर लेता है। शरीर के आकार में अन्तर होने के कारण आत्मा के भी भिन्न-भिन्न आकार हो जाते है। हाथी में निवास करने वाली आत्मा का रूप 'बृहत्' है। इसके विपरीत चींटी में व्याप्त आत्मा का रूप सूक्ष्म हैं। जैनों के आत्मा का यह स्वरूप देकार्त के आत्मा के स्वरूप से भिन्न है। देकार्त के

मतानुसार विचार ही आत्मा का ऐकान्तिक गुण है। उनके ऐसा मानने का कारण यह है कि उन्होंने आत्मा को चिन्तशील प्राणी कहा है।

जैनों का यह मत कि आत्मा का विस्तार सम्भव है, अन्य दार्शनिकों को भी मान्य है। इस विचार को प्लेटो और अलेक्जेण्डर ने भी अपनाया है। जीव के विस्तार और जड़-द्रव्य के विस्तार में भेद है। जीव का विस्तार शरीर को घेरता नहीं है बल्कि यह शरीर के समस्त भाग में अनुभव होता है। इसके विपरीत जड-द्रव्य स्थान को घेरता है जहा पर एक जड-द्रव्य का निवास है, वहा पर दूसरे जड-द्रव्यों का प्रवेश पाना असम्भव है परन्तु जिस स्थान में एक जीव है वहा दूसरे जीव का भी समावेश हो सकता है। जैसे "दो दीपक एक कमरे को आलोकित करते हैं, उसी प्रकार दो आत्माएँ एक ही शरीर में निवास कर सकती हैं।

चार्वाक दर्शन में आत्मा और शरीर को अभिन्न माना गया है, चार्वाक चैतन्य को मानता है, परन्तु चैतन्य को वह शरीर का गुण मानता है। जैन दर्शन आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं इसलिये वह चार्वाक के आत्म-सम्बन्धी विचार का खण्डन करता है।

चार्वाक का कहना है कि शरीर से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। यदि शरीर ही चैतन्य का कारण होता, तब शरीर के साथ-ही-साथ चैतन्य का भी अस्तित्व रहता। परन्तु ऐसी बात नहीं पायी जाती है। मूर्च्छा, मृत्यु, निद्रा इत्यादि के समय शरीर विद्यमान रहता है; परन्तु चैतन्य कहाँ चला जाता है? अतः शरीर को चैतन्य का कारण मानना भ्रामक है। यदि चैतन्य शरीर का गुण होता तब शारीरिक परिवर्तन के साथ-ही-साथ चैतन्य में भी परिवर्तन होता। लम्बे और मोटे शरीर में चेतना की मात्रा अधिक होती और नाटे तथा दुबले शरीर मे चेतना की मात्रा कम होती। परन्तु ऐसा नहीं होता है जिससे प्रमाणित होता है कि चेतना शरीर का गुण नहीं है।

जीव अनेक है। जीव की अनेकता में विश्वास करने के फलस्वरूप जैन दर्शन 'अनेकात्मवाद' का समर्थक है। जैनों के अतिरिक्त न्याय और साख्य दर्शनों ने भी अनेकात्मवाद को अपनाया है। जर्मन दार्शनिक लाइबनीज भी चिद्‌बिन्दु को जो आत्मा का प्रतिरूप है, अनेक माना है।

जैन दर्शन के अनुसार सर्वप्रथम जीव के दों प्रकार हैं- बद्ध और मुक्त। मुक्त जीव उन आत्माओं को कहा जाता है जिन्होंने मोक्षकों प्राप्त किया है। बद्ध जीव इसके विपरीत उन आत्माओं को कहा जाता है जो बन्धनग्रस्त हैं। बद्ध जीव इसके विपरीत उन आत्माओं को कहा जाता है जो

बन्धन ग्रस्त हैं। बद्ध जीव का विभाजन फिर दो प्रकार के जीवों में किया गया है वे है- 'स्थावर' और 'त्रस'। स्थावर जीव गतिहीन जीवों को कहा जाता है। ये जीव पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि और वनस्पति में निवास करते हैं। इनके पास सिर्फ एक ही ज्ञानेन्द्रिय है-स्पर्श की। इसलिये इन्हे ऐकेन्द्रिय जीव भी कहा जाता है। इन्हे केवल स्पर्श का ज्ञान होता है। 'त्रस' जीव वे हैं; जो गतिशील हैं, ये निरन्तर विश्व में भटकते रहते हैं। 'त्रस' जीव विभिन्न प्रकार के होते है। कुछ त्रस जीवों को दो इन्द्रियाँ होती हैं, घोंघा, सीप इत्यादि दो इन्द्रियों वाले जीव हैं। इनकी दो इन्द्रियाँ हे- 'स्पर्श' और 'स्वाद'। इससे ऊपर चींटिया आदि आती हैं। जिनमें स्पर्श और घ्राण और स्वाद तीनों शक्ति होती है। उससे ऊपर मधुमक्खियाँ है जिसमें स्पर्श, घ्राण और स्वाद के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। अन्य जीवधारी प्राणियों में पाच ज्ञानेन्द्रियाँ होती है। ऐसे प्राणियों में मनुष्य और देवता गिने जाते हैं। जिनमें समस्त इन्द्रियाँ तो होती ही है एक आन्तरिक इन्द्रिय और होती है, मन, जिसके कारण वे सज्ञी प्राणी कहे जाते हैं, अन्य पशु आदि प्राणी असज्ञी कहे जाते हैं।

जीव का विभाजन करते हुए जैन चार तत्त्वों, पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि में भी जीव की सत्ता मानते हैं। पार्थिव पदार्थ भी जीवों के ही पिण्ड हैं। इन्हें पार्थिव जीव आदि कहा जा सकता है इन्हें हम प्राथमिक जीव भी कह सकते हैं। वे जीवन पूर्ण कर मर जाते हैं और किसी अन्य प्राथमिक शरीर में पुन जीवित हो उठते हैं। ऐसे प्राथमिक जीव स्थूल भी होते है और सुक्ष्म भी। सूक्ष्म जीव अदृश्य होते है। ऐकेन्द्रिय जीवों के अन्तिम वर्ग में पौधे आते हैं। कुछ पौधों में समस्त कलेवर एक ही जीव का बना होता है। जबकि कुछ ऐसे होते है जो शरीरधारी जीवों के शरीर से बने होते हैं। इनके विभिन्न अवयवों में जीवन के समस्त लक्षण पाये जाते है। जैसे श्वसन क्रिया, वृध्दि की क्रिया, पोषण क्रिया आदि।

एक जीव वाले पौधे स्थूल होते है। वे पृथ्वी के आवासयोग्य भाग में ही पाये जाते हैं। किन्तु उन वृक्षों में भी जो विभिन्न वृक्ष जीवों के समूह से निर्मित होते हैं, कुछ सूक्ष्म जीव हो सकते हैं और अदृश्य हो सकते हैं- ऐसे पौधे समस्त विश्व में व्याप्त हैं। समस्त ब्रह्माण्ड 'निगोड़' नामक सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है। वे अनन्त जीवों के समूह से निर्मित होते हैं। इनमें श्वसन और पोषण क्रिया समान होती है। इन्हें भयकर पीड़ा का अनुभव होता रहता है। समस्त आकाश ऐसे अनन्त जीवों से

ठसाठस भरा हुआ है जैसे चूर्ण के डिब्बे में चूर्ण भरा रहता है। जिन जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उनके स्थान पर इन निगोडो से अन्य जीव आ जाते है।

अनादिकाल से लेकर आजतक जितने जीवों को निर्वाण प्राप्त हुआ है, उन सबकी जगह लेने के लिये केवल एक निगोड के अत्यन्त स्वल्प स्थान से निकले बहुत थोडे से जीव ही पर्याप्त रहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ससार जीवधारी प्राणियों से कभी खाली नहीं हो सकता। निगोडो में से जिन-जिन को विकास की आकाक्षा होती है वे बाहर आकर विभिन्न प्रक्रमों से गुजरते हुए अपना विकास जीवधारी प्राणी के रूप में करते रहते है।

प्राणी जो कर्म स्वय करता है, वहीं कर्म दैव का कारण होता है और मनुष्यों का स्वभाव उसके पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही होता है।[1] इस प्रकार सभी प्राणियों को प्रत्येक जन्म में उसके पूर्व जन्मकृत कर्मानुसार ही सुख-दुख, भय एव शोक होता है। अपना कर्म फलभोगने के लिये जीव सदा सगुण रहता है, और आत्मा भोग करने वाला, साक्षी, निर्गुण और प्रकृति से परे हैं।[2]इसलिये वह आत्मा सभी के सेवन करने योग्य है। वहीं सबकों फल प्रदान करता है, वहीं दैव (भाग्य), स्वभाव और कर्म का सर्जन करता हे। इसलिये मनुष्यों को कर्मानुसार ही लज्जा, प्रशसा और प्रफुल्लता प्राप्त होती है।[3]

---

[1] स्वय च कर्मजनक कर्म वै दैवकारणम्।
स्वभावो जायते नृणा स्वात्मन पूर्वकर्मण ।। ब्र० वै० प्र० ख० ६०/२८

[2] ब्र० वै० प्र० ख० ६०/३०

[3] वहीं ६०/३२

अध्याय ७
'जगत् -स्वरूप'

यह सारा ससार मिथ्या है। यह माया का रूप है। इस मिथ्या ससार का रूप भी अनिश्चित है। यह प्रपच कालापेक्षा से 'सत्' और असत् दोनों ही है। काल की दृष्टि से यह ससार असत् है क्योंकि इसका अस्तित्त्व शाश्वत नहीं है। इसका स्वरूप तब तक ही दिखायी देता है जब तक सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता। सत्य ज्ञान के पश्चात् यह तुच्छ प्रतीत होने लगता है। फिर इसका कोई अस्तित्त्व ही नहीं रहता। यह जगत् प्रपच 'सत्' भी है। यह सत् इस अर्थ में है जब तक मिथ्याज्ञान का अस्तित्त्व है। यह ससार वास्तविक दिखायी देता है। अत अज्ञान के क्षणों तक यह यथार्थ के रूप में प्रतिभाषित होता है। क्योंकि इसकी सत्ता सभी काल में सत्य नहीं है, यह शाश्वत सत्ता नहीं है, अत. यह 'असत्' है। जब यथार्थ को इसके सत्यरूप में जान लिया जाता है तब जो असत्य है उसका स्वयमेव लोप हो जाता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ससार न कभी था, न है, न आगे कभी रहेगा। मिथ्या दृष्टि से जो सत् प्रतीत होता है सत्य दृष्टि से वही भ्रान्ति के रूप में दिखाई देता है। जैसे-शुक्ति में रजत् का आभास होता है तो हम रजत् की सत्ता को सत्य मानकर तदनुसार कर्म करते हैं परन्तु भ्रान्ति-निवारण के साथ ही यह समझ में आ जाता है कि रजत् खड न कभी था न है न रहेगा। ब्रह्मानुभूति के साथ ही ससार की निस्सारता का अनुभव होने लगता है।

ब्रह्म से ही यह सम्पूर्ण जगत् है। सभी प्राणी जगत् से बाहर नहीं हैं। ब्रह्म ही जगत् की रक्षा करते हैं। यह मेरा-तेरा का भाव उन्हीं की माया है। वही सबके स्वामी हैं और ऐसा होना ही अधिक सभव है क्योंकि वहीं सबके कारण है। कर्मवश गन्धर्व मेरे (मालावती) पति हुए और कर्मवश ही मै उनकी पत्नी हुई, किन्तु कर्मभोग के अन्त में वे मुझे छोड़कर कहाँ चले गये?[1] इस जगत् में जितनी स्त्री जातियाँ हैं, उनमें से किसी को भी ब्रह्मा ने ऐसा पति नहीं दिया है। समस्त जगत् के नाथ मै (मालावती) भी जगत् से बाहर नहीं हूँ अत. मेरे कान्त को शीघ्र जीवित कीजिए।[२]

---

[1] गन्धर्व कर्मणा कान्त कान्ताऽह चास्य कर्मणा।
क्व गत कर्मभोगान्ते कुत्र सस्थाप्यमा प्रियाम्।। ब्र० वै० ब्र० ख० १३/४५

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० १३/६१

प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि देवगण, मुनिगण, मनुगण, मानवसमूह और समस्त जीवगण जिनसे उत्पन्न हुए है। जिनके चरणकमल का योगीगण सदैव ध्यान करते है और बुद्धिमान् पुरुष जिन परमात्मा के पवित्र नामों का निरन्तर जप करते हैं।[1] जिनके भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, और जिनकी आज्ञा से ब्रह्मा सृष्टि करते है तथा विष्णु पालन करते हैं। जिनके शासन में शकर जगत् का सहार करते हैं। जिनकी आज्ञा का पालन करने के नाते धर्म कर्मों के साक्षी कहे जाते है। शासन में राशि समूह और समस्त ग्रहगण भ्रमण करते हैं, दिशाओं के अधीश्वर दिक्पाल जिनकी आज्ञा का सतत् पालन करते हैं। जिनकी माया से सहसा माया भी मोहित हो जाती है और जिनके भय से सबकों जन्म देने वाली प्रकृति भीत होकर कार्य करती रहती है वे ही सबके अधीश्वर, काल के काल, मृत्यु के मृत्यु और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं। अत समस्त ससार उन्हीं कृष्ण को जपता रहता है।[२]

जगत् की रचना करने वाले विधाता, सहार करने वाले 'हर' और कर्मो के साक्षी धर्म जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं।[3]जिनकी आज्ञा और भय से काल लोकों का सहार करता है, यम पापियों पर शासन करता है। और मृत्यु सबके समीप पहुचती है। उसी भाँति सर्वेश्वरी सर्वाद्या और सबको उत्पन्न करने वाली प्रकृति भी जिनके सामने भयभीत रहती तथा जिनकी आज्ञा का पालन करती है।(वे ही विष्णु सर्वात्मा और सम्पूर्ण जगत् के रक्षक हैं)।[४]

वह ब्रह्म ही है जिसके बिना इस जगत् के सारे प्राणी शव के समान है। स्वय जगत्सृष्टा ब्रह्मा उस ब्रह्म की सेवा में नियत रूप से लगे रहते हैं। विष्णु और समस्त जगत् के सहर्त्ता शिव भी उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं।

यद्यपि यह सारा ससार और इस वाह्य जगत् की वस्तुएं मायामात्र है, फिर भी वस्तु विशेष के प्रकाश में आने के लिए हमारी चित्त वृत्तिया उस ओर प्रवाहित होनी चाहिए, जिसके द्वारा उस वस्तु से इन्द्रिय सम्पर्क स्थापित होता है। सरल शब्दों में हमारी इन्द्रियॉ उस वस्तु को ग्रहण करती है जिस

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० १५/४४-४५

[2] सर्वेश्वर कालकालो मृत्योर्मृत्यु परात्पर।
सर्वविघ्न विनाशाय त कृष्ण परिचिन्तय।। ब्र० वै० ब्र० ख १५/५४

[3] अह स्रष्टा च जगता विधाता सहरों हर।
धर्मश्च कर्मणा साक्षी यस्याऽऽज्ञा परिपालक।। ब्र० वै० ब्र० ख० १७/१८

[4] ब्र० वै० ब्र० ख० १७/२१

ओर उस क्षण में हमारी वृत्ति का झुकाव होता है। यदि ऐसा ही है तो फिर शका यह उठती है कि हम इन सब वस्तुओं और इस वाह्य जगत् को वास्तविक क्यों नहीं मान लेते। जो वस्तुए हमारी इन्द्रियों के द्वारा स्थूल रूप से ग्रहण की जाती हैं, उनकी सत् स्थिति होनी ही चाहिए।

वेदान्त का कथन है कि ससार की सारी वस्तुएँ सत् का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। सत् है परन्तु यह सारे माया जगत् के अधिष्ठान के रूप में है। इस सत् के ऊपर मायामय आभास की स्थिति है। यह आभास या माया हर समय विद्यमान है। इसके किस अग को क्षण विशेष में दिखायी देना है यह हमारे चित् (चेतना) पर निर्भर करता है।

ब्रह्म ही इस संसार में एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वहीं अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप समझना चाहिए मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी हम किसी सत्य पर नहीं पहुँच सकते। सत्य स्वय अपनी सत्ता से स्थित है, इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नहीं है। माया असत्य है, माया के मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नही होता सत्यज्ञान से ससार की निस्सारता, मिथ्याज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सबका स्वयमेव बोध हो जाता है।

सत्त्वगुण सम्पन्न होने के नाते विष्णु (जगत् के) रक्षक, रजोगुण सम्पन्न ब्रह्मा स्रष्टा और तमोगुण सम्पन्न होने के कारण वे रुद्र दुर्निवार और भयकर हैं।[1] इस ससार के नष्ट हो जाने पर एक वही परब्रह्म शेष रह जाता है, हम सब तथा यह चराचरमय सम्पूर्ण जगत् उसी में विलीन हो जाते है।[2]

संसार के सब पदार्थ कल्पनामय हैं। वस्तुओं में कल्पना के अतिरक्त और कोई द्रव्य नही है। भौतिक वस्तए शशश्रृग के समान असत् हैं। द्रष्टा के भीतर ही दृश्य का उदय होता है। जाग्रत अवस्था और स्वप्न अवस्था में कोई विशेष भेद नहीं है अपितु दोनों में घनिष्ठ समानता है।[3] एक में स्थिर का अनुभव होता है और दूसरे में अस्थिर का। दोनों में वाह्य वस्तु की प्रतीति आदि बातें समान रूप से अनुभव में आती हैं। जगत् का अनुभव स्वप्न के अनुभव के समान है।[4] प्रत्येक जीव

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० २२/२३

[2] एकमेव पर ब्रह्म शेषेवत्स भवक्षये।
वय प्रलीनास्तत्रैव जगदतेच्चराचरम्।। - ब्र० वै० ब्र० ख २८/१७

[3] जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना॥ सम सदैव सर्वत्र समस्तौऽनुभवोऽनयो।। यो० व० ४/१९/११

[4] ष्यत्यकृतमेवेद जगत्स्वप्न कृत तथा। यो० व० ६.२/६२/४४

का जगत् अलग-अलग है। जीव ही इस जगत् की सृष्टि करता है। सभी जीव ब्रह्मा से उत्पन्न होते है। दृश्य जगत् ससृत, महत्तमस, मोह, माया आदि अनेक नामों से कहा गया है। प्रत्येक दृश्य वस्तु स्वय द्रष्टा भी है।

प्रत्येक सृष्टि में भी अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न सृष्टिया है। इन सृष्टियों का सिलसिला निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक जीव को केवल अपनी सृष्टि का ज्ञान होता है। ब्रह्माण्ड की अनेक सृष्टियों का ज्ञान एक दूसरे को नहीं होता। जीव चाहे तो समस्त पदार्थो का अनुभव कर सकता है, क्योंकि ससार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय है। समुद्र की लहरों के समान ब्रह्म में अनन्त जगत् उत्पन्न और लीन भी होते रहते हैं। कल्प के अन्त में दृष्टा के नष्ट हो जाने पर सारा ससार और सारे प्राणी नष्ट हो जाते है।[1] प्रलय-काल में केवल ब्रह्म ही रह जाता है। फिर ससार की सृष्टि उसी ब्रह्मा से होती है। वह ब्रह्म ही स्वय को बाह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। इसी ब्रह्म से आकाशादि भूत-प्रपच और जीव प्रपच की उत्पत्ति होती है।

योगवसिष्ठ के अनुसार जगत् मनोमय है। जगत् को द्रृष्टा से भिन्न मानने पर किसी प्रकार का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ज्ञाता को ज्ञेय का अनुभव भी सम्बन्ध के बिना नही हो सकता। द्रृष्टा और दृश्य दोनों को चैतन्य न मानने पर दार्शनिक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और द्रृष्टा दृश्य को कभी जान नहीं सकता।

वह परमेश्वर ही ब्रह्मा की सृष्टि करते हैं और वे ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करने वाली उस नित्य प्रकृति की रचना करके सृष्टि करते है। परमात्मा विष्णु की शक्ति पद्मा शुद्ध सत्त्वस्वरूपा, समस्त सम्पत्ति स्वरूपा तथा सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी, वह परम सुन्दरी, अनुपम संयमरूपा, भक्तों पर अनुग्रह करना तथा अपने स्वामी श्रीहरि से प्रेम करना उनका स्वभाव है। वह सबकी आदिकारण और पतिव्रता हैं।[2] वही स्वर्ग में स्वर्गलक्ष्मी, राजाओं की राजलक्ष्मी और गृहों में गृहस्थ मनुष्यों की गृहलक्ष्मी हैं। वह सभी प्राणियों और जड़ पदार्थों की शोभा, परम मनोहर, पुण्यात्माओं की प्रीति एव

---

[1] यो० व० ३/१/१०
[2] ब्र० वै० प्र० ख० १/२२

राजाओं की प्रभा हैं। वह विद्युत की चचलता है तथा भक्तों की सम्पत्ति की रक्षा करने वाली है उसके बिना समस्त जगत् जीवित रहते हुए भी मृतक के समान हैं।[1]

वे जगत् के लिये सदा पुत्र-पौत्रदात्री तथा धात्री हैं और अपने पति के समीप सुन्दरी एव रमणीक युवती के रूप में वे सदा विद्यमान रहती हैं। यह वसुन्धरा (पृथ्वी) भी प्रकृति देवी के प्रधान अश से उत्पन्न हुई हैं। सम्पूर्ण जगत् इन्हीं पर ठहरा है। ये सर्वसस्यप्रसूतिका (सकल अन्नों को उत्पन्न करने वाली) कही जाती हैं। ये रत्नों की खान, रत्नों से परिपूर्ण तथा सकल रत्नों की आधार हैं। राजा और प्रजा सभी लोग इनकी पूजा और स्तुति करते हैं। ये सम्पूर्ण सम्पत्ति का विधान करती हैं वे न रहे तो सारा चराचर जगत् कहीं भी नहीं ठहर सकता। वह सुकर्म की पत्नी कीर्ति हैं, जो धान्या, मान्या एव पूज्या हैं। उनके बिना सम्पूर्ण जगत् यशोहीन होने से मृतक की भॉति हो जाता है। क्रिया उद्योग की पत्नी है। इन आदरणीया देवी से सब लोग असहमत हैं। इनके बिना यह समस्त जगत् उच्छिन्न-सा हो जाता है। मिथ्या अधर्म की पत्नी है, धूर्त लोग इस देवी की पूजा करते है। इसके बिना विधि रचित यह सारा जगत् अस्तित्वहीन दिखायी देता है।[2] सुशील की शक्ति और लज्जा ये दो माननीया पत्नियॉ हैं इसके बिना समस्त जगत् उन्मक्त की भॉति दिखायी देता है।

जगत् के विषय में वेदस्तुति का स्पष्ट मत है कि त्रिगुणात्मक जगत् 'मन' की कल्पनामात्र है। वस्तुतः सत्य नहीं है। केवल यही नहीं प्रत्युत परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होने वाला पुरुष भी कल्पनामात्र है। सत्य अधिष्ठान पर आश्रित रहने के कारण ही यह जगत् सत्य सा प्रतीत होता है। यह जगत् आत्मा में ही कल्पित है तथा आत्मा से ही व्याप्त है और इसलिये आत्मज्ञानी लोग इसे आत्मरूप मानते हैं। तथा उसी रूप से (सुवर्ण की तरह) इसका व्यवहार करते हैं। सुवर्ण से बने हुए गहने भी तो अन्तोगत्वा सोना ही है। अतएव इस रूप को जानने वाले पुरुष इसे छोड़ते नहीं। जगत् की भी ठीक यह दशा है।

जगत् की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य हेतु लिया गया है। यह जगत् उत्पत्ति से पहले नहीं था और प्रलय के बाद भी नहीं रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मध्य में भी यह असत् रूप ही है। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, लोहे मे शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं,

---

[1] वही १/२६

[2] ब्र० वै० प्र० ख० १/११६

वास्तव में तो मिट्टी लोहा और सोना ही है, उसी प्रकार परमात्मा में वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या तथा मन की कल्पना है। मूर्ख ही इसे सत्य मानता है, ज्ञानी नहीं। अधिष्ठान की सत्यता से ही आधेय की सत्यता प्रतीत होती है।

भगवान् के ईक्षणमात्र से माया क्षुब्ध होती है और वह विचित्र कर्मों के फल देने के लिये जगत् की सृष्टि करती है। फलत सृष्टि में जो विचित्रता तथा विषयता दृष्टिगोचर होती है। वह कर्मो की विषमता के कारण ही है। जीव नाना प्रकार के कर्मो का सम्पादन करता है और उन कर्मफलों को भोगने के लिये उसे इस सृष्टि के भीतर आना पड़ता है। फलत जगत् के जीवों की वर्तमान दशा उन्हीं के पूर्व कर्मो के फल से जन्य है। सृष्टि-वैषम्य कर्म-वैषम्य जन्म है। भगवान् तो परम् कारूणिक, एक रस और समदृक् हैं। उसमें किसी प्रकार के वैषम्य की कल्पना एकदम निराधार तथा अप्रामाणिक है।

श्रुति ने जिस प्रकार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बतायी है उसी प्रकार निर्विकार रूप से ब्रह्म की स्थिति का भी प्रतिपादन किया है। अत श्रुति प्रमाण से यह मानना ठीक है कि ब्रह्म जगत् का कारण होता हुआ भी निर्विकार रूप से नित्य स्थित है। वह अवयवरहित और निष्क्रिय होते हुए ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के लिये कोई बात असम्भव नहीं है। वह मन, इन्द्रिय आदि से अतीत है, इनका विषय नहीं है। उसकी सिद्धि कोरे तर्क और युक्ति से नहीं होती। उसके लिये तो वेद ही सर्वोपरि निर्भ्रान्त प्रमाण है। वेद ने उसका स्वरूप जैसा बताया है, वैसा ही मानना चाहिए। वेद उस परब्रह्म को अवयव रहित बताने के साथ ही यह भी कहता है कि 'वह सम्पूर्णरूपेण जगत् के आकार में परिणत नहीं होता' यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म के एक पाद में स्थित हैं, शेष अमृतस्वरूप तीन पाद परमधाम में स्थित है।[1] अतः ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में पूर्वोक्त दोष नहीं प्राप्त होते हैं।

अवयवरहित परब्रह्म से इस विचित्र जगत् का उत्पन्न होना असगत नही है,[2] क्योकि स्वप्नावस्था में इस अवयवरहित निर्विकार जीवात्मा से नाना प्रकार की विचित्र सृष्टि होती देखी जाती है; यह सबके अनुभव की बात है। योगी लोग भी स्वय अपने स्वरूप से अविकृत रहते हुए ही

[1] तावानस्य महिमा ततो ज्यायायाश्च पूरुष।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि।। छा० उ० ३/१२/६

[2] ब्र० सू० २/१/२८

अनेक प्रकार की रचना करते हुए देखे जाते हैं जब ऋषि-मुनि आदि विशिष्ट जीव कोटि के लोग भी स्वरूप से अविकृत रहकर विचित्र सृष्टि-निर्माण में समर्थ हो सकते है तब परब्रह्म में ऐसी शक्ति का होना तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विष्णु पुराण में- मुने! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसे सृष्टि आदि का कर्त्ता कैसे माना जा सकता है?[1]

इतना ही नहीं, निरवयव वस्तु से विचित्र सावयव जगत् की सृष्टि साख्यवादी स्वय भी मानते है। इनके अनुसार प्रधान को जगत् का कारण मान लिया जाय तो उसमें भी अनेक दोष आयेगें, क्योंकि वह वेद से तो प्रमाणित है ही नहीं; युक्ति से भी उस अवयव रहित जड प्रधान से इस अवयवयुक्त सजीव जगत् की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है; क्योंकि साख्यवादी भी प्रधान को न तो सीमित मानते है, न सावयव। अत उनके मत में भी प्रधान का जगत्-रूप में परिणत होना स्वीकार करने पर सभी दोष प्राप्त होते है। अत यह ठीक है कि परब्रह्म परमेश्वर ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

ब्रह्म का इस विचित्र जगत् की सृष्टि करने से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह तो पूर्णकाम है। जीवों के लिये भी जगत की रचना करना आवश्यक नही है; क्योंकि परमेश्वर की प्रवृत्ति तो सबका हित करने के लिये ही होनी चाहिए। इस दु.खमय ससार से जीवों को कोई भी सुख मिलता हो ऐसी बात नही हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि परमेश्वर जगत् का कर्ता वहीं है, क्योंकि जगत् में प्रत्येक कार्यकर्ता किसी न किसी प्रयोजन से ही कार्य आरम्भ करता है। बिना किसी प्रयोजन के कोई भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अत. परब्रह्म को जगत् का कर्ता नही मानना चाहिए।

जैसे लोक में देखा जाता है कि जो परमात्मा को प्राप्त हो चुके हैं। जिनका जगत् से अपना कोई स्वार्थ नहीं रह गया है, कर्म करने या न करने से जिनका कोई प्रयोजन नही है, जो आप्तकाम और वीतराग है, ऐसे सिद्ध महापुरूषों द्वारा बिना किसी प्रयोजन के जगत् का हित-साधन करने वाले कर्म स्वभावत. किये जाते हैं; उनके कर्म किसी प्रकार का फल उत्पन्न करने में समर्थ न होने के कारण केवल लीलामात्र ही है। उसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा का भी जगत्-रचना आदि कर्मो से अथवा मनुष्यादि-अवतार-शरीर धारण करके भाँति-भाँति के लोकपावन चरित्र करने से अपना कोई

---

[1] निर्गुणस्या प्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मन।
कथ सर्गादिकर्तृत्व ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते।। वि० पु० १/३/१

प्रयोजन नहीं है तथा इन कर्मों में कर्तापन का अभिमान या असक्ति भी नहीं है; इसलिये उनके कर्म केवल लीलामात्र ही है। इसलिये शास्त्रों में परमेश्वर के कर्मों को दिव्य (अलौकिक) एव निर्मल बताया है। यद्यपि हम लोगों की दृष्टि में ससार की सृष्टिरूप कार्य महान् दुष्कर एव गुरुतर है तथापि परमेश्वर की यह लीलामात्र है; वे अनायास ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की रचना और सहार कर सकते है क्योंकि उनकी शक्ति अनन्त है, इसलिये परमेश्वर के द्वारा बिना प्रयोजन इस जगत् की रचना आदि कार्य का होना उचित ही है। इसका आशय यह है कि भगवान् केवल सकल्पमात्र से बिना किसी परिश्रम के इस विचित्र विश्व की रचना में समर्थ है। उनकी इस अद्भुत शक्ति को देखकर, सुनकर और समझकर भगवदीय सत्ता और उनके गुण-प्रभाव पर श्रद्धा-विश्वास करके उनकी शरण में जाने से मनुष्य अनायास ही चिरशक्ति और भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है। भगवान् सबके सुहृद हैं उनकी एक-एक लीला जगत् के जीवों के उद्धार के लिये होती है। इस प्रकार उनकी दिव्य लीला का रहस्य समझ में आ जाने पर मनुष्य का जगत् में प्रतिक्षण घटित होने वाली घटनाओं के प्रति राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। उसे किसी भी बात से हर्ष या शोक नहीं होता। अत साधक को इस पर विशेष ध्यान देकर भगवान् के भजन चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए।

यहाँ सभी लोक कृत्रिम हैं। कुछ तो ब्रह्माण्ड के भीतर हैं और कुछ बाहर। ब्रह्माण्ड का निवास होने पर इन सबका विनाश हो जाता है। क्योंकि जल के बुलबुले के समान सारा जगत् अनित्य है। इनमें केवल गोलोक और बैकुण्ठ लोक नित्य, अविनाशी और अकृत्रिम है।[1] वह (सरस्वती) ब्रह्मस्वरूपा परमज्योति स्वरूपः सनातनी (नित्या) और समस्त विद्याओं की अधीश्वरी है। जिनके बिना सम्पूर्ण जगत् निरन्तर जीवित रहते हुए भी सदा मृतक के समान है, उन ज्ञानाधिदेवी सरस्वती को मै बार-बार नमस्कार करता हूँ। जिनके बिना समस्त जगत् सदा मूक (गूगे) उन्मत्त की भाँति रहता है। यहा से लेकर ब्रह्मलोक तक यह समस्त चराचर जगत् मुझ (श्रीकृष्ण) से ही उत्पन्न होता है और मै ही सबका अधीश्वर हूँ, ऐसा ज्ञान रखने वाले उत्तम वैष्णव हैं।[2]

प्राकृतिक लय में ब्रह्मा का भी तिरोधान हो जाता है और ईश्वर की इच्छा से उनका पुन आविर्भाव भी होता है। तप के द्वारा उन्हें ज्ञान, बुद्धि और लोक की स्मृति होती है, इसलिये स्रष्टा

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ३/१५-१६

[2] आब्रह्मस्तम्बपर्यनत मत्त सर्वंचारचरम्।
सर्वेषामहमेवेश इतिज्ञा वैष्णवोत्तमा।। ब्र० वै० प्र० ख - १०/५५

(ब्रह्मा) ज्ञान से क्रमश (जगत् की) सृष्टि करते है। सत्ययुग में जो धर्म परिपूर्णतम होकर सदा सत्य के आश्रित रहता है, वह त्रेता में तीन अश से और द्वापर मे दो अश से रहता है। कलि के आरम्भ में वह एक अंश से रहता है, और क्रमश उसका ह्रास होता जाता है। इसलिये अमावस्या के दिन चन्द्रमा की कला की भाँति कलि में केवल धर्म की मात्र एक कला ही शेष रह जाती है। सूर्य का जैसा तेज ग्रीष्म ऋतु में होता है वैसा शिशिर ऋतु में नहीं रहता। दिन में भी जिस प्रकार मध्याह्न में वह रहता है, वैसा साय और प्रात काल में नहीं रहता है।[1] इस प्रकार सूर्य समयानुसार उदय होकर क्रमश· बाल एव प्रचन्ड अवस्था में आकर अन्त में पुन· अस्त हो जाते है। कालक्रम से जब दुर्दिन आता है, तब उन्हें दिन में ही छिप जाना पड़ता है। राहु से ग्रस्त होने पर सूर्य कम्पित होते हैं पुन थोड़ी देर के बाद प्रसन्नता आ जाती है।

उसी भाँति पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस भाँति परिपूर्णतम रहते हैं वैसे नित्य नहीं रहते है- दिन-दिन क्षीण होते रहते है। पुन· दिन-प्रतिदिन बढकर पुष्ट हो जाते है। इस प्रकार शुक्लपक्ष में वे शोभा-सम्पत्ति से युक्त रहते हैं और कृष्णपक्ष में यक्ष्मा रोग से मलिन हो जाते हैं फिर राहु ग्रस्त होने पर तथा बादलों द्वारा घने अन्धकर के फैल जाने पर और दुर्दिन के समय वे मलिन रहते है। और समय पाकर वही चन्द्रमा शुद्ध भी हो जाते है। पुन· कालभेद से उनकी श्री भ्रष्ट भी हो जाती है।[२]

मलयाचल में उत्पन्न, देह की शोभा को बढ़ाने वाला सुखद एवं सुगन्धियुक्त चन्दन, गन्धद्रव्यों से बना हुआ, पुण्यस्वरूप प्रीति तथा दिव्यगन्ध प्रकट करने वाला भक्तिपूर्वक अर्पित कर रहा हूँ। जगत् के लिये दर्शनीय, दृष्टि का सहायक, प्रकाश का कारण तथा अन्धकार-नाश का मूलकारण दीप में आपको अर्पित कर रहा हूँ।[3] अत्यन्त शीतल, सुगन्धित, पिपासा-नाशक और जगत् का प्राणरूप, देह की शोभा का स्वरूप, सभा में शरीर की शोभा का वर्धक, सुवर्ण आदि धातुओं का बना हुआ, शोभासम्पन्न शोभाकारक दो सुखद और पुण्यप्रद भूषण अर्पित कर रहा हूँ । इस प्रकार मूल मंत्र

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० १८/५०

[2] वही १८/५५

[3] जगता दर्शनीय च दर्शन दीप्तिकारणम्।
अन्धकार ध्वसबीज मया तुभ्य निवेदितम्।। ब्र० वै० प्र० ख० २३/६१

द्वारा इन वस्तुओं को अर्पित कर विद्वान् व्रती स्तोत्र का पाठ करे और प्रणाम करके ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करें।

ब्रह्म ही इस ससार में एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वही अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप अलग-अलग है। मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी किसी सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य स्वय अपनी सत्ता से स्थित है इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नहीं है। माया असत्य है, माया के मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नहीं होता। सत्य ज्ञान से ससार की निस्सारता, मिथ्याज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सबका स्वयमेव बोध हो जाता है।

ब्रह्म की सत्ता के लिये किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, ब्रह्म स्वय प्रकाशित (स्वप्रकाश) है। इसका कोई रूप नहीं है। अत यह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। हम जिन वस्तुओं को, भावनाओं आदि को अपने ज्ञान से ग्रहण करते हैं वह 'दृश्य' की सज्ञासे जाना जाता है। 'ब्रह्म' स्वय 'दृश्य' न होकर 'द्रष्टा' है। चित् वृत्ति के क्षेत्र में आकर सारी वस्तुए हमारे सज्ञान द्वारा ग्राह्य होती हैं। कोई भी पदार्थ स्वय अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता। जब हम अपनी चित्तवृत्ति को वस्तु विशेष की ओर केन्द्रित करते हैं तो वह हमारे ज्ञान का विषय बन जाती है। ब्रह्म को भी जबतक हम उपनिषदों में वर्णित विषय के रूप में देखते हैं, हम इसे इसी प्रकार जानते हैं। परन्तु जब वह अपने सत्य स्वरूप में देखा जाता है तो वह साधारण वस्तुओं से पृथक् दिखाई देता है। अपने शुद्ध स्वरूप में वह निराकार, निर्गुण, स्वप्रकाशी एव द्रष्टा के रूप में स्थित है। ब्रह्म का कोई रूप नहीं है।

'दृश्यता' की कल्पना में 'जड़त्व' की भावना निहित है जिसे हम देखते हैं, उसका भौतिक आधार होना चाहिए। इस जडत्व से निश्चित है कि वह वस्तु स्वय प्रकाशित नहीं है, यह उसका अनात्मत्व है, इसमें ही उसका अज्ञानत्त्व निहित है। अर्थात् हमारे ज्ञान क्षेत्र के सारे पदार्थ जड़ एव किसी अन्य ज्ञान से प्रकाशित हैं, वे स्वय अपने आप से प्रकाशित नहीं हैं, क्योकि उनमें स्वयं में अपने आपको प्रकाशित करने की शक्ति नहीं है, हमारा ज्ञान मिथ्या है।

अत. उस ज्ञान क्षेत्र से प्रकाशित सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। शुक्ति में रजत् की भावना जैसे असत्य है उसी प्रकार हमारे ज्ञान का तात्कालिक रूप भी असत्य है। परन्तु यह ज्ञान जब शाश्वत

तत्त्व के रूप में स्थित होता है तब शाश्वत सत्य का दर्शन करता है। शुद्ध ज्ञान पर माया का ऐसा प्रभाव होता है कि वह सीमित क्षणिक 'परिच्छिन्न' पदार्थों को यथार्थ का रूप देकर मोहाविष्ट हो स्वय सीमित हो जाता है। परन्तु ज्ञान निस्सीम है, अनन्त है, शाश्वत है। वह वस्तुकाल की मीमाओं से बधा हुआ नहीं है। ज्ञान सर्वत्र स्थित है, सभी वस्तुओं में सभी कालों में प्रवाहित होता रहता है।

इस शुद्ध ज्ञान रूप में जड वस्तुओं का निक्षेप माया के कारण होने से मिथ्या ससार की कल्पना सत् दिखाई देने लगती है। जैसा कहा है कि '**घटादिकम् सदर्थे कल्पितम्, प्रत्येकम् तदनुविद्धत्वेव प्रतीयमानत्वात** '। अत ब्रह्म से भिन्न यह ससार मिथ्या है। ब्रह्म वह उपादान कारण है। जियमें इस सारी माया का निक्षेप है। ब्रह्म ही सत्य है, यह ससार प्रपच ब्रह्म से प्रकट, ब्रह्म में अत्यन्त भाव से स्थापित मिथ्या परिभास मात्र है। जैसा कि चितसुख ने कहा है- '**उपादान निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व लक्षणमिथ्यात्व सिद्धिः**। एक ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है।

जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त का महत्वपूर्ण अंग है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु शकर के ग्रन्थों में सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ दूसरे विचार भी पाये जाते हैं। शकर जहाँ एक ओर जगत् को मिथ्या और ब्रह्म का विवर्त कार्य तथा ब्रह्म को विवर्तकारण बतलाते है, वहाँ कहीं-कहीं उपनिषदों की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि ब्रह्म (वस्तुतः) जगत् का कारण है। (सर्प का रज्जु विवर्त कारण है, सर्प रज्जु का विवर्त कार्य है, यहा कारणता वास्तविक नहीं है।) छान्दोग्य उपनिषद् पर भाष्य करते हुए शकर कहते है कि जहाँ यह कहा गया है कि उस सत् ने ईक्षण किया कि मैं अनेक रूप होकर उत्पन्न होऊँ, वहा वास्तव में सत् में कारणता माननी चाहिए। इसीप्रकरण में 'उस जल में ईक्षण किया' यह कथन आता है। इस पर आक्षेप दिया जाता है कि जैसे जल में ईक्षण का उपचार मात्र है, वास्तविक ईक्षण नहीं है, वैसे ही अन्यत्र भी मानना चाहिए। इसके उत्तर में शंकर कहते हैं, सारे प्रकरण को उपचरितार्थ मानना उचित नहीं है। इसलिये जगत् चैतन्या 'सत्' का कार्य है।[1]

इसी प्रकार में एक जगह पर शकर ने जगत् को सत् भी कहा है। सत् ब्रह्म ही द्वैतादि-भेद से अन्यथा गृहीत होता है इसलिये यह कहा जा सकता है कि 'कहीं कुछ भी असत् नही है।'[2]

---

[1] छान्दोग्य उ० ६/२/४

[2] सत् एव द्वैतभेदेन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् नासत्त्व कस्याचित् क्वाचिदिति ब्रूम। छा० भा० ६/२/३

वास्तविकता यह है कि शकर कहीं तो विवर्तवादी की भांति लिखते है और कहीं सत्कार्यवादी की तरह। ये दोनों सिद्धान्तत वस्तुत एक दूसरे से विशेष दूर नहीं है।[1] गीताभाष्य में कहा गया है कि- जगत् की समस्त प्रवृत्तियॉं साक्षी-चेतन के ज्ञान का विषय बनने के लिये ही हैं। मैं यह खाऊँगा, यह देखता हूँ, यह सुनता हूँ, अमुक सुख का अनुभव करता हूँ, दुख अनुभव करता हूँ, उसके लिये अमुक सुख का अनुभव करता हूँ; इसके लिये अमुक कार्य करूँगा, अमुक वस्तु को जानूँगा इत्यादि जगत् की समस्त प्रवृत्तियॉं ज्ञानाधीन और ज्ञान में ही लय हो जाने वाली हैं।

मध्व सृष्टि-श्रुति में, जो सृष्टि और प्रलय का वर्णन है वह भी वास्तविक है। ईश्वर के ईक्षण से हुई सृष्टि को काल्पनिक या मिथ्या नहीं, अपितु पारमार्थिक है। जगत् के वास्तविक अनुभवों का अपलाप नहीं किया जा सकता। ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को मानने वाले विश्व की वास्तविक सत्ता को न माने, यह विरोधी बात है। साक्षि प्रत्यक्ष अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा के स्वरूप की आच्छादिका अविद्या जगत् का कारण हो तो जगत् आत्मा से भिन्न कैसे? स्वप्न और जाग्रत के अनुभवों में समानता न होने से स्वप्न का दृष्टान्त बिल्कुल गलत है। सामान्य अनुभव की वस्तु के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये तो युक्ति की अपेक्षा भले ही हो, किन्तु उसकी वास्तविकता के लिये नहीं हुआ करती।

जगत् का उपादान कारण प्रकृति एव पारमार्थिक तत्व है, अत उसका विकार असत् या मिथ्या कैसे हो जायेगा? ब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रकृति से साक्षात् या परम्परया जगत् की सृष्टि बतायी गयी है। प्रकृति, जड़, नित्य परिणामी तत्त्व है। काल, तीनों गुण, अहकार, मन, इन्द्रियॉं तन्मात्रायें महाभूत आदि उसके विकार है। महत् अहकार आदि की परम्परया और काल तीनों गुण आदि की साक्षात् उत्पत्ति होती है। प्रकृति की साम्यावस्था का नाम प्रलय है। अहकार, मन बुद्धि चित्त आदि अनित्य द्रव्य माने गये है तथा नित्य मन या इन्द्रिय ही साक्षी हैं जो जीव का सही स्वरूप है। ब्रह्म की इच्छा द्वारा प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ कैसे होता है, इस प्रश्न के उत्तर में वैष्णव प्रकृति को ब्रह्म का शरीर मान लेते हैं।

---

[1] दृशिकर्मत्वा पत्तिनिमित्ता हि जगत सर्वा प्रवृत्ति। अहमिद भोक्ष्ये, पश्यामिद, श्रृणोमीद, सुखमनुभवामि इत्यऽवगति निष्ठाऽवगत्यवसानैव। गीता भाष्य - ९/१०

ईश्वर और सृष्टि-

ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। वह सृष्टि का रचयिता है और साथ ही साथ प्रेरक भी है। जीव और प्रकृति, जिनसे इस जगत् का निर्माण हुआ है, ईश्वर के अंशभूत तत्त्व हैं, इसलिये ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण है। सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वर के संकल्प से होता है, इसलिये वही जगत् का निमित्त या प्रेरक कारण भी है। विशिष्टाद्वैत ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण मानते हैं।[1] जगत् ईश्वर का कार्य है। अतः जगत् का ईश्वर से कारण-कार्य सम्बन्ध है। विशिष्टद्वैत सत्कार्यवादी दार्शनिक है। उनके अनुसार कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। कारण-कार्य से एकदम पृथक् या सर्वथा व्यतिरिक्त नहीं होता। यदि कार्य कारण से एकदम भिन्न हो तो कारण ज्ञान कार्य ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता फलस्वरूप उपनिषद् की यह मान्यता कि एक ब्रह्म को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, सत्य सिद्ध नहीं होता।

इसलिये विशिष्टाद्वैतवादी का विचार है कि कार्य-कारण से भिन्न होते हुए भी उससे पृथक नहीं होता; अर्थात् ब्रह्म का कार्यरूप जगत्-कारण रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है। लेकिन दोनों ब्रह्म और जगत् अथवा कारण और कार्य एक भी नहीं कहे जा सकते। उनमें भेद भी है। ईश्वर अनन्त है, जबकि जगत् का अन्त निश्चित है। इसलिये दोनों के बीच तादात्म्य नहीं हो सकता। ईश्वर और जगत् के बीच न तो पूर्ण अभेद है और न पूर्ण भेद ही है। ऐसे सम्बन्ध को रामानुज ने शरीर-शरीरी-सम्बन्ध अथवा देह-आत्मा-सम्बन्ध के रूप में देखा है।[2]

ईश्वर, जगत् और आत्मा-

ईश्वर जगत् की आत्मा है, जबकि जगत् उसका शरीर है। जगत् में चित् अथवा जीव एवं अचित् अथवा प्रकृति दोनों ही सम्मिलित हैं। इनमें भी आत्मा-शरीर-सम्बन्ध है। जीव प्रकृति में उसकी आत्मा बनकर रहता है और प्रकृति उसकी आत्मा बनकर रहता है। और प्रकृति उसका शरीर होती है। जब हम जगत् को ईश्वर का शरीर मानते है तो हमें यह समझना चाहिए कि जीवात्मा ईश्वर का शरीर है। ईश्वर जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से उसकी अन्तरात्मा बनकर स्थित

[1] निमित्तोपादानयोस्तु भेदं वदन्तो वेदबाह्य एवं स्युः। वेदार्थ संग्रह पृ २६

[2] अयमेवात्मशरीरभावः पृथक्सिद्ध्यनर्हाधाराधेय भावः नियन्तृनियम्यभावः शेषशेषि भाव। वेदार्थ संग्रह पृ १८

रहता है। जीवात्मा का शरीर होने के कारण प्रकृति को भी ईश्वर का शरीर कह सकते है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का शरीर और ईश्वर जगत् की आत्मा है।

ईश्वर और जगत् के बीच जैविक सम्बन्ध साधारणत एक ही इकाई के विभिन्न अगों के बीच अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। ईश्वर जीव और जगत् के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध केवल सृष्टि व्यापार के सन्दर्भ में ही सिद्ध होता है। ईश्वर सृष्टि के लिये जीव और प्रकृति पर निर्भर है, क्योंकि जीव और प्रकृति के सयोग से ही ससार का प्रारम्भ हो सकता है। ईश्वर स्वय प्रकृति से सयोग नहीं कर सकता, क्योंकि वह निर्गुण यानी प्रकृति के गुणों से रहित है। किसी काल मे रचे जाने वाले ससार का रूप उसमें उत्पन्न होने वाले जीवो के 'अदृष्ट' से निर्धारित होता है।

ईश्वर जगत् में नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण एव घटनाओं का सयोजन जीवात्माओं द्वारा भोग्य कर्मफल के अनुसार ही करता है। अत. यह कहना समीचीन मालूम पड़ता है कि रामानुज ईश्वर और जगत् के बीच शरीर-शरीरी-सम्बन्ध स्वीकार कर जैविक सम्बन्ध की सम्भावना भी मानते है। परन्तु इसकी सम्भावना कार्य ब्रह्म में ही की जा सकती है, कारण ब्रह्म में नहीं। कहा भी गया है कि "ब्रह्मा" आदि से लेकर 'तृण-पर्यनत' समस्त जगत् प्राकृतिक कहा जाता है। यह बात सत्य एव दृढ़ सत्य है कि मैने (नारायण) पुरुष के बिना शक्ति को प्रकाशित किया है।[1] "सूर्य के समान प्रकाशमान शरीर वाला मै नित्य हूँ। जगत् में प्रकृति सबकी आधार स्वरूपा है और मैं सबकी आत्मा हूँ।[2]

धार्मिक अनुभूति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नारायण (विष्णु) पाच रूपों में स्थित हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ या 'पर' रूप 'नारायण' हैं। सृष्टि के नियमन के लिए 'व्यूह' रूप में स्थित है। वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध, ये चार 'व्यूह' हैं। भक्तगणों को पृथ्वी पर अपना साहचर्य प्रदान करने के लिए तथा दुष्ट लोगों से उनकी रक्षा करने के लिये पर-तत्त्व 'विभव' या अवतार ग्रहण करता है। अवतार अप्राकृत ब्रह्म-तत्त्व का प्राकृत रूप में प्रकट होना है। अवतार के मुख्य और गौड दो भेद हैं। जब विष्णु स्वय पृथ्वी तल पर अवतरित होते है तो उसे मुख्य अवतार कहते है। श्रेष्ठ या मुक्त जीवात्मा का किसी विशेष कार्य के लिए पृथ्वी पर आना गौड़ अवतार

---

[1] ब्र० वै० ग० ख० ७/६४-६५

[2] अह नित्य शरीरी च भानुविग्रह विग्रह।
सर्वाधारा सा प्रकृति सर्वात्माऽह जगत्सु च।। ब्र० वै० ग० ख० ७/७५

कहलाता है। मुमुक्षु लोग मुख्य अवतारों की उपासना करते है जबकि गौड अवतारों की उपासना लौकिक समृद्धि या पार्थिव फलों के लिये की जाती है। भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर ईश्वर स्थान-स्थान पर मूर्तियों में प्रविष्ट होकर स्थित होता है। भगवान् द्वारा अनुप्राणित इन विग्रहों को 'अर्चा' कहते हैं। 'अन्तर्यामी' ब्रह्म सभी जीवों के हृदय में निवास करता है। और इसके सुख-दु ख में द्रष्टारूप से सर्वदा विद्यमान रहता है।

ब्रह्मन् का पर-स्वरूप अचिन्त्य एव अज्ञेय है क्योंकि अप्राकृतिक है अपने पररूप में वह विष्णुलोक में निवास करता है। उसका अपना विग्रह तथा निवास-स्थान शुद्ध तत्त्व से निर्मित होता है। 'पर' रूप में नारायण नित्य एव मुक्त पुरुषों से सेवित होता है। 'श्री' या 'लक्ष्मी' विष्णु प्रिया हैं। वे करुणा एव कृपा की मूर्ति हैं। भक्त जन लक्ष्मी द्वारा ही अपने उद्धार के लिये विष्णु की कृपा प्राप्त करते हैं। लक्ष्मी को विष्णु की शक्ति कहा गया है। विष्णु की शक्ति के रूप में लक्ष्मी के क्रिया और मूर्ति दो स्वरूप है। क्रिया लक्ष्मी का नियामक और नियन्त्रक रूप है। इस शक्ति द्वारा विष्णु ससार का नियमन और नियन्त्रण करते है। मूर्ति लक्ष्मी की प्राकृत शक्ति है। इससे विष्णु ससार के लिये आवश्यक उपादान प्राप्त करते हैं।

विष्णु बोले- ब्रह्मा से लेकर कीड़े पर्यन्त सभी अपने कर्मो के फल भोगते है, और तुम तो बुद्धि स्वरूप हो। हे शिवे! क्या तुम यह नहीं जानती हो कि- जीवों को अपने कर्म के कारण ही सौ करोड़ कल्पों का भोग प्राप्त होता है और शुभाशुभ कर्म द्वारा ही उन्हें प्रत्येक योनि में नित्य आना-जाना पड़ता है।[1] इन्द्र अपने कर्मवश कीट योनि में उत्पन्न होते है और कीट भी पूर्व किये कर्मफलों द्वारा इन्द्र हो जाता है। हे दुर्गे! कुछ लोग उनकी कला के अश है, कुछ लोग कलांश के अश है। इस प्रकार चराचर समस्त जगत् और विनायक उनमें स्थित है।[2]

जगत् की सत्यता-

जगत् के उपादान और निमित्त-कारण दोनों की सत्ता नित्य एव सत्य है। ईश्वर और उसकी अशभूता प्रकृति का कार्यरूप जगत् फिर किस प्रकार असत्य हो सकता है। सत्

---

[1] ब्र० वै० ग० ख० १२/२५-२६

[2] कलाशा केऽपि तद्दुर्गे कलाशाशाश्चकेचन।
चराचर जगत्सर्वं तत्र तस्थौ विनायक.।। ब्र० वै० ग० ख० १२/३४

कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है; क्योंकि कारण और कार्य में केवल अवस्था का भेद है। कारण स्वय कार्यरूप में परिवर्तित हो जाता है। कार्य-कारण से सर्वथा भिन्न तत्त्व या पदार्थ नहीं होता। एक ही पदार्थ एक अवस्था विशेष में कारण कहलाता है और दूसरी अवस्था में कार्य।[1] इनमें से एक कारण को जान लेने से दूसरा कार्य जान लिया जाता है। कारण और कार्य की एकता अथवा कारण में कार्य की पूर्वोपस्थिति स्वीकार करने वाले सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। इसके अनुसार चित् और अचित् ही जगत् के रूप में प्रकट होते है। सृष्टि के पूर्व इन्हें इनकी सूक्ष्मता तथा नामरूप विहीनता के कारण असत् कहा जाता हैं। चित् और अचित् विकसित होकर नाम-रूप धारण कर जगत् की सज्ञा प्राप्त करते है।

ईश्वर इन दोनों-सूक्ष्म और स्थूल- अवस्थाओं में चित् और अचित् के साथ अपृथक्सिद्ध रूप से जुड़ा रहता है, यानी ब्रह्म भी कारण से कार्य-रूप में परिवर्तित होता है। अत जगत् ब्रह्म की ही स्थूलावस्था सिद्ध होता है। इसलिये जगत् को ब्रह्मात्मक माना जाता है। यद्यपि ब्रह्मन् का स्वरूप नित्य है और वह अपने स्वरूप से परिवर्तित नहीं होता, तथापि उसके पर्याय या अश के रूप में स्थित रहने वाले चित् एव अचित् परिवर्तित होते है। चिदचित् में उत्पन्न परिवर्तन ईश्वर का परिणाम होता है। जगत् ब्रह्म में ही स्थित है, ब्रह्म ही उसका कारण है, और वहीं उसका गन्तव्य भी है।

जगत् की नानाविध वस्तुएँ जीव के आध्यात्मिक विकास को सरल एव सफल बनाने के लिये ही उत्पन्न होती है। जीव का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मानुभूति है जिसे वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर ही उपलब्ध कर सकता है। इसलिये जगत् का लक्ष्य भी ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में जगत् को 'माया' 'अविद्या' या अध्यास से उत्पन्न भ्रम कहना उचित नहीं प्रतीत होता। जगत् की सत्ता पारमार्थिक ही है; क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।[2] उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् की सत्यता में विश्वास करना आवश्यक है।

निष्कर्ष-

समस्त जगत् जन्म, शुभाशुभ कर्म और सयोग-वियोग सभी कुछ दैव के अधीन रहता है, अत. दैवबल से बढ़कर कोई दूसरा बल नहीं है। और वह दैव भगवान् श्रीकृष्ण के अधीन है क्योंकि

---

[1] 'कारणभूत द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।' श्रीभाष्य - १/१/५

[2] पर ब्रह्म सविशेष तद् विभूतिभूत जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते। श्रीभाष्य १/१/१

वे दैव से भी परे है; इसलिये उस परमात्मा ईश्वर को सन्त लोग सदैव भजते हैं। वह लीला की भाँति दैव को बढा सकता है और नष्ट कर सकता है। उसका भक्त दैव के अधीन नहीं रहता है, अविनाशी होता है। इसलिये दु खदायी मोह का त्याग कर गोविन्द को भजो, जो सुखदायक, मोक्षप्रद, सारभूत, जन्म मृत्यु एव भय के नाशक, परमानन्द के जनक तथा मोहजाल को काटने वाले हैं और ब्रह्मा,विष्णु एव शिव आदि जिनका निरन्तर भजन करते रहते है।[1] सभी का सयोग-वियोग आदि सबकुछ ईश्वर के अधीन है, यहा तक कि समस्त ब्रह्माण्ड भी ईश्वर के अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है ऐसा विद्वानों का मानना है। जल के बुल्ले की भाँति तीनों जगत् अनित्य (नश्वर) हैं। इस नश्वर जगत् में मायोपहित चित्त वाले ही माया का कार्य करते हैं।[2]

भगवान् श्रीकृष्ण में दन्तचित्त वाले सज्जन लोग इसमें वायु की भाँति रहकर लिप्त नहीं होते है। भक्त जन विषयों को त्यागकर भगवान् श्रीकृष्ण का भजन किया करते हैं। इनके अनुसार इस सम्पूर्ण जगत् में सब कुछ अनित्य और नश्वर है। जगत् की धात्री अति सन्तुष्ट होने पर भक्तों को बुध्दि देती है। एव वही परा माया जिस परम् भक्त को मोहित करने के लिये माया प्रदान करती है उसे विवेक कभी नहीं देती है। इस ससार में समस्त चर अचर जल के बुल्ले के समान है इसलिये इस जगत् में ब्रह्म के सिवा सभी जीव सृष्टि से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते है।

[1] ब्र० वै० ग० ख० १६/६-७

[2] जलबुद्बुदवत्सर्वमनित्य च जगत्त्रयम्। मायामनित्ये कुर्वन्ति मायया मूढ चेतसा।। ब्र० वै० ग० ख० १६/१०

Yoga Doctrines in Mahāpurāṇa-s

G. K. Pai

Bhandarkar Oriental Research Institute,
Pune 411 004

2007

Yoga Doctrines in Mahāpurāṇa-s

G. K. Pai

Bhandarkar Oriental Research Institute,
Pune 411 004

2007

To

My Revered Teacher

Dr. Ram Gopal

Former Vice-chancellor, Rohtak University

FOREWORD

Rapidly following the new edition of the Pātañjala Yogasūtrāṇi prepared by Prof. K. S. Arjunwadkar we are herewith placing in the hands of scholars of the Yoga-system - the book Yoga Doctrines in Mahāpurāṇa-s authored by our scholar Dr. G. K. Pai. It contains a discussion on all the eight limbs (*aṣṭāṅga*) of the classical Yoga-doctrine with a separate chapter giving the conclusion.

As is stated by the erudite author in the Introductory chapter *Itihāsa* (comprising the two national epics) and Purāṇa-s (the main eighteen purāṇas alongwith many a minor one) are the two main encyclopaedic collections of ancient Indian thought. Yoga is the basic grammar of all the orthodox systems of Indian Philosophy.

To scan the Purāṇa-s with a view to culling together their Yogic thought, arranging the same methodically and discussing its contribution is a task ably carried out by Dr. G. K. Pai, a worthy student of the late eminent orientalist Dr. A. D. Pusalker.

I am sure the readers will find the contents of the book quite useful in understanding the Purāṇic contribution to the Yoga System. I congratulate the author for the successful completion of his plan and Shri. Nandkishor Khurjekar, for his meticulous composing and printing.

BORI., Pune.
16-09-2007

M.G. Dhadphale
Hon. Secretary

PREFACE

It was in the seventies, while I was working as the Director of Sukṛtīndra Oriented Research Institute of Cochin, that I was invited to participate in and present a research paper on the topic of Yoga in Purāṇas at an International Seminar on Yoga in Delhi. That brief paper prepared at that time would not have developed into this present monograph but for my chance meeting, in the B.O.R.I. premises in the year 2002, with Dr. M. L. Gharote, who was my senior colleague at the Kaivalyadhama, Lonavla, way back in late sixties. It was mainly due to his inspiration that I resumed study of this topic after we had jointly completed the study of Siddha-Siddhānta-paddhati of Sri Gorakṣanātha which was later published by the Lonavla Yoga Institute, Lonavla in 2005. His sad demise robbed me of not only a dear friend but also of an expert on Yoga who could have provided me proper guidance on many an occasion during the preparation of this work.

The present work is divided into ten chapters. In the first chapter i.e. Introduction besides defining 'Purāṇa' and discussing its characteristics an attempt has been made to trace the philosophical background of the Purāṇas followed by the role of Yoga in Purāṇas and the aspects of Yoga.

The next eight chapters are assigned for discussion on the eight aṅgas (aspects) of Yoga respectively. The Yoga material drawn from the Purāṇa texts is compared, wherever possible to the Yoga concepts available in the Mahābhārata, Sūtras and Smṛtis, Pātañjala Yoga Sūtra, Yogopaniṣads and Haṭhyoga texts.

The conclusions arrived at make the final chapter of the work.

The work is dedicated with reverence to my teacher Dr. Ram Gopal to whom I am indebted for the valuable guidance he provided me during the period of my study for M.A. (Sanskrit) degree examination of the Delhi University as a student of the Hans Raj College, Delhi from 1957 to 1959.

I am thankful to all the scholars whose works I have made use of.

I am grateful to the authorities of the Bhandarkar Oriental research Institute, Pune especially to Dr. M G. Dhadphale, the Hon. Secretory, for having accepted this work for publication.

I am also thankful to Shri Sateesh Sangle and other members of the staff of the R.N. Dandekar Library (BORI) for their unstinted co-operation extended to me during the production of this work.

Bhandarkar Oriental Research Institute, **G. K. Pai**
Pune-411004
25.10.2007

CONTENTS

ABBREVIATIONS

Ag	Agni Mahāpurāṇa
Ai. Up	Aitareya Upaniṣad
AV	Atharva Veda
B	Brahma Mahāpurāṇa
Bḍ	Brahmāṇḍa Mahāpurāṇa
BDS	Bodhāyana Dharmasūtra
Bhāg	Bhāgavata Mahāpurāṇa
Bṛ. Up	Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad
BV	Brahmavaivarta Mahāpurāṇa
BYY	Bṛhadyogiyājñavalkya Smṛti
CHK	Cultural History from Kūrma Purāṇa
Ch. Up	Chāndogya Upaniṣad
Dakṣa	Dakṣasmṛti
G	Garuḍa Mahāpurāṇa
Gh.S	Gheraṇḍa Saṁhitā
GŚ	Gorakṣaśataka
HIP	History of Indian Philosophy by S.N. Das Gupta
HP	Haṭhapradīpikā
K	Kūrma Mahāpurāṇa
Kaṭh. Up.	Kaṭha Upaniṣad
Kauṣ. Up	Kauṣītaki Upaniṣad
L	Liṅga Mahāpurāṇa
M	Matsya Mahāpurāṇa

Manu	Manusmṛti
Mār	Mārkaṇḍeya Mahāpurāṇa
Mb	Mahābhārata cr. ed
Muṇḍ. Up	Muṇḍaka Upaniṣad
N	Nāradīya Mahāpurāṇa
P	Padma Mahāpurāṇa
RV	Ṛg Veda
Ś	Śiva Mahāpurāṇa
Śaṅkha	Śaṅkhasmṛti
Ś. Br.	Śatapatha Brāhmaṇa
SEP	Studies in the Epics and Purāṇas by A.D. Pusalker
Sk	Skanda Mahāpurāṇa
SSP	Siddhasiddhāntapaddhati
Śvet. Up	Śvetāśvatara Upaniṣad
Tai. Up	Taittirīya Upaniṣad
Vā	Vāyu Mahāpurāṇa
Vām	Vāmana Mahāpurāṇa
Var	Varāha Mahāpurāṇa
Vi	Viṣṇu Mahāpurāṇa
VS	Vasiṣthasaṁhitā-Yogakāṇḍa
YS	Yogasūtra of Patañjali
YY	Yogayajñavalkya

□□

CHAPTER I

INTRODUCTION

Mahāpurāṇas and their Characteristics

The epic literature of India consists of the two viz. (i) Itihāsa constituted of the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa, and (ii) the Purāṇa constituted of the Major Purāṇas (Mahāpurāṇas) and the Upapurāṇas. The Purāṇas occupy a unique position in the sacred and secular literature of the Hindus. They throw a flood of light on all aspects and phases of ancient and medieval Hinduism such as religion and philosophy, political history and geography, folk-lore, literature, sciences, politics and sociology. Actually, Purāṇas were supposed to have been compiled by Brahmā before all other Śāstras whereas the Vedas were revealed to him later. cf. Vā. I.1.54 (=P.Sṛṣṭi 1.45) :

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥

Moreover, the study of Itihāsa and Purāṇa was considered essential for the correct interpretation of the Vedas. cf. Mb. cr. ed I.1.204 :

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

The Vā (I.1.183) derives the term "purāṇa" as 'that which lives from ancient times'. cf.

यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन हि स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

The M (53.62) calls the Purāṇas 'records of past events.' cf.

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः ॥

Originally, therefore the term 'purāṇa' meant ancient tale or old narrative. Purāṇa as legendary lore circulated from times of antiquity even

prior to the revelation of the Vedas and this was handed down to prosterity (SEP. p.xliv)

The AV (XI.7.24) reference to Purāṇa does not make it clear as to whether the term meant actual books during the period. cf.

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥

But the reference in Ch.Up. (VII.1.2) shows that a definite work was intended cf.

स होवाच ऋग्वेदं भगव अध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम् चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदमिति।

In the Vedic literature, Itihāsa and Purāṇa which denote history are mentioned together, always associated with Gāthās and Nārāsaṁśis which were subjects of study in ancient times (SEP.p.xlv).

Purāṇas and their Contents

The topics with which the Purāṇas were deemed to be concerned were according to Amarakośa five in number which are also mentioned by some of the Purāṇas including K (I.1.25) :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्* ॥

i.e. the Purāṇa is of five characteristics viz Sarga (creation), Pratisarga (recreation after dissolution), Vaṁśa (dynasties), Manvantara (epochs of Manu) and Vaṁśyānucarita (accounts of the famous royal dynasties).

None of the extant Purāṇas, however, deal with all these topics. Some of them scarcely touch upon these topics but include material on additional topics whereas others contain much more than these five topics. This rendered the Pañcalakṣaṇa definition a mere theoretical thing. In order to get over this difficulty, the Purāṇas themselves stated that the Pañcalakṣaṇa definition was

---

* वंशानुचरितं दिव्याः पुण्याः प्रासङ्गिकी कथाः। K.(cr.ed); cf.M.53.64

intended merely for the Upapurāṇas (minor Purāṇas) and the Mahāpurāṇa (major Purāṇa) must satisfy the Daśalakṣaṇa (ten charateristic) definition which included the additional topics such as vṛtti (means of livelihood), rakṣā (incarnation of gods), mukti (final emancipation), hetu (jīva, unmanifest) and apāśraya (Brahman), cf. Bhāg. XII.7.9-10 :

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥

Even these additional characteristics leave out of account several features of the extant Purāṇas. Thus the M (53.65-66) states that the present Purāṇa texts deal with the glorification of Brahmā, Viṣṇu, Sūrya and Rudra, the dissolution and preservation of the world, dharma (righteous conduct), artha (economics and polity), kāma (erotics) and mokṣa (emancipation) cf.

ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।
ससंहारप्रदानां च पुराणे पञ्चवर्णके ॥ 65
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत्फलम् ॥ 66

Even this comprehensive definition does not cover all the aspects dealt with by the Purāṇas. In fact, the only characteristic of a Purāṇa is that it should be old. Anything could be the subject matter of a Purāṇa and it could cover all aspects of life.

Purāṇas and their number

According to the traditional view, there are eighteen Purāṇas (and eighteen Upapurāṇas) which are listed in almost all Purāṇas in the same sequence. They are Brahma (B), Padma (P), Viṣṇu (Vi), Vāyu (Vā), Bhāgavata (Bhāg), Nāradīya (N), Mārkaṇḍeya (Mār), Agni (Ag), Bhaviṣya, Brahmavaivarta (BV), Varāha (Var), Liṅga (L), Skanda (Sk), Vāmana (Vām), Kūrma (K), Matsya (M), Garuḍa (G) and Brahmāṇḍa (Bḍ). For easy remembrance, the Devī Bhāgavata (I.3.2) enumerates them in a nut-shell as follows :

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
नालिंपाग्निपुराणानि कूस्कं गारुडमेव च ॥

Some Purāṇas substitute the Śiva (Ś) in place of Vā and the Devī Bhāgavata in place of (Vaiṣṇava) Bhāg.

Cosmogony

The classical definition of the Purāṇas given above mentions that the Purāṇas deal with the evolution (creation) of the universe, (dissolution and) recreation of the universe from the constituent elements, genealogies of gods and seers, epochs of Manus and the history of Royal families. Accordingly a number of Purāṇas viz the Vā, M, Vi, Bḍ, K, P, Sk, N etc. deal with theories of creation of the Universe. But all such theories are results of gradual evolution of the philosophical speculations from ṚV downwards.

The Puruṣasūkta of RV (X.90), which hymn is repeated with some variations in the AV (XIX.6.6), Vājasaneyi Saṁhitā (XXXI) and Taittirīya Āraṇyaka (III.12), recognised for the first time the unity of Godhead as the source of the Universe. Elsewhere, the RV (X. 81-82) refers to the Puruṣa as Viśvakarman or All-creator. In RV (X.121) he is invoked as the Prajāpati, i.e. Lord of Creatures, who later became synonymous with Brahmā, the Creator. The Supreme Being is said to have originated in the primeval waters as the Golden germ, Hiraṇyagarbha, which contained all the gods and the world or became the Creator. This idea later developed into the World-Egg and of Brahmā (SEP.pp.3-4).

Another philosophical hymn (RV. X.129) propounded the view that the sensible world is not the creation by an external agency, but the spontaneous unfolding of the supra-sensible first cause.

The Brāhmaṇas contain many legends about the creation of the world by Prajāpati. The world-egg theory found full development in the Ś.Br. (XI.1.6.1-11). The Brahman became not only the foundation of all existence, but the creative principle itself (Ś.Br. XI.2.3.1).

The Upaniṣads contain many theories regarding one or the other element as the origin of all existence. Thus the Bṛ.Up. (V.5.1) regards water as the origin of all things, which gave birth to Satya, Satya to Brahman and Brahman to Prajāpati. From Prajāpati were born the gods cf.

आप एवेदमग्र आसुः ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवाः स्ते देवाः सत्यमेवोपासते ॥

The Ch.Up (IV.3.1-2) maintains 'Air' as the final absorbent of all things especially of water and fire.

The Kaṭh Up (V.9) states that fire having entered the universe assumed all forms cf.

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

But the Ch. Up (VI. 2) holds that the fire was the first to evolve from the primeval Being, and that from fire came water and from water the earth.

The Ch.Up. elsewhere (I.9.1; VII.12.1) maintains that space is the origin and the final habitat of all things.

The idea that 'asat' i.e. Not-Being was the primary existent expressed for the first time in the Nāsadīyasūkta (RV.X.129) is seen in the Tai.Up. (II.7):

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।

तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥

The same idea is expressed by Bṛ.Up (I.2.1-2) also.

The Ch.Up. (VI. 2.1-4) states that Sat i.e. Being alone existed at the beginning. It criticises the theory which regards the primeval existent as Not-Being which gives rise to Being. It also speaks of the three colours of the three different elements viz the red, the white and the black which were later borrowed by the Saṅkhya and developed into three different qualities viz rajas, sattva and tamas of the Sāṅkhya Prakṛti.

The Ch.Up (I.11.5; IV.3.3) and Kauṣ.Up. (II.1) make an advance over the previous theory and hold Prāṇa or life force or cosmic force as the ultimate substratum of things cf.

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः ।

Prāṇa is also identified with life, with Prajñā (consciousness), with Ātman itself, the ultimate reality which is ageless and immortal. cf. Kau ṣ. Up.III. 15-28.

आयुः प्राणः प्राणो वा आयुः। ... यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वै प्रज्ञा स प्राणः ...।

Thus Prāṇa is life from biological point of view, consciousness from psychological and Ātman from the metaphysical point of view (SEP.pp.10-11).

The Praśna Up. (I.3-13) contains the beginnings of personalistic theory of creation. The Up. tells that at the beginning of creation, the creator became desirous of creating and hence performed penance and created a pair namely Rayī and Prāṇa corresponding to matter and spirit with the intention of creating all the existence from them.

But among the Upaniṣads, it is the Aitareya that contains the fullest account of creation (Ai.Up. IV.1-3). According to this account Ātman alone existed in the beginning and nothing what-so-ever. Ātman thought to himself, 'let me create the worlds' and he created the four worlds. Then he proceeded to create a World Person out of the waters and he breathed into his nostrils the breath of life.

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। सईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

The Ātman then brooded over the World Person and as a result of his brooding created first his various organs of sense, then the functions corresponding to them and lastly the deities or the world governors corresponding to such functions in the cosmos.

After having created the worlds, the World Person, the world governors and hunger and thirst, the Ātman next created the soul in the human body, which he entered. After the Ātman became the individual soul, he began to be subject to the three states of consciousness viz waking, dreaming and deep sleep. Thus the individual soul was the last object to be created by the Ātman and there is also a metaphysical identity between the individual soul and the supreme soul.

The Tai.Up.(II.1) provides an emanatory theory of cosmology, according to which from Ātman proceeded space, from space air, from air fire, from fire water and from water the earth. cf.

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी ॥ ...

The Muṇḍ Up. (II.1.2-9) states that in the beginning there existed only a heavenly formless person who was unborn, without a mind, lustrous and super-immutable. From him were born life, mind, senses, space, air, light, water and earth which last is the basis of the universe.

This personal impersonal theory presented by the Muṇḍ.Up. forms a connecting link between the emanatory theory of the Tai.Up. (II.1) and the theistic theory of the Śvet.Up.

The Śvet. Up (I.1-2) begins criticizing the extant opinions which hold Time, Nature, Necessity, Chance, Elements, Person, their combination or Ātman as the cause of all things. After controverting the above theories, it concludes that Rudra alone rules the world by his powers and can be regarded as the creator of all things that exist. He is the supreme Godhead.

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः यइमान् लोकानीशत ईशनीभिः ॥ Śvet. Up. 3.2

"Thus the Śvet.Up. advances a truly philosophic theory of creation in which all power is ultimately due to a personal godhead who causes the whole universe to move round his finger." (SEP.p.13).

Like every subsequent thinker the Ṣaḍdarśanas too are based on the Upaniṣads : The Sāṅkhya ideas are found in more or less developed form in the Śvet. and other later Upaniṣads. These ideas form the connecting link between the Upaniṣadic period and that of the Epics and Purāṇas (SEP. pp. 13-14).

The Sāṅkhya begins with the premise about the three types of suffering which may be due to :

(1) mental and physical disorders and diseases; (2) actions of other living beings such as an attack of tiger, theft, slander etc. and (3) divine agents like the elements fire, wind and water. The only cure of these ills is true knowledge which consists of the constitution of the world and man's place in it.

According to Sāṅkhya there are two eternal principles independent of each other. viz. Puruṣa and Prakṛti (Pradhāna). Puruṣa known by various names such as self, Ātman, Kṣetrajña etc. is conscious but inactive. Prakṛti is dull and inert till it is awakened. It is constituted of three guṇas viz sattva, rajas and tamas in the state of equipoise. When this state of equipoise gets disturbed through the presence of Puruṣa, Prakṛti unfolds itself as the universe through the successive stages of Mahat (Buddhi), Ahaṅkāra (self-consciouness), manas, the five tanmātras (subtle elements or essences) viz sound, touch, colour, savour and odour, the five buddhīndriyas (sense organs) viz ears, skin, eyes tongue and the nose, the five karmendriyas (organs of action) viz voice, hands, feet, organs of excretion and organ of generation and the five mahābhūtas (material elements) viz pṛthvī, āp. tejas, vāyu and ākāśa. These form the twenty five tattvas of Sāṅkhya. This development of Prakṛti is known as sañcara (evolution). The dissolution or Pratisañcara according to Sāṅkhya is a reverse process starting with the dissolution of mahābhūtas into the tanmātras, the essences and senses into ahaṅkāra, ahaṅkāra into buddhi and buddhi into avyakta which is not dissolved because it was never evolved out of anything.

When the equilibrium (of the guṇas) is disturbed, Prakṛti is awakened and develops into buddhi. But the creation of the elements is casued by ahaṅkāra (self-consciousness) which produces the sense of subject and object, the Puruṣa being misled into identifying himself with Prakṛti through misapprehension though for a brief period. The moment he realises his true nature that his body, organs of sense, mind, etc do not belong to him, he ascends above all pain and sorrow.

Prakṛti though unconscious is conceived as real from which everything is produced. The universe is thus, according to Sāṅkhya, an outcome of Prakṛti and not the creation of god or a personal Īśvara.

The aim of Yoga also is the achievement of true knowledge which will help one realise the nature of Puruṣa as different from Prakṛti. But it lays more stress upon the physical and mental discipline necessary in order to make the body fit for meditating upon the truth.

The Mahābhārata accepts the two eternal principles viz. Puruṣa and Prakṛti (Pradhāna) but makes them aspects of the one Brahman. It accepts the twentyfive tattvas of Sāṅkhya but adds Īśvara as the twentysixth.

Philosophical Basis of the Purāṇas

Accounts of creation (Sarga) form the philosophical material of many Purāṇa texts. Although there are no material differences in the cosmogonic accounts of the various Purāṇas, the Vi, B, Bḍ, Vā, G, P and Var Purāṇas represent the earliest accounts of cosmogony "as their primitive egg theory, saptarṣis, etc remind us of the Brāhmaṇa literature, though some of the texts, no doubt, replace the world egg theory by the Sāṅkhya theory" (SEP. p. 22).

According to Vi (I.2.61 ff) it is the only god Janārdana (also called Hari) who assumes the names of Brahmā, Viṣṇu and Śiva and attends to the respective functions of creation, preservation and destruction. Almost all the Purāṇas invariably subscribe to this doctrine, the only difference being in the name of the creator depending upon the sectarian zeal of the text. Thus whereas the Vaiṣṇava Purāṇas would credit Viṣṇu with creation, the Śaiva Purāṇas would credit Śiva for the same function. The BV mentions Kṛṣṇa for the same purpose.

The Manusmṛti does not subscribe to the view of duality of First Principles. The Purāṇas, however, hold that the dualistic principles are united in Brahmā. They are not evolutions therefrom but only aspects of the supreme deity. "The world is neither an emanation nor an illusion according to the Purāṇas but is regarded as consubstantial with its first cause" (SEP, p. 23).

The Vi (I.2.15-56) regards Viṣṇu as the original cause from whose playful activity were produced the four categories viz Brahman, Pradhāna, Puruṣa and Kāla. At the time of creation, god by his own will enters both Prakṛti and Puruṣa and causes disturbance, the disturber and the disturbed being himself. From Pradhāna thus disturbed, is produced Mahat. Mahat being covered by Pradhāna, gives rise to the threefold ahaṅkāra called vaikārika, taijasa and bhūtādi or tāmasa. The tāmasa ahaṅkāra being covered by Mahat produces śabdatanmātra and by like processes ākāśa is produced. The tāmasa ahaṅkāra then covers up śabda tanmātra and ākāśa. Then is produced sparśa tanmātra by the self-modification of ākāśa. From the sparśa tanmātra is produced vāyu. By like processes are produced rūpa tanmātra, jyoti, rasatanmātra, water, gandha tanmātra and earth in that order. From the taijasa ahaṅkāra are produced the five conative and cognative senses and from the vaikārika ahaṅkāra is produced the

manas. These elements together with the tanmātras, ahaṅkāra and mahat form the universe which grows into an egg. Water, fire, air, ākāśa, bhūtādi, mahat and avyakta form the seven coverings of the egg.

Another account of creation found elsewhere in the Vi (I.5.5-25) speaks of the five kinds of avidyā, which sprang from the Lord, viz tamas, moha, mahāmoha, tāmisra and andhatāmisra. This is the unintelligent creation consisting of plants. This creation is followed by the creation of tiryaksrotas (that of animals), ūrdhvasrotas (gods) and arvāksrotas (men). Thus there are nine creations viz. (i) mahat (ii) tanmātras (iii) bhūtas (iv) mukhyasarga (plants) (v) tiryaksrotas (vi) ūrdhvasrotas (vii) arvāksrotas (viii) anugrahasarga and (ix) kaumārasarga.

According to Vi (I.4.51-52) God is only the naimittamātra (dynamic agent), the material cause being the energies which are the objects of the world.

Pralaya is of four kinds viz. Naimittika or Brāhma when Brahmā goes to sleep (ii) Prākṛtika when the universe merges in Prakṛti (iii) Ātyantika wherein the Yogīs merge in the Supreme and (iv) Nītya i.e. the destruction which occurs every day (Vi. I. 7.41-43).

The Mār (ch.42) states that Brahman was the first. It also speaks of the origin of Brahmāṇḍa in which was born the Kṣetrajña viz Brahmā, the creator of the universe (Prākṛta sarga) which is preceded by the Bhūtasarga and the Vaikārika sarga. It also mentions the five types of avidyās (44.15-16) and the nine creations of Prajāpati (44.31-36). In ch. 45 and 49 it deals with the creation of gods, etc. and also of Rudras.

The Vā (I.4.17ff) speaks of an ultimate principle known by various names such as Pradhāna, Prakṛti, Ātman, Yoni, Brahman, etc and forming a cover round the second Puruṣa or the creator. Prakṛti is associated with three guṇas but is devoid of any sensible qualities. At the time of creation, from Prakṛti associated with the Kṣetrajña is produced 'mahat' with the three guṇas. From 'mahat' with the preponderance of rajas emerged ahaṅkāra and with the preponderance of tamas, the bhūtādi. The bhūtādi produced the bhūtas and the tanmātras in successive series as sound, ākāśa, touch, vāyu, colour, tejas, taste,

water, smell and earth. The guṇas working together formed the cosmic egg. In that cosmic egg, was born the kṣetrajña (HIP.III.pp.502ff)

The K explains the evolution of the universe as follows (K.I.4.5-41) :
The unmanifested (Avyakta) composed of sat (being) and asat (not-being), eternal and indestructible also known as Prakṛti and Pradhāna existed at first. It is the source of the universe associated with Ātman or Puruṣa. On awakening from the unmanifested at the end of the night, Maheśvara the inner one entered both Prakṛti and Puruṣa and caused agitation by means of Yoga. From Pradhāna thus agitated, was born the seed viz Mahat and the universe was evolved through the successive stages viz Mahat, Buddhi, ahaṅkāra, tanmātras, indriyas and Pañcabhūtas (cf. CHK.p.165).

These seven viz mahat, ahaṅkāra and the five tanmātras are in themselves incapable to create. They create the cosmic egg through the superitendence of Puruṣa and by the help of Avyakta. In that egg was born the universe (cf. CHK. pp. 18-26).

Thus K follows the Sāṅkhya theory of creation. The Prākṛta dissolution described by K is reverse to the process of creation : The earth with its guṇas merges itself in water and the water with its guṇas gets absorbed in tejas (fire). The fire in turn merges with vāyu, vāyu in ākāśa, etc. The process continues and finally Mahat gets merged with Maheśvara. Thus after destroying all the bhūtas and tattvas, Maheśvara disengages Pradhāna and Puruṣa. At this stage the Avyakta or Prakṛti attains the equilibrium of the three guṇas (K.II.44. 1-24; cf. CHK pp.27-28).

While dealing with creation, K (I. ch.7) gives an account of the nine creations of Brahmā viz. five creations with the quality of darkness called as Mukhyasarga followed by Tiryaksrotas (creation of animals), ūrdhvasrotas (of gods), arvāksrotas (of mankind) and bhūtasarga.

The five creations of Mukhyasarga appeared with the quality of darkness out of the fivefold ignorance viz; tamas, moha, mahāmoha, tāmisra and andha-tāmisra. This fivefold ignorance is referred to in Vi (I.5.4-5) also as the five kinds of obstructions of soul's liberation. They are explained by the Sāṅkhya as (i) the belief of material substance being identical with spirit; (2) notion of property or possession; (3) addiction to the enjoyment of sense;

(4) impatience or wrath and (5) fear of privation or death. Patañjali explains them as the five kleśas viz. ignorance (avidyā), selfishness (asmitā), love (rāga), hatred (dveṣa) and dread of temporal suffering (abhiniveśa) cf. YS. II.3.

The K (I.10) also describes Brahmā's creation of the Kumāras (mind - born sons), the birth of Rudra through his mouth and the creation of nine sāddhakas.

The B (1.38ff) deals with Brahmā's sowing of his seed in the water which then grows into the cosmic egg (in which was Hiraṇyagarbha), the seven mind-born sons, origin of Rudras, gods and demigods, Virāt, birth of the primeval man Manu and his descendants and other beings.

The P (Sṛṣṭi. 1.8-11; 2.84ff) assumes the highest Brahman in the form of the personal god Brahmā as the first cause (Sṛṣṭi. 2.119). But the account of cosmogony mostly follows the account of Vi.

The cosmogonic accounts of the Bhāg (II.5; III.10-12; III.26 etc) agree on the whole with the accounts of Vi. But "the cosmogony of Bhāg. is more largely intermixed with allegory and mysticism and derives its tone more from the Vedānta than the Sāṅkhya Philosophy" (SEP.p.23). "The doctrine of active creation by the supreme (Vāsudeva) is more distinctly asserted with a more decided enunciation of the effects being resolved into Māyā or illusion" (Bhāg. II.5.18-21; III. 10.11-12) cf. SEP.p.24.

The BV describes creation (Brahmakhaṇḍa, chs 3 and 7) as by Brahman, the first being. But the first being is none other than Kṛṣṇa (Brahmakhaṇḍa, 7.16).

The N (I.3.3-35; HIP III. p.507) regards the self-luminous Mahāviṣṇu as the cause of the universe. At the time of creation, Mahāviṣṇu created Prajāpati from his right flank, Rudra from the middle and Viṣṇu from the left flank for the three respective functions of creation, destruction and preservation respectively. The supreme Śakti of Viṣṇu of the nature of existence and non-existence (bhāvā-bhāva) pervades the whole universe. As this power is inseparable from him, at the time of creation he is said to assume the forms of Prakṛti, Puruṣa and Kāla (which are only her manifestations). When Prakṛti

is disturbed by the presence of Puruṣa, Mahat emerges out of Prakṛti, from Mahat Buddhi and from Buddhi Ahaṅkāra. Then follows the birth of the tanmātras, indriyas and the bhūtas, the tāmasasarga of tiryaksrotas, the devasarga and the mānuṣasarga.

The Var (ch. 2), G (II. Uttarakhaṇḍa, Brahmakāṇḍa 10-14) and other Purāṇas have brief accounts of creation generally on the lines of other Purāṇas.

"The cosmogony in the Purāṇas .... is on the whole a later development of the systems as presented in the Mahābhārata and the Manusmṛti, which in their turn draw much upon the previous thinkers. Here too the evolutionary theory of the Sāṅkhya has been so modified as to agree with the Vedānta doctrine about the oneness of Brahman by assuming that Puruṣa and Prakṛti are but two forms of the Supreme who is identified with one of the popular gods according to the particular sectarian type of the work" (SEP.p.24).

Īśvara-gītā

Special mention is to be made of the Īśvara-gītā of the Kūrma Purāṇa. The first eleven chapters of the second part of the text bear the title 'Īśvara-gītā' for the reason that Vyāsa, who appears before the assembly of the sages in the Naimiṣa forest, relates to them the supreme knowledge through the ancient discourse given by Śiva himself to the Yogīśvaras, viz Sanatkumāra, Sanaka, Sanandana, Āṅgīrā, Bhṛgu, Kaṇāda, Kapila, Garga, Vāmadeva, Śukra and Vasiṣṭha. The narration commences with the nature of Ātman who is conceived here as the highest self (cf. CHK. pp. 168ff).

The eleventh chapter of the Īśvara-gītā gives us an account of Pāśupata Yoga and the method of practising it (CHK .pp. 173ff).

Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa

According to M (53. 65-66) the four goals of human evedeavour viz Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa form characteristic of most of the Purāṇas. Mokṣa (final emancipation) was the aim placed before every human being. As means to the attainment of mokṣa were prescribed the paths of Yoga and

Bhakti. Both Jñānayoga and Karmayoga have been advised and the Purāṇas contain lengthy discussions on the same.

As the body is the means of realization of the four goals, the well-being of the body must be secured by the knower of Yoga, with all effort. cf. Mār. 36.61-62 :

एवं सर्वात्मना रक्षा कार्या योगविदा नृप ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ।

The B (127.12) and Ag (372.17a) support the above view. cf.
तस्मात्सर्वात्मना कार्य्या रक्षा योगविदा सदा ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ॥ B.127.12
शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ Ag.372.17a

The Nāḍīśuddhi or the exercise of cleansing the various nāḍīs of the body, Prāṇāyāma or the regulation of the vital airs, the performance of āsanas which besides toning up of muscles lends hardness to the body, mitāhāra which ensures proper disgestive system and the ṣaṭkriyās or the six yogic kriyās which cleanse the different organs of the body- all these together mould the body into a perfect habitat of the mind which latter then attains a perfect condition to practise concentration for the spiritual upliftment of the being.

Patañjali's Yogasūtra and the Mahāpurāṇas

The Yogasūtra composed by Patañjali, is the earliest systematic account of Yoga that has come down to us. But this system in itself presupposes a long period of development and evolution based on scholastic discussions held among the intellectual circles from time to time throughout the country.

Once the doctrines which have thus attained a definite form have been presented in a systematic form by Patañjali and achieved public esteem, the Mahāpurāṇas or the Major Purāṇas borrowed the most popular of these doctrines propounded by him. But the doctrines of Yoga discussed by the earliest Purāṇa texts such as the Mār and Vā point to a stage of development of this system and not to the final shape given to it by Patañjali. Later Purāṇa texts, however, like the Ś, N, Sk etc reveal the influence of the Tantras, Haṭhayoga and also of the Nātha yogīs. Thus the massive Purāṇa

literature reflect a long period of evolution of the doctrines of Yoga even prior to Patañjali and also of centuries of development of the Haṭha yoga system after Patañjali.

Yoga defined :

The term 'Yoga' is found used in Sanskrit literature with varied meanings. The term is derived from Yuj meaning 'to join', 'unite', 'yoke', 'attach', 'harness', etc. Thus Yoga means union, device or means to yoke or unite two entities viz. Jīvātman and Paramātman (microcosm with macrocosm) or of Nara and Nārāyaṇa, the Prāṇa and Apāna vāyus, Śiva and Śakti (i.e. Sāmarasya) or the Sun and the Moon.

The Bhagavadgītā which is a discourse on the proper course of conduct to be adopted by Arjuna, suggests three different options to him viz. Jñānayoga, Bhaktiyoga and Karmayoga depending upon knowledge, devotion or action being the one that leads to self-realization. In a similar vein, the Purāṇa texts on Yoga and the Haṭha texts also use different terms such as Japa yoga, Mantrayoga, Laya yoga, Rājayoga, Kriyāyoga, Haṭhayoga, Brahmayoga and Māheśvara yoga (Vā. I. 10. 65), Pāśupatayoga (K. II.11), Abhāvayoga and Mahāyoga (K. II. 11. 5-7), Jñānayoga, Karmayoga and Bhaktiyoga (Bhāg. XI. 20. 6-8), Paramayoga (Bhāg. XI. 20.21), Mantrayoga, Sparśayoga, Bhāvayoga, Abhāvayoga and Mahāyoga (Ś. Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.7) etc. some of them indicating the means adopted by the sādhaka taking into consideration his own fitness or aptitude for pursuing that particular means.

Patañjali (YS. I.2) defines Yoga as 'citta-vṛttinirodha' i.e. the restraint of the functions of the mind which is actually the means to achieve Yoga.

The Mār. (36.1) defines Yoga as 'Union with Brahman' cf.
ज्ञानपूर्वो वियोगो योऽज्ञानेन सहयोगिनः।
सा मुक्तिर्ब्रह्मणा चैक्यमनैक्यं प्राकृतैर्गुणैः॥
i.e. a Yogī's cessation of ignorance through the attainment of knowledge is yoga. This is mukti i.e. liberation, union with Brahman and dissociation from the qualities of Prakṛti.

The Vi (VI. 7. 31 = N. I. 47.7) defines Yoga as the 'Union with Brahman of that state of mind which has attained perfection through self-effort' cf.

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥

The Bhāg (XI. 20. 21a) calls restraint of mind as supreme Yoga. cf.

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ।

The K terms 'exclusive concentration on Him' as Yoga and also adds that all other fluctuations of mind are to be restrained. cf.

योगस्तत्रैकचित्तता ॥ K.II.2.40.
मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः ॥ K.II. 11.12a

The L (I. 8. 7a) closely follows Patañjali's definition (cf. supra) of Yoga as the restraint of the modifications of the mind cf.

योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः ॥

Elsewhere, it holds (L. I. 8.3) the achievement of all knowledge by the soul as Yoga cf.

सर्वार्थज्ञाननिष्पत्तिरात्मनो योग उच्यते ॥

The SSP (V.22) of Gorakṣanātha defines Yoga as the means to harness, to equip oneself, as means or instrument, knowledge, meeting (coming together) and union. cf.

योगः सन्नहनोपायो ज्ञानसंगतियुक्तिषु ॥

The B (127.29b) observes that Yoga is the convergence of the mind and the sense-organs. cf.

मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥

The G (I. Ācārakāṇḍa 226. 9) repeats almost verbatim the view of Mār (cf. supra) cf.

ज्ञानपूर्वावियोगोऽसौऽज्ञाने नष्टे च योगिनः ।
सा मुक्तिर्ब्रह्मणा चैक्यमनैक्यं प्राकृतैर्गुणैः ॥

Elsewhere it calls the union of Ātman and Brahman as Supreme Yoga. cf. G. I. Ācārakāṇḍa 235.53 :

ब्रह्मात्मनोर्यदैकत्वं स योगश्चोत्तमोत्तमः ॥

It also concurs with the view of K (II. 2. 40 cf. supra) that Yoga is the exclusive concentration on Him (G. I. Ācārakāṇḍa 235.46; 236.1).

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37. 6) goes one step further and specifies Śiva on whom the exclusive concentration is to be practised. cf.

निरुद्धवृत्त्यन्तरस्य शिवे चित्तस्य निश्चला।
या वृत्तिः सा समासेन योगः स खलु पञ्चधा॥

i.e. Yoga is that motionless state of mind fixed in Śiva, to the exclusion of all its fluctuations.

While defining Yoga the Ag. (379. 24-25) repeats the view of Vi referred to above. It also gives various (372. 1-2) alternate difinitions of Yoga as (i)knowledge of Brahma-enlightenment; (ii) one-pointedness of mind; (iii) the restraint of the fluctuations of mind and (iv) union of Jīvātman and Paramātman cf.

संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टांगयोगकम्।
ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता॥
चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।

N deemsYoga to be pure knowledge (i.e. same referred to by Mār cf. supra and as Brahma enlightenment by the Ag. above) which leads to liberation. of.

योगो ज्ञानं विशुद्धं स्यात्तज्ज्ञानं मोक्षदं विदुः॥ NI.33.55

Quoting the Ātharvan dictum 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये', the N (I. 33. 56-60) names them as Para which is without any attribute and Apara characterised by egoism (Jīvātman) and holds that the awareness of non-distinction between these two as Yoga. cf.

आत्मानं द्विविधं प्राहुः परापरविभेदतः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इति चाथर्वणी श्रुतिः॥
परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहंकारयुतोऽपरः।
तयोरभेदविज्ञानं योग इत्यभिधीयते॥
पञ्चभूतात्मके देहे यः साक्षी हृदये स्थितः।
अपरः प्रोच्यते सद्भिः परमात्मा परः स्मृतः॥
शरीरं क्षेत्रमित्याहुस्तत्स्थः क्षेत्रज्ञ उच्यते।

अव्यक्तः परमः शुद्धः परिपूर्ण उदाहृतः ॥
यदा त्वभेदविज्ञानं जीवात्मपरमात्मनोः ।
भवेत्तदा मुनिश्रेष्ठ पाशच्छेदोऽपरात्मनः ॥

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikākhaṇḍa 55. 11a) declares the restraint of the modifications of the mind as the essence of Yoga. cf.
चित्तवृत्तिनिरोधाख्यं योगतत्त्वं प्रकीर्त्यते ॥

The Kāśīkhaṇḍa of Sk (ch. 41. 48) states that the enlightened call the union of Ātman and manas as Yoga; some call the union of Prāṇa and Apāna also as Yoga. cf.
संयोगस्त्वात्ममनसोर्योग इत्युच्यते बुधैः ।
प्राणापानसमायोगो योग इत्यपि कैश्चन ॥

Types of Yoga

The Vā (I. 10. 64,70) refers to Māheśvara Yoga as it was proclaimed by Maheśvara.

The M (52.5-12) refers to Karma, Jñāna and Kriyāyogas. Karmayoga is superior to a thousand Jñāna yogas because the latter is produced from the former. The latter in its turn leads to emancipation. It is the combination of both the Karma and Jñāna that gives rise to Brahma enlightenment. Kriyāyoga is constituted of the dharma propounded by Śruti and is based on the eight essential ātmaguṇas (personal qualities) viz dayā (compassion), kṣānti (forbearance), etc. cf.
ज्ञानयोगसहस्राद्धि कर्मयोगः प्रशस्यते ॥ 52.5
कर्मयोगोद्भवं ज्ञानं तस्मात्तत्परं पदम् ।
कर्मज्ञानोद्भवं ब्रह्म न च ज्ञानमकर्म्मणः ॥ 52.6

अष्टावात्मगुणाः प्रोक्ताः पुराणस्य तु कोविदैः ।
अयमेव क्रियायोगो ज्ञानयोगस्य साधकः ॥ 52.11
कर्म्मयोगं विना ज्ञानं कस्यचिन्नेह दृश्यते ।
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममुपतिष्ठेत्प्रयत्नतः ॥ 52.12

The K (II. 11.5-7) classifies Yoga into two Abhāvayoga and Mahāyoga, the latter being the most eminent of all Yogas. Abhāvayoga is wherein the

mind is concentrated upon God imagined as Void and Formless. When one sees everywhere one's own soul identified with Him, the everblissful and Pure, that is declared by the Supreme Lord as Mahāyoga or Brahmayoga which is the highest. cf.

योगस्तु द्विविधो ज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः।
अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः॥ 5
शून्यं सर्वनिराभासं स्वरूपं यस्य चिन्त्यते।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनाऽऽत्मानं प्रपश्यति॥ 6
यत्र पश्यति चाऽऽत्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मयैक्यं स महायोगो भाषितः परमेश्वरः॥ 7

Through Mahāyoga, the liberated souls identify themselves with the Universal soul and thus visualise themselves in every object. Hence it is also called Brahmayoga, the highest one. All other yogas stand no comparison to it. cf. K. II. 11. 8-9 :

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ 8
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः॥ 9

Elsewhere K refers to Pāśupatayoga (II. 11. 67) which liberates the paśus (souls) from the pāśa (fetters of Saṁsāra). The aspects of Yoga explained herein are in general agreement with the Aṣṭāṅga yoga of Patañjali.

The other types of Yoga referred to by K are Rājayoga, Dhyāna, Jñāna, Bhakti and Karma (the last three already referred to by the Bhagavadgītā) of which the devotee who worships Him throuh Jñāna is declared to be the dearest to Him. cf. K. II. 4. 24-25 :

ध्यानेन मां प्रपश्यन्ति केचिज्ज्ञानेन चाऽपरे।
अपरे भक्तियोगेन कर्मयोगेन चाऽपरे॥
सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतरो मम।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा॥

Whereas the terms Dhyāna, Jñāna and Bhakti mean meditation, knowledge (of supreme) and devotion respectively, the term karmayoga in this

context means the course of conduct recommended to the different varṇas and āśramas. cf. K. I. 11. 264-265 (also K. II. chs. 12-13) :

ध्यानेन कर्मयोगेन भक्त्या ज्ञानेन चैव हि।
प्राप्याऽहं ते गिरिश्रेष्ठ नान्यथा कर्मकोटिभिः ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक्कर्म वर्णाश्रमात्मकम्।
अध्यात्मज्ञानसहितं मुक्तये सततं कुरु ॥

The Bhāg (XI. 20. 6-8) describes the three yogas viz. Jñāna, Karma and Bhakti (referred to by the Bhagavadgītā) and holds Bhaktiyoga or the path of devotion to be the highest.

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ॥ 6
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ 7
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ 8

His devotees viz Ekāntins who have unflinching devotion in Him, gain everything that the Jñānayogīs and Karmayogīs do through their pursuit of Jñāna, karma, austerites, detachment, dāna and other good deeds which gain inclusive of heaven and liberation His devotees disdain with contempt as trivial compared to the everlasting devotion they value most. cf. Bhāg. XI.20. 32-35 :

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मध्दाम कथञ्चित् यदि वाञ्छति ॥
न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छत्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥

Everlasting devotion of Hari is the only blessing young Prahlāda seeks from Him who promises to fulfil all his wishes. cf. Vi. I. 20. 18 :

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

The L (II. 55.7-18) refers to five types of Yoga viz Mantra, Sparśa, Bhāva, Abhāva and Mahāyoga each succeeding one being superior to the preceding one, Mahāyoga being the most eminent. cf.

प्रथमो मन्त्रयोगश्च स्पर्शयोगो द्वितीयकः॥ 7
भावयोगस्तृतीयस्यादभावश्च चतुर्थकः।
सर्वोत्तमो महायोगः पञ्चमः परिकीर्त्तितः॥ 8
ध्यानयुक्तो जपाभ्यासो मन्त्रयोगः प्रकीर्त्तितः।
नाडीशुद्ध्यधिको यस्तु रेचकादिक्रमान्वितः॥ 9
समस्तव्यस्तयोगेन जयो वायोः प्रकीर्त्तितः।
बलस्थिरक्रियायुक्तो धारणाद्यैश्च शोभनैः॥ 10
धारणात्रयसन्दीप्तो भेदत्रयविशोधकः।
कुम्भकावस्थितोऽभ्यासः स्पर्शयोगः प्रकीर्त्तितः॥ 11
मन्त्रस्पर्शविनिर्मुक्तो महादेवं समाश्रितः।
बहिरन्तर्विभागस्थः स्फुरत्संहरणात्मकः। 12
भावयोगः समाख्यातश्चित्तशुद्धिप्रदायकः।
विलीनावयवं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्॥ 13
शून्यं सर्वं निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते।
अभावयोगः संप्रोक्तश्चित्तनिर्वाणकारकः॥ 14
नीरूपः केवलः शुद्धः स्वच्छन्दश्च सुशोभनः।
अनिर्देश्यः सदालोकः स्वयंवेद्यः समन्ततः॥ 15
स्वभावो भासते यत्र महायोगः प्रकीर्त्तितः।
नित्योदितः स्वयंज्योतिः सर्वचित्तसमुत्थितः॥ 16
निर्मलः केवलो ह्यात्मा महायोग इति स्मृतः।
अणिमादिप्रदा सर्वे सर्वे ज्ञानस्य दायकाः॥ 17
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यमेषु योगेष्वनुक्रमात्।

The worship of Viṣṇu by means of meditation upon Him as seated on the throne situated in the heart-lotus is termed as Dhyānayoga by Ag. (374. 12-13).

स्वेदेहायतनस्यान्ते मनसि स्थाप्य केशवम् ॥
हृत्पद्मपीठिकामध्ये ध्यानयोगेन पूजयेत् । Ag.374.12-13

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37. 8-11) mentions the same fivefold division of Yoga referred to by L (cf. supra), defines them and explains them as follows :

मन्त्राभ्यासवशेनैव मन्त्रवाच्यार्थगोचरः ।
अव्याक्षेपा मनोवृत्तिर्मन्त्रयोग उदाहृतः ॥ 8
प्राणायाममुखा सैव स्पर्शे योगोऽभिधीयते ।
समन्त्रस्पर्शनिर्मुक्तो भावयोगः प्रकीर्त्तितः ॥ 9
विलीनावयवं विश्वं रूपं संभाव्यते यतः ।
अभावयोगः संप्रोक्तोऽनाभासाद्वस्तुनः सतः ॥ 10
शिवस्वभावएवैकश्चिन्त्यते निरुपाधिकः ।
यथा शैवमनोवृत्तिर्महायोग इहोच्यते ॥ 11

i.e. The concentration of the mind free form disturbances on the expressed meaning of the mantra by one who is in constant practice of mantra is called Mantrayoga. The same practice coupled with the performance of Prāṇāyāma is called Sparśayoga. The practice of the above without the accompaniment of mantra is Bhāvayoga. When the Universe with all its parts is meditated upon it is called Abhāvayoga, for in that process the existent object does not come into view. When the nature of Śiva alone is contemplated upon without any conditioning factor and the mind becomes imbued with Śiva, it is called Mahāyoga.

The three paths of Jñāna, Bhakti and Karma referred to by the Bhagavadgītā and Bhāg (cf. supra) are also described by N (I. 33. 27-33) as follows :

ज्ञानलभ्यं परं मोक्षं प्राहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ।
यज्ज्ञानं भक्तिमूलं च भक्तिः कर्मवतां तथा ॥ 27
दानानि यज्ञा विविधास्तीर्थयात्रादयः कृताः ।
येन जन्मसहस्रेषु तस्य भक्तिर्भवेद्धरौ ॥ 28
अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते ।
श्रद्धया परया चैव सर्वं पापं प्रणश्यति ॥ 29
सर्वपापेषु नष्टेषु बुद्धिर्भवति निर्मला ।

सैव बुद्धिः समाख्याता ज्ञानशब्देन सूरिभिः ॥ 30
ज्ञानं च मोक्षदं प्राहुस्तज्ज्ञानं योगिनां भवेत् ॥
योगस्तु द्विविधः प्रोक्तः कर्मज्ञानप्रभेदतः ॥ 31
क्रियायोगं विना नृणां ज्ञानयोगो न सिद्ध्यति ।
क्रियायोगरतस्तस्माच्छ्रद्धया हरिमर्चयेत् ॥ 32
द्विजभूम्यग्निसूर्याम्बुधातुहृच्चित्रसंज्ञिताः ।
प्रतिमा केशवस्यैता पूज्य एतासु भक्तितः ॥ 33

i.e. liberation is attained by Jñāna which latter is rooted in Bhakti. Bhakti intensifies by holy acts such as dāna (gifts), different types of sacrifices, pilgrimage etc performed by those following the conduct prescribed by the varṇa and āśrama; such acts performed in thousands of lives lead to devotion to Hari; even a little devotion blossoms into highest everlasting righteousness; all sins get destroyed by supreme faith; with the destruction of all sins the intellect of the Yogī becomes clear. That very intellect called as Jñāna by the seers leads to liberation. Yoga is twofold viz Karma and Jñāna. Jñānayoga does not become fruitful without Karmayoga. Hence one who is steeped in Kriyāyoga should with faith worship Hari in the person of a twice born, Earth, Fire, Sun, Water, Metal, Heart or a painting which are forms of Keśava.

Kriyāyoga and Karmayoga are also explained by N (I. 33. 42-44) in the following terms :

कर्मणा मनसा वाचा सर्वलोकहिते रतः ।
समर्चयति देवेशं क्रियायोगः स उच्यते ॥ 42
नारायणं जगद्योनिं सर्वान्तर्यामिणं हरिम् ।
स्तोत्राद्यैः स्तौति यो विष्णुं कर्मयोगी स उच्यते ॥ 43
उपवासादिभिश्चैव पुराणश्रवणादिभिः ।
पुष्पाद्यैश्चार्चनं विष्णोः क्रियायोग उदाहृतः ॥ 44

i.e. If a person interested in the welfare of all, devoutly worships the Lord of gods by thought, word and deed, it is called Kriyāyoga. A person, who by means of hymns, etc. eulogises Viṣṇu, Nārāyaṇa the source of the Universe or Hari who is the immanent soul of all, he is called a Karmayogin. The worship of Viṣṇu by means of offering of flowers, etc, observance of fasts, etc as well as listening to Purāṇas, etc is called Kriyāyoga.

All the above activities are covered by Patañjali's definition of Kriyāyoga cf.

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ YS. II.1.

The Sk (Nāgarakhaṇḍa 262. 26-30) explains the terms Dhyānayoga, Karmayoga and Jñānayoga with a slightly varied connotation. Though it calls Dhyāna (meditation) as Dhyānayoga as in Ag (quoted above), it defines Karmayoga as that Yoga constituted of Japa and Dhyāna. Dhyāna is of two types, viz sāvalamba and nikhilālamba. The former is constituted of concentration of mind on an object or idol (mūrta) whereas the latter is devoid of any object. It is concentration on the void or formless one and is associated with Jñānayoga. cf.

ध्यानयोगं पुनर्वच्मि शृणुष्वैकाग्रमानसः ॥ 26
ध्यानयोगेन पापानां क्षयो भवति नान्यथा।
जपध्यानमयो योगः कर्मयोगो न संशयः ॥ 27
ध्यानेन परमं ब्रह्ममूर्त्तौ योगस्तु ध्यानजः।
सावलम्बो ध्यानयोगो यन्नारायणदर्शनम् ॥ 29
द्वितीयो निखिलालम्बो ज्ञानयोगेन कीर्त्तितः।
अरूपमप्रमेयं यत्सर्वकायं महः सदा ॥ 30

Yoga the means to salvation

The Mār (36. 2-3) traces the origin of duḥkha (pain) to association of the egoistic mind with the objects of sense and also advises that one who is desirous of salvation must at the very outset arrest this association. cf.

संगदोषोद्भवं दुःखं ममत्वासक्तचेतसाम् ॥
तस्मात्संगं प्रयत्नेन मुमुक्षुः संत्यजेन्नरः।

The source of pain is the notion of 'mine' whereas 'non-mine' brings relief (from pain) cf.

ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति च निर्वृतिः।

The same view is echoed by G (I. Ācārakāṇḍa 226. 2a) :
ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति निवर्त्तनम्।

In the absence of this association, the ego would be destroyed. Non-egoism would lead to happiness. But it is vairāgya (detachment) that brings into

view the drawbacks (of association). Detachment sprouts up from knowledge; knowledge precedes detachment. cf. Mār. 36.4 :

निर्ममत्वं सुखायैव वैराग्याद्दोषदर्शनम् ।
ज्ञानादेव च वैराग्यं ज्ञानं वैराग्यपूर्वकम् ॥

It is this same association (identification) that is mentioned by Patañjali in the following sūtra :

दृष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ YS.II.17.

Patañjali mentions Avidyā (want of true knowledge) as the cause of this association and also prescribes 'vivekakhyāti' (proper discrimination or discriminatory knowledge) as the only means to destroy it. cf. YS. II. 26:

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।

For Patañjali's 'Vivekakhyāti' the term used by Mār is 'Samyagjñāna' i.e. true or proper knowledge cf. Mār. 36.2 :

मुक्तिर्योगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीपते ॥

i.e. Yoga is the means of salvation and yoga is accomplished by means of proper knowledge. In the words of Mār, a yogī's removal of ignorance by the attainment of knowledge is 'mukti' (salvation); it is union with Brahma and dissociation from the qualities of nature cf. Mār 36.1 :

ज्ञानपूर्वो वियोगो योऽज्ञानेन सह योगिनः ।
सा मुक्तिर्ब्रह्मणा चैक्यमनैक्यं प्राकृतैर्गुणैः ॥

G (I. Ācārakāṇḍa 226.9) repeats the above verse with a little alteration:

ज्ञानपूर्ववियोगोऽसौऽज्ञाने नष्टे च योगिनः ।
सा मुक्तिर्ब्रह्मणा चैक्यमनैक्यं प्राकृतैर्गुणैः ॥

In Vi. (I. 17. 69) Prahlāda in his exhortation to the daityas observes "सर्वं दुःखमयं जगत्" i.e. the world is full of misery. This sounds in tune with the words 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' of Patañjali (YS II. 15).

The Vi (I. 19. 40) further points out that the cause of this misery is mistaking 'avidyā' (want of true knowledge) for Vidyā i.e. true knowledge on account of one's ajñāna (ignorance) cf. Vi. I. 19. 40 :

विद्याबुद्धिरविद्यायामज्ञानात्तात जायते ॥

Believing wrong perception to be fact is the basis of avidyā as defined by Patañjali YS. II. 5 :

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

i.e. the wrong perception of the eternal, pure, delightful and ātman in what is impermanent, unclean, miserable and non-ātman is avidyā i.e. wrong knowledge.

Describing the nature of Avidyā, Vi (VI.7. 11=Ag. 379. 15-16=N.I. 46. 86b-87a) states that the notion of Ātman in what is Anātman (non-soul), the notion of mine in what is not one's own is the dichotomous nature of avidyā, the seed and source of the tree of saṁsāra i.e. metempsychosis or cycle of birth and death. cf.

अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः ।
संसारतरुसंभूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम् ॥

The Ātman, according to Vi (Vi. 7. 22, 24=Ag. 379. 19-20, 21-22) is constituted of pure bliss; he is one without any blemish and is of the nature of perfect knowledge. The traits such as misery, wrong knowledge, etc are those which belong to Prakṛti and not to Ātman. The Ātman on account of its association with Prakṛti gets defiled by the ego and assumes the attributes of Prakṛti (cf. Mār. 35.6; 36. 2-3 quoted above). But when free from them, he is the imperishable. cf. Vi.VI. 7. 22,24 = Ag. 379. 19-20 and 21-22 :

निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ।
दुःखाज्ञानमया धर्मा प्रकृतेस्ते तु नात्मनः ॥
तथात्मा प्रकृतेस्संगादहंमानादि दूषितः ।
भजते प्राकृतान्धर्मानन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ॥

K supports the view of Vi, (Ag and N quoted above) in as much as it holds the erroneous notion of non-ātman to be ātman is the source of misery. cf. K. II. 2. 20 :

अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्मादुःखं तथेतरत् ॥

It further adds (K. II. 2.14b-15a) that the notion that 'I am the doer, glad, miserable, lean or fat' is attributed by the people to the soul because of the ego.

अहं कर्त्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः ।
सा चाहङ्कारकर्तृत्वादात्मन्यारोप्यते जनैः ॥

Ajñāna (wrong knowledge or want of perfect knowledge) is the root cause of Saṁsāra (metempsychosis) of all embodied beings. The ignorance and erroneous notion is associated with Prakṛti only. Because of this non-discrimination of ahaṅkāra (ego) the self-luminous soul who is the supreme Puruṣa, considers himself to be the doer cf. K. II. 2. 16b-18a :

तस्मादज्ञानमूलो हि संसारः सर्वदेहिनाम् ॥ 16b
अज्ञानादन्यथाज्ञानं तच्च प्रकृतिसंगतम् ।
नित्योदितः स्वयंज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः ॥ 17
अहंकाराविवेकेन कर्त्ताहमिति मन्यते ।

The Vi, N and Ag explain as to how the beings are ensnared in the vicious circle of saṁsāra. According to Vi (VI. 7. 12, 16 and 19), the embodied soul in the body constituted of the five elements and covered by the vāsanā of the deeds of the previous birth firmly believes in the notions of 'I' and 'mine'; as such he gets bound by all the deeds done for the comfort of the body and undergoes misery during numerous rebirths. cf.

पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमो वृतः ।
अहं ममैतदुच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम् ॥ Vi.VI.7.12(=Ag.379.16-17)
सर्वं देहोपभोगाय कुरुते कर्म मानवः ।
देहश्चान्यो यदा पुंसस्तदा बन्धाय तत्परम् ॥ Vi.VI.7.16(=Ag.379.18-19)
अनेकजन्मसाहस्रीं संसारपदवीं व्रजन् ।
मोहश्रमं प्रयातोऽसौ वासनारेणुकुंठितः ॥ Vi.VI.7.19

The N (I. 33. 3-5) raises the query as to how the embodied beings who, wittingly or unwittingly, continue to do actions (auspicious and inauspicious) and reap the fruit thereof can destroy their Karma. The beings become embodied as a result of their actions (in the previous birth); Desire binds them and leads them to lobha (greed); lobha results in krodha (anger); because of anger they lose righteousness and discernment; lack of discernment leads them again to do sinful acts. cf.

प्राणिभिः कर्मजालानि क्रियंते प्रत्यहं भृशम् ।
भुज्यन्ते च मुनिश्रेष्ठ तेषां नाशः कथं भवेत् ॥
कर्मणा देहमाप्नोति देही कामेन बध्यते ।
कामाल्लोभाभिभूतः स्याल्लोभात्क्रोधपरायणः ॥

क्रोधाद्य धर्मनाशः स्याद्धर्मनाशान्मतिभ्रमः ।
प्रनष्टबुद्धिर्मनुजः पुनः पापं करोति च ॥

B (129. 7) also holds Karma to be the cause of bondage of the beings; learning or right knowledge brings liberation. The Yatis who are blessed with the right vision, hence do not do any karma. cf.

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥

Pleasure and pain, existence and non-existence are the fruits that one reaps from one's own actions. But by learning or right knowledge one attains that after reaching where one does not regret, reaching where one escapes death, existence, dimunition and growth. cf. B. 129. 11-12 :

कर्मणां फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ ।
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥
यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते ।
न जीर्यते यत्र गत्वा यत्र गत्वा न वर्धते ॥

The K (II. 11. 80) contains the promise of the Lord that even a person who is constantly doing all actions would with His grace gain that supreme place which is permanent, provided he is devoted to Him. cf.

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मत्परायणः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं परमं पदम् ॥

The Vi (VI. 7. 25) emphatically states that there is nothing other than (the path of) Yoga for the eradication of the Kleśas. cf.

क्लेशानां च क्षयकरं योगादन्यन्न विद्यते ॥

The Kleśas are enumerated by Patañjali as

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशाः ॥ YS.II.3.

i.e. Ignorance, egoism, affection, repugnance, and fear of death are the afflictions or causes of misery.

The K (II. 7. 29) also names the Kleśas which are termed as the pāśas (fetters) by which He binds the paśus (individual souls). cf.

अविद्यामस्मितां रागं द्वेषं चाभिनिवेशकम्।
क्लेशाख्यानचलान् प्राहुः पाशानात्मनिबन्धनात्॥

Vi (VI. 7. 28-29) concludes that it is mind alone which is the cause of bondage and liberation. When addicted to the sense objects it is the cause of bondage; when devoid of contact with sense-objects it brings liberation. A wise man endowed with discrimination should withdraw the mind from the sense-objects and meditate upon Brahman, the supreme Īśvara for salvation. cf. Vi VI. 7. 28-29 (=N. I. 47. 4-5) :

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥
विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परेश्वरम्॥

The mind which is specially moulded by self-effort must be enjoined to Brahman which union with Brahman is called Yoga cf. Vi. VI. 7. 31 (=N. I. 47.7) :

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

The N (I. 33. 55b) terms Yoga as pure knowledge leading to liberation cf.

योगो ज्ञानं विशुद्धं स्यात्तज्ज्ञानं मोक्षदं विदुः॥

How Yoga and Jñāna are inter-related is explained by K. II. 11. 2-3:

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्॥
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते।
योगज्ञानाभियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः॥

i.e. The fire of Yoga instantly burns the cage of sin that surrounds a man. Knowledge appears and directly leads to Nirvāṇa i.e. emancipation. From Yoga is knowledge obtained and Yoga commences through knowledge. With a person endowed with Yoga and Jñāna, Śiva is pleased.

Whereas it is knowledge which brings liberation, this knowledge is acquired by the practice of Yoga. cf. N. I. 33. 31 :

ज्ञानं च मोक्षदं प्राहुस्तज्ज्ञानं योगिनां भवेत् ॥

Nothing remains non-accomplishable to a person endowed with Yoga and Jñāna. cf. K. II. 2. 41b :

योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥

From what has been discussed above it can be inferred that the term 'Yoga' stands for a system of self-discipline or self-improvement - physical as well as spiritual- the continued practice of which leads one to self-realization, mokṣa, nirvāṇa, kaivalya or salvation.

Yogī Defined

One who practises yoga is a yogī. An aspirant who having pursued this discipline of self-effort achieves that special mental state is called a Yogī. Depending upon the stage of development that the aspirant has achieved in his pursuit, he is known by two different terms : An aspirant who after having regularly practised the preliminary observances and restraints succeeds in dhyāna (contemplation) is called a 'yogayuk' i.e. one who yokes or connects (the mind to the object of meditation). The other one is a Yogī who has succeeded in samādhi or concentration of the mind and realized the unity with Brahman. The former i.e. Yogayuk can be identified on account of the antarāyas (distractions) which visit his mind. He (who has just commenced to yoke the mind) can get salvation by continuous practice of yoga during innumerable lives. The latter i.e. Yogī (who has through samādhi succeeded in the realization of Brahman) having burnt the entire accumulated karma by the fire of Yoga, obtains salvation before long in that very life. cf. Vi. VI. 7. 31-35 (=N. I. 47. 7-11).

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ 31
एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणः ।
यस्य योगस्स वै योगी मुमुक्षुरभिधीयते ॥ 32
योगयुक् प्रथमं योगी युंजानो ह्यभिधीयते ।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान् ॥ 33

यद्यन्तरायदोषेण दृश्यते चास्य मानसम्।
जन्मान्तरैरभ्यसतो मुक्तिः पूर्वस्य जायते॥ 34
विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्॥ 35

The G (I. Ācārakāṇḍa 49. 14-19) presents a different classification of Yogī as follows : A mendicant who with a desire to advance, regularly practises Yoga with senses under control and aspires for real knowledge is a Pārameṣṭhika; a Yogī who absorbed in the Ātman is always contented and well-equipped with self-restraint is called a Bhikṣu; begging for alms, self-study, vow of silence, austerity, especially contemplation, (true) knowledge and indifference to worldly affairs- these constitute the conduct of a Bhikṣu. A Pārameṣṭhika can be any of the three types viz Jñānasaṁnyāsin, Vedasaṁnyāsin or Karmasaṁnyāsin. A yogī (Bhikṣu) also can be any of the three types viz Bhautika, Kṣatra or Antyāśramī characterised by the three bhāvanās viz. bhautika, akṣara and pārameśvarī. cf.

योगाभ्यासरतो नित्यमारुरुक्षुर्जितेन्द्रियः।
ज्ञानाय वर्तते भिक्षुः प्रोच्यते पारमेष्ठिकः॥ 14
यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यतृप्तो महामुनिः।
सम्यक् च दमसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते॥ 15
भैक्ष्यं श्रुतं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः।
सम्यक् च ज्ञानवैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥ 16
ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंस्यासिनोऽपरे।
कर्मसंन्यासिनः केचित्त्रिविधः पारमेष्ठिकः॥ 17
योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भैतिकः क्षत्र एव च।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमूर्त्ति समास्थितः॥ 18
प्रथमा भावना पूर्वे मोक्षे त्वक्षरभावना।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी॥ 19

Proper Time and Place for Yoga practice

Almost all the Major Purāṇa texts dealing with Yoga lay down strict rules regarding the time and place for practice of Yoga. For, Yoga practised at an improper time and place does not succeed. cf. Vā. I. 11. 32 (=K. II. 11. 47a =L. I. 8. 78) :

अदेशकालयोगस्य दर्शनन्तु न विद्यते।

The Mār (36. 46b-50a) prohibits practice of Yoga when the aspirant is physically unfit, extremely tired, hungry or in mental agitation. Extreme climatic conditions of cold, heat and wind are unfit for its practice. A noisy place, a place adjacent to fire or water, a cow-pen, cross-roads, a heap of dry leaves, riverside, crematorium, monastery, a region which instils fear, near a well or anthill are prohibited for the practice. cf.

नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ॥ 46
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमादृतः ।
नातिशीते न चोष्णे वै न द्वन्द्वे नानिलात्मके ॥ 47
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ।
सशब्दाग्निजलाभ्याशे जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे ॥ 48
शुष्कपर्णचये नद्यां श्मशाने ससरीसृपे ।
सभये कूपतीरे वा चैत्यवल्मीकसञ्चये ॥ 49
देशेष्वेतेषु तत्त्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्जयेत् ।

The Vā (I. 11. 32-34a) has similar views. cf.

अग्न्यभ्यासे वने वाऽपि शुष्कपर्णचये तथा ।
जन्तुव्याप्ते श्मशाने वा जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे ॥ 32
सशब्दे सभये वाऽपि चैत्यवल्मीकसञ्चये ।
उदपाने तथा नद्यां न चा*ऽऽध्मातः कदाचन ॥ 33
क्षुधाविष्टस्तथाऽप्रीतो न च व्याकुलचेतनः ।

The K (II. 11. 47b-48) and L (I-8. 79-80b) repeat the first three lines of Vā (above) almost verbatim and substitute the last two lines above with the following. cf. K. II. 11.49 (=L. I. 8.80b-81a) :

अशुभे दुर्जनाक्रान्ते मशकादिसमन्विते ।
नाचरेद् देहबाधे वा दौर्मनस्यादिसंभवे ॥

Thus the K and L add inauspicious spots, haunts of the wicked and region infested by mosquitoes in the prohibited list. A sick body and a worried mind also are not proper for Yoga practice.

The B (127. 7-9) also contain similar rules as to the time and circumstances in which practice of Yoga is forbidden. cf.

---

* बाधातः

न मनो विकले ध्माते न श्रान्ते क्षुधिते तथा।
न द्वन्द्वे न च शीते च न चोष्णे नानिलात्मके ॥ 7
सशब्दे न जलाभ्याशे जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे।
सरीसृपे श्मशाने च न नद्यन्तेऽग्निसंनिधौ ॥ 8
न चैत्ये न च वल्मीके सभये कूपसंनिधौ।
न शुष्कपर्णनिचये योगं युञ्जीत कर्हिचित् ॥ 9

All the factors mentioned by B are already dealt with by the Mār, Vā and K quoted above.

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38. 48b-51a) also advises us regarding the places forbidden for Yoga practice. cf.

नाग्न्याभ्याशे जलाभ्याशे शुष्कपर्णचयेऽपि वा ॥ 48
न दंशमशकाकीर्णे सर्पश्वापदसंकुले।
न च दुष्टमृगाकीर्णे न भये दुर्जनावृते ॥ 49
श्मशाने चैत्यवल्मीके जीर्णागारे चतुष्पथे।
नदीनदसमुद्राणां तीरे रथ्यान्तरेऽपि वा ॥ 50
न जीर्णोद्यानगोष्ठादौ नानिष्टे न च निन्दिते।

The last line above includes two additional factors which render the place unfit for Yoga practice viz aniṣṭa (undersirable) and nindīta (despicable or censured). The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41. 65-68) is more explicit about these types. cf.

न तोयवह्निसामीप्ये न जीर्णारण्यगोष्ठयोः।
न दंशमशकाकीर्णे न चैत्ये न च चत्वरे ॥ 65
केशभस्मतुषांगारकीकसादिप्रदूषिते।
नाभ्यसेत्पूतिगन्धादौ न स्थाने जनसंकुले ॥ 66

....

नातितृप्तः क्षुधार्तो न न विण्मूत्रप्रबाधितः।
नाध्वखिन्नो न चिन्तार्तो योग युञ्जीत योगवित् ॥ 68

Regions defiled by hair, ashes, chaff, coal, bones, etc affected by foul smell and thickly populated ones (verse 66 above) are probably the ones hinted as aniṣṭa and nindita by Ś quoted above.

Extreme thirst, hunger, fatigue of travel and anxiety (verse 68) are already dealt with by earlier texts. The additional factor specified herein is the disorders arising from obstruction of urine and stools although the term 'dehabādhā' used by K (II. 11. 49) should cover this ailment as well.

The Ś (Vāyavīyasaṁhita, Uttarabhāga 38. 51b-52) specifies some more physical disorders such as indigestion, acidity, belching, vomiting and dysentery afflicted by which one should not practise Yoga. cf.

नाजीर्णाम्लरसोद्गारे न च विण्मूत्रदूषिते ॥ 51b
न छर्द्यामातिसारे वा नातिभुक्तौ श्रमान्विते ॥
न चातिचिन्ताकुलितो न चातिक्षुत्पिपासितः ॥ 52

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38. 53a) introduces one more factor which is incompatible for practice of Yoga. For, it prohibits a disciple from practising Yoga while he is occupied with any affair of his teacher. cf.

नापि स्वगुरुकर्मादौ प्रसक्तो योगमाचरेत् ॥

Time and Place recommended

Every Purāṇa text recommends clean surroundings for the practice of Yoga. The K (II. 11. 50-51) recommends the time and place fit for the performance of Yoga. cf.

सुगुप्ते सुशुभे देशे गुहायां पर्वतस्य तु ।
नद्यास्तीरे पुण्यदेशे देवतायतने तथा ॥
गृहे वा सुशुभे रम्ये विजने जन्तुवर्जिते ।
युञ्जीत योगी सततमात्मानं मत्परायणः ॥

i.e. Yoga is to be practised in well-sequestered places and clean spots like mountain caves, river banks and holy spots like temples or a solitary and pleasing room at home and not haunted by any beast.

The B (127. 13) recommends a hidden and lovely hermitage, a noiseless mountain free from danger, a vacant dwelling in a clean but attractive place or a temple in secluded surroundings for the practice of Yoga. cf.

आश्रमे विजने गुह्ये निःशब्दे निर्भये नगे ।
शून्यागारे शुचौ रम्ये चैकान्ते देवतालये ॥

Similarly, it recommends the specific time also for its performance as the former and latter parts of the night, fore-noon and mid-noon. cf. B. (127. 14, 20) :

रजन्याः पश्चिमे यामे पूर्वे च सुसमाहितः।
पूर्वाह्णे मध्यमे चाह्नि युक्ताहारो जितेन्द्रियः॥ 14

... ...

युञ्जीत सततं योगी मुक्तिदं पुरुषोत्तमम्॥ 20

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38.46-48a) observes that the time and place should be auspicious; the place could be a temple of Śiva, a secluded spot free from noise, beasts and danger, a well-plastered and cordial place fragrant with sandal and incense, with the floor bestrewn with blossoms of flowers (shed by trees), beautiful with pavilions and well supplied with kuśa, flowers, fuel, water, fruits and (succulent) roots in plenty cf.

शुभे काले शुभे देशे शिवक्षेत्रादिके पुनः।
विजने जन्तुरहिते निःशब्दे बाधवर्जिते॥ 46
सुप्रलिप्ते स्थले सौम्यै गन्धधूपादिवासिते।
मुक्तपुष्पसमाकीर्णे वितानादिविचित्रिते॥ 47
कुशपुष्पसमित्तोयफलमूलसमन्विते।

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41. 67) recommends a spot free from all danger which is soothing to sense-organs, giving rise to tranquillity of mind and pleasing on account of the garlands and incense. cf.

सर्वबाधाविरहिते सर्वेन्द्रियसुखावहे।
मनः प्रसादजनने स्रग्धूपामोदमोदिते॥

Thus the Yoga texts enjoin the aspirant to choose an auspicious hour and a secluded tranquil spot free from insects, beasts and danger, pleasing to the senses and made attractive with the fragrance of flowers, sandal and incense wherein he should practise Yoga only when he is free from all physical disorders, mental agitation or weariness ensuing from travel.

The Purāṇas also sound a warning that one who practises Yoga in utter disregard of these rules would surely contract various physical disorders. The disorders mentioned by the Mār (36. 50b-53a), Vā (I - 11. 35-36) and B (127. 10-11) are Jaḍatva (slothfulness), badhiratva (deafness), mūkatva (dumbness),

andhatva (blindness), smṛtilopa (failure or loss of memory), jarā (decrepitude) and jvara (fever) besides ajñāna (ignorance, wrong knowledge or want of true knowledge) cf.

दोषानेताननादृत्य मूढत्वाद्यो युनक्ति वै ॥
विध्नाय तस्ये वै दोषा जायन्ते तन्निबोध मे ।
बाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता ॥
ज्वरश्च जायते सद्यस्तत्तदज्ञानयोगिनः । Mār.36.51b-53a
एतान्दोषान्विनिश्चित्य प्रमादाद्यो युनक्ति वै ।
तस्य दोषाः प्रकुप्यन्ति शरीरे विघ्नकारकाः ॥
जडत्वं बधिरत्वं च मूकत्त्वं चाधिगच्छति ।
अन्धत्वं स्मृतिलोपश्च जरारोगस्तथैव च ॥ Vā.I.11.35-36
देशानेताननादृत्य मूढत्वाद्यो युनक्ति वै ।
प्रवक्ष्ये तस्य ये दोषा जायन्ते विघ्नकारकाः ॥
बाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता ।
ज्वरश्च जायते सद्यस्तद्वदज्ञानसंभवः ॥ B.127.10-11

The Mār and Vā also prescribe Yoga therapy for the above disorders (Mār. 36. 54-61; Vā. I. 11. 39-57). cf. Curative Dhāraṇās, p. 135 ff.

Aspects of Yoga

The YS (II. 29) names the eight aṅgas (steps or aspects) of Yoga as Yama (restraints), Niyama (observances), Āsana (body posture), Prāṇāyāma (control of vital airs), Pratyāhāra (withdrawal of sense-organs), Dhāraṇā (fixation of mind), Dhyāna (contemplation) and Samādhi (concentration). cf.

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥

But two of the earliest Major Purāṇas viz. Mār and Vā strike a different note. The Vā. (I. 10. 64) calls it Māheśvara Yoga and adds that (Vā. I. 10. 65; I. 10. 70-71) the Yoga is constituted of five Dharmas (aspects) declared by Maheśvara or Rudra; they are Prāṇāyāma, Dhyāna, Pratyāhārā, Dhāraṇā and Smaraṇa (thought). cf.

पञ्चधर्माः पुराणे तु रुद्रेण समुदाहृताः । Vā.I.10.65
महेश्वरेण ये प्रोक्ताः पञ्चधर्माः सनातनाः ।

तान् सर्वान् क्रमयोगेन उच्यमानान्निबोधमे ॥
प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
स्मरणं चैव योगेऽस्मिन् पञ्चधर्माः प्रकीर्त्तिताः ॥ Vā.I.10.70-71.

The Mār (ch -36) also names Prāṇāyāma, Dhāraṇā, Pratyāhāra, Dhyāna and Yoga as the means to conquer the Ātman which is difficult to be subdued. It must be noted that both these texts viz Mār and Vā do not mention Yama and Niyama while enumerating the aṅgas of Yoga, though they are mentioned by Patañjali as the first two aṅgas of Yoga. This does not mean that the Yamas and Niyamas have no place in the Yoga described by Mār and Vā. The Yamas and Niyamas are basic to all Yogīs (excepting perhaps the Tāntrikas) and as such are included by the two texts among the principles of conduct (Yogacaryā- Mār ch. 38; Saucācāralakṣaṇam - Vā. I. ch. 16) that should guide a Yogī. The third aṅga viz āsana is dealt with by these two texts before they proceed to explain 'Prāṇāyāma.'

The Vi (VI. ch. 7), K, L, Bhāg, G , Ag, N, Sk (Māheśvara and Vaiṣṇava Khaṇḍas) and Ś (on one occasion) subscribe to the aṣṭāṅga concept of Yoga.

The K (II. 11.11) names all the eight aṅgas of Yoga, mentioned by Patañjali, but not in the same order. cf.
प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
समाधिश्च मुनिश्रेष्ठा यमो नियम आसनम् ॥

L (I. 8. 7b-9) states that there are eight means to success and names the eight aṅgas mentioned by Patañjali in the same sequence. cf.
साधनान्यष्टधा चास्य कथितानीह सिद्धये ॥
यमस्तु प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयो नियमस्तथा।
तृतीयमासनं प्रोक्तं प्राणायामस्ततः परम् ॥
प्रत्याहारः पञ्चमो वै धारणा च ततः परा।
ध्यानं सप्तममित्युक्तं समाधिस्त्वष्टमः स्मृतः ॥

The Bhāg. (III. 28. 4-6) though does not name Yama and Niyama, deals with the constituents of Yama and Niyama in the first two lines and

thereafter names the remaining aṅgas of Yoga in the succeeding four lines. cf.

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥
मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥
स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथाऽऽत्मनः ॥ -Bhāg.III.28.4-6.

G (I. Ācārakāṇḍa 49. 30) holds that the knowledge of aṣṭāṅga leads one to Mukti i.e. salvation. c.f.

मुक्तिरष्टांगविज्ञानात्संक्षेपात्तद्वदे शृणु ॥

It also names (I. Ācārakāṇḍa 44.9b-11a) all the eight aṅgas of Yoga. cf.

अहिंसादिर्यमः प्रोक्तः शौचादिर्नियमः स्मृतः ॥ 9
आसनं पद्मकाद्युक्तं प्राणायामो मरुज्जयः ।
प्रत्याहारो जयः प्रोक्तो ध्यानमीश्वरचिन्तनम् ॥ 10
मनोधृतिर्धारणा स्यात्समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः ।

Ag (372.1a) explains aṣṭāṅga yoga as means to liberation from the woes of saṁsāra. cf.

संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टांगयोगकम् ।

N(I. 33. 72-74a) states that a Yogī shall destroy his ignorance or wrong knowledge by means of Yoga which is accomplished through its eight aspects. It also names the eight aṅgas as referred to by Patañjali, and in the same sequence. cf.

अज्ञानं नाशयेद्योगी योगेन मुनिसत्तम ।
अष्टांगैः सिद्ध्यते योगस्तानि वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ 72
यमाश्च नियमाश्चैव आसनानि च सत्तम ।
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च ॥ 73
समाधिश्च मुनिश्रेष्ठ योगाङ्गानि यथाक्रमम् ।

The Sk contains three different accounts of Yoga in its three Khaṇḍas viz. Māheśvara, Vaiṣṇava and Kāśī. The first two accounts viz that of

Māheśvarakhaṇḍa (Kaumarikā 55. 11b-13a) and the Vaiṣṇavakhaṇḍa (Vāsudevamāhātmya 30.9-10) do not differ in any way with Patañjali's enumeration of the aṅgas, their names and sequence. cf.

तदष्टांगप्रकारेण साधयन्तीह योगिनः ।। 11
यमश्च नियमश्चैव प्राणायामस्तृतीयकः ।
प्रत्याहारो धारणा च ध्येयं ध्यानं च सप्तमम् ।। 12
समाधिरिति चाष्टांगो योगः संपरिकीर्त्तितः ।

Sk.Māheśvarakhaṇḍa,Kaumārikā.55.11b-13a

अष्टांगयोगस्याभ्यासः श्रेष्ठः सद्यः फलप्रदः ।। 9
यमाश्च नियमा ब्रह्मन्नासनान्यसुसंयमः ।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानमंगं तु सप्तमम् ।
समाधिश्चाष्टमं प्रोक्तं योगस्यानुक्रमेण वै ।। 10

Sk.Vaiṣṇavakhaṇḍa,Vāsudevamāhātmya,30.9-10.

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Ūttarabhāga 37. 14b-15) also subscribes to the aṣṭaṅga concept of Yoga expounded by Patañjali and does in no way differ from him in the names of the eight aṅgas in their sequence. cf.

यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाद्यं तथासनम् ।। 14
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च ।
समाधिरिति योगाङ्गान्यष्टावुक्तानि सूरिभिः ।। 15

Both the above texts viz Sk and Ś after having thus subscribed to the aṣṭāṅga view of Yoga, also include the ṣaḍaṅga concept of Yoga i.e. the Yoga of six aspects which omit Yama and Niyama. This perhaps is an account of the Yoga practised by the Tāntrikas.

Thus Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.16-18b) states that Āsana, Prāṇasaṃrodha, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi are the six aṅgas of Yoga and also adds that their special characteristics have been declared in Śivaśāstra, Śivāgamas especially the Kāmikā, Yogaśāstra and a few of the Purāṇas cf.

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिर्योगश्च षडंगानि समासतः ।। 16

पृथग्लक्षणमेतेषां शिवशास्त्रे समीरितम्।
शिवागमेषु चान्येषु विशेषात्कामिकादिषु॥ 17
योगशास्त्रेष्वपि तथा पुराणेष्वपि केषु च ।

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41. 58-59) advises that anila i.e. Prāṇa or the vital airs must be regulated at the very outset for stabilizing the mind, Ṣaḍaṅga Yoga being its means. The six aṅgas named are (the same as mentioned by Ś above) Āsana, Prāṇasaṃrodha, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi. cf.

अतोऽनिलं निरुंधीत चित्तस्य स्थैर्यहेतवे।
मरुन्निरोधनार्थाय षडंगं योगमभ्यसेत्॥
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥

The distinguishing features of the Ṣaḍaṅga Yoga which is mentioned by Sk and Ś and the special significance it holds to a Yogī or a devotee of Śiva are explained in the concluding part of the chapter on Samādhi (ch. IX).

□□

CHAPTER II
YAMAS (RESTRAINTS)

Yamas (restraints) and Niyamas (observances) are the two sets of principles of conduct which a Yogī should practise in his daily life.

According to Amarakośa (Kāṇḍa II- Brahmavarga) Yamas and Niyamas are the obligatory and non-obligatory actions respectively cf.

शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः।

नियमस्तु स यत् कर्म नित्यमागन्तुसाधनम्॥

i.e. Yamas are obligatory actions depending upon the body as the means for being carried out, whereas Niyamas are acts which are not obligatory and which depend upon external aids for their performance.

Yama and Niyama are two aṅgas (aspects) which lead Patañjali's enumeration (YS. II. 29 cf. Aspects of Yoga, supra p. 36) of the eight aṅgas. Further Patañjali uses the terms 'Yama' and 'Niyama' in a technical sense and difines them as follows:

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ YS.II.30

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ YS.II.32

i.e. Ahiṃsā (non-injury), Satya (truth), Asteya (non-stealing), Brahmacarya (celibacy) and Aparigraha (non-acceptance) are the restraints.

Śauca (cleanliness), Santoṣa (contentment), Tapas (austerities), Svādhyāya (self-study) and Īśvarapraṇidhāna (surrender to God) are the observances.

Th BDS (II.10.18.2) uses the two terms 'mahāvrata' (great vow) and 'upavrata' (lesser vow) for the terms Yama and Niyama respectively and also mentions the five vows cf.

भिक्षोर्हि द्विविधानि व्रतानि भवन्ति। महाव्रतान्युपव्रतानि च।

तत्र महाव्रतान्याचष्टे। अहिंसासत्यमस्तैन्यं मैथुनस्य च वर्जनं त्याग इत्येव।

i.e. There are two types of Vratas of a Bhikṣu (Yogī) viz. (i) Greater vows and (ii) Lesser vows. The Greater vows are Ahiṃsā, Satya, Astainya (i.e. asteya or non-stealing), Maithunavarjnam (i.e. Brahmacarya or abstinence) and Tyāga (abandonment of all possessions).

According to Patañjali (YS. II. 31) the Yamas become Mahāvratas (absolute vows) only in the case of a Yogī cf.

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

Manu seems to have had knowledge of Yamas and Niyamas in their technical sense. Moreover Manu holds Yamas to be more important than the Niyamas. cf. Manu IV. 204:

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।

यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

i.e. A wise man should constantly practise the Yamas, not so the Niyamas. He who always follows the Niyamas ignoring the Yamas, thereby causes his own downfall.

Here Manu seems to follow BDS in his classification of Mahāvratas and Upavratas, who is also followed by Patañjali.

Among the Major Purāṇas, the Mār (38.16) and the Vā (I. 16.17) use the term 'vrata' [There is also one lone instance in Vā. I. 18.6, where both the terms 'Mahāvrata' and 'Upavrata' are used in the sense of Yama and Niyama respectively] instead of Yama and enumerate the Vratas as follows :

अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च त्यागोऽलोभस्तथैव च ।

व्रतानि पञ्च भिक्षूणामहिंसापरमाणि वै ॥ Mār. 38.16

अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च अलोभस्त्याग एव च ।

व्रतानि चैव भिक्षूणामहिंसा परमार्थितः ॥ Vā. I. 16.17

i.e. Asteya (non-stealing), Brahmacarya (celibacy), Tyāga (renunciation), Alobha (absence of greed) and Ahiṁsā (non-injury) are the five vows to be observed by the Bhikṣus. Thus the Mār and Vā differ from Patañjali not only (i) in the use of the term 'vrata' instead of 'Yama' used by Patañjali but also (ii) in dropping 'satya' from among the five 'vratas'/ yamas (iii) in introducing 'alobha' instead among the five and also (iv) in substituting the terms 'aparigraha' (of the Yamas of Patañjali) by the term 'tyāga'. Whereas Patañjali's 'aparigraha' means only 'non acceptance,' 'tyāga' means

abandonment of all possessions. Mār and Vā s eem to have borrowed the terms 'vrata' and 'tyāga' from BDS though they have dropped 'satya' which is included in the 'vratas' of BDS; similarly, the term 'alobha' meaning 'non-covetousness' which is newly introduced by these two texts is mentioned neither by Baudhāyana nor by Patañjali. Still Baudhāyana, Patañjali, Mār and Vā have a common factor in as much as the performance of these Yamas/Vratas is more mental than physical.

Almost all the remaining Major Purāṇas concur with Patañjali's terminology and enumeration of the Yamas which are five in number. cf. Vi. VI.7. 36 (=N.I. 47.12), Vi .VI .7.38 (=N.I. 47.14); K. II. 11.13, L .I. 8.10-11; P. Pātālakhaṇḍa 84. 42b-43a; G. I. Ācārakāṇḍa 49. 30-31 and 226.12; Ag. 372. 2-3; N.I.34.20; Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā55.14b 15a, Vaiṣṇava-khaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.11; Ś. Vāyaviyasaṁhitā Uttarabhāga 37.18 etc. cf.

ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन्॥ Vi. VI.7.36 (=N.I.47.12).
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥ K.II. 11.13
Thus according to K the Yamas cleanse or purify the mind.

The L takes Yamas to be additional constraints in the austerities and considers them basic to the Niyamas cf. L.I. 8.10-11:

तपस्युपरमश्चैव यम इत्यभिधीयते।
अहिंसा प्रथमो हेतुर्यमस्य यमिनां वराः॥
सत्यमस्तेयमपरं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
नियमस्याऽपि वै मूलं यम एव न संशयः॥

P (Pātālakhaṇḍa 84.42b-43a) calls them mental vows which please the Lord (Hari) cf.

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता॥
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः पञ्चाथ नियमाः ... ॥ G. Ācārakāṇḍa 226.12
अहिंसा सत्यास्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ॥
यमाः पञ्च स्मृता विप्र ... ॥ Ag.372.2-3

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥
एते पञ्च यमाः प्रोक्ताः श्रृण्वेषामपि लक्षणम् ।

Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā; 55.14 b-15a

तत्राहिंसाब्रह्मचर्यसत्यास्तेयापरिग्रहाः
एते पञ्च यमाः प्रोक्ताः साधनीयाः प्रयत्नतः ।

Sk. Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya, 30.11

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहः ।
यम इत्युच्यते सद्भिः पञ्चावयवयोगतः ॥ Ś. Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.18.

N. (I. 34.20) also names only five Yamas by following which the Lord is pleased. cf.

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
वर्तते यस्य तस्यैव तुष्यते जगतां पतिः ॥

Patañjali and a majority of Purāṇas mention only five Yamas (and five Niyamas). cf.

एते यमास्सनियमाः पञ्चपञ्च च कीर्त्तिताः । Vi. VI. 7.38(=N. I. 47.14)
यमाः पञ्च त्वहिंसाद्या ... । G. I. Ācārakāṇḍa 49.30
यमाः पञ्चाथ नियमाः ... । G. I. Ācārakāṇḍa. 226.12b
एते पञ्च यमाः प्रोक्ता ... । Sk. Māheśvarakāṇḍa and Vaiṣṇavakāṇḍa quoted above
यमाः पञ्च स्मृता विप्र ... । Ag. 372.2-3

But N elsewhere names seven Yamas, the additional two being akrodha (absence of anger) and anasūyā (non-jealousy). cf. N.I. 33.75 :

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
अक्रोधश्चानसूया च प्रोक्ता संक्षेपतो यमाः ॥

The YY, VS and some of the Yogopaniṣads mention Yamas which are ten in number (cf. p. 57).

The Bhāg (XI. 19.33) raises this number to twelve and names twelve Yamas and twelve Niyamas which is a later trend. cf. Bhāg. XI. 19.33-35 a:

अहिंसासत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं-स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥ 33
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।

तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ 34
एते यमा सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।

Whereas 'asañcaya' (non-accumulation) can be taken as equivalent to 'aparigraha' of Patañjali and other Purāṇas, the additional Yamas mentioned here are asaṅga (detachment), hrī (modesty), āstikya (belief in the existence of God), mauna (silence), sthairya (firmness of mind), kṣamā (forbearance) and abhaya (fearlessness). Śauca and the remaining are Niyamas.

Patañjali does not explain the five Yamas but the Smṛtis and Purāṇas do.

Ahiṃsā (Non-injury)

Ahiṃsā is the first of the Yamas. K (II. 11. 14-15a) defines it as follows:

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तं त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥
अहिंसाया परो धर्मो नास्त्यहिंसा परं सुखम् ।

i.e. The eminent sages declare that ahiṃsā consists in causing no pain to any being at any time by thought word and deed; there is no virtue superior to non-injury nor happiness higher to it.

N (I. 33.76) considers Ahiṃsā as causing no injury to any being. It leads to perfection in Yoga. cf.

सर्वेषामेव भूतानामक्लेशजननं हि यत् ।
अहिंसा कथिता सद्भिर्योगसिद्धिप्रदायिनी ॥

Ag. (372.4-7a) states that causing no injury to beings is Ahiṃsā which is the foremost of virtue. Just as the footstep of an elephant encompasses footprints of the pedestrians, similarly all the virtuous acts are covered by non-injury. Hiṁsā or injury may be caused in ten different ways viz by causing anxiety, distress or pain, by spilling blood, slandering, obstructing what is beneficial, opening vulnerable parts, denial of happiness, obstruction and actual killing. Abstaining from causing injury to any being through any of the means cited above constitutes Ahiṃsā cf.

भूतापीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः ।
यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम् ॥ 4
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते ।
उद्वेगजननं हिंसा सन्तापकरणं तथा ॥ 5
रुक्कृतिः शोणितकृतिः पैशुन्यकरणं तथा ।

हितस्यातिनिषेधश्च मर्मोद्घाटनमेव च ॥ 6
सुखापह्नुतिः संरोधो वधो दशविधा च सा।

The L (I.8.12) and Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā,55.15b-16a) are not content in confining Ahiṃsā to mere non-injury.cf.L.I.8.12:

आत्मवत्सर्वभूतानां हितायैव प्रवर्तनम्।
अहिंसैषा समारख्याता या चाऽऽत्मज्ञानसिद्धिदा ॥

i.e. Conducting oneself for the welfare of all beings just as one would for oneself is called Ahiṃsā which brings knowledge of Ātman (to the Yogīs). This positive concept of Ahiṃsā encompasses the mere non-injury as defined by K, Ag and N. Similar view is held by Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.15b-16a) cf.

आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय प्रवर्त्तते।
अहिंसैषा समाख्याता वेदसंविहिता च या ॥

Patañjali does not define Ahiṃsā. But the Vyāsabhāṣya (on YS.II.30) defines it as non-injury to all beings anytime and in any circumstances cf.

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।

Though the concept of Ahiṃsā held by K, declares it as causing no injury to any being in any circumstances, it makes an exception in as much as it adds (K.II.11.15b) that injury (to life) caused as per Vedic injunction is non-injury.cf.

विधिना या भवेद्धिंसा त्वहिंसैव प्रकीर्त्तिता ॥

The L (I.8.20) also includes this exception.cf.

अहिंसाप्येवमेवैषा द्विजगुर्वग्निपूजने।
विधिना यादृशी हिंसा सा त्वहिंसा इति स्मृता ॥

This is in keeping with the view of Manu (V.44) cf.

या वेदविहिता हिंसा ... अहिंसामेव तां विद्यात् ॥

The Vyāsabhāṣya does not leave scope for any exception.

Satya (Truth)

Satya is truthfulness– the habit of telling facts as they are. By satya is everything attained; in satya is everything established cf.K.II.11.16:

सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥

N (I. 33.77) echos the view of K in as much as it defines 'satya' as truthfulness and the habit of telling facts as they are. But it also adds that it must be done with proper regard to right and wrong. cf.

यथार्थकथनं यच्च धर्माधर्मविवेकतः ।
सत्यं प्राहुर्मुनिश्रेष्ठ ... ॥

The concept of 'satya' found in L and Sk not only encompasses the definition given by K but is also of wider ambit. cf. L. I. 8.13 (=Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā, 55. 16b-17a):

दृष्टं श्रुतं चानुमितं स्वानुभूतं यथार्थतः ।
कथनं सत्यमित्युक्तं परपीडाविवर्जितम् ॥

i.e. relating as it is seen, heard, inferred and experienced without causing any affliction to others is 'satya'. Thus both L and Sk want the speaker to guard against speaking the truth which might cause affliction to others.

The L (I. 8.14) attaches further restraints to 'satya'. cf.

नाश्लीलं कीर्तयेदेवं ब्राह्मणानामिति श्रुतिः ।
परदोषान्परिज्ञाय न वदेदिति चापरम् ॥

i.e. (while speaking truth) one must not speak in a lowly vein about Brāhmaṇas. Further, one must not speak of faults of others.

The Vyāsabhāṣya does not include all the above aspects in its definition of truth.

Manu (IV.138) gives the eternal code of truthfulness. cf.

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

i.e. One must speak the truth and the pleasant; one must not speak unpleasant truth; nor that which is untrue though pleasant. But Manu does not ask one to speak only that which is beneficial.

G. (I. Ācārakāṇḍa 49.31a) considers the truth that is to be spoken has to be beneficial to beings. cf.

सत्यं भूतहितं वाक्यम् ।

The Ag.(372.7-8) echos the views of Manu quoted above but also insists that the truth that is to be spoken has to be of immense benefit to the beings. cf.

यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम् ॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

Thus the truth that is to be spoken must not cause any affliction to other beings. Further it has to be beneficial to others which is the characteristic of truth.

Asteya (Non-stealing)

Appropriation of property belonging to others by stealth or by force is 'steya' (stealing). Non performance of it is asteya (non-stealing) which is a virtue.cf. K.II.11.17:

परद्रव्यापहरणं चौर्याद् वाऽथबलेन वा ।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥

G. (I. Ācārakāṇḍa 238.5), N (I. 33.78) and Ag. (372. 14b-15a) concur with the above view.

But the concept of 'asteya' held by G (I. Ācārakāṇḍa 49.31a), L and Sk is an advance over the above one. The G (I. Ācārakāṇḍa 49. 31a) defines it as non-covetousness of property belonging to others cf.

अस्तेयं स्वाग्रहं परम् ।

The L (I. 8.15) and Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumarīkā, 55. 17b-18a) define 'asteya' as non-covetousness in thought, word and deed of what belongs to others, even in times of adversity.cf.

अनादानं परस्वानामापद्यपि विचारतः ।
मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासतः ॥

Brahmacarya

The term 'brahmacarya' (celibacy) means 'control of sex' or ' abstinence from sexual intercourse' cf. G (I. Ācārakāṇḍa 49.31b):

अमैथुनं ब्रह्मचर्यम् ।

The K (II.11.18) explains 'Brahmacarya' as abstinence from coition at all times and in all circumstances by thought, word and deed. cf.

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

G. (I. Ācārakāṇḍa 238.6) holds similar view. But this sort of abstinence in thought, word and deed is 'Brahmacarya' enjoined upon the Yatis, Brahmacārīs (students), Vaikhānasas and especially upon those who are without wife cf. L. I. 8.16-17a:

मैथुनस्याप्रवृत्तिर्हि मनोवाक्कायकर्मणा।
ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥
इह वैखानसानां च विदाराणां विशेषतः।

For the stage of a gṛhastha, L (I. 8.17b-19) prescribes a different type of brahmacarya cf.

स्वदाराणां गृहस्थानां तथैव च वदामि वः ॥
स्वदारे विधिवत्कृत्वा निवृत्तिश्चान्यतः सदा।
मनसा कर्मणा वाचा ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ॥
मेध्या स्वनारी सम्भोगं कृत्वा स्नानं समाचरेत्।
एवं गृहस्थो युक्तात्मा ब्रह्मचारी न संशयः ॥

i.e. finding solace in one's own wife avoiding other women by thought, word and deed is stated to be brahmacarya for a householder who after having coition with one's own wife must have a bath.

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.18b-19a) also prescribes two different types of brahmacarya for the two stages of life viz. Yati and Gṛhastha. Whereas for Yatis, abstinence is by thought, word and deed, for the gṛhasthas (house-holders), finding solace in one's own wife at proper season constitutes brahmacarya. cf.

अमैथुनं यतीनां च मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
ऋतौ स्वदारगमनं गेहिनां ब्रह्मचर्यता।

The VS (I. 43-44) recommends three different types of celibacy for three stages of life cf.

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥
ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिश्च विधानतः।

ब्रह्मचर्यं च तत्प्रोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥
शुश्रूषा च गुरोर्नित्यं ब्रह्मचर्यमितीरितम् ।

The first type which is described as cessation of sexual intercourse by deed, thought and word is the one prescribed for Yatis. The second which describes celibacy as intercourse with one's own wife at proper season is meant for house-holders. The last one which defines celibacy as service to the teacher is meant for the students.

The L, Ag, and N lay down stricter rules regading Brahmacarya. The L (I. 8. 23-28a) exhorts the Yogī to give up attachment and extols abstinence. The woman is like burning coal whereas man is like a pot of ghee. Hence one must always avoid the company of woman from a distance. Desires flare up by indulgence like the fire which burns vigorously when oblations of ghee are poured in. Hence the Yogī must give up all desires which alone would lead him to immortality. Attachment leads to rebirth as low creatures. Hence the Yogī must practise non-attachment in thought, word and deed. cf.

अङ्गारसदृशी नारी धृतकुम्भसमः पुमान् ।
तस्मान्नारीषु संसर्गं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ 23
योगेन तृप्तिर्नैवास्ति विषयाणां विचारतः ।
तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनसा कर्मणा गिरा ॥ 24
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ 25
तस्मात्त्यागः सदा कार्य्यस्त्वमृतत्वाय योगिना ।
अविरक्तो यतो मर्त्यो नानायोनिषु वर्तते ॥ 26
त्यागेनैवाऽमृतत्वं हि श्रुतिस्मृतिविदां वरः ।
कर्मणा प्रजया नास्ति द्रव्येण द्विजसत्तमाः ॥ 27
तस्माद्विरागः कर्तव्यो मनोवाक्कायकर्मणा ।

Ag. (372. 9-10) defines celibacy as avoidance of intercourse which is eightfold. The eight aspects of maithuna are smaraṇa (loving remembrance), kīrtana (repeated mention), keli (amorous sport), prekṣaṇa (looking at; ogle), guhyabhāṣaṇa (secret conversation), saṅkalpa (resolution), adhyavasāya (perseverance) and kriyānirvṛti (consummation). cf.

मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यं तदष्टधा ।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥ 9

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ 10

It further adds that Brahmacarya (celibacy) is the basis of all spiritual deeds without which all deeds are futile Even eminent sages and personages advanced in years such as Vasiṣṭha, Soma (Moon), Śukra, Bṛhaspati the preceptor of gods, and the Patriarch (Brahmā) were stupefied by woman, the fourth category of surā (the other three being gauḍī, paiṣṭī and mādhvī) who stupefies the entire universe. Whereas the three categories of surā intoxicate only on consumption, the very sight of the fourth category of surā viz woman, inebriates. Hence one must avoid looking at her. cf. Ag. 372. 11-14a:

ब्रह्मचर्यं क्रियामूलमन्यथा विफला क्रियाः।
वसिष्ठश्चन्द्रमाःशुक्रो देवाचार्यः पितामहः॥ 11
तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिताः।
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया विविधा सुरा॥ 12
चतुर्थी स्त्रीसुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत्।
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति॥ 13
यस्माद्दृष्टमदा नारी तस्मात्तां नावलोकयेत्।

N (I. 33. 79-82) after having defined Brahmacarya as abstinence from intercourse at all times and in all circumstances further dilates upon it. Even a person who has acquired true knowledge becomes a sinner by giving up celibacy. A person who after having renounced all attachment resorts to intercouse is to be known a caṇḍāla shunned by all varṇas. Even mere conversation with one, who is intent in Yoga but attached to wordly objects, attracts sin equivalent to that of Brahmahatyā. Contact with one who after having once renounced all attachments, makes a recourse to wordly life leads to the sin of a heinous crime. cf.

सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रकीर्त्तितम्।
ब्रह्मचर्यपरित्यागात् ज्ञानवानपि पातकी॥ 79
सर्वसंगपरित्यागी मैथुने यस्तु वर्तते॥
स चण्डालसमो ज्ञेयः सर्ववर्णबहिष्कृतः॥ 80
यस्तु योगरतो विप्र विषयेषु स्पृहान्वितः।
तत्संभाषणमात्रेण ब्रह्महत्या भवेन्नृणाम्॥ 81

सर्वसंगपरित्यागी पुनः संगी भवेद्यदि।
तत्संगसंगिनां संगान्महापातकदोषभाक्॥ 82

The above discussion shows how much importance is attached to the concept of Brahmacarya by the Major Purāṇas.

Aparigraha

Aparigraha means non-appropriation. The K (II.11.19) defines it as non-appropriation of any object from anybody willingly even in times of adversity, which must be adhered to with all effort. cf. K. II. 11.19 (=G. I. Ācārakāṇḍa 238.7):

द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि अथेच्छया।
अपरिग्रह इत्याहुस्तं प्रयत्नेन पालयेत्॥

The N. (I.33.83) is of similar view. cf.
अनादानं हि द्रव्याणामापद्यपि मुनीश्वर।
अपरिग्रह इत्युक्तो योगसंसिद्धिकारकः॥

Th G (I. Ācārakāṇḍa 49. 31b) makes an advance over this concept. Aparigraha according to it is not mere non-acceptance as held by K and N, but it is giving up everything cf.

सर्वत्यागोऽपरिग्रहः।

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā, 55. 19b-20a) prescribes aparigraha for the Yogīs which constitutes giving up all possessions by thought, word and deed whereas for the gṛhasthas the abandonment of possessions is by thought alone. cf.

यतीनां सर्वसंन्यासो मनोवाक्कायकर्मणा।
गृहस्थानां च मनसा स्मृत एषोऽपरिग्रहः॥

The K and N (both quoted above) specify that the Yati should stick to non-acceptance even in times of adversity. But Ag (372. 15b-16) relaxes this rule and permits the Yati to accept loin cloth and a garment to cover, a patched garment to protect from cold and sandals from others but not used (?) by them. The above articles may be accepted with due consideration to one's state of health. cf. Ag. 372. 15b-16 :

कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ॥ 15
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्य्यान्नान्यस्य संग्रहम् ।
देहस्थितिनिमित्तस्य वस्त्रादेः स्यात्परिग्रहः ॥ 16

Though most of the Purāṇas (including N) concur in limiting the number of Yamas and Niyamas to five each (p. 44 supra), N on one occasion (I. 33.75) names two additional Yamas making them seven in number. The two additional Yamas named by N are Akrodha (absence of anger) and Anasūyā (absence of jealousy which are explained by N as follows:

Akrodha

Akrodha is freedom from anger. Krodha (wrath) constitutes harsh words spoken on account of one's own prosperity. The opposite of it is akrodha i.e. absence of wrath. cf. N. I. 33. 84:

आत्मनस्तु समुत्कर्षादतिनिष्ठुरभाषणम् ।
क्रोधमाहुर्धर्मविदो ह्यक्रोधस्तद्विपर्ययः ॥ N. I. 33. 84

Anasūyatā

The extreme mental torment (heart-burning) that afflicts one at the sight of the prosperity of others is termed 'jealousy' by the eminent. Freedom from it is anasūyatā i.e. 'non-jealousy' cf.

धनाद्यैरधिकं दृष्ट्वा भृशं मनसि तापनम् ।
असूया कीर्त्तिता सद्भिस्तत्त्यागो ह्यनसूयता ॥ N. I. 33. 85

This is the same as anīrṣyā referred to by N. (I. 33. 35).

□□

CHAPTER III

NIYAMAS (OBSERVANCES)

The Amarakośa (Kāṇḍa II, Brahmavarga) defines Niyama as
नियमस्तु स यत् कर्म नित्यमागन्तुसाधनम् ।

The Kṣīrasvāmiṭīkā explains it as
आगन्तु बाह्यं मृज्जलादिसाधनं यत्रेति । अत एव कृत्रिमं कर्म यदाह शौचसन्तोषनियमाः ।

Thus Niyamas are those acts or deeds which are performed with some external aid like mud, water, etc. Patañjali mentions the Niyamas as Śauca (cleanliness), Santoṣa (contentment), Tapas (austerities), Svādhyāya (self-study) and Īśvarapraṇidhāna (surrender to God). cf. YS. II. 32 (quoted under Yamas supra).

The Mahāvratas of Baudhāyana have been discussed above. The Niyamas which he calls as Upavratas are also five cf. BDS II. 10.18.3:

पञ्चैव उपव्रतानि भवन्ति । अक्रोधो गुरुशुश्रूषाऽप्रमादश्शौचमाहारशुद्धिश्चेति ॥

i.e. akrodha (non-anger), guruśuśrūṣā (service to teacher), apramāda (cautiousness), śauca (cleanliness) and āhāraśuddhi (purity of diet) are the lesser vows.

Among the five Niyamas of Patañjali, Śauca is found mentioned even in BDS (quoted above). The second Niyama of Patañjali namely, 'santoṣa' is the positive aspect of the idea of 'akrodha' of Baudhāyana. Patañjali drops altogether the concept of 'apramāda' and 'āhāraśuddhi' mentioned in BDS and substitutes them with 'tapas' and 'svādhyāya'.

The Mār and Vā seem to be more faithful to Baudhāyana than to Patañjali in the enumeration of the Niyamas cf. Mār. 38.17 (=Vā. I. 16.18):

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
नित्यस्वाध्याय इत्येते नियमाः परिकीर्त्तिताः ॥

Though 'akrodha' non-anger is not mentioned in Patañjali's Niyamas (wherein we find positive aspect of it, viz 'santoṣa') the same is found mentioned by Baudhāyana (supra). Similarly 'guruśuśrūṣā' (service to teacher or parents) is also found mentioned by Baudhāyana. Whereas Patañjali's Niyamas are based on self effort, the idea of 'guruśuśrūṣā' physically involves more than one person.

'Svādhyāya' (self-study) and 'Śauca' (cleanliness) are also included by Patañjali among the Niyamas though the former i.e. 'Svādhyāya' is not mentioned by BDS (which has 'apramāda' in its stead). The Mār and Vā enumeration of the Niyamas seems to be a blend of the upavratas of BDS and Niyamas of Patañjali.

On the other hand, a number of Major Purāṇas like Vi, K. G, Ag, Sk and Ś more or less closely follow Patañjali in the enumeration of Niyamas. cf.

स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः ॥ Vi.VI.7.37 (=N.I.47.43).
तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ताः योगसिद्धिप्रदायिनः ॥ K.II.11.20
यमाः पञ्चाथ नियमाः शौचं द्विविधमीरितम् ।
सन्तोषस्तपसा शान्तिर्वासुदेवार्चनं दमः ॥ G.I.Ācārakāṇḍa 226.12b-13a.

G thus makes two changes in the enumeration of Niyamas of Patañjali. It replaces 'svādhyāya' of Patañjali by Śānti and 'Īśvarapraṇidhāna' of Patañjali by Vāsudevārcana (cf. infra 'Īśvarapraṇidhāṇa').

शौचंसन्तोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने ॥ Ag.372.3
तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचं च हरिपूजनम् ।
संध्योपासनमुख्याश्च नियमाः परिकीर्त्तिताः ॥ N.I.33.87.

The Sk defines the Niyamas also on two occasions (just as it does in the case of Yamas) i.e. in its Māheśvara and Vaiṣṇava khaṇḍas. But whereas in the Vaiṣṇavakhaṇḍa, it replaces the Īśvarapraṇidhāna of Patañjali by Viṣṇupūjana, in the Māheśvarakhaṇḍa it replaces it by Gurubhakti, i.e. service to teacher. cf.

शौचं तुष्टिस्तपश्चैव जपो भक्तिर्गुरोस्तथा । Sk.Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.21a

शौचं तपश्च सन्तोषः स्वाध्यायो विष्णुपूजनम्।
एते च नियमाः पञ्च द्वितीयांगतया मतः॥

Sk. Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.12

The Sk. Vaiṣṇavakhaṇḍa does not explain the individual Niyamas.

The L (I. 8. 29b-30a) at first gives a confusing list of ten niyamas cf.
शौचमिज्यातपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः।
व्रतोपवासमौनं च स्नानञ्च नियमा दश॥

i.e. Śauca (cleanliness), ijyā (sacrifice), tapas (austerities), dāna (gifts), svādhyāya (self-study), upasthanigraha (control over loins), vrata (vow), upavāsa (fast), mauna (silence) and snāna (bath) are the ten Niyamas. Of these ten, the first and the last mentioned concepts viz 'śauca' and 'snāna' are overlapping, 'ijyā' (sacrifice) and 'dānā' (gift) are duties not relevant to the last āśrama i.e. a Yogī, 'vrata', 'upavāsa' and 'mauna' are parts of tapas (austerities) and 'upasthanigraha' is the same as brahmacarya which is included in the Yamas. As such these two lines are probably interpolations. Further, these two lines are immediately followed by another enumeration of Niyamas. cf. L. I. 8. 30b-31a:

नियमः स्यादनीहा च शौचं तुष्टिस्तपस्तथा।
जपः शिवप्रणीधानं ... ॥

i.e. Anīhā (desirelessness), śauca, tuṣṭi (contentment), tapas, japa (chanting) and Śivapraṇīdhāna (surrender to or concentration on Śiva). In this enumeration the concept of 'anīhā' is additional. But the text explaining the individual observances which follows immediately after the enumeration, omits 'anīhā' altogether and begins with the explanation of 'śauca'. Secondly, this text substitutes Śivapraṇidhāna in place of Īśvarapraṇidhāna of Niyamas of Patañjali.

The Yogopaniṣads such as the Darśanopaniṣad (2.1), the Triśikhibrāhmaṇopaniṣad (33b-34a), the Varāhopaniṣad (5.13b-14) and Śāṇḍilyopaniṣad (I. 2. 1) name ten niyamas which as we have already stated above is a later trend.

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.19) enumerates five Niyamas as follows:

शौचं तुष्टिस्तपश्चैव जपः प्रणिधिरेवच।
इति पञ्च प्रभेदस्यान्नियमः स्वांशभेदतः॥

The Ś does not explain individual Niyamas.

Śauca

The BDS, Patañjali and the Major Purāṇas including Mār and Vā mention Śauca among Niyamas (lesser vows). But the VS (I. 38), YY. (I. 50) and Yogapaniṣads like the Darśanopaniṣad (I. 6), Triśikhibrāhmaṇopaniṣad (32), Varāhopaniṣad (V. 12) and the Śāṇḍilyopaniṣad (I. 1.4) include it under Yamas. cf.

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥ VS.I.38

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश॥ YY.I.50

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश॥
Darśanopaniṣad I. 6 = Triśikhibrāhmaṇopaniṣad 32 = Varāhopaniṣad V. 12 = HP. I. 55.

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यादयार्जवक्षमाधृतिर्मिताहारश्शौचं चेति यमा दश॥
Śāṇḍilyopaniṣad I. 1.4

Though Mār. does not explain the Niyamas, it speaks of the two kinds of Śauca, viz bāhya (external) and ābhyantara (internal), the performance of which must necessarily precede Pratyāhāra (withdrawal of senses) cf.

सबाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनाभितः॥
पूरयित्वा बुधो देहं प्रत्याहारमुपक्रमेत्। Mār 36.34-35

According to Gautama Dharmasūtra (VIII. 24), Śauca is one of the ātmaguṇas. The BDS and Smṛtiś like those of Hārīta, Dakṣa, etc and Major Purāṇas divide Śauca into two viz bāhya (external) and antara (internal), the first being effected with water and earth whereas the latter is purity of sentiments. cf.

शौचं च द्विविधं प्रोक्तं ब्राह्ममाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथांतरम्॥ Dakṣasmṛti. 5.3.
मनःशुद्धिरन्तश्शौचम्। BDS. I.5.8.3

Among the early Major Purāṇas, it is the K alone which explains the Niyamas. cf. K. II. 11.28.

बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम्॥

i.e. Śauca is twofold, bāhya (external) and abhyantara or antara (internal). Purification of the body by means of clay, water, etc is bāhya (as bathing, etc) and the purification of mind (by all virtues) is known as 'antara'.

As to the desirability of a Śauca, N states,

शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजो स्मृतः ।

शौचाचारविहीनस्य समस्तं कर्म निष्फलम् ॥ N.I.27.8

i.e. one must always be intent upon cleanliness; for cleanliness is basic (characteristic) to a twice born. All other actions of a person who lacks in cleanliness are futile.

The L (I. 8. 31b-33a) prescribes the Āgneya (by smearing ashes) or Vāruṇa (by water) bath for the Śiva devotees for external purification which is to be followed by internal purification which is superior. cf.

बाह्यमाभ्यन्तरं प्रोक्तं शौचमाभ्यन्तरं वरम् ॥ 31

बाह्यशौचेन युक्तः संस्तथा चाभ्यन्तरं चरेत् ।

आग्नेयं वारुणं बाह्यं कर्तव्यं शिवपूजकैः ॥ 32

स्नानं विधानतः सम्यक् पश्चादाभ्यन्तरं चरेत् ।

The Ag (372. 17b-18) also speaks of the two types of bath, external which is effected by clay and water and the internal which is of pure sentiments. Both together constitute śuci. cf.

शौचस्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ॥ 17

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धेरथान्तरम् ।

उभयेन शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतरः शुचिः ॥ 18

The N (I. 33. 100) states that cleanliness is twofold depending upon it being external or internal. External cleanliness is by means of clay and water and the internal is by mental purity. cf.

बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं तु द्विविधं स्मृतम् ।

मृज्जलाभ्यां बहिःशुद्धिर्भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ 100

Major Purāṇas like L and N dwell much upon this topic in order to emphasize the relative importance of the latter type of śauca viz internal or mental. The L (I. 8. 33b-36) points out that a person who after having

rubbed his body with clay/earth, always takes dips in the holy waters remains impure if devoid of internal purity. Further it pointedly asks, do the mosses (aquatic plants), the various types of fishes and the fishermen who earn their living by (catching) fish become pure merely because they are always immersed in the water. Hence one must always perform proper internal purification by bathing in the waters of self-knowledge, smearing oneself with the anointment of pure mental disposition and with the clay of non-attachment (as cleansing material) cf. L. I. 8. 33b-36 :

आदेहान्तं मृदालिप्य तीर्थतोयेषु सर्वदा ॥ 33
अवगाह्यापि मलिनो ह्यन्तःशौचविवर्जितः ।
शैवलाः झषका मत्स्याः सत्त्वा मत्स्योपजीविनः ॥ 34
सदावगाह्य सलिले विशुद्धाः किं द्विजोत्तमाः ।
तस्मादाभ्यन्तरं शौचं सदा कार्यं विधानतः ॥ 35
आत्मज्ञानाम्भसि स्नात्वा सकृदालिप्य भावतः ।
सुवैराग्यमृदा शुद्धः शौचमेवं प्रकीर्त्तितम् ॥ 36

The N (I. 33. 101-108) is more emphatic about the importance of internal purity and is more severe on those who perform various meritorious deeds without a pure mind. It states that all the various sacrifices performed by one without internal purity do not bear fruit like the oblations made into ashes. All the good deeds of a person without mental purity are futile. Hence one must abandon passion (and other emotions) in order to be happy, A person with a wicked (evil) mind who has externally cleansed himself with heaps of clay/earth (as cleansing material) and thousands of jars of water is still to be considered equal to a caṇḍāla. Even the very worship performed by a person without mental purity kills himself and leads him to hell. A person who effects only the external cleanliness to the exclusion of the internal one is like a well decorated pot of liquor; he does not attain peace. The shrines/holy places do not purify a person undertaking a pilgrimage without mental purity. He is like a pot of liquor in the water (washed only externally). He who while preaching righteousness is always bent upon evil is a criminal. But he who with a pure mind conducts himself righteously attains infinite merit and lasting peace. cf.

अन्तःशुद्धिविहीनस्तु येऽध्वराविविधाकृताः ।
न फलन्ति मुनिश्रेष्ठ भस्मनि न्यस्तहव्यवत् ॥ 101
भावशुद्धिविहीनानां समस्तं कर्म निष्फलम् ।
तस्माद्रागादिकं सर्वं परित्यज्य सुखी भवेत् ॥ 102

मृदाभारसहस्रैस्तु कुंभकोटिजलैस्तथा।
कृतशौचोऽपि दुष्टात्मा चण्डालसदृशः स्मृतः॥ 103
अन्तःशुद्धिविहीनस्तु देवपूजापरो यदि।
तमेव दैवतं हन्ति नरकं च प्रपद्यते॥ 104
अन्तःशुद्धिविहीनश्च बहिःशुद्धिं करोति यः।
अलंकृतः सुराभाण्ड इव शान्तिं न गच्छति॥ 105
मनश्शुद्धिविहीना ये तीर्थयात्रां प्रकुर्वते।
न तान्पुनन्ति तीर्थानि सुराभाण्डमिवापगा॥ 106
वाचा धर्मान् प्रवदति मनसा पापमिच्छति।
जानीयात्तं मुनिश्रेष्ठ महापातकिनां वरम्॥ 107
विशुद्धमनसा ये तु धर्ममात्रमनुत्तमम्।
कुर्वंति तत्फलं विद्यादक्षयं सुखदायकम्॥ 108

The P (II.66.86) holds Bhāvaśuddhi or mental purity to be supreme which is essential in all deeds cf.

भावशुद्धिः परं शौचं प्रमाणं सर्वकर्मसु॥

Hence one should with effort properly cleanse the mind which would render all external cleanliness superfluous. cf. P. II. 66.90 :

चित्तं शोधय यत्नेन किमन्यैर्बाह्यशोधनैः॥

One who has thus cleansed one's mind obtains not only heaven but liberation as well. cf. P. II. 66.91a:

भावतः शुद्धिशुद्धात्मा स्वर्गं मोक्षं च विन्दति॥

The Sk (Nāgarakhaṇḍa 228. 17) prescribes the twofold cleanliness external as well as internal, the external to be effected with water whereas the latter is to be effected with Śraddhā, i.e. faith. cf

शौचं च द्विविधं ग्राह्यं बाह्यमाभ्यन्तरं सदा।
जलशौचं तथा बाह्यं श्रद्धया चान्तरं भवेत्॥ 228.17

Though the various texts on Yoga speak of antaḥśuddhi or ābhyantara śauca i.e. internal purification, they are silent over the means of purification, i.e. for mental purification or for bhāvaśuddhi or pure mental disposition. The Vyāsabhāṣya (on YS. II. 32) also refers to the inner purification or cleansing of the mind though it does not prescribe means for the same. cf.

आभ्यन्तरं (शौचं) चित्तमलानामाक्षालनम् ॥
i.e. the inner purification is the cleansing of the impurities of the mind.

The Bhagavadgītā (18. 5) mentions yajña (sacrifices), dāna (gifts) and tapas (austerities) as the means of the purification of mind. cf.

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

The VS (I. 51) prescribes dharma (which includes all the three means referred to by the Gītā) and adhyātmavidyā (science of self) as the means. cf.

मनःशुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविद्यया । VS.I.51.

The L (I. 35. 36 quoted above) also prescribes bath in the waters of Jñānāmbhas i.e. self-knowledge (same as Adhyātmavidyā of VS quoted above), smearing with the anointment of pure mental disposition and the clay of non-attachment (as cleansing material) for internal purification.

G (I. Ācārakāṇḍa 226. 38) prescribes Dhyāna (contemplation), Pūjā (worship with flowers etc), japa (chanting), stotra (repetition of hymns), vrata (vows), yajña (rituals) and dāna (gifts) for achieving purification of mind which also leads to jñāna i.e. self-knowledge. cf.

ध्यानेन पूजया जप्यैः सम्यक्स्तोत्रैर्यतव्रतैः ।
यज्ञैर्दानैश्चित्तशुद्धिस्तया ज्ञानञ्च लभ्यते ॥

The VS (quoted above) covers all these means by its term Dharma and Adhyātmavidyā.

In so far as śauca requires some external aids like water or loose earth/clay for its performance, it is only fit to consider it a Niyama or lesser vow as is done by Baudhāyana and the Major Purāṇas and not as Yama or major vow which texts like VS and the Yogopaniṣads consider it to be. For, according to Amarakośa (quoted above), the Niyamas are acts which (are not obligatory and which) depend upon external aids for their performance.

Santoṣa (contentment)

Santoṣa is the second Niyama of Patañjali. Santoṣa (contentment) is a feeling of satisfaction over what (wealth) comes of its own accord. cf.

यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ।
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ॥ K.II.11.27

The G (I. Ācārakāṇḍa 49. 32) in its terse statement explains 'tuṣṭi' (satisfaction) as santoṣa. cf.

तुष्टिश्च सन्तोषः ॥

L (I. 8. 37b-38a) states that a person who is content by the right means of livelihood and does not rue over the past loss of wealth remains ever contented. cf.

न्यायेनागतया वृत्त्या सन्तुष्टो यस्तु सुव्रतः ॥
सन्तोषस्तस्य सततमतीतार्थस्य चास्मृतिः ।

Ag (327. 19a) supports the view of K (above) that it is a feeling of satisfaction over what (wealth) comes of its own accord. cf.

यथाकथञ्चित्प्राप्त्या च सन्तोषस्तुष्टिरुच्यते ॥

The N (I. 33. 97-99) elaborates the concept further: The satisfaction over what comes of its own accord is known as santoṣa (contentment). A person devoid of contentment does not gain quietude. Desire does never get pacified by its fulfilment. The desire to gain more flares it up. Hence after having banished all desire which is injurious to health one must feel contented with what comes of its own accord by following right conduct. cf.

यदृच्छालाभसन्तुष्टिः सन्तोष इति गीयते ।
सन्तोषहीनः पुरुषो न लभेच्छर्म कुत्रचित् ॥ 97
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
इतोऽधिकं कदा लप्स्य इति कामस्तु वर्धते ॥ 98
तस्मात्कामं परित्यज्य देहसंशोषकारणम् ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो भवेद्धर्मपरायणः ॥ 99

As stated above, 'santoṣa', the second Niyama of Patañjali is the positive aspect of 'akrodha' of Baudhāyana and of the earliest of Purāṇas viz. Mār and Vā. cf. supra. p. 54.

Tapas (Austerities)

As stated above, three upavratas viz guruśuśrūṣā, apramāda and āhāraśuddhi of Baudhāyana are substituted by Patañjali with his own three concepts of tapas, svādhyāya and Īśvarapraṇidhāna.

The Mār and Vā drop 'apramāda' of Baudhāyana and have 'guruśuśrūṣā', 'svādhyāya' and āhāralāghava besides 'akrodha' and 'śauca' which make up the five Niyamas. Thus these two earliest of the Major Purāṇas also drop the concept of 'tapas'.

The Vi (VI. 7. 37) which mentions 'tapas' in the enumeration of the Niyamas, does not explain the concept. The K explains 'tapas' as the emaciation of the body by undertaking upavāsa (fast) and vows such as parāka, kṛcchra, cāndrāyaṇa, etc. cf.

उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥ K.II.11.21

G (I. Ācārakāṇḍa 49.32) describes 'tapas' as restraint of senses. cf.
तपश्चेन्द्रियनिग्रहः ।

But this is only partially true. For, the complete control of all sense-organs is technically called Pratyāhāra, the fifth aspect of aṣṭāṅga yoga.

The L (I. 8. 38b) is content by stating that performance of cāndrāyaṇa and other vows constitutes, tapas. cf.

चान्द्रायणादिनिपुणस्तपांसि सुशुभानि च ।

The Ag (372. 19b-21a) explains 'tapas' as the concentration or union of mind and the indriyas. Further, it explains the three fold viz verbal, mental and physical nature of tapas- verbal constituted of repetition of mantras and chanting, mental constituted of purging rāga (passion) and the physical constituted of the performance of worship of God. All three together constitute supreme Dharma. cf.

मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं तप उच्यते ॥
तज्जयः सर्वधर्मेभ्यः स धर्म पर उच्यते ।
वाचिकं मन्त्रजप्यादि मानसं रागवर्जनम् ॥
शारीरं देवपूजादि सर्वदन्तु त्रिधा तपः ।

The N (I. 33. 88) following K (above) defines 'tapas' as emaciation of the body by cāndrāyaṇa and other vows, which is the best means of Yoga. cf.

चान्द्रायणादिभिर्यत्र शरीरस्य विशोषणम् ।
तपो निगदितं सद्भिर्योगसाधनमुत्तमम् ॥

The Sk also describes 'tapas' as the performance of cāndrāyaṇa and other vows with light diet. cf.

चान्द्रायणादीनि पुनस्तपांसि विहितानि च।

आहारलाघवपर: कुर्यात्तत्तप उच्यते ॥ -Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.24.

Svādhyāya

Svādhyāya (self-study) is mentioned among the Niyamas by Patañjali and almost all Purāṇas including Mār and Vā although it is not mentioned by the BDS which has 'apramāda' in its stead (cf. pp. 54-55).

Neither the Mār nor Vā define or explain the individual Niyamas. But the Mār has one whole chapter i.e. ch 39 titled "Omkāravarṇana" in which it speaks of Svādhyāya. It states that the study of the single syllable "Om" leads the Yogī to communion with God. cf. Mār 39. 3 :

तत्प्राप्तये महत्पुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत्।

तदेवाध्ययनं तस्य स्वरूपं शृण्वत: परम्॥

[Thereafter the text follows with a long description of the nature of 'Om' cf. Mār. 39. 4-17]

By means of contemplation on Praṇava (compared to a bow) the Ātman (compared to an arrow) must swiftly proceed towards the unparalleled Brahma and with unswerving concentration pierce that Brahma getting fully soaked with it like the arrow. cf.

प्राणो (प्रणवो) धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्मवेध्यमनुत्तमम्॥

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। Mār 39.7-8 (=Dhyānabindu Upaniṣad 14b-15a)

By perfect practice of Omkāra, the Yogī gets suffused with it and strikes communion with akṣara i.e. Para Brahman. cf. Mār. 39. 7a :

तथोङ्कारमयो योगी त्वक्षरे त्वक्षरो भवेत्।

The single-syllabled 'omkāra' of three and a half mātrā duration is identified with the three Vedas, three worlds, three agnis, the three deities viz Viṣṇu, Brahmā and Hara, all that is encompassed by sat and asat and also with Para Brahman or the Absolute. One who properly realises it or continuously studies the same, escapes the wheel of saṁsāra (cycle of birth and death), cuts loose from the threefold entanglement and gets merged in Para Brahman, the Supreme Self. cf. Mār. 39. 14b-16a :

इत्येतदक्षरं ब्रह्म परमोंकारसंज्ञितम् ॥
यस्तु वेद नरः सम्यक्तथा ध्यायति वा पुनः ।
संसारचक्रमुत्सृज्य त्यक्तत्रिविधबन्धनः ॥
प्राप्नोति ब्रह्मणि लयं परमे परमात्मनि ।

Patañjali deals with the same topic in his two sūtras viz. YS. I. 27 (which means) His designation is Om and YS. I. 28 (which means) constant repetition and meditation on its meaning).

The K (II. 11. 22-26) holds that svādhyāya helps in the purification of the sattva material in the body. According to it svādhyāya constitutes japa not only of Praṇava but also of Vedānta, Śatarudrīya, etc. It classifies svādhyāya into three kinds viz vācika (verbal), upāṁśu (semi-verbal) and mānasa (mental), each succeeding one being superior to each preceding one. Reading clearly and audibly is known as vācika. It is upāṁśu (semi-verbal) when only the lips move, but no sound is audible. In the third type of svādhyāya the lips do not move and the words are only thought of (accompanied with the thinking of its meaning). This type of Japa is known as mānasa (mental) and is the highest. cf.

वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः ।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥ 22
स्वाध्यायस्य त्रयो भेदाः वाचिकोपांशुमानसाः ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं प्राहुर्वेदार्थवेदिनः ॥ 23
यः शब्दबोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथ लक्षणम् ॥ 24
ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।
उपांशुरेष निर्दिष्टः साहस्रो वाचिकाज्जपः ॥ 25
यत्पदाक्षरसंगत्या परिस्पन्दनवर्जितम् ।
चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः ॥ 26

Whereas Mār and Patañjali restrict the svādhyāya to repetition of Praṇava, K recommends Vedānta and Śatarudrīya as well for Japa.

The L recommends chanting of Praṇava. It also mentions the three types of svādhyāya mentioned by K viz vācika, upāṁśu and mānasa, each

succeeding one being superior to the preceding one. The mental chanting of Pañcākṣara (i.e. namaḥ śivāya) is also recommended. cf. L. I. 8. 39-40a:

स्वाध्यायस्तु जपः प्रोक्तो प्रणवस्य त्रिधा स्मृतः ।
वाचिकश्चाऽधमो मुख्य उपांशुश्चोत्तमोत्तमः ॥
मानसो विस्तरेणैव कल्पे पञ्चाक्षरे स्मृतः ।

The G (I. Ācārakāṇḍa 49-33a) defines svādhyāya as chanting of mantra. cf.

स्वाध्यायः स्यान्मन्त्रजपः ।

Following Patañjali, it prescribes the japa of Praṇava alone for svādhyāya. cf. G. I. Ācārakāṇḍa 226.23-24

ब्रह्मरूपं महापुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत् । 226.23
.... ॐकारं सततं जपेत् । 226.24

Elsewhere it recommends the japa of the six-syllabled mantra of Viṣṇu i.e. "Om namo Viṣṇave" and the twelve syllabled Gāyatrī. cf. G. I. Ācārakāṇḍa 235.25:

ॐ नमो विष्णवे षडक्षरश्च जप्तव्यो गायत्री द्वादशाक्षरी ॥

The Ag (372. 21b-29) follows Mār and Patañjali and holds japa of Praṇava alone as svādhyāya, while explaining its all enveloping significance. Om is Akṣara i.e. the Para Brahma. It repeats the verse of Mār (39. 7b-8 =Dhyānabindu Upaniṣad 14b-15a) quoted above.

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā, 55. 25a) states that svādhyāya consists of Japa of Praṇava, etc. cf.

स्वाध्यायस्तु जपः प्रोक्तः प्रणवाभ्यसनादिकः ॥

The N. (I. 33. 89-96) defines svādhyāya as chanting of the Praṇava, Upaniṣads, the twelve lettered (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) or eight syllabled (ॐ नमो वासुदेवाय) mantras, and of the mahāvākyas viz तत्त्वमसि, सोऽहं ब्रह्मास्मि, etc. It also mentions the threefold classification of Japa into vācika, upāṁśu and mānasa and concludes by stating that japa performed everyday propitiates the deity (cf. YS. II. 44 : स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः : i.e. self-study leads to communion with God) and fulfilment of all desires. cf.

प्रणवस्योपनिषदां द्वादशार्णस्य च द्विज ।
अष्टाक्षरस्य मन्त्रस्य महावाक्यचयस्य च ॥ 89

जपः स्वाध्याय उदितो योगसाधनमुत्तमम्।
स्वाध्यायं यस्त्यजेन्मूढस्तस्य योगो न विद्यते ॥ 90
योगं विनाऽपि स्वाध्यायात्पापनाशो भवेन्नृणाम्।
स्वाध्यायैस्तोष्यमाणाश्च प्रसीदन्ति हि देवताः ॥ 91
जपस्तु त्रिविधः प्रोक्तो वाचिकोपांशुमानसः।
त्रिविधेऽपि च विप्रेन्द्र पूर्वात्पूर्वात्परो वरः ॥ 92
मन्त्रस्योच्चारणं सम्यक्स्फुटाक्षरपदं यथा।
जपस्तु वाचिकः प्रोक्तः सर्वयज्ञफलप्रदः ॥ 93
मन्त्रस्योच्चारणे किञ्चित्पदात्पदविवेचनम्।
स तूपांशुर्जपः प्रोक्तः पूर्वस्माद्विगुणोऽधिकः ॥ 94
विधाय ह्यक्षरश्रेण्यां तत्तदर्थविचारणम्।
स जपो मानसः प्रोक्तो योगसिद्धिप्रदायकः ॥ 95
जपेन देवता नित्यं स्तुवतः संप्रसीदति।
तस्मात्स्वाध्यायसंपन्नो लभेत्सर्वान्मनोरथान् ॥ 96

Besides Praṇava, the repetition of which alone is recommended by Mār and Patañjali, the N prescribes repetition of the Upaniṣads, the twelve lettered and eight lettered mantras and the Mahāvākyas in addition. Further, following Patañjali it claims that daily svādhyāya propitiates the deity.

Āhāralāghava

Āharalāghava (moderate diet) is the Niyama mentioned by Mār (38. 17) and Vā (I. 16. 18) in place of Āhāraśuddhi of Baudhāyana. Patañjali does not mention it in his Niyamas. Govindasvāmin on BDS (II. 10. 18. 3) explains it as

आहारदोषोऽपि त्रिधा भवति जात्याश्रयनिमित्तैर्लसुनपतितकेशादिभिस्तदाहारशुद्धिः ॥

i.e. impurity of food is caused in three ways viz jāti (on account of its being a particular species forbidden as such in Smṛtis) like lasuna (garlic), āśraya (contact) like that of a patita and nimitta (by reason of an occasion or chance reason) viz that defiled by hair, etc. One who avoids food forbidden for the above reasons is said to be pure so far as diet is concerned. But āhāralāghava of Mār seems to mean moderate diet, limited food or temperance in diet which is variously mentioned by the Smṛtis, Yoga Upaniṣads and Haṭha Yoga texts as laghvāhāra, mitāhāra or mitabhojana. cf. Śāṇḍilyopaniṣad I. 1. 13 :

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः ॥

i.e. mitāhāra is eating well-lubricated and sweet food, leaving a quarter (of the stomach) empty.

The B makes repeated mention of laghvāhāra or mitāśana with reference to a Yogī's diet. cf:

लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ B. 129.32
उपद्रवांस्तथा योगी हितजीर्णमिताशनात् ॥ B. 130.46
धूतपापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ B. 130.55
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ B. 135.53a

The diet recommended to a Yogī by B (127.6) includes saktu (flour of fried grains), yavāgū (rice gruel), takra (buttermilk), mūla (roots) fruits, milk, yāvaka (barley food), kaṇa (ears of corn) and piṇyāka (oil cake) cf.

भुञ्जन्सक्तुं यवागूं च तक्रमूलं फलं पयः ।
यावकं कणपिण्याकमाहारं योगसाधनम् ॥

This is almost the same diet recommended by Mār to a Yogī cf. Mār. 38.11-12a:

भैक्ष्यं यवागूं तक्रं वा पयो यावकमेव वा ।
फलं मूलं प्रियंगुं वा कणपिण्याकसक्तवः ॥
इत्येते च शुभाहारा योगिनां सिद्धिकारकाः ।

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55. 69b-70a) advises a Yogī to consume only sāttvika food in case he wishes to succeed in Yoga practice, for the rājasa and tāmasa food do not bring him success. cf.

आहाराः सात्त्विकाश्चैव संसेव्या सिद्धिमिच्छता ॥
राजसैस्तामसैश्चैव योगी सिद्ध्येन्न कर्हिचित् ।

Thereafter it mentions the diet which is considered to bring success to a Yogī, which is the same recommended by Mār, quoted above. cf.

भैक्षं यवान्नं तक्रं वा पयो यावकमेव वा ॥ 71
फलमूलं विपक्वं वा कणपिण्याकसक्तवः ।
श्रुता इत्येत आहारा योगिनां सिद्धिकारकाः ॥ 72

Sk Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.71-72

Though Mitāhāra is not reckoned to be a Yama by Patañjali, the Major Purāṇas or even by a majority of Yogopaniṣads, it is reckoned not only as Yama (VS, Darśanopaniṣad, HP) but as the most important one by some of the texts. cf.

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ॥

Śāṇḍilyopaniṣad I. 1.4

लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतर: ।। Yogatattvopaniṣad 28
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहार: शौचं चेति यमा दश ।। Darśanopanisad.I.6
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृति: ।
दयार्जवमिताहारा: शौचं चैव यमा दश ।। HP.I.55

Patañjali's Yamas and Niyamas had some underlying principle. No such principle seems to have been adhered to by the above-quoted texts which include śauca and mitāhāra in the Yamas. Patañjali's Yamas do not require any extraneous aid for their performance. But 'mitāhāra' and 'śauca' (which are included among the Yamas by the above texts) involve some extraneous aid for their observance. Still, the texts quoted above show that there was a tradition which not only included 'mitāhāra' among the Yamas but also considered it to be the most important of the Yamas.

Īśvarapraṇidhāna

The five dharmas (aspects) of Māheśvara Yoga as prescribed by Vā (I. 10. 71) are Prāṇāyāma, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna and Smaraṇa (cf. Aṣṭāṅgayoga, p. 36). The last mentioned i.e. smaraṇa meaning remembrance (of God) which follows Dhyāna, presumably culminated into mokṣa of the Yogī.

Īśvarapraṇidhāna (concentration or surrender to god) is the fifth Niyama of Patañjali.

In place of Patañjali's Īśvarapraṇidhāna, which does not specify any deity, the Vi advises concentration of mind on Para Brahman cf. Vi VI.7.37.

कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मन: ।

The K (II. 11.20) mentions Īśvarapūjana in place of Īśvarapraṇidhāna and further explains it (K.II. 11.29) as

स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मन:कायकर्मभि: ।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ।।

i.e, Īśvarapūjana consists of praising, remembering and worship of Śiva through acts verbal, mental, and physical respectively with unflinching devotion towards him (Śiva).

The K (II. 11. 97-98) also recommends worship of the Liṅga at any place and adds that the ritualists consider the Liṅga to exist in the (sacrificial) fire, the wise in the water, sky or the sun, the fools in wood etc. (i.e. idols made of wood and other material) and the Yogis in the core of their heart. cf

तस्माल्लिङ्गेऽर्चयेदीशं यत्र क्वचन शाश्वतम् ॥ 97
अग्नौ क्रियावतामप्सु व्योम्नि सूर्ये मनीषिणाम् ।
काष्ठादिष्वेव मूर्खाणां हृदि लिङ्गं तु योगिनाम् ॥ 98

Like Vi, the B (127.24) also suggests Para Brahman as the goal. cf.
यदा निर्विषयं चित्तं परे ब्रह्मणि लीयते ।
समाधौ योगयुक्तस्य तदाऽभ्येति परं पदम् ॥

The L (I. 8 .40b-41a) specifies Śiva as the deity one must meditate upon in thought, word and deed and also includes knowledge about Śiva and unwavering devotion to the teacher. cf.
तथा शिवप्रणीधानं मनोवाक्कायकर्मणा ।
शिवज्ञानं गुरोर्भक्तिरचला सुप्रतिष्ठिता ॥

The concept of Gurubhakti (embedded in Śiva praṇidhāna) seems to have been borrowed from guruśuśrūṣā mentioned by BDS, Mār and Vā (all quoted above).

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā, 55. 25b) recommends Gurubhākti (in place of Īśvarapraṇidhāna of Patañjali) which as defined by L includes śivajñāna as well cf.
शिवज्ञानं गुरोर्भक्तिर्गुरुभक्तिरिति स्मृतः ॥ 25

The G (I. Ācārakāṇḍa 49.37a) concurs with Vi in as much as it specifies concentration of mind on Brahman, cf.
अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिर्ब्रह्मणः स्थितिः ॥

The Ag (372.31b-32a, 34) like K substitutes Īśvarapūjana in place of Īśvarapraṇidhāna of Patañjali but specifies arcana (worship with offering) to Viṣṇu by any one of the three methods viz Vedic, Tāntric or Miśra (mixed) cf.

विन्यस्य पूजयेद्विष्णुं जपेद्वै भुक्तिमुक्तये ॥ 31
जुहुयाच्च तिलाज्यादि सर्वं संपद्यते नरे ॥ 32a

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितैकेन विधिना हरिमर्चयेत्॥ 34

The Bhāg (XI.27.7) also mentions the three methods of worship viz Vedic, Tāntric or Mixed. cf.

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥

But it considers intent devotion as the most potent means to realization of the Supreme among all means such as yoga, sāṅkhya, svādhyāya, tapas and tyāga cf.

न साधयामि मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्मयोर्जिता॥ Bhāg. IX. 14.20.

The N (I.33.87a) advocates Haripūjana cf.

तपः स्वाध्यायसन्तोषः शौचं च हरिपूजनम्।

It further explains Haripūjana (N.I.33.109) as follows:

कर्मणा मनसा वाचा श्रुतिश्रवणपूजनैः।
हरिभक्तिर्दृढा यस्य हरिपूजेति गीयते॥

i.e. Devotion to Hari stabilised by means of listening, eulogy and worship, mentally, verbally and physically is called real Haripūjā.

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.12a) specifies Viṣṇupūjana in place of Īśvarapraṇidhāna of Patañjali. cf.

शौचं तपश्च सन्तोषः स्वाध्यायो विष्णुपूजनम्॥

The importance gained by arcanā (worship with offering) in self-realization is brought out by the same text (Ibid. 29.48) which holds that all means such as intent austerities, Vedic study (Japa), practice of Sāṅkhya and Yoga etc pursued by even highly intellectual aspirants do not lead to success without worship of Hari. cf.

महारता भूरि तपस्विनोऽपि स्वधीतवेदाऽपि बुद्धिमन्तः।
सांख्यं च योगं परिशीलयन्तः सिद्धिं न यान्त्येव विनाऽर्चनं हरेः॥

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya, chs 26-30) explains Kriyāyoga or Pūjāviddhi or an elaborate arcana of Vāsudeva with offering of many upacāras.

Thus whereas Vā speaks of only "smaraṇa" i.e. mere remembrance and Patañjali concludes by giving only broad direction of Īśvarapraṇidhāna i.e. concentration on God without specifying any particular deity, other Major Purāṇas specify the deity as Para Brahman, Śiva, Viṣṇu or Hari. Further the Īśvarapūjana, Śivapraṇidhāna or Haripūjana mentioned by them is a more complicated process than mere smaraṇa (remembrance) and Īśvarapraṇidhāna (concentration on or surrender to God) advocated by the Vā and Patañjali respectively. Again, the concepts of smaraṇa (of Vā) and Īśvarapraṇidhāna (of Patañjali) do not invlove any other external material where as the Śivapraṇidhāna or Īśvarapūjana or arcana advocated by the Major Purāṇas involve the offering of many upacāras.

Similarly whereas the Svādhyāya recommended by Mār and Patañjali is restricted to the repetition of Praṇava alone, the Major Purāṇas prescribe the study and repetition of Vedānta, Śatarudrīya, Pañcākṣara, Ṣaḍakṣara, Aṣṭārṇa and Dvādaśārṇa mantras and the Mahāvākyas in addition.

Āhāralāghava is the Niyama mentioned by Mār (38.17) and Vā (I.16.18) in place of Āharaśuddhi of the BDS. Whereas the former seems to mean moderate diet, limited food or temperance in diet, the Āhāraśuddhi mentioned by BDS means abstinence from taking food forbidden on account of certain impurities. Patañjali does not include Āhāraśuddhi or Āhāralāghava in his Niyamas.

Whereas Patañjali's Niyamas are based on self-effort, the idea of Guruśuśrūṣā found in BDS and followed by Mār and Vā physically invloves more than one person.

Similarly Yogatattvopaniṣad 29, Hārīta (quoted in Kṛtyakalpataru, Gṛhasthakāṇḍa 303) and Dattātreya Yogaśāstram are the only texts that include Ahiṁsā among the Niyamas and consider it as the most important of them whereas an overwhelming majority of texts following the example shown by Baudhāyana and Patañjali consider it to be one of the Yamas.

CHAPTER IV

ĀSANA (POSTURE)

The term 'āsana' primarily means a 'seat'. The Vā (I.11.14) prescribes for Yoga practitioners a firm and plane level seat. cf.

समो दृढासनो भूत्वा ... ।

The B (127.15) recommends a pleasing, stable and comfortable seat which is neither too high nor too low. cf.

आसीनः प्राङ्मुखो रम्यासने सुखनिश्चले ।
न चोच्छ्रिते नातिनीचे निःस्पृहः सत्यवाक्शुचिः ॥

The L (I.8.85) also states that the Yogāṅgas must be practised by one in a happy mood and seated on a level plane. cf.

समासनस्थो योगाङ्गान्यभ्यसेद्धृषितः स्वयम् ।

The Ag (373.1-3) recommends a stable seat which is neither too high nor too low and covered by a caila (cloth), ajina (sheep-skin) or kuśa (the sacred grass) spread over it and situated in a clean environment. cf.

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रैकाग्र्यं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38.54) prescribe a clean, soft, pleasing, wide and level seat. cf.

आसनं मृदुलं रम्यं विपुलं सुसमं शुचिः ।

The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41.71) recommends a seat which is neither too high nor too low cf.

नातिनीचोच्छ्रितासनः ।

But Patañjali uses the term 'āsana' not in its primary sense but only in its technical sense. He defines āsana (YS. II.46) as स्थिरसुखमासनम् ।

i.e. āsana means a posture of the body which could be maintained with ease for a prolonged period.

The Bhāg (II.2.15) echos the same definition in the following verse :
स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यतिर्यदा जिहासुरिममङ्गलोकम् ॥

Patañjali names no āsanas.

Almost all Yoga treatises maintain that the aspirant must be seated in a particular posture.

The Mār. (36.28) and Vā (I.11.13) name three āsanas, Svastika, Padma and Ardha without explaining the technique of their performance cf.

पद्ममर्धासनं चाऽपि तथा स्वस्तिकमासनम् ।
आस्थाय योगं युञ्जीत कृत्वा च प्रणवं हृदि ॥ Mār.36.28
आसनं स्वस्तिकं कृत्वा पद्ममर्धासनं तथा । Vā.I.11.13.

The Vi (VI.7.39) advises that one may adopt any one among the postures viz. Bhadrāsana, etc. cf :
एकं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युतः ॥

But it is only the K which explains the technique of performance of these three āsanas. cf. K. II.11.43-46 :

आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा ।
साधनानां च सर्वेषामेतत् साधनमुत्तमम् ॥ 43
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे ।
समासीतात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम् ॥ 44
एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि सत्तमाः ।
आसीतार्द्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥ 45
उभे कृत्वा पादतले जानुर्वोन्तरेण हि ।
समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं पदम् ॥ 46

i.e. Svastika, Padma and Ardha are the postures which are the best means of Yoga. One should sit by placing one's feet on the thighs. This is called Pādmāsana, the best of all postures. One should sit by placing only one foot on the (alternative) thigh. This posture is called Arddhāsana. One should sit

by placing the feet between the (alternative) knees and thighs. This is called Svastika posture.

The K elsewhere (K. II.11.53) again names the above three āsanas. cf.
आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्ममर्द्धमथाऽपि वा ।

B (127,17a, 29) refers only to one āsana i.e. Padma. The L does not define what is āsana. It merely states (I.8.31a) āsana is Padmaka, etc. cf.
पद्मकाद्यं तथाऽसनम् ॥

Elsewhere (L.I.8.86b) it makes mention of the three āsanas which are already mentioned by Mār, Vā and K. cf.
आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्ममर्द्धासनन्तु वा ॥

L does not describe the technique of performing these āsanas.

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38.55a) names two āsanas without any explanation regarding their mode of performance. cf.
पद्मकस्वस्तिकादीनामभ्यसेदासनेषु च ॥

Elsewhere, it (Ś. Vāyāvīyasaṁhitā Uttarabhāga. 37.20) names eight types of āsanas cf.
स्वस्तिकं पद्ममर्धेंदुं वीरं योगं प्रसाधितम् ।
पर्यंकं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा ॥

i.e. Svastika, Padma, Ardhendu, Vīra, Yoga, Prasādhita, Paryaṅka and Yatheṣṭa i.e. as desired are to be known as the eight varieties of āsanas. The inclusion of Yatheṣṭa, meaning any desired posture, among the eight varieties seems to indicate the many postures which were in use at that time.

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa Vāsudevamāhātmya 30.13) defines āsana as follows:
परिहायांगचाञ्चल्यं यथा सुखतया स्थितिः ।
तदासनं स्वस्तिकादिप्रोक्तं द्वन्द्वार्तिजिन्मुने ॥

i.e. the comfortable state achieved by stopping all movement of the limbs is āsana named svastika, et al., which conquers all the opposing pairs (viz heat and cold etc). This definition takes into account both the characteristics of āsana, as stipulated by Patañjali viz stability and comfort.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.62-63) names Siddha, Padma and Svastika āsanas but explains the technique of performing only the Pādmāsana. cf.

दक्षिणं चरणं न्यस्य वामोरूपरि योगवित्।
याम्योरूपरि वामं च पद्मासनमिदं विदुः॥
कराभ्यां धारयेत्पश्चादंगुष्टौ दृढबन्धवित्।
भवेत्पद्मासनादस्मादभ्यासाद् दृढविग्रहः॥

i.e. Having placed the right foot on the left thigh and the left foot on the right thigh, the knower of Yoga should hold the big toes with both the hands crossed over at the back. (The term dṛḍhabandha probably stands for the chin-lock achieved by pressing the chin hard on the chest cf. Jālandhara Bandha, infra). This constitutes Padmāsana the practice of which makes the body hard.

Among the Purāṇas it is the N(I.33.112-115) that mentions the highest number (i.e. thirty) of āsanas cf.

पद्मकं स्वस्तिकं पीठं सैंहं कुक्कुटकौञ्जरे।
कौर्मं वज्रासनं चैव वाराहं मृगचैलिकम्॥ 112
क्रौञ्चं च नालिकं चैव सर्वतोभद्रमेव च।
वार्षभं नागमात्स्ये च वैयाघ्रं चार्द्धचन्द्रकम्॥ 113
दण्डवातासनं शैलं स्वभ्रं मौद्गरमेव च।
माकरं त्रैपथं काष्ठं स्थाणुं वैकर्णिकं तथा॥ 114
भौमं वीरासनं चैव योगसाधनकारणम्।
त्रिंशत्संख्यान्यासनानि मुनीन्द्रैः कथितानि वै॥ 115

i.e. Padmaka, Svastika, Pīṭha, Siṁha, Kukkuṭa, Kuñjara, Kūrma, Vajra, Varāha, Mṛgacaila (?), Krauñca, Nālika, Sarvatobhadra, Ṛṣabha, Nāga, Matsya, Vyāghra, Ardhacandra, Daṇḍa, Vāta, Śaila, Svabhra, Mudgara, Mākara, Traipatha, Kāṣṭha, Sthāṇu, Vaikarṇika, Bhauma, Vīra are the thirty āsanas which are means to achieve Yoga.

The Haṭha texts like Gh.S and HP name various such āsanas. The fomer names thirty-two whereas the latter names fifteen. Though these two texts also explain the technique of performing these āsanas, the N is silent over the technique of performing any of the āsanas. But a majority of these āsanas do not exactly fit into Patañjali's definition of āsana which can be maintained with ease/comfort for a prolonged stretch of time.

The Tejobindu Upaniṣad (I.25) explains āsana as only that posture of the body which facilitates with comfort prolonged contemplation upon Brahman. Other postures which lack in comfort cease to be āsanas and constitute mere physical torture. cf.

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥

Most of the early Major Purāṇas having directed the Yogī to adopt one of the few prescribed āsanas, viz Padma, Ardha or Svastika give further directions to himself as (i) the two knees should be level with each other or one of them should be slightly raised (ii) the feet shall be brought closer (iii) the chest should be pushed forward (iv) the genitals should be covered by the heels (v) the head should be slightly raised or the head, neck and the body must be held erect (vi) the gaze should be fixed on the tip of the nose, etc. These instructions should be followed by a Yogī before he sets out to perform the Prāṇāyāma and successive aṅgas of Yoga. cf. Mār. 3b.29-31a.

समः समासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ ।
संवृतास्यस्तथैवोरू सम्यग्विष्टभ्य चाग्रतः ॥ 29
पार्ष्णिभ्यां लिङ्गवृषणावस्पृशन्प्रयतः स्थितः ।
किञ्चिदुन्नामितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत् ॥ 30
संपश्यन्नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।

cf. also Vā. I. 11.14-16 :

समजानुरेकजानुरुत्तानः सुस्थितोऽपि च ।
समो दृढासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ ॥ 14
संवृतास्योऽवबद्धाक्ष उरोविष्टभ्य चाग्रतः ।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ छाद्य तथा प्रजननं ततः ॥ 15
किञ्चिदुन्नामितशिराः शिरोग्रीवां तथैव च ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ 16

L. I.8.87-89 :

समजानुस्तथा धीमानेकजानुरथापि वा ।
समं दृढासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ ॥ 87
संवृतास्योपबद्धाक्ष उरो विष्टभ्य चाग्रतः ।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ रक्षंस्तथा प्रजननं पुनः ॥ 88

किञ्चिदुन्नामितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत्।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वन्दिशश्चानवलोकयन् ॥ 89

Ś. Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 38.56-59:
ऋजुग्रीवशिरोवक्षानातिष्ठेच्छिष्टलोचनः।
किञ्चिदुन्नामितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत्। 56
दन्ताग्रसंस्थिता जिह्वामचलां सन्निवेश्य च।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ रक्षंस्तथा प्रजननं पुनः ॥ 57
ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य बाहू तिर्यगयत्नतः।
दक्षिणं करपृष्टं तु न्यस्य वामतलोपरि ॥ 58
उन्नम्य शनकैः पृष्ठमुरो विष्टभ्य चाग्रतः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ 59

G.I. Ācārakāṇḍa 226.17b:
पार्ष्णिभ्यां लिङ्गवृषणौ स्पर्शन्नेकाग्रमानसः ॥

Ag. 373.3b-6a:
समकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलस्थिरः ॥ 3
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ रक्षंस्तथा प्रजननं पुनः ॥ 4
ऊरुभ्यामुपरि स्थाप्य बाहू तिर्यक्प्रयत्नतः।
दक्षिणं करपृष्टं च न्यसेद्वामतलोपरि ॥
उन्नम्य शनकैर्वक्त्रं मुखं विष्टभ्य चाग्रतः।

Sk. Kāśīkhaṇḍa, 41.69-70:
उरुस्थोत्तानचरणः सव्ये नस्योत्तरं करम्।
उत्तानं किञ्चिदुन्नम्य वक्त्रं विष्टभ्य चोरसा ॥ 69
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत्।
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ 70

These instructions seem to have been given only with regard to the three sitting postures viz Padma, Ardha and Svastika mentioned by the early Purāṇas. It will be extremely uncomfortable and difficult to observe these instructions in connection with most of the āsanas

named by the Haṭha texts and Nāradīya Purāṇa. It can rightly be inferred that such āsanas were not meant to be adopted for the practice of Prāṇāyāma and other successive aṅgas of Yoga by the aspirant but were meant only as body exercise to tone up the muscles, maintain the suppleness of the body, etc.

Mudrās and Bandhas

Mudrās and Bandhas are special postures and practices which belong to the domain of Haṭhayoga and which are not known to Patañjali.

In the practices of Tantra and Yoga, the term 'mudrā' is used to mean 'hand and finger pose' or 'parched grain'. In the case of an Avadhūta Yogī 'mudrā stands for the pair of kuṇḍalas or huge ear-rings he wears. The SSP. VI.29 derives the term 'mudrā' as follows :

मुद् मोदे तु रा दाने जीवात्मपरमात्मनोः ।
उभयोरैक्यसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्त्तिता ॥

i.e. the v mud means 'to gladden or delight', v rā means to 'bestow'. Jointly the term 'mudrā' gives the apprehension of 'the bestower of bliss' of the union of the Jīvātman and Paramātman. It further adds (SSP. VI.30) :

मोदन्ते देवसंघाश्च द्रावन्ते असुरराशयः ।
मुदेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ॥

i.e. that which gives delight to the multitude of gods and causes the hordes of demons to flee is called 'mudrā' - the bestower of all round prosperity.

'Bandha' is a special posture of the body by which some organ or channel of the body is locked.

Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.136) names the five mudrās mentioned by GŚ and HP (GŚ 32=HP.V.11) and like GŚ holds that a Yogī who is well versed in these 'mudrās' is bound to succeed in Yoga. cf

महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धं तु यो वेत्ति स योगी योगसिद्धिभाक् ॥

i.e. a Yogī who is well-versed in the Mahāmudrā, Nabhomudrā, Uḍḍīyāna, Jalandhara and Mūlabandha is bound to succeed in Yoga.

Mahāmudrā

The technique of performing Mahāmudrā and the benefits that accrue from its practice are dealt with by the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.138-140) as follows :

योनिं वामाङ्घ्रिणाऽऽपीड्य कृत्वा वक्षस्थले हनुम् ।
हस्ताभ्यां प्रसृतं पादं धारयेद्दक्षिणं चिरम् ॥ 138
प्राणेन कुक्षिमापूर्य चिरं संरेचयेच्छनैः ।
एषा प्रोक्ता महामुद्रा महाघौघविनाशिनी ॥ 139
चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ 140

i.e. Pressing the perineum with the left heel and the chin against the chest, the right leg is to be stretched and held with both the arms for a considerable time. Inhaling and filling in the air to capacity, the air is to be slowly exhaled. This is called Mahāmudrā, the destroyer of the entire heap of sins. After practising it on the left side, it must be repeated on the right to make even number of rounds; the mudrā is to be released thereafter.

The GŚ (verse 33) deals with this mudrā in simialr terms; but it does not recommend repetition of the process on the other side too to make the number of rounds even. The HP (V.12-15) deals with the technique of performance of this Mudrā and recommends repetition on alternate sides.

Regarding the benefits that accrue from the practice of Mahāmudrā the Sk. (Kāśīkhaṇḍa 41.137) states as follows :

शोधनं नाडीजालस्य घटनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राऽभिधीयते ॥

Mahāmudrā is so-called because it purifies the network of nāḍīs, connects candra and sūrya and causes absorption of nectar by the tongue. (cf. HP. V. 21 which reads 'rasanāśoṣoṇam'.).

Continuing the description of Mahāmudrā, the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.141-142) declares :

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि घोरं विषं पीतं पीयूषमिव जीर्यति ॥ 141
क्षयकुष्टमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ 142

i.e. for him who practises Mahāmudrā, there is nothing like prescribed or prohibited diet; all that is tasteless becomes savoury; even the deadliest poison gets digested like milk. Consumption, leprosy, constipation, glandular enlargement, indigestion and other diseases get banished.

These verses seem to have been lifted verbatim from HP (V.19-20).

Nabhomudrā or Khecarī

The importance of Khecarīmudrā or Nabhomudrā can be guaged from the statement of HP (V.78) "Ekā mudrā ca Khecarī." i.e. there is only one mudrā viz. Khecarī.

The technique of performance of Khecarī and the benefits that flow from its continued practice are described by the Sk. Kāśikhaṇḍa ch. 41.143-146 and 41.106-110 cf.

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ 41.143

i.e. when the tongue is folded and reverted into the (nasopharyngeal) cavity in the skull and the gaze is fixed between the eyebrows, it becomes Khecarīmudrā.

This verse seems to have been borrowed from Gorakṣa. cf.GŚ 34=HP V. 37.

Sk adds :

न पीड्यते शरौघेण न च लिप्येत कर्मणा।

बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ 41.144.

i.e. One who knows Khecarī does not suffer from a multitude of wounds, is not bound by the result of Karma and is not affected by kāla.

This verse also is borrowed from HP (V.62). Khecarī mudrā is so called because so long as the tongue remains on the naso-pharyngeal cavity, it enables one to make the mind enjoy the void. Hence it is resorted to by all siddhas. cf.

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।

तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निषेविता॥ 41.145 (=HP.V.63)

The Sk further adds:

यावत् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः।

यावद् बद्धा नभो मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥ 41.146.(=HP.V.65)

i.e. as long as bindu remains in the body, so long there is no fear of death; for with the performance of nabhomudrā i.e. khecarī, the bindu does not flow. The other account of khecarī found in our text (Sk. Kāśīkhaṇḍa 41.106-110) is as follows :

रसनां तालुविवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम्।

धयन्निर्जरतां गच्छेदाषण्मासान्न संशयः॥ 41.106

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।

मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित्॥ 41.107 (=HP.V.58)

i.e. inserting the tongue into the upper part of the nasopharyngeal cavity and sucking the nectar for a period of six months, one would undoubtedly overcome old age. A yogī who with an upturned tongue drinks the soma (nectar) while keeping motionless, overcomes death without doubt in half a month.

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत्।

ध्यात्वा सुधामयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्॥ 41.108(=GS.64)

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात्।

ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयम्॥ 41.109 (=GS.65)

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।

तक्षकेणाऽपि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥ 41.110(=HP.V.60)

i.e. Pressing the great Rājadanta cavity with the tip of the tongue and by contemplating upon the goddess in the form of the nectar, one becomes a poet in about six months. The semen of the Yogī whose body is filled with nectar moves upward within two or three years and there is the rise of the miraculous powers Aṇimā, etc. A yogī whose body is full of nectar oozing from the moon, does not get affected by the venom even when bitten by takṣaka (the deadliest of snakes).

The above completes the two accounts of Khecarī mudrā or Nabhomudrā found in the Sk. Most of the verses are borrowed from GŚ and other Haṭha texts.

The HP(pp 96-98) states that the Khecarī involves six processes viz chedana (cutting), cālana (moving), dohana (milking), manthana or gharṣaṇa

(rubbing), praveśana (inserting) and mantra (chanting 'aim hrīm śrīm krīm ham um som'). The frenum should be cut little by little and after a period of six months the tongue gets completely severed and by folding it the yogī becomes able to touch the uvula with the tip.

The Ś (Umāsaṁhitā ch. 27.35-36) also mentions the Khecarī mudrā as one of the five techniques for deceiving kāla (conquer death), the other four being Nādānusandhāna, Vāyusiddhi (Bhastrikā), Tejassiddhi and Śītalīkumbhaka (cf. chapter IX - p. 197). But the text provides only a bare outline of the process of khecarī and omits the details of the process explained by HP.

Uḍḍiyāna

Unlike Mahāmudrā and Khecarī mudrā which are dealt with in detail, the other three mudrās viz Uḍḍiyāna, Jālandhara and Mahābandha are only cursorily described by the Sk.

Uḍḍīyāna is the third mudrā mentioned by Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.136). It defines Uḍḍīyana as follows. cf. Kāśīkhaṇḍa 41.147-148 :

उड्डीनं कुरुते यस्मादहोरात्रं महाखगः।
उड्डीयानं ततः प्रोक्तं तत्र बन्धो विधीयते ॥ 147
जठरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च धारयेत्।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धो मृत्योरपि भयं त्यजेत् ॥ 148

i.e. Uḍḍīyāna is that practice by which the great bird i.e. Prāṇa is made to fly up day and night; for that a bandha (lock) is enjoined. Above the navel, the abdomen is to be retracted towards the back. This bandha (lock) is Uḍḍīyāna which frees one from fear of death.

These two verses are borrowed with very little variation from HP (cf. V.91-92).

The HP explains that the practice which channelizes the Prāṇa through Suṣumnā in the upward direction, is called Uḍḍīyāna by the Yogīs. cf. HP. V.90 :

ऊर्ध्वं येन सुषुम्नायाः प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥

The Sk speaks nothing more about the process. But the HP claims Uḍḍīyāna to be the best of the Bandhas. It further adds that with

firm application of Uḍḍīyāna, Mūlabandha is automatically formed. cf. HP.V.97 :

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः।
उड्डीयाणे दृढे बन्धे मूलं स्वाभाविकं भवेत् ॥

Jālandhara Bandha

The Jālandhara Bandha is explained by Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.149-150) as follows:

बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम्।
एष जालन्धरो बन्धः कण्ठे दुःखौघनाशनः ॥ 41.149 (=HP.V.99)
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ 41.150(=GŚ 36; HP.V.100)

i.e. When the Jālandharabandha is applied by means of contracting the throat, the nectar does not fall into the fire; nor does the Vāyu agitate (go astray). The network of the nerves prevents the downflow of the nectar. The Jālandhara bandha alleviates the disorders of the throat.

The couple of verses given by Sk contains only the benefits of Jālandhara bandha. But the text is silent over what exactly constitutes Jālandhara bandha or the technique of its performance. The HP(V. 98) defines Jālandhara bandha as follows :

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताक्षयकारकः ॥

i.e. Contracting the throat, the chin should be firmly pressed against the chest. This is known as the Jālandhara bandha which prevents reduction of the nectar (cf. HP. pp.118 ff).

Mūlabandha

The technique of performing Mūlabandha and the benefits that the practice brings forth are mentioned by the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.151-152) as follows :

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ 41.151 (=GŚ 37; HP V.79)
अपानप्राणयोरैक्ये क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ 41.152 (=HP.V.83)

i.e. Pressing the perineum with the heel, the anus must be contracted and the apāna pulled up. This is stated to be Mūlabandha. When as a result of consistent pracrtice of Mūlabandha the Prāṇa and Apāna are united, the formation of urine and faeces is reduced and even an old decrepit person becomes young.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.153-155) futher elucidates this idea cf.

प्राणापानवशो जीवः ऊर्ध्वाधः परिधावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलो न स्थितिं लभेत् ॥ 153(=GŚ 26; HP V.155)
गुणबद्धो यथा पक्षी गतोप्याकृष्यते पुनः।
गुणैर्बद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ 154 (=HP.V.157)
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ॥
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ 155 (=GŚ 29; HP.V.158)

i.e. The Jīva (embodied soul) which is under the contral of Prāṇa and Apāna moves up and down through the left and right channels. It does not attain stability because of its fickleness. Just as a bird tied (and controlled by a string is pulled back from its flight, similarly the Jīva limited by its attributes is attracted / pulled by Prāṇa and Apāna (Sk reads Prāṇāyāma which is faulty). Apāna attracts Prāṇa and Prāṇa attracts Apāna. A knower of Yoga unites these two (vāyus) which belong to the upper and lower regions of the body.

Dhyānamudrā

While speaking of Dhyāna, the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.121) also explains what is Dhyānamudrā. But as Dhyānamudrā is not akin to the mudrās described above which are purely physical postures (whereas Dhyānamudrā is more mental than physical) it is included under Dhyāna infra.

The concepts of Nāḍīśodhana (cf. Mahāmudrā) and of the moon showering the nectar which is swallowed by the sun (Ibid), the Mudrās and Bandhas – all these are concepts and practices which are not found in the YS but which, as stated earlier, belong to the domain of Haṭhayoga. Similarly, the later Purāṇas, like the Nāradīya borrow a variety of āsanas from the Haṭha texts.

□□

CHAPTER V

PRĀṆĀYĀMA (CONTROL OF VITAL AIRS)

The Prāṇas or Vāyus are the vital airs moving through the nāḍīs of the body. The BṛUp (3.9.26) mentions the five Vāyus as Prāṇa, Apāna, Vyāna, Udāna and Samāna. The Mb (Śāntiparvan 184.24-25) and the BYY (9.141) mention them in a different order as Prāṇa, Vyāna, Apāna, Samāna and Udāna. The Mār (38.13b-14), Vā(15.6-7) and Vi(III.11.90) mention them as Prāṇa, Apāna, Samāna, Udāna and Vyāna. The Vyāsabhāṣya (on YS. III.40) follows a different sequence as Prāṇa, Samāna, Apāna, Udāna and Vyāna. This difference in sequence can in no way be reasonably explained.

Haṭha texts like VS mention five additional Vāyus and make their number ten. The L follows suit and names the ten Vāyus (L. I.8.61b-62) as Prāṇa, Apāna, Samāna, Udāna, Vyāna, Nāga, Kūrma, Kṛkara, Devadatta and Dhanañjaya. Pacification of these ten is termed as the pacification of Maruts. cf.

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मस्तु कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः।
एतेषां यः प्रसादस्तु मरुतामिति संस्मृतः॥

The GŚ (verse 40) states that as Haṁsa i.e. breath goes out to the extent of 36 aṅgulas through the left and the right nostrils, it is called Prāṇa i.e. one that goes out. cf.

षट्त्रिंशदंगुले हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते॥

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.82) repeats the verse with very little variation cf.

षट्त्रिंशदंगुले हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
सव्यापसव्यमार्गेण प्रयाणात् प्राण उच्यते॥

The HP (V.159-161) explains the movement of Prāṇa which is termed as Ajapā Gāyatrī. The Sk (Kāśīkhaṇḍa. 41.156-158) repeats the same verses as follows :

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
हंस हंसेत्यतो मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ 156
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ 157
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ 158

i.e. the breath goes out (during exhalation) with the sound 'ha' and enters again (through inhalation) with the sound 'sa'. The jīva thus constantly chants the mantra 'haṁsa-haṁsa' (in the form of exhalation and inhalation). It repeats the mantra twentyone thousand six hundred times in a day and night. This is known as Ajapā Gāyatri which brings liberation to a Yogī. A man gets rid of all his sins by mere thought of it.

The L (I.8.63-65a) derives the names of the first five important Vāyus as follows :

प्रयाणं कुरुते तस्माद् वायुः प्राण इति स्मृतः ।
अपानयत्यपानस्तु आहारादीन्क्रमेण च ॥ 63
व्यानो व्यानामयत्यङ्गं व्याह्यादीनां प्रकोपकः ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानोऽयं प्रकीर्त्तितः ॥ 64
समं नयति गात्राणि समानः पञ्चवायवः ।

i.e. Prāṇa is so called because it moves (According to VS. II.44-45a, it moves in the mouth, the nostrils, the heart and the circle of the navel besides staying in them and the big toe); Apāna is so called because it excretes the intake of food, etc; Vyāna is so called because it causes bending of the limbs etc and also aggravates diseases(?); Udāna is so called because it excites the vulnerable points or vital organs; Samāna is so called because it co-ordinates the movement of limbs.

The functions of the remaining five Vāyus are described by L (I.8.65b-66) as follows :

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तु सः ॥ 65
कृकरः क्षुतकायैव देवदत्तो विजृम्भणे ।
धनञ्जयो महाघोषः सर्वगः स मृतेऽपि हि ॥ 66

i.e. Regurgitation (vomiting) is the function of Nāga; Kūrma causes winking; Kṛkara causes hunger and Devadatta yawning. Dhanañjaya produces noise and pervades all inclusive of the dead (The VS II.54 specifies 'śoṣādi' i.e. drying up or thirst as the function of Dhanañjaya).

Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.35-40a) gives a similar description of the Vāyus and their functions. cf.

प्राणस्य विजयादेव जीयन्ते देहवायवः।
प्राणोऽपानः समानश्च ह्युदानो व्यान एव च॥ 35
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।
प्रयाणं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणोऽभिधीयते॥ 36
अवाङ् नयत्यपानाख्यो यदाहारादि भुज्यते।
व्यानो व्यानशयत्यंगान्यशेषाणि विवर्धयन्॥ 37
उद्वेजयति मर्माणीत्युदानो वायुरीरितः।
समं नयति सर्वांगं समानस्तेन गीयते॥ 38
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्थितः।
कृकलः क्षवथौ ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥ 39
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।

The Mār (36.12a) holds that the successful restraint of Prāṇa is the first process which is to be perfected by a Yoga-aspirant. cf.

प्रथमं साधनं कुर्यात्प्राणायामस्य योगवित्॥

All Purāṇas agree that Prāṇāyāma means restraint of Prāṇas (or Prāṇa and Apāna). Thus Mār (36-40) says :

प्राणानामुपसंरोधात्प्राणायाम इति स्मृतः॥ Mār.36.40 (= Sk.Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā.55.33a)

i.e. Prāṇāyāma is so called because Prāṇas or Vital Airs are restrained. The Vā (I.10.74a) echos the same cf :

प्राणानाञ्च निरोधस्तु स प्राणायामसंज्ञितः॥

The Mār, Vā, L and Sk also define Prāṇāyāma as the restraint of Prāṇa and Apāna. cf.

प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायाम उदाहृतः॥ Mār 36.12b.
प्राणापानसमारोधात्प्राणायामः स कथ्यते॥ Vā I.11.28b

प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायामः प्रकीर्त्तितः ॥ L.I.8.46a

प्राणापाननिरोधश्च प्राणायामः प्रकीर्त्तितः ॥ Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 35.29a

The Vi. (VI.7.40) defines Prāṇāyāma as bringing under control by practice, the airs known by the name Prāṇa cf. Vi. (VI. 7.40=N. I.47.16)

प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्कुरुते तु यत्।
प्राणायामस्स विज्ञेयः ... ॥

The K, L, Ś, G, Ag, N and Sk define Prāṇa as the Vital airs of one's own body and 'yama' or 'āyāma' as its restraint. cf.

प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् ॥ K.II.11.30b(=G.Ācarakāṇḍa 238.12a)

प्राणः स्वदेहजो वायुर्यमस्तस्य निरोधनम् ॥ L.I.8.45a

प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्यायामो निरोधनम् ॥ Ś. Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.21a (=Ag.373.6b)

प्राणो वायुः शरीरस्य आयामस्तस्य निग्रहः।
प्राणायाम इति प्रोक्तः ... ॥ N.I.33.118.

The regulated movement of Prāṇa is also called Prāṇāyāma cf.

प्राणायामगतिश्चापि प्राणस्यायाम उच्यते ॥ Vā.I.10.73a

G (I. Ācārakāṇḍa 44.10a; 49.33 and 226.13b) defines Prāṇāyāma as victory over the Maruts i.e. Prāṇas. cf.

प्राणायामो मरुज्जयः।

Sk. (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.14-15) states that so long as the airs move, the mind is not stable; when the airs are stabilised the mind also becomes stable. The retention at one place of all the airs, which are mobile by nature, as advised by the teacher is called Prāṇāyāma. cf.

चरतां सर्वतोऽसूनामेकदेशे तु धारणम्।
गुरूपदिष्टरीत्यैव प्राणायामः स उच्यते ॥ 14
चले वायौ चलं चित्तं स्थिरे तस्मिन् स्थिरं ततः।

Categories of Prāṇāyāma

Depending upon the time consumed by Prāṇāyāma it is divided into three types viz laghu (mild), madhyama (medium) and uttama (intense).

The Prāṇāyāma of twelve mātra duration is called 'mild'; of twenty four mātrās 'medium' and of thirty six 'intense'. cf.

लघुमध्योत्तरीयाख्यः प्राणायामस्त्रिधोदितः।
तस्य प्रमाणं वक्ष्यामि तदलर्क शृणुष्व मे॥
लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः।
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः परिकीर्त्तितः॥ Mār.36.13-14
प्राणायामप्रमाणन्तु मात्रा वै द्वादश स्मृताः।
मन्दो द्वाशमात्रस्तु उद्धाता द्वादश स्मृताः।
मध्यमश्च द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रिकः॥
उत्तमस्तच्चिरुद्धातो मात्राः षट्त्रिंशदुच्यते। Vā.I.10.74b-76a
प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम्॥
उत्तमाधममध्यत्वात् त्रिधायं प्रतिपादितः।
... ...
मात्रा द्वादशको मन्दश्तुर्विंशतिमात्रिकः।
मध्यमः प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रिकोत्तमः॥ K.II.11.30b-32
प्राणायामस्य मानन्तु मात्रा द्वादशकं स्मृतम्॥
नीचो द्वादशमात्रस्तु उद्धाती द्वादश स्मृतः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते। L.I.8.46b-48a
कन्यकस्तुद्धतस्यात्स च द्वादशमात्रकः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥ 28
उत्तमस्तु त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्रकः परः। Ś. Vāyavīyasaṁhitā, Utarabhāga 37.28-29a
लघुर्यो द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः॥
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः स उदाहृतः॥ G.I. Ācārakāṇḍa 226.14b-15a
लघुर्द्वादशमात्रः स्याच्चतुर्विंशतिकः परः।
षट्त्रिंशन्मात्रिकः श्रेष्ठः ...। G.I. Ācārakāṇḍa 49.35-36a
कन्यकः सकृदुद्धातः स वै द्वादशमात्रिकः॥
मध्यमश्च द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रिकः॥
उत्तमश्च त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशत्तालमात्रिकः। Ag.373.10-11a
मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रा लघ्वाक्षरा मता।
मध्यमो द्विगुणः पूर्वादुत्तमस्त्रिगुणस्ततः॥ Sk Kāśīkhaṇḍa 41.76.

The duration of a mātrā (unit of time) is the duration of the winking of the eye. cf.

निमेषोन्मेषणे मात्रा कालो लघ्वक्षरस्तथा । Mār.36.15a(=Vā.I. 11.21a)

Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.31) provides another measure of a mātrā as follows :

जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अंगुलीस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता ॥

i.e. Mātrā is the time taken to make a round of the knee (with the palm of the hand) neither too fast nor too slow, followed by the snap of fingers (thumb pressed against the middle finger).

By the above three categories of Prāṇāyāna viz Laghu, Madhya and Uttama, the Yogī is said to overcome the faults or vices viz. perspiration, agitation and dejection respectively. cf.

प्रथमेन जयेत्स्वेदं मध्यमेन च वेपथुम् ।
विषादं हि तृतीयेन जयेद्दोषाननुक्रमात् ॥ Mār.36.16(=Sk.Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.31)

स्वेदं कंपं विषादं च जनयेत्क्रमशस्त्वसौ ।
प्रथमेन जयेत्स्वेदं द्वितीयेन च वेपथुम् ।
विषादं हि तृतीयेन सिद्धः प्राणोऽथ योगिनः ॥ Sk.Kāśīkhaṇḍa 41.77-78b

प्रथमेन जयेत्स्वप्नं मध्यमेन च वेपथुम् ।
विपाकं हि तृतीयेन जातान्दोषास्त्वनुक्रमात् ॥ G.I. Ācārakāṇḍa 226.16.

G seems to support the view held by Mār and Sk but substitutes erroneously 'svapna' and 'vipāka' in place of 'sveda' and 'viṣāda' of Mār and Sk.

But the Vā (I.10.76b) and Ag(373.11b) seem to hold sveda, kampa and viṣāda as the external symptoms of the intense variety of Prāṇāyāma and do not seem to consider them as doṣas (faults or vices) termed by Mār, Sk and G. cf.

स्वेदकंपविषादानां जननो ह्युत्तमो स्मृतः । Vā.I. 10.76b
स्वेदकंपाभिधानानां जननश्चोत्तमोत्तमः ॥ Ag.373.11b

The K (II.11.33a) and L (I. 8.48b) in line with Mār and Sk consider that the three viz perspiration, agitation, etc are the respective characteristics of

the three categories of Prāṇāyāma. But according to these texts the Uttama (intense) variety of Prāṇāyāma is characterised by the rising of the body (Utthānajanaka). cf.

प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकत्वं यथाक्रमम् । K.II.11.33a

प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । L.I.8.48b.

These two texts also do not consider them as faults or vices. The K adds that the superiority of the one to the other category of Prāṇāyāma is ascertained by the joy felt in the three states. cf.

मन्दमध्यमुख्यानामानन्दाद्योत्तमोत्तमः ॥ K.II.11.33b.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.91) states that the third or Uttama type of Prāṇāyāma causes the body which is in the baddhapadmāsana posture to rise up. i.e. to levitate which phenomenon is already hinted at by K (II.11.33) in the words 'Utthānajanaka'. cf. Sk Kāśīkhaṇḍa 41.91 :

प्राणायामेधमे घर्मः कंपो भवति मध्यमे ।

उत्तिष्ठेदुत्तमे देहो बद्धपद्मासनो मुहुः ॥

The HP (IV.20) likens it to a leap-frog movement cf.

यथैव दर्दुरो गच्छेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य भूतले ।

पद्मासने स्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ॥

Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.29b-30) states that besides sveda, kampa, etc. Prāṇāyāma gives rise to delight, horripilation, flow of tears, murmering, dizziness and swoon. cf.

स्वेदकंपादिजनकः प्राणायामस्तदुत्तरः ॥ 29

आनन्दोद्भवरोमाञ्चनेत्राश्रूणां विमोचनम् ।

जल्पभ्रमणमूर्च्छाद्यं जायते योगिनः परम् ॥ 30

The Three Phases of Prāṇāyāma

Vi (VI.7.41) mentions the three phases of Prāṇāyāma as the exhalation and inhalation alternating with each other and the third effected by means of restraining the former two cf. Vi. VI.7.41 (=N.I. 47.16-18)

परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यथाऽनिलौ ।

कुरुतस्सद्विधानेन तृतीयस्संयमात्तयोः ॥

The K (II.11.36-37) names the three phases of Prāṇāyāma as recaka (exhaling), pūraka (inhaling) and kumbhaka (restraining) cf.

रेचकः पूरकश्चैव प्राणायामोऽथ कुम्भकः।
प्रोच्यते सर्वशास्त्रेषु योगिभिर्यतमानसैः॥ 36
रेचकोऽजस्रनिश्वासात् पूरकस्तन्निरोधतः।
साम्येन संस्थितिर्या सा कुम्भकः परिगीयते॥ 37

Though L does not mention the three phases viz recaka, pūraka and kumbhaka in the context of Prāṇāyāma, these three are mentioned in the context of dhyāna (contemplation). Thus L (I. 8.109-111) recommends that the Lord Śiva of the nature of pure knowledge must be contemplated upon as situated in the middle of the body, in the heart and in the navel (region) performing at the same time recaka, pūraka and kumbhaka respectively and gradually raising the level of Prāṇāyāma from the mild to the medium and intense levels. cf. L. I. 8.109-111 :

देहमध्ये शिवं देवं शुद्धज्ञानमयं विभुम्।
कन्यसेनैव मार्गेण चोद्धातेनाऽपि शंकरम्॥ 109
क्रमशः कन्यसेनैव मध्यमेनाऽपि सुव्रताः।
उत्तमेनाऽपि वै विद्वान्कुम्भकेन समभ्यसेत्॥ 110
द्वात्रिंशद्रेचयेद्धीमान्हृदि नाभौ समाहितः।
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा कुम्भकश्च द्विजोत्तमाः॥ 111

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.21b-25) not only mentions the three phases but also describes the procedure of its performance. cf.

तद्रेचकं पूरकं च कुंभकं च त्रिधोच्यते॥
नासिकापुटमंगुल्या पीड्यैकमपरेण तु।
औदरं रेचयेद्वायुं तथाऽयं रेचकः स्मृतः॥
बाह्येन मरुता देहं दृतिवत्परिपूरयेत्।
नासापुटेनापरेण पूरणात्पूरकं मतम्॥
न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम्।
संपूर्णकुंभवत्तिष्ठेदचलः स तु कुंभकः॥
रेचकाद्यं त्रयमिदं न द्रुतं न विलंबितम्।
तद्यतः क्रमयोगेन त्वभ्यसेद्योगसाधकः॥

i.e. Prāṇāyāma is threefold viz recaka, pūraka and kumbhaka. Having pressed the nostril (closed) with one finger, the air inside must be exhaled through the other nostril; this is called recaka. Now the external air must be

inhaled through the other nostril and the body (lungs) must be filled by it like the bellows; it is called pūraka because it fills in; that phase wherein the breath inside as in a full pot is held steady without exhaling or inhaling is called kumbhaka. These three phases beginning with exhalation should be practised by the yoga aspirant in the said sequence neither too fast nor too slow.

The Ag. (373.7-9) echos the same views. cf.

नासिकापुटमंगुल्या पीडचैव च परेण च।
औदरं रंचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः ॥ 7
बाह्येन वायुना देहं दृतिवत्पूरयेद्यथा।
तथा पूर्णश्च सन्तिष्ठेत्पूरणात्पूरकः स्मृतः ॥ 8
न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम्।
संपूर्णकुंभवत्तिष्ठेदचलः स तु कुम्भकः ॥ 9

The Bhāg, G and Sk also mention the three phases. cf.

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ॥ Bhāg. III. 28. 9a; XI. 14.33a.
एवं द्विधा त्रिधाप्युक्तं पूरणात्पूरकः स च ॥
कुंभको निश्चलत्वाच्च रेचनाद्रेचकस्त्रिधा। G. I. Ācārakāṇḍa 49.34b-35a.
प्रत्येकं त्रिविधः सोऽपि पूरकुम्भकरेचकैः। G.I. Ācārakāṇḍa 226.14a
पद्माख्यमासनं कृत्वा रेचकं पूरकं तथा।
कुंभकं च सुखासीनः प्राणायामं त्रिधाऽभ्यसेत् ॥ Sk. Māheśvarakhaṇḍa,
Kaumārikā 55.32.

The N (I.33.120-126) holds Prāṇāyāma to be fourfold viz recaka, pūraka, kumbhaka and śūnyaka. In this connection N also names the three nāḍīs viz. Iḍā, Piṅgalā and Suṣumnā. Piṅgala is situated on the right (opening through the right nostril) of all beings. It is known as Pitṛyoni and is presided over by the sun. The left nāḍī is Iḍā (opening through the left nostril). It is known as Devayoni and is presided over by the moon. In between these two is situated the very subtle Suṣumnā nāḍī which is highly concealed and presided over by Brahma. Recaka (exhalation) is carried out through the left nostril whereas pūraka (inhalation) is done through the right. When the inhaled breath is held inside like a full pot without releasing it, it is called kumbhaka. When the air is neither inhaled or exhaled that phase is known as śūnyaka i.e. empty or vacuum. cf N.I. 33.120-126 :

रेचकः पूरकश्चैव कुंभकः शून्यकस्तथा।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तः प्राणायामो मनीषिभिः ॥ 120

जंतूनां दक्षिणा नाडी पिंगला परिकीर्त्तिता।
सूर्यदेवतका चैव पितृयोनिरिति श्रुता ॥ 121
देवयोनिरिति ख्याता इडानाडी त्वदक्षिणा।
तत्राधिदैवतं चन्द्रं जानीहि मुनिसत्तम ॥ 122
एतयोरुभयोर्मध्ये सुषुम्णा नाडिका स्मृता।
अतिसूक्ष्मा गुह्यतमा ज्ञेया सा ब्रह्मदैवता ॥ 123
वामेन रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः।
पूरयेद्दक्षिणेनैव पूरणात्पूरकः स्मृतः ॥ 124
स्वदेहपूरितं वायुं निगृह्य न विमुञ्चति।
संपूर्णकुंभवत्तिष्ठेत्कुंभकः स हि विश्रुतः ॥ 125
न गृह्णाति न त्यजति वायुमंतर्बहिः स्थितम्।
विद्धि तच्छून्यकं नाम प्राणायामं यथास्थितम् ॥ 126

Though Patañjali does not name the four phases of Prāṇāyāma, he describes the fourth as the one going beyond the external and internal spheres cf. YS.II.51:

बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

This fourth one is termed as kevalakumbhaka in contrast to the Śūnyaka mentioned by N.

Sagarbha and Agarbha

There is also a twofold classification of Prāṇāyāma viz. Sagarbha (Sabīja) and Agarbha (Abīja), the former being that which is accompanied by Japa and the latter i.e. Agarbha being without the accompaniment of Japa. The Vi (VI. 7.40=N.I. 47.16) and the K (II.11.31b) give this classification. cf.

प्राणायामः स विज्ञेयः सबीजोऽबीज एव च ॥ Vi. VI. 7.40=N.I.47.16.
स एव द्विविधः प्रोक्तः सगर्भोऽगर्भ एव च ॥ K.II.11.31b

The K (II.11.34a) and L (I. 8.51a) define them. cf.

सगर्भमाहुः सजपमगर्भं विजपं बुधाः। K.II.11.34a

i.e. Sagarbha is that which is accompanied by Japa whereas Agarbha is devoid of Japa.

सगर्भोऽगर्भ इत्युक्तः सजपो विजपः क्रमात् ॥ L.I.8.51a

i.e. Sagarbha and Agarbha are with or without the accompaniment of Japa respectively.

Ś (Vāyavīya saṁhitā uttarabhāga 37.33-34) mentions the Sagarbha and Agarbha varieties of Prāṇāyāma and defines them as with or without the accompaniment of Japa and Dhyāna. It also holds the Sagarbha as superior of the two whence it is practised by the yogīs. cf.

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपध्यानविनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥
अगर्भाद्गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥

G defines garbha i.e. sagarbha as one accompanied by mantra (japa) and dhyāna, agarbha being the opposite of it i.e. without accompaniment of mantra (japa) and dhyāna cf. G. I. Ācārakāṇḍa 49.34a :

मन्त्रध्यानयुतो गर्भो विपरीतो ह्यगर्भकः ॥
जपध्यानयुतो गर्भो विपरीतस्त्वगर्भकः ॥ Ibid 226.15b; 235.23b

N (I. 33.118b-119) in the same vein as Ś (quoted above) holds sagarbha and agarbha to be varieties of Prāṇāyāma with or without the accompaniment of japa and dhyāna, sagarbha being the superior. cf.

प्राणायाम इति प्रोक्तो द्विविधः स प्रकीर्त्तितः ॥ 118
अगर्भश्च सगर्मश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः ।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः ॥ 119

The Ag (372.14a) advises that agarbha is to be practised for gaining victory over indriyas. cf.

जपो ध्यानं विनाऽगर्भं सगर्भस्तत्समन्वितः ।
इन्द्रियाणां जयार्थाय सगर्भं धारयेत्परम् ॥

All the faults of a Yogī are burnt up by the performance of Prāṇāyāma. cf. Vā. I. 10.85;11.23:

प्राणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः ।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्त्वस्थश्चैव जायते ॥

According to L (I.8.55b-56a) by such practice of Prāṇāyāma, the Prāṇa which is subdued burns the sins committed by the aspirant by thought, word and deed and at the same time protects his body as well cf.

एवमभ्यस्तमानस्तु मुनेः प्राणो विनिर्दहेत् ।
मनोवाक्कायजान्दोषान् कर्तुर्देहश्च रक्षति ॥

Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.40b -41a) is of the same view. cf.

क्रमेणाभ्यस्यमानोऽयं प्राणायामप्रमाणवत् ।
निर्दहत्यखिलं दोषं कर्तुर्देहं च रक्षति ॥

Regarding the definition of Prāṇāyāma, the division of Prāṇāyāma into three categories depending upon its duration and the three phases of Prāṇāyāma, there is general agreement among the Purāṇa texts, except that the N (I. 33.126 quoted above) mentions an additional phase viz sūnyaka besides the recaka, pūraka and kumbhaka phases mentioned by other texts.

The Mār and Vā do not name the different phases, but both seem to indicate the kumbhaka Prāṇayāma in the folowing lines cf. Mār 36. 34-35 (=Vā I. 11.20) :

सबाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनाभितः ।
पूरयित्वा बुधो देहं प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥

i.e. after having accomplished external as well as internal cleanliness and having filled the body from the neck to the navel, one must commence Pratyāhara.

States of Prāṇāyāma

Neither Patañjali nor any of the Haṭha texts speak of the Avasthācatuṣṭaya (four states) of Prāṇāyāma mentioned by Mār (36.20-26) viz Dhvasti, Prāpti, Saṁvid and Prasāda. When the fruits of good and bad actions die away and the mind attains pellucidity, it is called Dhvasti (cessation of consequences of action); when the aspirant continuously resists his desires of this world and of the other, like those of covetousness (greed) and infatuation (delusion), that is 'Prāpti' which is everlasting; when the aspirant by dint of his knowledge perceives the past and the future and remotely concealed meanings of the moon, sun, stars and planets, that state is called 'saṁvid'; that state in which the mind, the five vāyus, the sense organs and their objects become serene is called 'Prasāda' cf.

श्रूयतां मुक्तिफलदं तस्यावस्थाचतुष्टयम् ॥ 20
ध्वस्तिः प्राप्तिस्तथा संवित्प्रसादश्च महीपते ।
स्वरूपं शृणु चैतेषां कथ्यमानमनुक्रमात् ॥ 21
कर्मणामिष्टदुष्टानां जायते फलसंक्षयः ।
चेतसोऽपकषायत्वं यत्र सा ध्वस्तिरुच्यते ॥ 22
ऐहिकामुष्मिकान्कामाँल्लोभमोहात्मकान्स्वयम् ।
निरुध्यास्ते सदा योगी प्राप्तिः सा सार्वकालिकी ॥ 23
अतीतानागतानर्थान्विप्रकृष्टतिरोहितान् ।
विजानातीन्दुसूर्य्यर्क्षग्रहाणां ज्ञानसम्पदा ॥ 24
तुल्यप्रभावस्तु यदा योगी प्राप्नोति संविदम् ।
तदा संविदिति ख्याता प्राणायामस्य या स्थितिः ॥ 25
यान्ति प्रसादं येनास्य मनः पञ्च च वायवः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स प्रसाद इति स्मृतः ॥ 26

Though Mār considers them to be four states of Prāṇāyāma, they seem to be the results of Prāṇāyāma for, the Vā which presents a revised text regards the four viz śānti, praśānti, dīpti and prasāda as the fruits of Prāṇāyāma. cf. Vā. I. 11.4-10:

प्रयोजनानि चत्वारि प्राणायामस्य विद्धि वै ।
शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च चतुष्टयम् ॥ 4
घोराकारशिवानां तु कर्मणां फलसंभवम् ।
स्वयंकृतानि कालेन इहामुत्र च देहिनाम् ॥ 5
पितृमातृप्रदुष्टानां ज्ञातिसंबन्धिसंकरैः ।
क्षपणं हि कषायाणां पापानां शान्तिरुच्यते ॥ 6
लोभमानात्मकानां हि पापानामपि संयमः ।
इहामुत्र हितार्थाय प्रशान्तिस्तप उच्यते ॥ 7
सूर्येन्दुग्रहताराणां तुल्यस्तु विषयो भवेत् ।
ऋषीणां च प्रसिद्धानां ज्ञानविज्ञानसंपदाम् ॥ 8
अतीतानागतानाञ्च दर्शनं सांप्रतस्य च ।
बुद्धस्य समतां यान्ति दीप्तिः स्यात्तप उच्यते ॥ 9
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च मनः पञ्च च मारुतान् ।
प्रसादयति येनासौ प्रसाद इति संज्ञितः ॥ 10

i.e. Śānti means the washing away of sins derived from impurities of parents and from the association of one's own relations; Praśānti is the

exhaustion of one's own sins such as greed, egotism, etc; Dīpti is the power of vision by which one can see past, present and future and attain equality with the Buddha; Prasāda means the contentment and pacification of the senses, sense-objects, mind and the five Vāyus.

The L considers the fourfold fruits of Prāṇāyāma, viz Śānti, Praśānti, Dīpti and Prasāda mentioned by the Vā as divine accomplishments and explains them as follows cf. L. 8.57b-61a:

प्राणायामेन सिद्ध्यन्ति दिव्याः शान्त्यादयः क्रमात् ॥ 57
शान्तिर्प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च तथा क्रमात् ।
आदौ चतुष्टयस्येह प्रोक्ता शान्तिरिह द्विजाः ॥ 58
सहजागन्तुकानाञ्च पापानां शान्तिरुच्यते ।
प्रशान्तिः संयमः सम्यग् वचसामिति संस्मृता ॥ 59
प्रकाशो दीप्तिरित्युक्ता सर्वतः सर्वदा द्विजाः ।
सर्वेन्द्रियप्रसादस्तु बुद्धेर्वै मरुतामपि ॥
प्रसाद इति सम्प्रोक्तः स्वान्ते त्विह चतुष्टये । 60

i.e. by Prāṇāyāma, the fourfold divine accomplishments viz; Śānti, Praśānti, Dīpti and Prasāda are realised in that order. By Śānti is meant the annihilation of the sins, inborn as well as later accretions thereto. Praśānti is said to be proper control over speech. Dipti is all round enlightenment at all times. Prasāda is the pacification or graciousness of all the senses, intellect and maruts (airs). These are inner accomplishments.

In this connection, L also names the ten Maruts or Vāyus defining each one of them. The pacification of these ten Vāyus is said to constitute Prasāda. cf. L. I. 8.61b-62 :

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ॥ 61
नागः कूर्मस्तु कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
एतेषां यः प्रसादस्तु मरुतामिति संस्मृतः ॥ 62

Prasāda is the highest of the four accomplishments. cf. L. I.8.67 :

इति यो दशवायूनां प्राणायामेन सिद्ध्यति ।
प्रसादोऽस्य तुरीया तु संज्ञा विप्रा चतुष्टये ॥

Thus L seems to follow the view of Mār. in holding them as four states of Prāṇāyāma of which Prasāda is the highest.

Like L, the Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 39.10b.14a) also raises the four states to the divine level. It observes that the four divine states Śānti, etc are accomplished by Prāṇāyāma and goes on to define them. cf.

प्राणायामेन सिद्ध्यन्ति दिव्याः शान्त्यादयः क्रमात् ।। 10
शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च ततः परम् ।
शमः सर्वापदां चैव शान्तिरित्यभिधीयते ।। 11
तमसोऽन्तर्बहिर्नाशः प्रशान्तिः परिगीयते ।
बहिरन्तः प्रकाशो यो दीप्तिरित्यभिधीयते ।। 12
स्वस्थता या तु सा बुद्धः प्रसादः परिकीर्त्तितः ।
करणानि च सर्वाणि सबाह्याभ्यन्तराणि च ।। 13
बुद्धेः प्रसादतः क्षिप्रं प्रसन्नानि भवन्त्युत ।

i.e. the four divine states viz. Śānti, Praśānti, Dīpti and Prasāda are accomplished in that order through Prāṇāyāma. Of these, Śānti is that state in which all misfortunes (calamities) are pacified; Praśānti is wherein the internal and external darkness is banished; Dīpti is wherein brightness is achieved inside as well as outside; Prasāda is wherein one becomes composed (at ease); thus by the clarity of Buddhi, all the instruments internal and external become perspicuous. Thus Ś takes a more expansive and liberal view of the terms.

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55. 35b-39) also mentions the four divine accomplishments Śānti, Prasānti, Dīpti and Prasāda. It definies Śānti and Prasāda in terms similar to those of Vā and L, leaves out the definition of Dīpti and while trying to define Praśānti in terms similar to those of Vā and L, ends up by calling it Śānti. cf. Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā, 55.35b-39 :

प्राणायामेन सिद्ध्यन्ति दिव्याः शान्त्यादयः क्रमात् ।। 35
शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च यथाक्रमम् ।
सहजागन्तुकामानां पापानां च प्रवर्त्तताम् ।। 36
वासना शान्तिरित्याख्यः प्रथमो जायते गुणः ।
लोभमोहात्मकान्दोषान्निराकृत्यैव कृत्स्नशः ।। 37
तपसां च यदा प्राप्तिः सा शान्तिरिति चोच्यते ।
सर्वेन्द्रियप्रसादश्च बुद्धेर्वै मरुतामपि ।। 38
प्रसाद इति स प्रोक्तः प्राप्यमेवं चतुष्टयम् ।
एवं फलं सदा योगी प्राणायामं सदाऽभ्यसेत् ।। 39

No other Major Purāṇa texts mention or define these terms. As stated earlier, these four terms are not seen used even by Patañjali. But some of the results of Prāṇāyāma as per the definitions given above are mentioned by Patañjali as the results proceeding from the performance of Saṁyama cf.

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ YS. III.26

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ YS. III.27

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ YS. III.28

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ YS. III.29

The L further adds that the pellucidity, perspicuity and pacification of Buddhi also are achieved by proper performance of Prāṇāyāma. In this connection the synonyms of Buddhi are mentioned cf. L. I. 8.68-69 :

विस्वरस्तु महान्प्रज्ञा मनो ब्रह्मा चितिः स्मृतिः ।

ख्यातिः संवित्ततः पश्चादीश्वरो मतिरेव च ॥ 68

बुद्धेरेता द्विजाः संज्ञाः महतः परिकीर्त्तिताः ।

अस्याः बुद्धेः प्रसादस्तु प्राणायामेन सिद्ध्यति ॥ 69

i.e. Visvara, Mahat, Prajñā, Manas, Brahmā, Citi, Smṛti, Khyāti, Saṁvit, Īśvara and Mati are the epithets of Buddhi also called as Mahat. Pellucidity of this Buddhi is achieved by the practice of Prāṇāyāma.

The text also tries to explain these synonyms in the next few verses. Thus Visvara is explained as the state of tastelessness in the mutually opposite pairs; in size it is the foremost of all principles, hence 'Mahat' (great); it is Prajñā (perception) because it is the heart of testimony; Manas because it thinks; Brahmā because of its magnitude and strength; Smṛti because it remembers everything; Saṁvid by which everything is known; Khyāti (knowledge) by which all lores are known; Īśvara because he, as the Lord of principles knows everything; Mati because it thinks and understands and Buddhi (intellect) because it enlightens and understands. Perspicuity of this Buddhi is achieved by means of Prāṇāyama. cf. L. I. 8.70-75a.

विस्वरो विस्वरीभावो द्वन्द्वानां मुनिसत्तमाः ।

अग्रजः सर्वतत्त्वानां महान्यः परिमाणतः ॥ 70

यत्प्रमाणगुहा प्रज्ञा मनस्तु मनुते यतः ।

बृहत्त्वाद् बृहणत्त्वाच्च ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ॥ 71

सर्वकर्माणि योगार्थं यच्चिनोति चितिः स्मृता ।

स्मरते यत् स्मृतिः सर्वं संविद्वै विन्दते यतः ॥ 72

ख्यायते यत्त्विति ख्यातिर्ज्ञानादिभिरनेकशः।
सर्वतत्त्वाधिपः सर्वं विजानाति यदीश्वरः॥ 73
मनुते मन्यते यस्मान्मतिर्मतिमतां वराः।
अर्थं बोधयते यच्च बुध्यते बुद्धिरुच्यते॥ 74
अस्याः बुद्धेः प्रसादस्तु प्राणायामेन सिद्ध्यति।

No other Purāṇa text mentions these epithets of Buddhi nor explains the epithets as done by L .

Effect of Prāṇāyāma

Manu (VI.71) states that just as the impurities of the metallic ores, melted in the furnace, are burnt up, similarly the taints of the sense organs are destroyed by the performance of Prāṇāyāma. Cf.

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

The Mār (36.11) puts the same idea in the following words :

यथा पर्वतधातूनां ध्मातानां दह्यते मलम्।
तथेन्द्रियकृताः दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥

i.e. just as the impurities of the metals are burnt out when they are melted, similarly the faults wrought by the organs of sense are burnt out by means of restraining the breath. cf. Vā.I.10.90 :

प्राणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्त्वस्थश्चैव जायते॥

i.e. constant practice of Prāṇāyāma destroys all the taints of a person and makes him physically fit.

By such constant practice, the Prāṇa of the Yogī obeys his command and is led forth by him as he pleases just as the mahout leads an intoxicated but tamed elephant. Just as a tamed lion kills only the animals but spares the human beings, similarly the Prāṇa when controlled destroys only the sins but not the body of the being. cf. Mār. 36.18-19 :

वश्यं मत्तं यथेच्छातो नागं नयति हस्तिपः।
तथैव योगी छन्देन प्राणं नयति साधितम्॥ 18
यथा हि साधितः सिंहो मृगान्हन्ति न मानवान्।
तद्वन्निषिद्धपवनः किल्बिषं न नृणां तनुम्॥ 19

The behaviour of a controlled Prāṇa described by Mār is also described by the Vā (I. 10.78-84) and L (I. 8.51b-55a) in similar terms. Thus they state that just as an elephant, a śarabha (mythical animal stronger than an elephant) or even an invincible lion when seized and tamed becomes composed, similarly the Prāṇa which is irresistible and dangerous to the Yogīs, becomes composed by proper handling. Just as an intoxicated lion, elephant or śarabha in course of time gets controlled by proper care, similarly the Prāṇa when subdued by Yoga achieves composure and equanimity and does not pose any danger to the Yogī. cf Vā. I. 10.78-84 :

सिंहो वा कुञ्जरो वाऽपि तथाऽन्यो वा मृगो वने।
गृहीतः सेव्यमानस्तु मृदुः समुपजायते ॥ 78
तथा प्राणो दुराधर्षः सर्वेषामकृतात्मवान्।
योगतः सेव्यमानस्तु स एवाभ्यसतो व्रजेत् ॥ 79
स चैव हि यथा सिंहः कुञ्जरो वाऽपि दुर्बलः।
कालान्तरवशाद्योगाद् गम्यते परिमर्द्दनात् ॥ 80
परिधाय मनो मन्दं वश्यत्वं चाधिगच्छति।
परिधाय मनो देवं तथा जीवति मारुतः ॥ 81
वश्यत्वं हि यथा वायुर्गच्छतो योगमास्थितः।
तदा स्वच्छन्दतः प्राणं नयते यत्र चेच्छति ॥ 82
यथा सिंहो गजो वाऽपि वश्यत्वादवतिष्ठते।
अभयाय मनुष्याणां मृगेभ्यः संप्रवर्त्तते ॥ 83
यथा परिचितश्चायं वायुर्वै विश्वतोमुखः।
परिध्यायमानः संरुद्धः शरीरे किल्बिषं दहेत् ॥ 84

cf.L.I.8.51-55a:

इभो वा शरभो वाऽपि दुराधर्षोऽथ केशरी ॥ 51
गृहीतो दम्यमानस्तु यथा स्वस्थस्तु जायते।
तथा समीरणोऽस्वस्थो दुराधर्षश्च योगिनाम् ॥ 52
न्यायतः सेव्यमानस्तु स एवं स्वस्थतां व्रजेत्।
यथेव मृगराट् नागः शरभो वाऽपि दुर्मदः ॥ 53
कालान्तरवशाद्योगाद्दम्यते परमादरात्।
तथा परिचयात्स्वास्थ्यं समत्वञ्चाधिगच्छति ॥ 54
योगादभ्यसतो यस्तु व्यसनं नैव जायते।

The N (I. 33.127) warns that the Prāṇa, like an intoxicated elephant, must be brought under control by gradual means; otherwise it would cause grave diseases. cf

शनैः शनैर्विजेतव्यः प्राणो मत्तगजेन्द्रवत्।
अन्यथा खलु जायन्ते महारोगाः भयंकराः॥

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā. 55.40) repeats that just as a lion, a śārdūla or an elephant gets composed when seized and tamed, similarly the Prāṇa gets composed by proper handling. cf.

मृदुत्वं सेव्यमानास्तु सिंहशार्दूलकुञ्जराः।
यथा यान्ति तथा प्राणो वश्यो भवति साधितः॥

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.79-81) states that the Prāṇa which is forcefully restrained tears apart the body and also causes kuṣṭha (leprosy) and other diseases. Hence one must without violating the dictates of the śāstra gradually tame the Prāṇa inhabiting the heart in the same manner as one seizes and properly handles a wild elephant or a lion, which consequently gets composed. cf.

हठान्निरुद्धप्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत्।
देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि॥ 79
तत्प्रत्यायितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत्।
वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात्॥ 80
करोति शास्त्रनिर्देशं न च तं परिलंघयेत्।
तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिना क्रमयोगतः॥
गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपगच्छति॥ 81

Elsewhere the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.98-99) explains that whereas proper performance of Prāṇāyāma expels all diseases, transgression of the same gives rise to all sorts of diseases (disorders) such as hikkā (hiccough), śvāsa (asthma), kāsa (cough) and pain in the head, ears and eyes. cf.

प्राणायामेन युक्तेन सर्वव्याधिक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वव्याधिसमुद्भवः॥ 98
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥ 99

For success, the Yogī should exhale, inhale and retain in a judicious manner. cf. Ibid. 41.100 (HP. IV. 26) :

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादित्थं सिद्ध्यति योगवित्॥

When Prāṇa is successfully restrained, the following physical symptoms become visible. cf. Ś. Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga, 37.41b-44a:

प्राणे तु विजिते सम्यक् तच्चिह्नान्युपलक्षयेत्॥ 41
विण्मूत्रश्लेष्मणां तावदल्पभावः प्रजायते।
बहुभोजनसामर्थ्यं चिरादुच्छ्वासनं तथा॥ 42
लघुत्वं शीघ्रगामित्वमुत्साहः स्वरसौष्टवम्।
सर्वरोगक्षयश्चैव बलं तेजः सुरूपता॥ 43
धृतिर्मेधा युवत्वं च स्थिरता च प्रसन्नता।

i.e. When the Prāṇa is properly controlled, the symptoms become visible such as reduction in ordure, urine and phlegm, ability to eat profusely, capability of breathing after long intervals, lightness (of body), swiftness in mobility, enthusiasm, excellent (booming) voice, removal of all diseases, enhanced vigour, brilliance, handsomeness, firmness, intellect, youthfulness, stability and graciousness.

Ag. (373.12b-13) also mentions in brief the above symptoms of success in Prāṇāyāma. cf.

जिते प्राणे स्वल्पदोषविण्मूत्रादि प्रजायते॥ 12
आरोग्यं शीघ्रगामित्वमुत्साहः स्वरसौष्टवम्।
बलवर्णप्रसादश्च सर्वदोषक्षयः फलम्॥ 13

Nāḍīśodhana Prāṇāyāma

The Sk (Kāśīkhaṇḍa. 41.84-89) describes the process of purification of Nāḍīs which is a process connected with Haṭhayoga, cf.

दृढासनो यथाशक्ति प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
रेचयेदथ सूर्येण प्राणायामोऽयमुच्यते॥ 84
स्रवत्पीयूषधारौघं ध्यायंश्चन्द्रसमन्वितम्।
प्राणायामेन योगीन्द्रः सुखमाप्नोति तत्क्षणात्॥ 85
रविणा प्राणमाकृष्य पूरयेदौदरीं दरीम्।
कुंभयित्वा शनैः पश्चाद्योगी चन्द्रेण रेचयेत्॥ 86

ज्वलज्ज्वलनपुंजाभं शीलयन्नुष्मगुं हृदि।
अनेन याम्यायाम्येन योगीन्द्रः शर्मभाग्भवेत्॥ 87
इत्थं मासत्रयाभ्यासादुभयायामसेवनात्।
शुद्धनाडीगणो योगी सिद्धप्राणोऽभिधीयते॥ 88
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं भवेन्नाडीविशोधनात्॥ 89

i.e. Sitting in a firm posture one must inhale the air through candranāḍī i.e. the left nostril and exhale through the sūryanāḍī i.e. the right nostril. This is called regulation of breath. By regulating breath while contemplating upon the moon with flowing stream of nectar, the foremost of Yogī instantly experiences bliss. Thereupon having inhaled the air through the right nostril and holding the breath to capacity as if in the bellows, he should exhale it through the candranāḍī i.e. left nostril. By contemplating upon the blazing sun as situated in the heart throughout this process the Yogī enjoys supreme bliss. By this exercise of regulation of breath practised through alternate nostrils for the duration of three months the Yogī becomes cleansed of his nāḍīs and of perfected Prāṇa. The purification of nāḍīs gives rise to prolonged breath-holding capacity, enhances gastric fire, leads to manifestation of nāda and results in sound health.

The VS (II. 64-68) and the HP (IV.14-15) mention Nāḍīśodhana and also explain the technique of performing it. The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.83) holds that the Yogī becomes fit for restraining Prāṇa only after the nāḍis are purified cf.

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रमनाकुलम्।
तदैव जायते योगी क्षमः प्राणनिरोधने॥

The VS (I. 81-82) and HP(III.26) also are of the same view. The VS further states that without the purification of Nāḍīs, all the efforts of a Yogī, who sets out to perform the various aṅgas of Yoga beginning with Prāṇāyāma, would be an excercise in futility. cf.VS. I.81-82

कृत्वा तु नाडिकाशुद्धिं प्राणायामं ततः कुरु॥
प्राणायामादि सर्वाणि योगाङ्गानि प्रकुर्वतः।
वृथाक्लेशो भवेत्तस्य नाडीशुद्धिमकुर्वतः॥ HP.III.26.

The HP describes the technique of Nāḍīśodhana as follows. cf. HP. IV.14:

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्
पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं समातन्वतां
शुद्धा नाडीगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥

i.e. One should inhale through Iḍā i.e. left nostril and exhale through the other i.e. right nostril (after proper retention) and should again inhale through the right nostril, retain the breath and exhale through the other. By constant practice of this technique through alternate nostrils, the network of nāḍīs gets purified in three months.

Śītalī Prāṇāyāma

The Sk. Kāśīkhaṇḍa 41.105 also refers to Śītalī Prāṇāyāma which is normally found in the Haṭha texts. cf.

काकचञ्चुवदास्येन शीतलं शीतलं पिबेत्।
प्राणं प्राणविधानज्ञो योगी भवति निर्जरः ॥

i.e. the Yogī should suck cool air through the mouth with the tongue shaped like the beak of a crow. This practice makes the Yogī free from aging.

The HP describes the process as follows. cf. HP.V.54:

काकचञ्चुविधानेन शीतलं सलिलं पिबेत्।
प्राणायामप्रयोगेण योगी भवति निर्जरः ॥

The Prāṇāyāma is called Śītalī. The Kumbhakapaddhati calls it Kākacañcu Kumbhaka. It is also called sītkari on account of the sound produced while sucking in air. Gh.S calls it Kākī mudrā (cf. HP. p.104; Kumbhakapaddhati or Science of Prāṇāyama 143 and 148).

Śītalī is one of the five techniques mentioned by Ś (Umā-saṁhitā 27.28b-33) by resorting to which the Yogī can defy Death, the other four being Nādānusandhāna, Vāyusiddhi, Tejas-siddhi and Khecarī (cf. infra 'Dodging or Deceiving Death' under chapter IX 'Samādhi').

Bhastrikā

Though the Bhastrikā (one of the eight types of Kumbhakas mentioned by HP IV. 51-56a) is not named by any of the Purāṇa texts, the

technique of Bhastrikā is recommended by Ś (Umāsaṁhitā, 27.4-7) for Vāyusiddhi or success over Vāyu - one of the five methods for cheating Death (cf. infra 'Dodging or Deceiving Death' under chapter on 'Samādhi').

Even the earliest of the Major Purāṇas viz the Mār and Vā do not mention the different phases of Prāṇāyāma. Though later Purāṇas name the three different phases, it is only N which mentions 'Śūnyaka' as an additional phase. Similarly, the four states (according to Mār or four fruits according to Vā) of Prāṇāyāma viz Dhvasti, Prāpti, Saṁvid and Prasāda are not seen used even by Patañjali. The Nāḍīśodhana and Śītalī Prāṇāyāmas are concepts borrowed by later Purāṇas from Haṭha texts.

❑❑

CHAPTER VI
PRATYĀHĀRA (WITHDRAWAL)

Pratyāhāra is withdrawal or restraint over the senses. It has been defined by Patañjali as follows : cf.

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ YS.II.54

i.e. the withdrawal of senses from their respective objects whereby they assume the original nature of citta is Pratyāhāra.

Such restraint according to Patañjali results in the greatest mastery over the senses cf.

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ YS.II.55.

The Mār (36.41-42) defines Pratyāhāra as follows : cf.

शब्दादिभ्यः प्रवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।

प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः ॥

i.e. Pratyāhāra is the withdrawal through Yoga of the senses which respond to sound and the like.

But mind is the Lord of all senses. If the eye sees the objects, it is only through the mind. If the mind is distracted, the eye which sees does not see. Similarly all the sense organs function only through the mind. But the vice versa is not true i.e. if the sense organs are withdrawn, the mind does not cease to function. This has been made quite clear by Śāntiparvan 299. 15b-18 : cf.

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ॥ 15

चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ।

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।

तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥ 16

मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ।

न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत्।
एवं मनः प्रधानानि इन्द्रियाणि विभावयेत्॥ 17
इन्द्रियाणां हि सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते।

Hence Mār (36.32-33 =G.I. Ācārakāṇḍa 226.19) directs that Pratyāhāra must be performed by restraining Prāṇa etc, the manas and the five senses from their objects. cf.

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणादीन्मन एव च॥
निगृह्य समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत्।

The Vā (I.11.18) slightly differs from Mār and states that it is performed by restraining the aggregate of the senses with their objects, the manas and the five maruts. cf.

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च मनः पञ्च समारुतान्।
निगृह्य समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत्॥

Manu (II. 88) advises that a wise man should strive to restrain his sense-organs which indulge in the alluring objects, like a charioteer his horses. cf.

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

The simplest definition of Pratyāhāra given by Vā (I. 11.29b) is

निवृत्तिर्विषयाणान्तु प्रत्याहारस्तु संज्ञितः॥

i.e. the withdrawal from the sense-objects is Pratyāhāra. G (I. 49.36) makes it shorter. cf.

प्रत्याहारश्च रोधनम्।

i.e. Pratyāhāra is restraint (of the senses from their objects).

That manas (mind) is the Lord of all senses is also recognised by P. (128.13). cf.

इन्द्रियाणां तथैवेषां सर्वेषामीश्वरं मनः।

Hence the Gītā (6.26) advises control of mind. cf.

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

i.e. wherever the fickle and unsteady mind strays off, withdrawing it from there, it should be brought under the control of the self.

The Mār (36. 33-34) and Vā (I. 11:19) aver that one who withdraws all desires (of the senses) like the tortoise withdraws its limbs, and remains aloof enjoying the bliss of one's soul, surely perceives the self within one's own self. cf. Mār 36.33-34 :

यस्तु प्रत्याहरेत्कामान्सर्वाङ्गानीव कच्छपः ॥ 33
सदात्मरतिरेकस्थः पश्यत्यात्मानमात्मनि ।

How one must proceed to perform Pratyāhāra is explained by Vā (I.11.20) as

पूरयित्वा शरीरन्तु सबाह्याभ्यन्तरं शुचिः ।
आकण्ठनाभियोगेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥

i.e. having accomplished internal and external cleanliness, one must fill the body with air (through inhalation) and shall begin withdrawal by the process of Yoga from the navel to the neck.

The Vi. (VI. 7.43), following Mār (36. 41-42) holds that the senses which respond to sound and the like should be brought together and led to assume the nature of citta. This it calls Pratyāhāra. cf. Vi. VI.7.43 (= N.I.47.19) :

शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥

Thus in this definition, Vi inserts the new element i.e. "कुर्याच्चित्तानु-कारीणि" which is found neither in Mār nor in Vā but in Patañjali's definition cf "चित्तस्य स्वरूपानुकार"... (YS.II.54 quoted above).

Echoing Patañjali's words (YS.II.55) again, Vi also adds that Pratyāhāra results in the greatest mastery over the senses. cf. Vi. VI.7.44 (=N.I.47.20) :

वश्यता परमा तेन जायतेति चलात्मनाम् ।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥

i.e. By this the sense-organs which are of outgoing (towards the sense objects) tendency, come under control without which the Yogī is unable to succeed in Yoga.

The K (II.11.38) defines Pratyāhāra as follows :

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
निग्रहः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारस्तु सत्तमाः ॥

i.e. Pratyāhāra is the restraint of the senses which by nature run after their objects.

The L (I. 8.41b-42a) defines Pratyāhāra as restraining the senses and withdrawing all of them together from their attachment to their objects. cf.

निग्रहो ह्यपहृत्याऽऽशु प्रसक्तानीन्द्रियाणि च।
विषयेषु समासेन प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः॥

It is only after the withdrawal of senses that one becomes fit to practise the succeeding aṅgas of Yoga and thereby succeed in it cf. Bhāg. XI.14.42 :

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥

The sense organs which spread out and agitate us must be intelligently controlled like a father controls his sons. The concentration of the mind and the sense-organs is the greatest austerity and is the excellent virtue. By controlling all the sense organs and the mind which is the sixth by proper learning one becomes self-contented and free from all objects of thought. cf B.130.17-19 :

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य तत्त्वतः।
सर्वतः प्रसृतानीह पिता बालानिवात्मजान्॥ 17
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तच्छ्रेष्ठं सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥ 18
तानि सर्वाणि संधाय मनः षष्ठानि विद्यया।
आत्मतृप्तः स एवाऽऽसीद्बहुचिन्त्यमचिन्तयन्॥ 19

G (I. Ācārakāṇḍa 235.26) also calls it Pratyāhāra when all the sense-organs are withdrawn, from their natural urge towards their objects, along with the mind. cf.

सर्वेषामिन्द्रियाणां तु प्रवृत्तिर्विषयेषु च।
निवृत्तिर्मनसस्तस्याः प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः॥ 235.26.

He who thus wilfully withdraws all the sense-organs from their objects along with his intellect, is said to be in Pratyāhāra. cf G.I. Ācārakāṇḍa 235.27 :

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः समाहृत्य हितो हि सः।
सहसा सह बुद्ध्या च प्रत्याहारेषु संस्थितः॥

The G (Ibid. 238.12b-13a) reiterates that Pratyāhāra is restraint over the sense-organs which indulge in their objects. cf.

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु त्वसत्स्विव।
नियमः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारस्तु पाण्डव॥

According to N.(I.33.129) also, the central idea of Pratyāhāra is withdrawal or restraint of senses. cf.

विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः।
समाहृत्य निगृह्णाति प्रत्याहारस्तु स स्मृतः॥

i.e. that by which the senses absorbed in their objects are brought together and withdrawn is known as Pratyāhāra.

The N.(I. 33.131) also tells us that one who engages oneself in contemplation without subjugating the senses must be considered ignorant. He will never succeed in contemplation cf :

अनिर्जित्येन्द्रियग्रामं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
मूढात्मानं च तं विद्याद् ध्यानं चाऽस्य न सिद्ध्यति॥

The Ś(Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.45b-48a) also defines Pratyāhāra in a similar vein. cf.

इन्द्रियाणि प्रसक्तानि यथा स्वं विषयेष्विव।
आहृत्य यन्निगृह्णाति स प्रत्याहार उच्यते॥ 37.45

i.e. Pratyāhāra is that by which the senses absorbed in their own objects are brought together and restrained. Further it adds that the senses led by manas i.e. mind are in themselves heaven as well as hell; if they are restrained they lead to heaven; if uncontrolled they lead to hell. Hence the intelligent equipped with Jñāna and Vairāgya must try to uplift one's own self by bringing under control the horses in the form of the senses cf.

मनः* पूर्वाणीन्द्रियाणि स्वर्गं नरकमेव च।
निगृहीत **विसृष्टानिस्वर्गाय नरकाय च॥ 46
तस्मात्सुखार्थी महिमाञ्ज्ञानवैराग्यमाश्रितः।
इन्द्रियाश्वान्निगृह्याशु स्वात्मनात्मानमुद्धरेत्॥ 47

---

* The text wrongly reads 'namaḥ' instead of 'manaḥ'.

** Here also the text adopts the reading 'निसृष्टानि' instead of 'विसृष्टानि'.

This reminds us of the statement in Śantiparvan 197.90 cf.

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी ॥

i.e. the senses when absorbed (in the objects) lead to suffering whereas the same when restrained lead to happiness.

The Ag (373.16-17) likens the body to a chariot drawn by the horses in the form of the senses, the mind as the charioteer and Prāṇāyama the whip. It furhter adds that the senses are in themselves both heaven and hell; when controlled they lead to heaven and when uncontrolled they lead to hell. It defines Pratyāhāra as that by which the senses immersed in the ocean of objects are brought together and controlled. cf. Ag. 373.16-17 and 20 :

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीत विसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ 16
शरीरं रथमित्याहुरिन्द्रियाण्यस्य वाजिनः ।
मनश्च सारथिः प्रोक्तः प्राणायामकशा स्मृताः ॥ 17

... ...

इन्द्रियाणि प्रसक्तानि प्रविश्य विषयोदधौ ।
आहृत्य यो निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥ 20

The Sk deals with Yoga in three of its khaṇḍas viz Māheśvara, Vaiṣṇava and Kāśī khaṇḍas. In every khaṇḍa it has defined Pratyāhāra all meaning basically the same. i.e. withdrawal of the senses and mind cf.

विषयेषु प्रवर्त्तस्य चेतसो विनिवर्त्तनम् ॥
प्रत्याहारं विनिर्दिष्टं तस्य संयमनं हि यत् ।
प्रत्याहारस्त्वयं प्रोक्तो .... ॥ Sk.Māheśvarakhaṇḍa,Kaumārikā.55.41b-42

i.e. The withdrawal of the mind which indulges in its object and its control is called Pratyāhāra.

मनसेन्द्रियवृत्तीनां तत्तद्विषयतश्च तत् ।
आकर्षणं प्रतीचीनं प्रत्याहारः स ईरितः ॥ -Vaiṣṇavakhaṇḍa,Vāsudevamāhātmya30.16.

i.e. The reversal of the attraction of the functions of the Manas and the senses from their objects is called Pratyāhāra.

इन्द्रियाणां हि चरतां विषयेषु यदृच्छया ।
यत्प्रत्याहरणं युक्त्या प्रत्याहारः स उच्यते ॥

प्रत्याहरति यत् खानि कूर्मोऽङ्गानीव सर्वतः।

प्रत्याहृति विधानेन स स्याद्विगतकल्मषः॥ Kāśīkhaṇḍa,41.101-102

i.e. The proper withdrawal of the senses which indulge in their objects is called Pratyāhāra. He who withdraws his senses in the prescribed manner just as the tortoise withdraws its limbs thereby gets rid of all his sins.

The results of the absence of control over the mind and the senses has been clearly brought out by the Bhagavadgītā (2.67) as follows :

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

i.e. When the mind follows the roving senses, it drives away the understanding just as the wind drives away a ship on the waters.

Manu (II. 99) makes the same point in the following lines. cf.

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।

तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

i.e. Even if one among the sense-organs slips away from control, thereby understanding slips away (from the Yoga aspirant) like water from (a leaking) skinbag.

The B(128.49b-50a) expresses the same idea as follows cf :

जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यद्येकं क्लिन्नमिन्द्रियम्।

ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा गिरेः पादादिवोदकम्॥

i.e. Even if one of the five sense-organs of a being slips away from control , thereby understanding slips away like water flowing out of the foot of a mountain.

From the various definitions of Pratyāhāra gleaned from YS and the Major Purāṇas, the central idea of Pratyāhāra can be inferred as the withdrawal of the senses (and of the manas) from their natural indulgence in their objects. This is the type of Pratyāhāra given by the Gītā (6.26 quoted above). The VS also gives this kind of Pratyāhāra. cf. VS. III.59-60:

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः॥

बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।

i.e the withdrawal with effort of the sense organs which by nature indulge in their objects is called Pratyāhāra.

This definition is nearer to the definition found in K (quoted above).

The second kind of Pratyāhāra mentioned by VS.III.50-61 is as follows :

यद्यत् पश्यति तत्सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि ।

प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥

i.e. Perceiving all that one sees as Self within the self is also termed as Pratyāhāra by the esteemed knowers of Yoga.

But this sort of Universal vision i.e. Perception of the supreme in every object of creation is not exactly Pratyāhāra but an external sign of the spiritual development – a result of successful Pratyāhāra or success in Yoga (cf. Yoga and Jñāna, pp. 182-185).

Thus the Gītā (6.29) says that one who has succeeded in Yoga sees the self abiding in all beings and all the beings abiding in one's own self and thus is of impartial vision. cf.

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

When the sense-organs refrain from their objects and stay put in their abodes, then one sees the Supreme, the eternal one through the self. cf. B. 130.20:

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।

तदा चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यथ शाश्वतम् ॥

The N(I. 33.132) also is of the same view. cf.

यद्यत्पश्यति तत्सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि ।

प्रत्याहृतानीन्द्रियाणि ... ॥

i.e. When the senses are withdrawn (from their objects), all that one sees, one perceives as the self within one's own self. (cf. Yoga and Jñāna under Samādhi, infra).

The Haṭhayoga process viz Viparītakaraṇī which is called Pratyāhāra by GŚ is also found mentioned by Sk.

The GŚ verses 55, 57-59 explain the process as follows :

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।

तत्प्रत्याहरणं तस्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥ 55

नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ 57
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥ 58
ऊर्ध्वनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वभानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवक्त्रेण लभ्यते ॥ 59

i.e. "The Sun (at the navel) draws (to himself) the streams of nectar flowing from the moon (situated at the base of the palate). The withholding of this nectar (from the sun) is called Pratyāhāra. In the region of the navel there is one burning sun while at the base of the palate, there always stands the moon full of nectar. The down-looking moon showers (nectar) and the sun with his upturned mouth swallows (it). There (i.e. in this connection) that practice should be knowm, by which the nectar can be obtained. The navel is up and the palate is below, the sun is up and the moon down. This action known as Vīparītakaraṇi is learnt through the word of the preceptor" (Gorakṣaśatakam pp. 37-38. Ed. by Swami Kuvalayananda and Dr. S.A. Shukla, Lonavala).

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.103-104) describes the Viparītakaraṇi as follows :

नाभिदेशे वसेद्भानुस्तालुदेशे च चन्द्रमाः ।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसदूर्ध्वमुखो रविः ॥ 103
करणं तच्च कर्तव्यं येन सा प्राप्यते सुधा ।
ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणं विपरीताख्यमभ्यासादेव जायते ॥ 104

i.e. the sun resides at the navel region whereas the moon resides at the palate. Facing down, the moon showers the nectar; the sun facing upwards sucks it. Therefore the process of preserving the nectar must be practised. The process known as Viparīta which puts the navel up and palate down i.e. the sun up and the moon down is mastered only by practice. The HP (V. 107-111) also explains this process.

The concepts of moon residing at the palate showering nectar and the sun residing at the navel region swallowing the nectar are not found in the YS and belong to the Haṭhayoga.

□□

CHAPTER VII

DHĀRAṆĀ (FIXATION)

All the aṅgas of Yoga beginning from Yamas and ending with Pratyāhāra are aimed at controlling the body, Prāṇa and the senses. The last three aṅgas viz. Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi of the Aṣṭāṅga-Yoga of Patañjali are aimed at controlling the mind. Hence the last three taken together are called antaraṅga i.e. internal compared to the preceding five which together form bahiraṅga. Hence Patañjali states

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ YS.III.7.

i.e. the three together are internal in relation to the preceding ones.

Manu (VI.72), Dakṣa (7.3) and Śaṅkha (7.13) refer to Dhāraṇa. The Gītā uses two terms Dhṛti and Dhāraṇā. Though the Yogadhāraṇā mentioned in the Gītā is a more complicated process, steadiness of the mind seems to be the main performance meant by the term Dhāraṇā.

Dhāraṇā is to be practised only by one who has brought under control the Vāyus and sense organs. Thus Vi (VI. 7.45= N.I. 47.21) states:

प्राणायामेन पवने प्रत्याहारेण चेन्द्रिये ।

वशीकृते ततः कुर्यात्स्थितं चेतश्शुभाश्रये ॥

i.e. After having controlled the breath by means of Prāṇāyāma and the senses by means of the Pratyāhāra, one must then fix the mind on an auspicious object.

It is this fixation of mind which is called Dhāraṇā. The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.111) concurs with the above view. cf Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.111=GŚ.68) :

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।

प्रत्याहारेण संपन्नो धारणामथ चाभ्यसेत् ॥

Whereas Śaṅkha (7.15) terms restraint of Manas as Dhāraṇā, (मनस: संयमस्तज्ज्ञैर्धारणेति निगद्यते), Dhāraṇā is defined by Vā (I. 11. 29) as fixation of mind. cf.

मनसो धारणा चैव धारणेति प्रकीर्त्तिता ॥

That (activity) by which the mind is held (arrested or restrained) is called Dhāraṇā. cf Mār. 36.41 :

धारणेत्युच्यते चेऽयं धार्यते यन्मनो यया ॥

The Vi (V.7.78) also is of the same view. cf.

एषा वै धारणा प्रोक्ता यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥

According to G (I. 49.35) Dhāraṇā is steadiness of mind. cf

धारणा मनसो धृतिः ।

Ś(Vāyavīyasaṁhitā 37. 50b-51a) observes that from Dhāraṇā ensues stability of mind. Hence one must make the mind resolute by continuous practice of Dhāraṇā. cf.

मनसः प्रथमः स्थैर्यं धारणातः प्रजायते ॥
तस्माद्धीरं मनः कुर्याद्धारणाभ्यासयोगतः ।

Patañjali defines it as

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ YS.III.1

i.e. Dhāraṇā is the fixation or steadiness of mind in some place or object. For Patañjali, Dhyāna is contemplation on the same object to the exclusion of others (or without interruption); and samādhi is the same contemplation when there is consciousness only of the object of meditation and not of the mind. cf.

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ YS.III.2
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ YS.III.3

Thus the same object served for Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi, the intensity alone increasing i.e. the progress from Dhāraṇā to Dhyāna and Samādhi is qualitative. But the Mār and Vā followed by K, L, G, Ag and Yogacūḍāmaṇyupaniṣad (111-112) give a peculiar definition of Dhāraṇā based on the duration of its performance. cf. Mār. 35-36 (=G.I. Ācārakāṇḍa 226.20).

प्राणायामा दश द्वौ च धारणा साऽभिधीयते ।। 35
द्वे धारणे स्मृते योगे योगिभिस्तत्त्वदृष्टिभिः ।

i.e. Twelve Prāṇāyāmas make a Dhāraṇā. Yoga is of the duration of two Dhāraṇās. G states almost the same.

तथा द्वादशमात्रस्तु प्राणायामो विधीयते ।।
धारणा द्वादशायामो योगो वै धारणाद्वयम् । Vā.I.11.21b-22a

i.e. Prāṇāyāma is of the duration of twelve mātrās; Dhāraṇā is of the duration of twelve Prāṇāyāmas and Yoga (i.e. Dhyāna and Samādhi) is of the duration of two Dhāraṇās.

cf. K.(II.11.42=L.I.8.113b-114a=Ś.Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga. 37.60=Ag. 375.4) :

धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादशधारणाः ।
ध्यानं द्वादशकं यावत् समाधिरभिधीयते ।।

i.e. Dhāraṇā is the duration of twelve Prāṇāyāmas, Dhyāna of the duration of twelve Dhāraṇās and Samādhi is the duration of twelve Dhyānas.

These definitions are based on the time factor alone and not on the intensity of contemplation. Thus whereas in Mār (followed by other Purāṇas and some of the Yogopaniṣads) the difference is quantitative, in the YS, the difference between Dhāraṇā and Dhyāna is qualitative.

Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.48b) defines Dhāraṇā in the same vein as Patañjali. cf.

धारणा नाम चित्तस्य स्थानबन्धस्समासतः ।

i.e. Dhāraṇā, in fact, is the fixation of mind on some spot (or object).

L (I.8.42b) also defines Dhāraṇā as fixation of Citta (mind) in some spot (or region). Thus both L and S substitute the term 'sthāna' in place of 'deśa' of Patañjali's definition.

L (I.8.43b-44) continues to define Dhyāna and Samādhi also in the same vein as YS (cf. Dhyāna, infra).

But elsewhere L also includes the definition of Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi based on the duration of performance which is peculiar to Mār, Vā, K, Ag. and some Yoga Upaniṣads (cf. L.I.8.113b -114a quoted above).

G (I. Ācarakāṇḍa 235.28) also subscribes to the definition of Dhāraṇā based on time factor alone. cf.

प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।

यस्तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

i.e. (Dhāraṇā is) steadiness of mind on Brahman for the duration of time taken for twelve Prāṇāyāmas.

Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.49b-50a) defines Dhāraṇa, as follows. cf.

कालं कंचावधीकृत्य स्थानेऽवस्थापितं मनः॥ 49

न तु प्रच्यवते लक्ष्याद्धारणा स्यान्नचान्यथा। 50a

i.e. the steadiness of the mind on a spot for a stipulated period without swerving away from it is called Dhāraṇā, and not otherwise.

The Ag (ch. 375) gives us the following varied definitions of Dhāraṇā (besides the one based on the duration of its performance quoted above) cf.

धारणा मनसो ध्येये संस्थितिः॥ Ag.375.1a.

i.e. the establishment of the mind in the object of contemplation is Dhāraṇā. Thus according to this definition the same object serves for Dhāraṇā and Dhyāna as well, as in the YS.

यद्बाह्यावस्थितं लक्ष्यं तस्मान्न चलते मनः।

तावत्कालं प्रदेशेषु धारणा मनसः स्थितिः॥ Ag.375.2

i.e. the steadiness of mind, without deviation, on a particular spot outside (the body) for a determined duration is known as Dhāraṇā. This definition also makes it clear that Dhāraṇā does not automatically develop into Dhyāna.

कालावधिपरिच्छिन्नं देहे संस्थापितं मनः।

न प्रच्यवति यल्लक्ष्याद्धारणा साऽभिधीयते॥ Ag.375.3

i.e. When the mind fixed on the object situated in the body does not swerve from it for a stipulated period, that is called Dhāraṇā. Here also, it is the time that determines Dhāraṇā.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41.94-95) includes Prāṇāyāma and Pratyāhāra also in the definition based on time limit. cf.

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः।
प्रत्याहारैर्द्वादशभिर्धारणा परिकीर्त्तिता ॥ 94
भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम्।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ 95

This virtually is the view of Yogacūḍāmaṇyupaniṣad 111-112. cf.
प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥ 111
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ 112

Patañjali does not specify the objects (or regions) on which the mind is to be fixed. The Mār and other Purāṇas speak of Dhāraṇā in (ten) places like the navel, heart, throat, chest, face, tip of the nose, eye, the space in between the eye-brows, centre of the head and a little above that, the last being the highest type. cf. Mār. 36. 44-46a :
प्राङ्नाभ्यां हृदये चाऽथ तृतीये च तथोरसि ॥ 44
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्द्धसु।
किञ्च तस्मात् परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता ॥ 45
दशैता धारणा प्राप्य प्राप्नोत्यक्षरसाम्यताम्।
cf. Vā. I.11.27-28 :
नाभ्यां च हृदये चैव कण्ठे उरसि चाऽऽनने।
नासाग्रे तु तथा नेत्रे भ्रुवोर्मध्येऽथ मूर्धनि ॥ 27
किञ्चिदूर्ध्वं परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता।

G (I. Ācārakāṇḍa 226.21-22) repeats the statement of Mār. almost verbatim.

B (131.39-40) introduces kukṣi (arm-pit), pārśva(flanks) and śravaṇa(ears) among the spots recommended for Dhāraṇā. Yet all these spots on which the Yogī is directed to fix his mind upon are regions of the body. The Vyāsabhāṣya, on the contrary states (on YS. III.1) that the object (region) for Dhāraṇā could be one external to the body as well. cf.

नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।

Thus whereas it specifies 'Jyotiṣī' (luminaries) among the objects it clearly states ' bāhye vā viṣaye' (i.e. any external object) as fit spot for the practice of Dhāraṇā.

K (II.11.39) includes the peak of a mountain among the spots recommended for Dhāvaṇā. cf.

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।
एवमादिषु देशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥

For Vi (VI.7.47=N.I.47.23) there is only one auspicious substratum which mind can resort to i.e. the embodied or unembodied form of Brahman i.e.Viṣṇu. cf.

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः ।
भूप मूर्त्तममूर्त्तं च परं चापरमेव च ॥

Hence Vi (VI.7.74-77=N.I.47.50-53) recommends Dhāraṇā on the form of Viṣṇu alone who is the substratum of all Śaktis (powers). It names this Dhāraṇā as Śuddha Dhāraṇā, all others being aśuddha (impure). cf.

यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ॥ 74
तस्मात्समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः ।
कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा ॥ 75
शुभाश्रयस्य चित्तस्य सर्वगस्याचलात्मनः ।
त्रिभावभावनातीतो मुक्तये योगिनो नृप ॥ 76
अन्ये तु पुरुषव्याघ्र चेतसो ये व्यपाश्रयाः ।
अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनयः ॥ 77

As it is difficult to imagine the unembodied form of Viṣṇu, the gross form of Viṣṇu must be imagined. cf. Vi.(VI.7.55) :

न तद्योगयुजा शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः ।
ततः स्थूलं हरे रूपं चिन्तयेद्विश्वगोचरम् ॥

The Vi (VI.7.79) further describes the embodied form of Viṣṇu which is to be imagined, for there can be no retention without a support (substratum). cf.

यच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक्चिन्त्यं नराधिप।
तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ॥ 79

The Vi (VI.7.80-90=N.I.47.56-65) also describes the nature of the gross form of Viṣṇu on which Dhāraṇa is to be performed and the stages through which this Dhāraṇā passes into Dhyāna. cf.

प्रसन्नवदनं चारु पद्मपत्रोपमेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥ 80
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुंडलभूषणम्।
कंबुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्सांकितवक्षसम् ॥ 81
वलित्रिभंगिना मग्ननाभिना ह्युदरेण च।
प्रलंबाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम् ॥ 82
समस्थितोरूजंघं च सुस्थितांघ्रिवरांबुजम्।
चिंतयेद्ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् ॥ 83
किरीटहारकेयूरकटकादिविभूषितम् ॥ 84
शार्ङ्गशंखगदाखड्गचक्राक्षवलयान्वितम्।
वरदाभयहस्तं च मुद्रिकारत्नभूषितम् ॥ 85

i.e. Viṣṇu should be thought of having a handsome and delightful face, eyes like petals of lotus, fine cheeks and broad and brilliant forehead, beautiful ear-rings, neck like a conch-shell, chest broad and embellished with Śrīvatsa, beautiful belly with three folds of skin and deep navel eight or four armed, thighs large and symmetrical, firm feet and lotus-like hands, clad in unblemished yellow garment, wearing crown, necklace and beautiful bracelets and armlets and wielding the śārṅga bow, holding conch, mace, sword, discus and rosary, with hands in varada (blessing) and abhaya (protection) pose and fingers wearing bejewelled rings.

The yogī must with mind concentrated, meditate upon the above form of Viṣṇu and identify himself with Him until the mind becomes firmly fixed in Him. cf. Vi.VI.7.86 (=N.I.47.61) :

चिंतयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्।
तावद्यावद्दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा ॥ 86

When this steadiness of mind does not swerve irrespective of whether the devotee is speaking, standing or engaged in some other voluntary actions, it should be considered as accomplished. cf. Vi. VI. 7.87 (=N.I.47.62) :

व्रजतस्तिष्ठतोन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तात्सिद्धां मन्येत तां तदा ॥ 87

Thereafter the devotee shall meditate upon the form of the Lord, without his attributes viz. śaṅkha, gadā, cakra and śārṅga, but tranquil and holding the rosary in hand. When this Dhāraṇā also is accomplished, his form without such ornaments as crown, bracelets, etc. should be meditated upon. cf. Vi. VI. 7.88-89 (=N.I. 47. 63-64) :

ततः शंखगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः।
चिंतयेद्भगवद्रूपं प्रशांतं साक्षसूत्रकम् ॥ 88
सा यदा धारणा तद्वदवस्थानवती ततः।
किरीटकेयूरमुखैर्भूषणैरहितं स्मरेत् ॥ 89

Then the devotee should mentally dwell upon the single limb of the Lord and thereafter He should become engrossed in His limbs. cf. Vi. VI. 7.90 (=N.I. 47.65)

तदेकावयवं देवं चेतसा हि पुनर्बुधः।
कुर्यात्ततोऽवयविनि प्रणिधानपरो भवेत् ॥ 90

A similar description of Dhāraṇā on the embodied form of Viṣṇu and the stages through which this Dhāraṇā passes into Dhyāna is also supplied by Bhāg. II.2.8-13. cf :

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ 2.8
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥ 2.12
एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत् पादादि यावद्धसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत् परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ 13

cf. also Bhāg. III. 28.18-20 and XI.14.42-46 :

ध्यायेदेवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥ 28.18
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ 28.19
तस्मिंल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥ 28.20

Bhāg.XI.14.42-46:
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥ 14.42
तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ 14.43
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ 14.44
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥ 14.45
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयात्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ 14.46

The L (I. 8.96) seems to indicate nābhi (navel), gala (throat), bhrūmadhya (space between the eyebrows), lalāṭaphalaka (forehead) and mūrdhā as the spots upon which different forms of Śiva are to be contemplated upon (L.I.8.101-102).

Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.49a) like the Vi, N and Bhāg limits Dhāraṇā to only one object and the object is Śiva cf.
स्थानं च शिव एवैको नान्यद्दोषत्रयं यतः ॥

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.17) recommends nābhi (navel) and other spots upon which the mind along with the Prāṇa is to be fixed on the form of Vāsudeva cf.
नाभ्याद्यन्यतमे स्थाने प्राणेन सह चेतसः।
वासुदेवस्वरूपे यद्धारणं धारणोदिता ॥

Thus in this particular Dhāraṇā it is not only the mind but also the Prāṇa which is to be fixed on the form of Vāsudeva at the specified spots.

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikākhaṇḍa, 55.44-45) recommends contraction (of the anus) and pulling up of the Prāṇa slowly and gradually to the forehead successively from the four-petalled, six-petalled, twelve-petalled and sixteen and (thirty-) two petalled lotuses situated at the regions of the navel, heart, palate and the space in between the eyebrows and thereafter to hold it accompanied with the manas (mind) at the Brahmarandhra. cf.

ṢAṬCAKRAS AND THEIR CHARACTERISTICS (FROM ṢAṬCAKRANIRŪPAṆA)

S.No.	Name of Cakra	Situation	No. of Petals	Complexion	Letters	Element	Bīja	Deity	Queen of Cakra
1.	Mūlādhāra	Below the genitals and above the anus	Four	Crimson	वं to सं	Region of Pṛthvī	Bīja of Earth	Four-faced Brahmā (mounted on elephant)	Ḍākinī (with Svayambhū liṅga & Kuṇḍalinī)
2.	Svādhiṣṭhāna	At the root of the genitals	Six	Vermilion	बं to लं	Region of Water	Varuṇa bīja	Viṣṇu (seated on Guruḍa)	Rākinī
3.	Maṇipūra	At the navel	Ten	Rain cloud	ड to फ	Region of fire	Bīja of Fire	Rudra (seated on bull)	Lākinī
4.	Anāhata	In the heart	Twelve	Bandhūka flower	क to ठ	Region of Vāyu	Vāyu bīja	Three-eyed Īśa	Kākinī
5.	Viśuddha	In the throat	Sixteen	Smoky purple	अ to अः	Region of Ether	Bīja of ambara	Three-eyed and five-faced Śadāśiva united with Girijā	Sākinī
6.	Ājñā	Between the eyebrows	Two	White	ह & क्ष		Bīja of Vedas	Śiva called Itara	Hākinī

प्राङ्नाभ्यां हृदये वायुरथ तालौ भ्रुवोरन्तरे।
चतुर्दले षड्दले च द्वादशे षोडशद्विके ॥ 55.44
आकुंचनेनैवमूर्द्धमुन्नीय पवनं शनैः।
मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्रे तं प्राणं सन्धारयेत्कृती ॥ 55.45

This additional activity of leading the Prāṇa and holding it (accompanied with the manas) at specified regions of the body is a characteristic feature of Pañcabhūtadhāraṇā, i.e. Dhāraṇā of the five elements described in the Haṭha texts such as the Gorakṣaśataka (cf. infra). The system of the six cakras and their characteristics have been vividly described in the Ṣaṭcakranirūpaṇa highlights of which may be referred to in the tabulated form. (cf. also Appendix for more particulars).

Saptadhāraṇā

The Śāntiparvan of Mahābhārata (cr. ed. 228. 13-15a) mentions seven Dhāraṇās. cf.

सप्त यो धारणा कृत्स्नाः वाग्यतः प्रतिपद्यते।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्या यावत्यस्ताः प्रधारणाः ॥ 13
क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं तथा पयः।
ज्योतिषो यत्तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः ॥ 14
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते।

The seven subtle Dhāraṇās mentioned here are of the five elements viz. earth, air, ether, water and light and of ahaṅkāra and buddhi. The Yogī is said to attain success over the elements by performing Dhāraṇā over these one by one.

The Mār (37.17-23) and Vā (I.12.17-28) also describe the seven Dhāraṇās. According to Mār, the seven subtle Dhāraṇās are those of earth, water, fire (light), air, ether, manas and intellect; by contemplation on these subtle elements, the Yogī comprehends the subtlety of these and relinquishes flavour, taste, form, touch and the activity of sound (of earth, water, fire, wind and the sky respectively) and his mind becomes subtle; by means of his subtle mind he enters the mind of all beings; by means of his intellect he enters the intellect of all; he realizes and having become unattached relinquishes the seven subtle things after which there is no retrogression; he proceeds to Supreme Bliss. cf. Mār. 37.17-23 :

सूक्ष्मास्तु धारणा सप्त भूराद्या मूर्ध्नि धारयेत्।
धरित्रीं धारयेद्योगी तत्सौक्ष्म्यं प्रतिपद्यते ॥ 17
आत्मानं मन्यते चोर्वीं तद्‌गन्धं च जहाति सः।
तथैवाप्सुरसं सूक्ष्मं तद्वत् रूपं च तेजसि ॥ 18
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद् बिभ्रतस्तस्य धारणाम्।
व्योम्नः सूक्ष्मां प्रवृत्तिं च शब्दं तद्वज्जहाति सः ॥ 19
मनसा सर्वभूतानां मनस्याविशते यदा।
मानसीं धारणां बिभ्रन्मनः सूक्ष्मं च जायते ॥ 20
तद्वद् बुद्धिमशेषाणां सत्त्वानामेत्य योगवित्।
परित्यजति संप्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम् ॥ 21
परित्यजति सूक्ष्माणि सप्तत्वेतानि योगवित्।
सम्यग् विज्ञाय योऽलर्क तस्यावृत्तिर्न विद्यते ॥ 22
एतासां धारणानां तु सप्तानां सौक्ष्म्यमात्मवान्।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा ततः सिद्धिं त्यक्त्वा त्यक्त्वा परां व्रजेत् ॥ 23

The Vā (I.12.18-25) also gives a similar description of the seven Dhāraṇās. cf.

पृथिवीं धारयेत् सर्वां ततश्चापो ह्यनन्तरम्।
ततोऽग्निश्चैव सर्वेषामाकाशं मन एव च ॥ 18
ततः परं पुनर्बुद्धिं धारयेद्यत्नतो यति।
सिद्धीनां चैव लिङ्गानि दृष्ट्वा दृष्ट्वा परित्यजेत् ॥ 19
पृथ्वीं धारयमाणस्य मही सूक्ष्मा प्रवर्त्तते।
आपो धारयमाणस्य आपः सूक्ष्मा भवन्ति हि।
शीताः रसाः प्रवर्त्तन्ते सूक्ष्मा ह्यमृतसन्निभाः ॥ 20
तेजो धारयमाणस्य तेजः सूक्ष्मं प्रवर्त्तते।
आत्मानं मन्यते तेजस्तद्भावमनुपश्यति ॥ 21
आत्मानं मन्यते वायुं वायुवन्मण्डलं प्रभो।
आकाशं धारयाणस्य व्योम सूक्ष्मं प्रवर्त्तते ॥ 22
पश्यते मण्डलं सूक्ष्मं घोषश्चास्य प्रवर्त्तते।
आत्मानं मन्यते नित्यं वायुः सूक्ष्म प्रवर्त्तते ॥ 23
तथा मनो धारयतो मनः सूक्ष्मं प्रवर्त्तते।

मनसा सर्वभूतानां मनस्तु विशते हि सः ।
बुद्ध्या बुद्धिं यदा युञ्जेत्तदा विज्ञाय बुद्ध्यते ॥ 24
एतानि सप्तसूक्ष्माणि विदित्वा यस्तु योगवित् ।
परित्यजति मेधावी स बुद्ध्या परमं व्रजेत् ॥ 25

Pañcabhūtadhāraṇā

The GŚ names the Dhāraṇās of Pañcabhūtas as Stambhanī (solidifying), drāvaṇī (liquifying), dahanī (inflaming), bhrāmaṇī (whirling) and śosaṇī (absorbing). cf. GŚ 74 :

स्तम्भनी द्रावणी चैव दहनी भ्रामणी तथा ।
शोषणी च भवन्त्येवं भूतानां पञ्चधारणाः ॥

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.112) states that the Dhāraṇā of the five elements should severally be done at the heart i.e. inside the body with steadiness of mind cf.

हृदये पञ्चभूतानां धारणां यः पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा सा विधीयते ॥ Sk.Kāśīkhaṇḍa 41.112 (=GŚ 68)

It names the five Bhūtadhāraṇās. cf. Ibid 41.118 :

स्तंभनी प्लावनी चैव दहनी भ्रामणी तथा ।
शमनी च भवन्त्येता भूतानां पञ्च धारणाः ॥

These names are almost the same mentioned by GŚ quoted above, except that in this verse Plāvanī substitutes for Drāvaṇī of GŚ, both meaning the same. The last mentioned in the above verse viz śamanī (pacifying) stands for śosaṇī (absorbing) of GŚ. 74.

The GŚ (69-73) gives a detailed and uniform description of the five Dhāraṇās (See Tables). The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.113-117) also describes the Pañcabhūtadhāraṇās but misses some of the aspects included by GŚ.

GŚ 69 describes Kṣitidhāraṇā i.e. Dhāraṇā of the element earth as follows:

या पृथ्वी हरितालदेशरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्ध्रुवो धारणा ॥

FEATURES OF PAÑCABHŪTA DHĀRAṆĀ as per GŚ 69-74

S.No.	Name	Element	Shape	Situation	Colour	Deity	Sound	Nature	Benefit
1.	KṢITIDHĀRAṆA	Earth	Quadran-gular	Heart	Yellow	Brahmā	ल	Stambhakarī	Power to conquer the earth
2.	VĀRI DHĀRAṆĀ	Water	Half-moon	Throat	White as Kunda	Viṣṇu	व	Drāvaṇī	Success over water
3.	VAIŚVĀNARĪ DHĀRAṆĀ	Fire	Triangular	Palate	Indragopa	Rudra	र	Dahanī	Control over fire
4.	VĀYAVI DHĀRAṆĀ	Air	Circular	Between the eye brows	Black as añjana	Īśvara	य	Bhrāmaṇī	Ability to fly in the sky
5.	NABHODHĀRAṆĀ	Space	-	Brahma-randhra	Like water of mirage	Sadāśiva	ह	Śoṣaṇī	Breaking open door to liberation.

i.e. One should lead the Prāṇa and hold it along with the mind for five ghaṭikās on the quadrangular Earth (element) situated at the heart and presided over by Brahmā – the element beautiful as the surface of a broken piece of yellow orpiment, being yellow and characterised by the sound 'ल'. This Dhāraṇā on the earth element is paralysing/arresting and will (enable the Yogī to) conquer the Earth.

Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.113) curtails the above description and defines it with regard to the most important aspects of the Dhāraṇā (contained in the first two lines of GŚ 69), leaving out at the same time the other aspects contained in the last two lines of GŚ 69 such as (i) Prāṇa should be led and held along with the manas for five ghaṭikās, (ii) the name of the Dhāraṇā i.e. Stambhakārī and (iii) the benefit of performing the Dhāraṇā. cf. Sk. Kāśīkhaṇḍa 41.113 :

हरितालनिभां भूमिं सलकारां सवेधसम्।
चतुष्कोणं हृदि ध्यायेदेषा स्यात्क्षितिधारणा ॥

i.e. One should contemplate in heart on the quandrangular Earth (element) of the colour of yellow orpiment, presided over by Brahmā and characterised by the sound 'ल'. This is Dhāraṇā of the Earth (element).

The Sk treats the Dhāraṇās on the next three elements viz Water, Fire and Air also almost in the same brief manner; but it describes the Nabhodhāraṇā i.e. Dhāraṇā of Nabhas (sky or space) with all characteristics that we find described by GŚ. From this it must be inferred that the additional points which are found in the GŚ and also in the description of Nabhodhāraṇā by Sk are features common to all other Bhūtadhāraṇās as well, viz that of Earth, Water, Fire and Air.

The Dhāraṇā on Water (element) is described by Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.114) as follows :

कण्ठेऽबुतत्त्वमर्धेंदुनिभं विष्णुसमन्वितम्।
वकारबीजं कुंदाभं धारयन्नंबुजयेदिति ॥

i.e. One should contemplate on the half-moon shaped Water (element) of the colour of Kunda and situated in the throat, associated with Viṣṇu and characterised by the bīja 'व'. This Dhāraṇā leads the Yogī to success over 'Water'.

The GŚ description of this Dhāraṇā includes the additional points such as (i) holding the Prāṇa accompanied by the manas in that region for five ghaṭikās, (ii) the name Vāridhāraṇā and (iii) benefit of performing the Dhāraṇā, namely, power to digest the deadliest poisons cf. GŚ.70 :

अर्धेन्दुप्रतिभं च कुन्दधवलं कंठेंबुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा दुर्वहकालकूटजरणा स्याद्वारिणी धारणा ॥ 70

The Vahnidhāraṇā or Dhāraṇā on the Fire (element) is described by Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.115) as follows :

तालुस्थमिन्द्रगोपाभं त्रिकोणं रेफसंयुतम्।
रुद्रेणाधिष्ठितं तेजो ध्यात्वा वह्निं जयेदिति ॥ 115

i.e. One should contemplate on the triangular Fire (element) of the colour of 'indragopa' situated at the palate, presided over by Rudra and characterised by 'र'. This Dhāraṇā brings control over Fire.

The GŚ 71 contains the description of this Dhāraṇā in which the additional points are (i) प्रवालरुचिरं i.e. beautiful as Pravāla, (ii) holding the Prāṇa accompanied by the manas in that region for five ghaṭkās and (iii) name of Dhāraṇā being Vaiśvānarī, cf. GŚ. 71 :

यत्तालस्थितमिन्द्रगोपसद्दशं तत्त्वं त्रिकोणोज्ज्वलं
तेजो रेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्संगतम्।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा ॥

The Vāyavīdhāraṇā i.e. Dhāraṇā on the Air (element) is described by Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.116) as follows :

वायुतत्त्वं भ्रुवोर्मध्ये वृत्तमंजनसन्निभम्।
यं बीजमीशदैवत्यं ध्यायन्वायुं जयेदिति ॥

i.e. One should contemplate on the circular Air element, black as añjana, situated between the eyebrows, presided over by Īśa and characterised by the bīja 'य'.

GŚ 72 describes the same Vāyudhāraṇā as follows :

यद्भिन्नाञ्जनपुंजसन्निभमिदं तत्त्वं भ्रुवोरन्तरे
वृत्तं वायुमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा॥

Here also the additional aspects (which are dropped by Sk) are (i) holding Prāṇa accompanied by manas in that region for five ghaṭikās, (ii) name of dhāraṇā being Vāyavī and (iii) benefit of performing Dhāraṇā being that it enables the Yogī to fly in the sky.

The Dhāraṇā that is mentioned last is the Nabhodhāraṇā or Ākāśadhāraṇā. It is only here that Sk does full justice to its account of Dhāraṇā. cf. Sk. Kāśīkhaṇḍa 41.117 : cf.

आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम्।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा॥

i.e. the element of ākāśa (space) which is like the water of mirage and is situated at the Brahmarandhra, associated with the Nātha Sadāśiva, serene and characterised by the letter 'ह' . One should hold the Prāṇa accompanied by the mind for five ghaṭikās in that region. This Dhāraṇā called Nabhodhāraṇā is considered to be an adept at breaking open the door of liberation.

This Sk account of Nabhodhāraṇā closely follows the one given by GŚ (73) cf:

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम्।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वयं धारये-
देषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा॥

Patañjali's Dhāraṇā means fixation of the mind at a particular region of the body. He does not accept any external regions. Vyāsabhāṣya on YS includes regions external to the body as well, which is followed by the later Purāṇas. Patañjali gives a general definition of Dhāraṇā. The Sk which has borrowed from the Haṭha texts is more specific about the process of Dhāraṇā. The spots

or regioms for Dhāraṇā are the spots inside the body where the tattvas or elements are situated. They have their own particular shape, the presiding deity, colour and the characteristic letter. Such Dhāraṇās enable the Yogī to conquer the particular tattva [for the five Dhāraṇas cf. HP.VI. 11-18].

Curative Dhāraṇās

The Mār and Vā prescribe curative Dhāraṇās for the removal of physical disorders (disturbances) that afflict a Yogī which are termed obstacles or hindrances to success of Yoga practice. The disorders named by Mār are bādhirya (deafness), jaḍatā (slothfulness), smṛtilopa (failure or lapse of memory), mūkatva (dumbness), andhatā (blindness) and jvara (fever) as caused by the indifference of the ignorant Yogī cf. Mār. (36.52-53) :

विघ्नाय तस्य वै दोषा जायन्ते तन्निबोध मे।
बाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता॥ 52
ज्वरश्च जायते सद्यस्तत्तदज्ञानयोगिनः।
प्रमादाद्योगिनो दोषा यद्येते स्युश्चिकित्सितम्॥ 53
तेषां नाशाय कर्तव्यं योगिनां तन्निबोध मे।

Mār (36.54a-61a) recommends the remedies as follows : In the case of Vātagulma (enlargement of spleen) he must eat well-lubricated and warm rice-gruel and thereafter practise Dhāraṇā. In case of (g)udāvarta (diseases of bowels) the Yogī must eat rice-gruel and curd and regulate the wind by pushing it against the Vāyugranthi (along with practice of Dharaṇā on the forehead); in case of tremor, Dhāraṇā must be made on a mountain (which is stable); dumbness is to be cured by retaining the vital breath on the faculty of speech, deafness by retaining it on the ears and thirst by retaining the vital breath on the tongue (or conceiving a ripe mango fruit on the tongue); Dhāraṇā to be effective must be focussed on that very spot which is afflicted by disease; fever is cured by a cooling thought whereas cold is cured by a heating thought. In case of lapse or loss of memory (consciousness) the Yogī is advised to keep a dry wooden wedge on the head and tap upon it with another similar wedge (together with the performance of Dhāraṇā on the forehead) which process would immediately restore his memory (consciousness) cf. Mār. 36.54b-59a :

स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैव धारयेत्॥ 54
वातगुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्ते तथोदरे।

यवागूं वाऽपि पवनं वायुग्रन्थिं प्रतिक्षिपेत् ॥ 55
तद्वत्कंपे महाशैलं स्थिरं मनसि धारयेत् ।
विघाते वचसो वाचं बाधिर्ये श्रवणेन्द्रियम् ॥ 56
यथैवाम्रफलं ध्यायेत्तृष्णार्त्तो रसनेन्द्रियम् ।
यस्मिन्यस्मिन्नुजादेहे तस्मिंस्तदुपकारिणीम् ॥ 57
धारयेद्धारणामुष्णे शीतां शीते च दाहिनीम् ।
कीलं शिरसि संस्थाप्य काष्ठं काष्ठेन ताडयेत् ॥ 58
लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तेन जायते ।

Mār (36. 59b-61a) also recommends a remedy based on Dhāraṇā of wind and fire, which pervade heaven and earth, to cure a Yogī from the evil effects caused by a non-human being. In case a non-human being enters the body of a Yogī, he must burn it by Dhāraṇā of wind and fire. cf.

द्यावापृथिव्यौ वाय्वग्नी व्यापिनावपि धारयेत् ॥ 59
अमानुषात्सत्त्वजाद्वा बाधास्त्विति चिकित्सितम् ।
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं प्रविशेद्यदि ॥ 60
वाय्वग्निधारणेनैनं देहसंस्थं विनिर्दहेत् ।

Vā (I. 11.35-55) in a similar manner specifies the physical disorders which arise from wrong or indifferent performance of Yoga or Prāṇāyāma by the Yogī and also recommends curative Dhāraṇās. These disorders do not occur in case there is no indifference on the part of a Yogī. The disorders mentioned are jaḍatva (slothfulness), badhiratva (deafness), mūkatva (dumbness), andhatva (blindness), smṛtilopa (loss or failure of memory) and jarā (for jvara-fever) cf. Vā.I.11.35-38 :

एतान्दोषान्विनिश्चित्य प्रमादाद्यो युनक्ति वै ।
तस्य दोषाः प्रकुप्यन्ति शरीरे विघ्नकारकाः ॥ 35
जडत्वं बधिरत्वं च मूकत्वं चाधिगच्छति ।
अन्धत्वं स्मृतिलोपश्च जरारोगस्तथैव च ॥ 36
तस्य दोषाः प्रकुप्यन्ति अज्ञानाद्यो युनक्ति वै ।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन योगी युञ्जेत्समाहितः ॥ 37
अप्रमत्तः सदा चैव न दोषान् प्राप्नुयात्क्वचित् ।
तेषां चिकित्सां वक्ष्यामि दोषाणां च यथाक्रमम् ॥ 38

For the diseases of Vātagulma, gudāvarta, tremor, dumbness, deafness, thirst, etc., Vā also gives remedies similar to those given by Mār. cf. Vā. I.11.39-45 :

स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रावधारयेत् ।
एतेन क्रमयोगेन वातगुल्मं प्रशाम्यति ॥ 39
गुदावर्तप्रतीकारमिदं कुर्याच्चिकित्सितम् ।
भुक्त्वा दधि यवागूर्वा वायुरूर्ध्वं ततो व्रजेत् ॥ 40
वायुग्रन्थिं ततो भित्वा वायुदेशे प्रयोजयेत् ।
तथाऽपि न विशेषः स्याद्धारणां मूर्ध्नि धारयेत् ॥ 41
युञ्जानस्य तनुं तस्य सत्त्वस्थस्यैव देहिनः ।
गुदावर्तप्रतीघाते एतत् कुर्याच्चिकित्सितम् ॥ 42
सर्वगात्रप्रकम्पेन समारब्धस्य योगिनः ।
इमां चिकित्सां कुर्वीत तया सम्पद्यते सुखी ॥ 43
मनसा यद्व्रतं किञ्चिद्विष्टम्भीकृत्य धारयेत् ।
उरोद्घाते उरःस्थानं कण्ठदेशे च धारयेत् ॥ 44
वचोवघाते तां वाचि बाधिर्ये श्रोत्रयोस्तथा ।
जिह्वास्थाने तृषार्त्तस्तु अग्ने स्नेहांश्च तन्तुभिः ।
फलं वै चिन्तयेद्योगी ततः सम्पद्यते सुखी ॥ 45

In addition to the diseases specified by Mār, Vā mentions the diseases such as Kṣaya (consumption), Kuṣṭha (leprosy) and Kīlāsa (leucoderma) and recommends as remedy the regulation of the sāttvika breath on the part affected. cf. Vā. I. 11.46 :

क्षये कुष्ठे सकीलासे धारयेत्सर्वसात्त्विकीम् ।
यस्मिन् यस्मिन् रुजो देशे तस्मिन्युक्तो विनिर्दिशेत् ॥ 46

The Triśikhibrāhmaṇopaniṣad 113, also recommends Dhāraṇ ā or retention of the wind at that particular spot which is affected by disease for alleviation of the same cf.

यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते ।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥

If one loses memory out of fear (shock), the remedy prescribed by Vā is the same as prescribed by Mār. cf. Vā. I. 11.47-48a :

वंशकीलेन मूर्द्धानं धारयाणस्य ताडयेत् ।
मूर्ध्नि कीलं प्रतिष्ठाप्य काष्ठं काष्ठेन ताडयेत् ॥ 47
भयभीतस्य सा संज्ञा ततः प्रत्यागमिष्यति ।

i.e. In case of loss of memory (consciousness) out of fear (shock), the Yogī must keep a dry wooden/bamboo wedge on the head and tap upon it with another similar wedge (together with performance of Dhāraṇā on the forehead) which process would immediately restore the memory (consciousness).

When possessed (attacked) by a non-human being, the Vā recommends Dhāraṇā of heaven, earth, wind and fire. Being burnt by Prāṇāyāma everything comes under control. Yet, if it enters the body, the Yogī should ward it off. After stupefying it through Yoga, the Yogī should perform Dhāraṇā on the forehead and burn it through the fire of Prāṇāyāma. cf. Vā.I.11.50-52 :

अमानुषेण सत्त्वेन यदा बुद्ध्यति योगवित् ।
दिवं च पृथिवीश्चैव वायुमग्निं च धारयेत् ॥ 50
प्राणायामेन तत्सर्वं दह्यमानं वशी भवेत् ।
अथाऽपि प्रविशेद्देहं ततस्तं प्रतिषेधयेत् ॥ 51
ततः संस्तभ्य योगेन धारयानस्य मूर्द्धनि ।
प्राणायामाग्निना दग्धं तत्सर्वं विलयं व्रजेत् ॥ 52

Among curative Dhāraṇās, Vā (I. 11.53-57) prescribes an additional antidote to snake poison. It states that, in case of poison of a cobra pervading the heart or stomach, the Yogī should hold Maha, Jana, Tapa and Satya in the heart and thereupon perform Dhāraṇā. He should then consume the fruit juice of viṣa (Aconytum heterophyllum) and practise Dhāraṇā on Viśalyā (probably Viśalyakaraṇī the marvellous antipoisonous drug mentioned in Rāmāyaṇa). He must conceive the entire Earth with its mountains and retain it in mind; similarly he must imagine all the oceans and all the deities in mind, bathe himself with a thousand jars of water, stand in neck-deep water and practise Dhāraṇā on the centre of the head; if every sinew is suffused with poison, he should practise Dhāraṇā on the entire body; he should also consume clay from the ant-hills by means of the cups of the withered leaves of the arka plant (Calotropis gigantea). This is the renowned Yoga therapy. cf. Vā. I.11.53-57:

कृष्णसर्पापराधं तु धारयेद्धृदयोदरे।
महर्जनस्तपः सत्यं हृदि कृत्वा तु धारयेत्॥ 53
विषस्य तु फलं पीत्वा विशल्यां धारयेत्ततः।
सर्वतः सनगां पृथ्वीं कृत्वा मनसि धारयेत्॥ 54
हृदि कृत्वा समुद्रांश्च तथा सर्वाश्च देवताः।
सहस्रेण घटानाञ्च युक्तः स्नायीत योगवित्॥ 55
उदके कण्ठमात्रे तु धारणां मूर्ध्नि धारयेत्।
प्रतिस्त्रोतो विषाविष्टो धारयेत् सर्वमात्रिकीम्॥ 56
शीर्णोऽर्कपत्रपुटकैः पिबेद्वल्मीकमृत्तिकाम्।
चिकित्सितविधिर्ह्येष विश्रुतो योगनिर्मितः॥ 57

Though Patañjali does not refer to Dhāraṇās of curative nature, he recommends Saṁyama on the Kūrmanāḍī in order to achieve steadiness (cf. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ YS. III.32) and on the gullet for the cessation of hunger and thirst (cf. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः YS.III.31).

The other Major Purāṇas are silent over it.

The Ag (ch.375) has an entire chapter discussing the topic of Dhāraṇā. The various definitions of Dhāraṇā given by Ag are already included above.

It describes four Tattvadhāraṇās which are curative in nature. Thus it says that whichever part or limb of the body is afflicted by disease must be suffused by mind and at that very region tattvadhāraṇā is to be practised by the Yogī. cf. Ag. 375.6 :

यस्मिन्यस्मिन्भवेदङ्गे योगिनां व्याधिसंभवः।
तत्तदङ्गं धिया व्याप्तं धारयेत्तत्त्वधारणम्॥

It names four such tattva (curative) dhāraṇās as Āgneyī, Vāruṇī, Aiśānī and Amṛta and describes their practice in brief. cf. Ag. 375.7a :

आग्नेयी वारुणी चैव ऐशानी चामृतात्मिका॥

The Āgneyī Dhāraṇa is performed as follows. cf. Ag. 375.7b-10 :

साग्निः शिखा फडन्ता च विष्णोः कार्या द्विजोत्तम॥ 7
नाडीभिर्विकटं दिव्यं शूलाग्रं वेधयेच्छुभम्।

पादाङ्गुष्ठात्कपालान्तं रश्मिमण्डलमावृतम् ॥ 8
तिर्यक् चाधोर्ध्वभागेभ्य: प्रयान्त्योतीव तेजसा।
चिन्तयेत्साधकेन्द्रस्त्वं यावत्सर्वं महामुने ॥ 9
भस्मीभूतं शरीरं स्वं ततश्चैवोपसंहरेत्।
शीत: श्लेष्मादय: पापं विनश्यन्ति द्विजातय: ॥ 10

i.e. The formula of Viṣṇu which commences with Sāgniśikhā and ends with 'Phaṭ' is to be repeated and the tip of the spear cleaved by the Nāḍiś should be pierced by that. The aspirant should imagine his body from the big toe to the skull as surrounded by the orbs of brilliant rays spread across the lower and upper parts (of the body); when the body has been conceived as fully burnt to ashes he should then conclude. Thereby, cold, phlegm and other faults are destroyed.

The technique of performing the Vāruṇī Dhāraṇā is as follows : cf. Ag.375.11-15 :

शिरोधीरं विचारं च कण्ठं चाधोमुखे स्मरेत्।
ध्यायेदच्छिन्नचित्तात्मा भूयो भूतेन चात्मना ॥ 11
स्फुरच्छीकरसंस्पर्शप्रभूते हिमगामिभि:।
धाराभिरखिलं विश्वमापूर्य भुवि चिन्तयेत् ॥ 12
ब्रह्मरन्ध्राच्च संक्षोभाद्यावदाधारमण्डलम्।
सुषुम्नान्तर्गतो भूत्वा सम्पूर्णेन्दुकृतालयम् ॥ 13
संप्लाव्य हिमसंस्पर्शतोयेनामृतमूर्त्तिना।
क्षुत्पिपासाक्रमप्रायसन्तापपरिपीडित: ॥ 14
धारयेद्वारुणीं मन्त्री तुष्ट्यर्थं चाप्यतन्त्रित:।
वारुणी धारणा प्रोक्ता ऐशानी धारणां शृणु ॥ 15

i.e. One should conceive of the head, neck, throat and imagination as existing in the face bent downwards. Then with mind fully concentrated, the entire universe should be imagined as filled with showers of glittering spray of snow and as based in the earth (element). The mind brought down from the Brahmarandhra to the sphere of Mūlādhāra through the Suṣumnā by means of agitation and inhabited in the orb of the full moon should be flooded with nectar - like water produced by the moon through contact with snow. Vāruṇī Dhāraṇā should be practised by the votary afflicted with hunger, thirst and such other suffering which would bring comfort.

The Aiśāni Dhāraṇā is to be practised as follows. cf. Ag. 375.16-20

व्योम्नि ब्रह्ममये पद्मे प्राणापाने क्षयं गते।
प्रसादं चिन्तयेद्विष्णोर्यावच्चिन्ता क्षयं गता॥ 16
महाभावं जपेत्सर्वं ततो व्यापक ईश्वरः।
अर्धेन्दुं परमं शान्तं निराभासं निरञ्जनम्॥ 17
असत्यं सत्यमाभाति तावत्सर्वं चराचरम्।
यावत्स्वस्यन्दरूपन्तु न दृष्टं गुरुवक्त्रतः॥ 18
दृष्टे तस्मिन्परे तत्त्वे आब्रह्मसचराचरम्।
प्रमात्रमानमेयं च ध्यानहृत्पद्मकम्पनम्॥ 19
मातृमोदकवत्सर्वं जपहोमार्चनादिकम्।
विष्णुमन्त्रेण वा कुर्यादमृतां धारणां वदे॥ 20

i.e. When Prāṇa and Apāna cease in the lotus in the void which is verily Brahman, one must contemplate upon the grace of Viṣṇu until one's thoughts cease. Then one must ponder over the great truth, the all pervading Lord as half moon, supreme, tranquil, without any semblance and stainless. The entire movable and immovable world which is unreal appears as real only so long as a person does not perceive one's real form through the words of the preceptor. Once that supreme principle is realised, all the entities of the world to Brahman, the knower, the means of knowledge and the things to be known, the shaking of the lotus in the heart through contemplation, japa, sacrifice, worship, etc and everything else would appear like the sweet balls given by mother. The entire process may also be practised with the mantra of Viṣṇu.

The Dhāraṇā viz Amṛta is practised as follows. cf. Ag. 375.21-22:

सम्पूर्णेन्दुनिभं ध्यायेत्कमलं तन्त्रिमुष्टिगम्।
शिरःस्थं चिन्तयेद्यत्नाच्छशाङ्कायुतवर्चसम्॥ 21
सम्पूर्णमण्डलं व्योम्नि शिवकल्लोलपूर्णितम्।
तथा हृत्कमले ध्यायेत्तन्मध्ये स्वतनुं स्मरेत्।
साधको विगतक्लेशो जायते धारणादिभिः॥ 22

The aspirant should contemplate a lotus lustrous as the full-moon held in his clenched fist. Then he should imagine with effort a sphere of the moon in the sky having the splendour of a lakh moons filled with the waves of bliss of Lord Śiva as situated on his own head. Then he should imagine the same as situated in the lotus of the heart and think of his own body as situated at its centre. By these Dhāraṇās the aspirant becomes free from distress.

These four abstruse Dhāraṇās are mentioned by Ag alone and are not referred to by any other text. The technique of performing these is to be learnt only from a proper preceptor.

The Nādabindu Upaniṣad (6-8) mentions the three terms Āgneyī, Vāyavī and Vāruṇī as the mātrās of Praṇava which according to it are to be known as Dhāraṇās. cf.

आग्नेयी परमा मात्रा वायव्येषा तथा परा ॥ 6
भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।
परमा चार्धमात्रा या वरुणीं तां विदुर्बुधाः ॥ 7
कालत्रयेऽपि यत्रेमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।
एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥ 8

Nothing more is said about the Dhāraṇās or about their practice.

□□

CHAPTER VIII

DHYĀNA (CONTEMPLATION)

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.57; 39.14) and Ag (374.7) advise that a Yoga aspirant must commence practice of Yoga only with the prior knowledge of the four viz (a) Dhyātā i.e. the contemplater; (b) Dhyāna i.e. comtemplation; (c) Dhyeya i.e. object of contemplation and (d) Dhyānaprayojana i.e. the benefit of contemplation. cf.

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम्।

एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत योगवित्॥

(a) Dhyātā (Contemplater)

A comtemplater shall be a person who is endowed with knowledge and detachment, full of faith and forbearance, free from ego and ever enthusiastic. cf. Ś. Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.58 :

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः श्रद्धधानः क्षमान्वितः।

निर्ममश्च सदोत्साही ध्यातेत्थं पुरुषः स्मृतः॥

The Ag (374.8b-9a) substitutes 'Viṣṇubhaktaḥ' (devotee of Viṣṇu) in place of 'nirmamaśca' of the above verse.

Elsewhere, Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga, 39.15) gives the following variant cf.

ज्ञानवैराग्यसंपन्नो नित्यमव्यग्रमानसः।

श्रद्धधानः प्रसन्नात्मा ध्याता सद्भिरुदाहृतः॥

i.e. The contemplater, in the opinion of the esteemed, shall be a person who is endowed with knowledge and detachment, who is never mentally excited, who is full of faith and who is always delighted.

(b) Dhyāna (Contemplation)

By Dhyāna, Patañjali means contemplation on the same object to the exclusion of others (or without interruption) cf. YS.III.2 :

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

The same object served for Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi, the intensity alone increasing (cf. Dhāraṇā, supra) i.e. the progress from Dhāraṇā to Dhyāna and Samādhi is qualitative. But for Mār, Vā, K and some Yoga Upaniṣads, the difference is quantitative, based on the time factor alone (cf. p. 120, supra).

The Vi (VI. 7.90 = I. 47.66) concurs with the view of Patañjali cf.
तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥
i.e. the process of forming a lively image in the mind exclusive of all other objects, constitutes Dhyāna or contemplation.

The K. (II.11.40) defines Dhyāna as the continuous functioning of the intellect on a particular object to the exclusion of others cf.
देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः ।
वृत्यंतरैरसंसृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः ॥

The L (I.8.43b) also concurs with the above view cf.
तत्रैकचित्तता ध्यानं प्रत्ययान्तरवर्जितम् ॥
i.e. Dhyāna is contemplation on the same object to the exclusion of others. Here L closely follows YS. (III.1-3) in as much as the same object served for Dhāraṇā, Dhyāna and Samādhi. L, elsewhere (I.8.113b - 114a) defines Dhyānā based on the duration of its performance, which as stated above, is peculiar to Mār, Vā, etc. (cf. p. 120, supra).

The G (I. Ācārakāṇḍa 49.36) defines Dhyāna as
ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यानं स्यात् ।
i.e. Dhyāna is contemplation on Brahman in the Ātman.

Elsewhere, G (I. Ācārakāṇḍa 288.13b) defines Dhyāna as contemplation on the embodied or unembodied form of Brahman. cf.
मूर्त्तामूर्त्तब्रह्मरूपचिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.51b - 53a) derives the word Dhyāna from the root 'dhyai' meaning 'to think'. Repeated contemplation on Śiva with mind free from confusion is Dhyāna. Dhyāna is continuous flow of mind fixed on the object of meditation to the exclusion of all other objects cf.

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः शिवचिन्ता मुहुर्मुहुः ॥ 51
अध्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते।
ध्येयावस्थितचित्तस्य सदृशः प्रत्ययश्च यः ॥ 52
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रवाहो ध्यानमुच्यते।

cf. also ibid. 39.16b-18 :
ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः शिवचिंता मुहुर्मुहुः।
योगाभ्यासस्तथाल्पोऽपि यथा पापं विनाशयेत् ॥ 16
ध्यायतः क्षणमात्रं वा श्रद्धया परमेश्वरम् ॥ 17
अध्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥ 18

The G (I. Ācārakāṇḍa 235.30b-32a) explains Dhyāna as follows :
ध्येये सक्तं मनो यस्य ध्येयमेवानुपश्यति ॥ 30
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत्प्रकीर्त्तितम्।
ध्येये मनो निश्चलतां याति ध्येयं विचिन्तयन् ॥ 31
यत्तद्ध्यानं परं प्रोक्तं मुनिभिर्ध्यानचिन्तकैः।

i.e. When he whose mind is absorbed in the object of contemplation sees only that object and nothing else, that state is called Dhyāna. When the mind becomes motionless (inert) in its absorption in the object of contemplation, it is called perfect Dhyāna by the sages who are experts in contemplation.

The N (I. 33.138a) concurs with Patañjali's view of Dhyāna as contemplation on the same object without interruption cf.
ध्यानं सद्भिर्निगदितं प्रत्ययस्यैकतानता।

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.51b-52a) describes the characteristic of Dhyāna. cf.
ध्यानस्य लक्षणं चैतन्निमेषार्धमपि स्फुटम्।
न पृथग्जायते ध्येयाद्धारणां यः समाहितः ॥

i.e. When a person who has resorted to Dhāraṇā does not get separated from the object of contemplation even for half a moment, that becomes Dhyāna.

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.18) defines Dhyāna as contemplation on individual limbs of the Lord beginning from his feet.

एकैकावयवस्यैव चिन्तनं यत्पृथक् पृथक् ।
पदाब्जादेर्भगवतस्तद्ध्यानमिति कीर्त्तितम् ॥

This is in tune with the Dhyāna described by Vi, N and Bhāg Purāṇas (cf. Vi. VI. 7.79-90; N.I.47.55-65; Bhāg II. 2.8-13 cf Dhāraṇā, supra p. 125).

The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41.52-53) advises that one must at first merge all the external and internal sense organs in the mind and thereafter direct all the senses and mind to remain in communion with the ātman (individual soul). The individual soul should be freed from all inclinations and deposited in Brahman. This is Dhyāna and Yoga. cf.

बहिर्मुखानि सर्वाणि कृत्वा खान्यन्तराणि वै ।
मनस्येवेन्द्रियग्रामं मनश्चात्मनि योजयेत् ॥ 52
सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ 53

The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41.119-120) also traces the term Dhyāna to root 'dhyai' meaning 'to think'. Dhyāna is unwavering contemplation on an object. It is twofold, saguṇa and nirguṇa. Saguṇa connotes different forms whereas nirguṇa is absolute (formless). The former is attended with mantras whereas the latter is without mantras. cf.

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुश्चिंतातत्त्वे सुनिश्चला ।
एतद्ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा ॥ 119
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं मतम् ।
समन्त्रं सगुणं विद्धि निर्गुणं मन्त्रवर्जितम् ॥ 120

The Ag (374.1-4) also derives the term 'dhyāna' from root 'dhyai', 'to think' and holds Dhyāna to be constant contemplation on Viṣṇu without digression of the mind. Contemplation is that power of the soul equal to the thought of the Supreme Brahman by one's own will unconditioned by any adjuncts. It is that thought absorbed in an object of contemplation to the exclusion of all other thoughts. Contemplation is constant thought over an object or spot contemplated upon. cf.

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुचिन्ता मुहुर्मुहुः ।
अनाक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥ 1

आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपधस्य च।
ब्रह्मचिन्ता समाशक्तिर्ध्यानं नाम तदुच्यते ॥ 2
ध्येयालंबनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च।
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते ॥ 3
ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्रकुत्रचित्।
ध्यानमेतत्समुद्दिष्टं प्रत्ययस्यैकभावना ॥ 4

The Ag (374.9b-10a) further adds :The Supreme Brahman is with form (embodied) as well as without form (not embodied). Constant thought on that Hari is Dhyāna i.e. contemplation. That omniscient and supreme Hari should be known as endowed with or without parts. cf.

मूर्तामूर्तं परं ब्रह्म हरेर्ध्यानं हि चिन्तनम्।
सकलो निष्कलो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमो हरिः ॥

It is Lord Viṣṇu who associates us with the fruit of contemplation and hence one should contemplate on the supreme Lord while moving, standing, sleeping, walking, opening and closing the eyes irrespective of one being clean or unclean. cf. Ag. 374.11-12a :

फलेन योजको विष्णुरतो ध्यायेत्परेश्वरम्।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपञ्जाग्रदुन्मीषन्निमिषन्नपि ॥ 11
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि ध्यायेत्सततमीश्वरम्।

Worship of Viṣṇu through Dhyānayoga is further impressed in the next two lines. cf Ag 374.12b-13a :

स्वदेहायतनस्यान्ते मनसि स्थाप्य केशवम् ॥
हृत्पद्मपीठिकामध्ये ध्यानयोगेन पूजयेत्।

i.e. Having established Keśava (Viṣṇu) in the mind situated inside the body, one should worship him through Dhyānayoga on the pedestal of the heart-lotus.

Dhyānamudrā

In this connection Sk. (Kāśīkhaṇḍa 41.121) advises one to adopt Dhyānamudrā. cf.

अंतश्चेतोबहिश्चक्षुरवस्थाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रातिसिद्धिदा ॥

i.e. Having adopted a comfortable pose and keeping the body erect, one must focus the mind inwards with the eyes gazing at an external object.

This is Dhyānamudrā which bestows success. The HP VI. 21 describes Dhyānamudrā in almost similar terms.

This sacrifice in the form of contemplation is supreme, pure and devoid of all defects; by means of this sacrifice one gets salvation but not by external purity or sacrificial rites. As it is free from the defect of violence, it is the means of mental purification. Hence this sacrifice of contemplation is supreme as it yields emancipation. cf. Ag. 374.13b-15a:

ध्यानयज्ञः परः शुद्धः सर्वदोषविवर्जितः ।। 13b
तेनेष्ट्वा मुक्तिमाप्नोति बाह्यशुद्धैश्च नाध्वरैः ।
हिंसादोषविमुक्तत्वाद्विशुद्धिश्चित्तसाधनः ।। 14
ध्यानयज्ञपरस्तस्मादपवर्गफलप्रदः ।

Hence having discarded the temporal, impure and external means such as the sacrificial rites, one should practise yoga i.e. Dhyāna yoga. cf. Ag. 374. 15b-16a :

तस्मादशुद्धं संत्यज्य ह्यनित्यं बाह्यसाधनम् ।।
यज्ञाद्यं कर्म सन्त्यज्य योगमत्यर्थमभ्यसेत् ।

The Vi (VI. 7.47=N.I.47.23) states that the mind may be fixed on the embodied or unembodied form of Brahman/Viṣṇu viz Para and Apara. cf.

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः ।
भूप मूर्त्तममूर्त्तं च परं चापरमेव च ।।

But as the greatest form of Viṣṇu who is formless and unborn cannot be grasped by (the mind) of the aspirant, the gross form of Hari which could be seen by the eyes should be meditated upon. cf. Vi VI. 47.55 (=N.I.47.31)

न तद्योगयुजा शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः ।
ततस्स्थूलं हरेरूपं चिन्तयेद्विश्वगोचरम् ।।

Ś (Vāyavīyasaṁhitā 39.2) opines that dhyāna on the gross form is resorted to in order to gain stability of mind. Once the mind becomes stable on the gross form it becomes fixed even on the subtle. cf.

स्थित्यर्थं मनसः केचित्स्थूलध्यानं प्रकुर्वते ।
स्थूले तु निश्चलं चेतो भवेत्सूक्ष्मे तु तत्स्थिरम् ।।

At the outset Dhyāna is to be practised on a specific object; thereafter it becomes devoid of any object. cf. Ś (Vāyavīyasaṁhitā 39.4b) :

ध्यानमादौ सविषयं ततो निर्विषयं जगुः ॥

It adds that there is actually no difference between Sūkṣmāśraya (with subtle object) dhyāna and Nirviṣaya (without object), Nirākārāśraya (formless object) or Nirbīja (seedless) dhyāna. These are only synonyms of one and the same dhyāna which is devoid of object or dhyāna on the unembodied form. Similarly, Saviṣaya (with object) or sabīja (with seed or support) or sākārāśraya (with form) are synonyms of the dhyāna on gross or embodied form. Hence one must at the outset perform dhyāna on the gross form which is called sabīja or saviṣaya or sākārasamāśraya and thereafter perform the Nirbīja (Nirviṣaya or Sūkṣmāśraya) dhyāna for complete success. cf. Ś. Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga. 39.7-10a :

सूक्ष्माश्रयं निर्विषयं नापरं परमार्थतः ।
यद्वा सविषयं ध्यानं तत्साकारसमाश्रयम् ॥ 7
निराकारात्मसंवित्तिर्ध्यानं निर्विषयं मतम् ।
निर्बीजं च सबीजं च तदेव ध्यानमुच्यते ॥ 8
निराकाराश्रयत्वेन साकाराश्रयतस्तथा ।
तस्मात्सविषयं ध्यानमादौ कृत्वा सबीजकम् ॥ 9
अंते निर्विषयं कुर्यान्निर्बीजं सर्वसिद्धये ।

The Ag. 374.27 also supports the view that Dhyāṇa on the gross form is performed at the outset for gaining stability of mind. Once this stability is accomplished, the mind becomes stable even on a subtle form. cf.

मनः स्थित्यर्थमिच्छन्ति स्थूलध्यानमनुक्रमात् ।
तद्भूतं निश्चलीभूतं लभेत् सूक्ष्मेऽपि संस्थितम् ॥

The G (I. Ācārakāṇḍa 44.11b) also echos the same view. cf.

पूर्वं चेतः स्थिरं न स्यात्ततो मूर्तिं विचिन्तयेत् ॥

(c) Dhyeya (Object of Contemplation)

The Mār (ch 36) mentions Yoga among the means of subduing Ātman (the other four being Prāṇāyāma, Dhāraṇā, Pratyāhāra and Dhyāna). The Vā names 'smaraṇa' as the fifth Dharma proclaimed by Maheśvara (cf. Vā. I. 10.71 supra. p. 37).

Thus according to Vā, Dhyāna is to be followed by 'smaraṇa' (remembrance of God). This substratum (on which the mind is fixed) or support or resort of the mind or object of contemplation is Dhyeya. According to Vi (VI. 7.45 p.118, supra.), once the Vital airs and the sense organs are controlled by the Yoga aspirant, the mind is to be stabilised on an auspicious object. And this auspicious object (śubhāśraya) is Brahman/ Viṣṇu (Vi. VI.7.47 =N.I. 47.23 p. 123) cf. also Vi.VI.7.37; supra p. 69.

Parabrahman or the Supreme Brahman is the Dhyeya for Mār and Vā, union with whom being the ultimate object of realization. cf. Mār 37.41 :

परेण ब्रह्मणा तद्वत्प्राप्यैक्यं दग्धकिल्बिषः ।
योगी याति पृथग्भावं न कदाचिन्महीपते ॥
cf. Vā.I.12.30(=K.II.8.12):
विदित्वा सप्तसूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् ।
प्रधानं विनियोगज्ञः परं ब्रह्माऽधिगच्छति ॥

The Vi (VI.7.69 =N.I.47.45) recommends to the Yogīs, the unembodied form of Viṣṇu Brahman called as Sat by the learned, as worthy object of contemplation. cf.

द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं महामते ।
अमूर्तं ब्रह्मणो रूपं यत्सदित्युच्यते बुधैः ॥

The idea of 'smaraṇa' referred to in Vā (quoted above), seems to have developed into Īśvarapraṇidhāna referred to by Patañjali cf. YS.I.23; II.1; II.32 and II.45 :

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ YS.I.23.
तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ YS.II.1
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ YS.II.32
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ YS.II.45

The K which more or less closely follows Patañjali in the enumeration of Niyamas, susbtitutes Īśvarapūjana (K.II.11.20)in place of Īśvarapraṇidhāna of Patañjali . What exactly constitutes Īśvarapūjana has been dealt with under Niyama (cf. supra. p. 69).

The K (II.11.98) names the media in which the Lord is to be worshipped. Upholding the supremacy of the worship of the Lord in the Liṅga, the K states that the ritualists consider Liṅga to exist in the sacrificial fire, the wise in the

water, sky or the sun the fools in (the images of) wood and the Yogīs in the core of their heart. cf. K.II.11.98 :

अग्नौ क्रियावतामप्सु व्योम्नि सूर्ये मनीषिणाम्।
काष्ठादिष्वेव मूर्खाणां हृदि लिङ्गं तु योगिनाम्॥

The Bhāg (XI.27.7) at first mentions the worship to be threefold viz Vedic, Tāntric and a synthesis of the two (Ag. 372.34 is the same; cf. supra p. 71) and names the following media for His worship viz. (i) Image (ii) Sacrificial altar (iii) Fire (iv) Sun (v) Waters (vi) One's own heart and (vii) Brāhmaṇa. cf. Bhāg. XI. 27.9 :

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।

The N (I.33.33) names the following media for the worship of Viṣṇu: (i) Brāhmaṇa (ii) Earth (iii) Fire (iv) Sun (v) Waters (vi) Heart (vii) Image made of metal (viii) Painting. cf.

द्विजभूम्यग्निसूर्याम्बुधातुहृत्चित्रसंज्ञिताः।
प्रतिमा केशवस्यैता पूज्य एतासु भक्तितः॥

The Vi (VI.7.80-90=N.I.47.56-65) describes the nature of Dhyeya to be meditated upon (cf. Dhāraṇā, supra p. 124).

Whereas Viṣṇu is the dhyeya for the Vi (and N), for the K the dhyeya is Śiva or some form of Śiva who is to be meditated upon as follows (K.II.11.53-59) :

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्ममर्द्धमथापि वा।
नासिकाग्रे समां दृष्टिमीषदुन्मीलितेक्षणः॥ 53
कृत्वाऽथ निर्भयः शान्तस्त्यक्त्वा मायामयं जगत्।
स्वात्मन्यवस्थितं देवं चिन्तयेत् परमेश्वरम्॥ 54
शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये कल्पयित्वाऽथपङ्कजम्।
धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं सुशोभनम्॥ 55
ऐश्वर्याष्टदलं श्वेतं परं वैराग्यकर्णिकम्।
चिन्तयेत् परमं कोशं कर्णिकायां हिरण्मयम्॥ 56
सर्वशक्तिमयं साक्षाद् यं प्राहुर्दिव्यमव्ययम्।
ॐकारवाच्यमव्यक्तं रश्मिजालसमाकुलम्॥ 57
चिन्तयेत् तत्र विमलं परं त्योतिर्यदक्षरम्।
तस्मिन् ज्योतिषि विन्यस्य स्वात्मानं तदभेदतः॥ 58

ध्यायीताकाशमध्यस्थमीशं परमकारणम् ।
तदात्मा सर्वगो भूत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ 59

i.e. Having adopted one of the postures viz Svastika, Padma or Ardha, with eyes slightly open and fixed on the tip of the nose, the aspirant should contemplate on the supreme Lord who inhabits one's soul. He should imagine a white lotus at the root of his lock of hair on the crown — a lotus sprung from the root of Dharma (right conduct) with knowledge as its stalk, eight petals of the eight super-natural powers and pericarp of aversion. In the golden cup of its pericarp, he should imagine the omnipotent and unmanifest divine radiance expressed only as Oṁkāra. In that divine lustre he should deposit his own self without any distinction. Then he should meditate upon the Lord in the space, identify himself with the Lord, consider himself to be omnipresent and should not think of anything else (The Ag. 374.19-25 also advocates a Dhyāna of similar nature.)

Alternately, the devotee may imagine the afore said lotus as situated in the heart and the self who is the creator and luminous as a flame of fire, the Puruṣa in the midst of that lotus. Then he should contemplate on the Supreme Self understood only through the Oṁkāra, eternal, auspicious, unmanifest and inherent in nature and the Supreme Lustre. In that Lustre he should then meditate upon the Supreme Principle and identify himself with the eternal Maheśvara, cf. K.II.11.60-64a :

चिन्तयित्वा तु पूर्वोक्तं हृदये पद्ममुत्तमम् ॥ 60
आत्मानमथ कर्तारं तत्रानलसमत्त्विषम् ।
मध्ये वह्निशिखाकारं पुरुषं पञ्चविंशकम् ॥ 61
चिन्तयेत् परमात्मानं तन्मध्ये गगनं परम् ।
ॐकारबोधितं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम् ॥ 62
अव्यक्तं प्रकृतौ लीनं परं ज्योतिरनुत्तमम् ।
तदन्तः परमं तत्त्वमात्माधारं निरञ्जनम् ॥ 63
ध्यायीत तन्मयो नित्यमेकरूपं महेश्वरम् ।

Śiva symbolised by Oṁkāra, pure like the flame, in the pericarp of the lotus (L.I. 8.90b-91) is the dhyeya recommended by L. cf.

ततः सत्त्वस्थितो भूत्वा शिवध्यानं समभ्यसेत् ॥ 90
ॐकारवाच्यं परमं शुद्धं दीपशिखाकृतिम् ।
ध्यायेद्वै पुण्डरीकस्य कर्णिकायां समाहितः ॥ 91

Different forms of Śiva also form Dhyeya at different regions of the body such as the heart, navel, forehead or space between the eyebrows. cf. L.I.8.101 :

महेश्वरं हृदि ध्यायेन्नाभिपद्मे सदाशिवम्।
चन्द्रचूडं ललाटे तु भ्रूमध्ये शङ्करं स्वयम्॥

Or he may think of the Great Lord in the mind or in the lotus-like heart, Sadāśiva, Lord of all gods at the navel, or Lord Śiva of the nature of Pure knowledge in the middle of the body. cf. L.I.8.108-109a :

मनस्येवं महादेवं हृत्पद्मे वाऽपि चिन्तयेत्।
नाभौ सदाशिवञ्चापि सर्वदेवात्मकं विभुम्॥
देहमध्ये शिवं देवं शुद्धज्ञानमयं विभुम्।

The Bhāg. recommends contemplation on the four-armed bewitching form of Viṣṇu in his characteristic attire with all attributes and ornaments viz Makarakuṇḍala, Śrivatsa, Saṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Kaustubha, Nūpura, Vanamālā, Kirīṭa, Kaṭaka, Kaṭisūtra with a beaming countenance, bright smile, beautiful limbs, etc. This form is to be meditated upon in the pericarp of the eight-petalled lotus of the heart. cf. Bhāg. XI.14.36-41 :

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्॥ 36
कर्णिकायां न्यसेत्सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्।
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम्॥ 37
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥ 38
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्॥ 39
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम्।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभयायुतम्। 40
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम्।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत्॥ 41

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 37.53b-55) recommends the pair of Śiva and Śivā as Dhyeya. It states that eschewing everything else,

Śiva, the supreme, the cause of auspiciousness alone, the Lord of all gods, shall be meditated upon as concluded by the Atharvaveda. Similarly, Śivā, the supreme goddess shall be meditated upon. In the Vedas, they, Śiva and Śivā are known as permeating all beings. In the smṛtis and śāstras they are described as pervading everywhere and ever awake. They are omniscient and shall always be meditated upon in different forms. cf.

सर्वमन्यत्परित्यज्य शिव एव शिवंकरः ।। 53
परो ध्येयोऽधिदेवेशः समाप्ताथर्वणी श्रुतिः ।
तथा शिवा परा ध्येया सर्वभूतगतौ शिवौ ।। 54
तौ श्रुतौ स्मृतिशास्त्रेभ्यः सर्वगौ सर्वदोदितौ ।
सर्वज्ञौ सततं ध्येयौ नानारूपविभेदतः ।। 55

Śiva accompanied by Ambā shall be worshipped through the Dhyānayajña by contemplating upon them on the pedestal of the heart-lotus inside one's own body. cf. Ibid. 38.60b-61a :

स्वदेहायतनस्यान्तर्विचिन्त्य शिवमंबया ।।
हृत्पद्मपीठिकामध्ये ज्ञानयज्ञेन पूजयेत् ।

He shall also after having conceived a suitable seat to Śiva and Śivā with or without āvaraṇa, meditate upon them at the root or tip of the nose, navel, throat, palate, gullet, in between the eyebrows, on the forehead or on the tip of the head, in the two petalled, sixteen, twelve or ten petalled lotus in the hexagon or quadrangle. cf. Ibid. 38.61b-63b :

मूले नासाग्रतो नाभौ कण्ठे वा तालुरन्ध्रयोः ।।
भ्रूमध्ये द्वारदेशे वा ललाटे मूर्ध्नि वा स्मरेत् ।
परिकल्प्य यथा न्यायं शिवयोः परमासनम् ।।
तत्र सावरणं वाऽपि निरावरणमेव वा ।
द्विदले षोडशारे वा द्वादशारे यथाविधि ।।
दशारे वा षडस्रे वा चतुरस्रे शिवं स्मरेत् ।

The same text mentions altogether six lotuses beginning with the two petalled lotus situated in between the eyebrows and ending with the Mūlādhāra lotus with their specific colour and letters constituting their petals and also advises that the God and the Goddess shall be meditated in any of the lotuses of one's choice (Ś. Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 38.64b-70). For the system of cakras in the human body please turn to p. 127 supra; cf. also Appendix.

The Ś also reminds us of Bhūtajaya of Patañjali when it directs the Yogī to contemplate on him as the Lord of that particular tattva over which he wishes mastery (Bhūtadhāraṇa and Saptadhāraṇā, Supra) cf. Ś. Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38.73b -74a :

क्षित्यादितत्त्वविजयं ध्यात्वा यद्यपि वाञ्छति ॥
तत्तत्तत्त्वाधिपामेव मूर्त्तिं स्थूलां विचिन्तयेत् ।

The sages who do not aspire for the fruits should meditate upon the gross forms beginning from Brahmā and ending with Sadāśiva or the eight mūrtis beginning with Bhava or the mūrtis of Śiva – terrible quiet or mixture of both – prescribed in the Śaiva scriptures cf. Ibid 74b -76a :

सदाशिवान्ताब्रह्माद्यभवाद्याश्चाष्टमूर्त्तयः ॥ 74
शिवस्य मूर्त्तयः स्थूलाः शिवशास्त्रे विनिश्चिताः ।
धोरा मिश्रा प्रशान्ताश्च मूर्त्तयस्ता मुनीश्वरैः ॥ 75
फलाभिलाषरहितैश्चिन्त्याश्चिन्ताविशारदैः ।

Like the Vi and Bhāg, the Ag (372.29-32a) also recommends the gross or embodied form of Viṣṇu for contemplation. The four or eight-armed form of Viṣṇu should be thought of at the centre of an orb of fire, bearing śaṅkha, cakra, gadā and padma, śārṅga, rosary, noose and goad, having white or gold complexion, wearing śrīvatsa and kaustubha, a garland of flowers and a gold necklace, with shining ear-rings in the shape of fish, a gem studded and sparkling crown, yellow robes and adorned with all sorts of ornaments. cf.

अग्निमण्डलमध्यस्थः शंखचक्रगदाधरः ।
पद्मी चतुर्भुजो विष्णुरथवाष्टभुजो हरिः ॥ 29
शार्ङ्गाक्षवलयधरः पाशाङ्कुशधरः परः ।
स्वर्णवर्णः श्वेतवर्णः सश्रीवत्सः सकौस्तुभः ॥ 30
वनमाली स्वर्णहारी स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
रत्नोज्ज्वलकिरीटश्च पीताम्बरधरो महान् ॥ 31
सर्वाभरणभूषाढ्यो वितस्तिव यथेच्छया ।

For N, the Dhyeya is the gross form of Viṣṇu, variously referred to as Acyuta, Nārāyaṇa, Parabrahma and so on. Viṣṇu, the soul of the entire universe and the sole cause of all the worlds, is to be contemplated upon as having eyes like the petals of a full-blown lotus wearing the beautiful

ear-rings, long arms and elegant limbs, embellished with all ornaments, clad in yellow garment, with a gold yajñopavīta, kaustubha jewel and śrīvatsa mark decked with a tulasī garland in the eight petalled lotus of the heart, twelve finger wide as the Unmanifest Soul and Overlord above all cf. N.I. 33.133-137 :

योगाज्जितेन्द्रियग्रामस्तानि धृत्वा दृढं हृदि।
आत्मानं परमं ध्यायेत्सर्वधातारमच्युतम्॥ 133
सर्वविश्वात्मकं विष्णुं सर्वलोकैककारणम्।
विकसत्पद्मपत्राक्षं चारुकुण्डलभूषितम्॥ 134
दीर्घबाहुमुदाराङ्गं सर्वालङ्कारभूषितम्।
पीताम्बरधरं देवं हेमयज्ञोपवीतिनम्॥ 135
बिभ्रतं तुलसीमालां कौस्तुभेन विराजितम्।
श्रीवत्सवक्षसं देवं सुरासुरनमस्कृतम्॥ 136
अष्टारे हृत्सरोजे तु द्वादशांगुलविस्तृते।
ध्यायेदात्मानमव्यक्तं परात्परतरं विभुम्॥ 137

N (I. 33.154-156) also recommends contemplation on Nārāyaṇa in the Praṇava cf.

नारायणं परानन्दं स्मरेत्प्रणवसंस्थितम्।
नादरूपमनौपम्यमर्द्धमात्रोपरिस्थितम्॥ 154
आकारो ब्रह्मणो रूपमुकारं विष्णुरूपवत्।
मकारं रुद्ररूपं स्यादर्द्धमात्रं परात्मकम्॥ 155
मात्रा तिस्रः समाख्याता ब्रह्मविष्णुशिवाधिपाः।
तेषां समुच्चयं विप्र परब्रह्मप्रबोधकम्॥ 156

Besides contemplating on Viṣṇu in (i) his embodied form with all his attributes and adornments (I.33.133-137) or (ii) as situated in the Praṇava (I.33.154-155) the N also recommends alternate ways of contemplation on Him in the self as (iii) a dazzling light equal in brilliance to that of millions of suns or in (iv) the form of the Śālagrāma stone or in (v) his images or in (vi) any object which is capable of cleansing the sins, imagined in the heart. While contemplating on him through these media, the Yoga aspirant is advised to perform Japa of Praṇava which is constituted of Brahmā, Viṣṇu and Śiva. cf. N.I.33.159-160 :

जपंश्च प्रणवं मन्त्रं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
कोटिसूर्यसमं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम्॥ 159

शालग्रामशिलारूपं प्रतिमारूपमेव वा।
यद्यत्पापहरं वस्तु तत्तद्वा चिन्तयेद्धृदि ॥ 160

In the true spirit of religious syncretism which the Sk displays on different occasions in the text, with regards to the Dhyeya also, it sounds very broad-minded. Thus it expressly concedes that Dhyeya is of unlimited variety such as Śiva, Viṣṇu (Hari), Sun, Brahmā or Devī, the greatest Being and unequivocally declares that one gets merged with the object which one contemplates upon. cf. Sk Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.47b-49a :

ध्येयं बहुविधं पार्थ यस्यांतो नोपलभ्यते ॥ 47
केचिच्छिवं हरिं केचित्केचित्सूर्यं विधिं परे।
केचिद्देवीं महद्भूतामुत ध्यायन्ति केचन ॥ 48
तत्र यो यच्च ध्यायेत स च तत्र प्रलीयते।

This idea is in tune with the thinking of Patañjali who offered the practitioner total freedom of choice of the object of meditation according to one's temperament or predilection, cf.

यथाभिमतध्यानाद्वा YS.I.39

Following the above introductory remarks, the Sk specifies as Dhyeya the gross form of the deity the white complexioned Śiva of five faces and ten arms seated in meditative pose in the Pādmāsana posture with a beaming countenance and holding a pomegranate in hand. cf. Sk. Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā. 55.49b-50 :

तस्मात्सदाशिवं देवं पञ्चवक्त्रं हरं स्मरेत् ॥ 49
पद्मासनस्थं तं गौरं बीजपूरकरं स्थितम्।
दशहस्तं सुप्रसन्नवदनं ध्यानमास्थितम् ॥ 50

(d)Dhyānaprayojana

Speaking of the fruit of Dhyāna, Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga 39.20) states that Śivadhyāna brings to the Yogī experience of salvation and the accomplishment of the perfections viz. Aṇimā, etc. cf.

विमुक्तिप्रत्ययं पूर्णमैश्वर्यं चाणिमादिकम्।
शिवध्यानस्य पूर्णस्य साक्षादुक्तं प्रयोजनम् ॥ 39.20
cf. also Ibid. 37.56:
विमुक्तिः प्रत्ययः पूर्वः प्रत्ययश्चाणिमादिकम्।
इत्येतद्द्विविधंज्ञेयं ध्यानस्यास्य प्रयोजनम् ॥

i.e. there are two benefits of Dhyāna; the first one is salvation whereas the second one is the acquisition of siddhis viz. Aṇimā, etc.

It re-iterates the imporatnce of contemplation in the following verse. cf. Ibid 39.21 :

यस्मात्सौख्यं च मोक्षं च ध्यानादुभयमाप्नुयात् ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य ध्यानयुक्तो भवेन्नरः ।।

i.e. As contemplation brings forth both happiness and salvation, one must giving up everything else, always engage oneself in contemplation.

The text further holds (Ibid. 39.28) that there is no holy place as efficacious as contemplation and no penance or sacrifice equal to it; hence one shall practise Dhyāna (with all effort) cf. Ibid. 39.28 :

नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः ।
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद्ध्यानं समाचरेत् ।।

Upholding the superiority of Dhyāna over holy rites and rituals, Ś (Ibid 39.29) states that the Yogins do not resort to holy places nor to image made of stone and clay because they believe only in their Ātman. cf. Ibid. 39.29 :

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ।।

Just as the workers in the inner apartments of the royal household become royal favourites compared to the workers outside, similarly those who are engaged in inner contemplation become the favourites of Śiva and not those who are engaged in holy rites cf. Ibid 39.31 :

यथेहान्तश्चरा राज्ञः प्रियाः स्युर्न बहिश्चराः ।
तथान्तर्ध्याननिरताः प्रियाश्शंभोर्न कर्मिणः ।।

Salvation and acquisition of the eight perfections viz Aṇimā, etc, which are considered to be the benefits of Dhyāna by Ś. (Ibid 37.56; 39.20) are declared by Ag (374.8a) as the benefits of the practice of Yoga (of which Dhyāna is one of the eight aspects) cf. Ag. 374.8a :

योगाभ्यासाद्भवेन्मुक्तिरैश्वर्यश्चाष्टधा महत् ।

i.e. the practice of Yoga brings forth salvation and the eight supernatural powers.

Both Ś (Ibid 37.59) and Ag (374.33) advise alternate practice of Japa and Dhyāna to the aspirant in order to get rid of tiresomeness or monotony. cf.

जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद्ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत्।
जपध्यानाभियुक्तस्य क्षिप्रं योगः प्रसिद्ध्यति ॥ Ś.Ibid 37.59
ध्यानाच्छ्रान्तो जपेन्मन्त्रं जपाच्छ्रान्तश्च चिन्तयेत्।
जपध्यानादियुक्तस्य विष्णुः शीघ्रं प्रसीदति ॥ Ag.374.33

i.e. When tired of Dhyāna, the aspirant should resort to Japa and when tired of Japa he should resort to Dhyāna. In this way he quickly acquires Yoga. By this alternate practice of Japa and Dhyāna, Viṣṇu gets quickly pleased.

It is Dhyāna which leads to proper knowledge. Hence Ś (Ibid. 39.22) states that knowledge cannot be obtained without contemplation and a non-yogī cannot have contemplation. It is only one who is equipped with both contemplation and knowledge that is able to cross the ocean of worldly existence. cf.

नास्ति ध्यानं विना ज्ञानं नास्ति ध्यानमयोगिनः।
ध्यानं ज्ञानं च यस्यास्ति तीर्णस्तेन भवार्णवः ॥

Such focused and pellucid knowledge devoid of all conditioning factors can be gained only by a Yogī who constantly practises Yoga. cf. Ibid 39.23

ज्ञानं प्रसन्नमेकाग्रमशेषोपाधिवर्जितम्।
योगाभ्यासेन युक्तस्य योगिनस्येव सिध्यति ॥

Just as a blazing fire burns dry as well as wet fuel, similarly the fire of contemplation destroys both auspicious and inauspicious Karma in no time cf. Ibid. 39.25 :

यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्।
तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहते क्षणात् ॥

There is no limit to the immense benefit derived by one who contemplates upon the Lord with faith even for a moment. cf. Ibid. 39.27 :

ध्यायतः क्षणमात्रं वा श्रद्धया परमेश्वरम्।
यद्भवेत्सुमहच्छ्रेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते ॥

This co-relation of Jñāna and Dhyāna Yoga is also repeated by other Major Purāṇas such as the K. (II.11.2-3; cf. Types ofYoga supra p. 18 ff).

Manu (VI.72) and Śaṅkha (7.13) enumerate the benefits of the performance of Prāṇāyāma, Pratyāhāra, Dhāraṇa and Dhyāna. cf.

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

i.e. one should burn off the taints by means of Prāṇāyāmas, sins by means of Dhāraṇās, sensual attachments through Pratyāhāra and ungodly traits by Dhyāna.

The Vā (I.10.88) and Bhāg (III.28.11) have borrowed the same verse with a slight difference. cf.

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

The various benefits which Dhyāna brings forth are described by N (I. 33.138b-140) cf.

ध्यानं कृत्वा मुहूर्तं वा परं मोक्षं लभेन्नरः॥ 138
ध्यानात्पापानि नश्यन्ति ध्यानान्मोक्षं च विन्दति।
ध्यानात्प्रसीदति हरिर्ध्यानात्सर्वार्थसाधनम्॥ 139
यद्यद्रूपं महाविष्णोस्तत्तद्ध्यायेत्समाहितम्।
तेन ध्यानेन तुष्टात्मा हरिर्मोक्षं ददाति वै॥ 140

i.e. By performing Dhyāna even for a muhūrta a man obtains supreme salvation; sins perish due to Dhyāna; one obtains liberation due to contemplation; Hari becomes pleased by contemplation; Dhyāna is the means for the realization of all objects; one should with great attention contemplate upon every form of Viṣṇu. Delighted with that contemplation Hari shall indeed bestow salvation.

□□

CHAPTER IX

SAMĀDHI (CONCENTRATION)

Samadhi is the last aṅga of the aṣṭaṅga yoga of Patañjali. It is already stated earlier that the Māheśvara yoga described by Vā is constituted of only five Dharmas viz. Prāṇāyāma, Dhyāna, Pratyāhāra, Dhāraṇā and Smaraṇa, the one last cited meaning only 'thought' and 'remembrance' (cf. Aspects of Yoga, supra). The Mār (ch. 36) names Prāṇāyāma, Dhāraṇā, Pratyāhāra, Dhyāna and Yoga as the means to conquer the Ātman. Thus neither of the above texts mentions Samādhi.

Patañjali defines Dhyāna as contemplation on the same object to the exclusion of all others and defines samādhi as the same contemplation with the consciousness of only the object and not even of the mind. cf.

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । YS.III.3.

The Vi. (VI.7.92=N.I.47.69) states that when through this contemplation there remains the consciousness of the object of contemplation alone to the exclusion of even mind, that is called samādhi. cf.

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिस्सोऽभिधीयते ॥

The K (II.11.41 = G.I.Ācārakāṇḍa 238.16b) defines Samādhi simply as "uniform consciousness without the aid of any particular spot or object (of concentration)". cf. "एकाकारः समाधिः स्याद्देशालम्बनवर्जितः" ॥

The G. (I.235.32b-35a) gives us a clearer idea of the concept of samādhi. cf.

ध्येयमेव हि सर्वत्र ध्याता तन्मयतां गतः ॥ 32
पश्यति द्वैतरहितं समाधिः सोऽभिधीयते ।
मनःसङ्कल्परहितमिन्द्रियार्थान्न चिन्तयेत् ॥ 33
यस्य ब्रह्मणि संलीनं समाधिस्थं तदोच्यते ।

ध्यायत: परमात्मानमात्मस्थं यस्य योगिन: ॥ 34
मनस्तन्मयतां याति समाधिस्थ: स कीर्त्तित: ।

i.e. When the contemplation is imbued with the Dhyeya and it is only Dhyeya that persists everywhere without a second object, that state is called samādhi. The mind which is without any special conception does not think of the objects of sense-organs and is completely merged in Brahman. Then it is called 'being in samādhi'. When the mind of a Yogī who is in contemplation on the supreme self gets merged in it, then that Yogī is said to be in samādhi.

According to L (I. 8.112-113a), the aspirant should meditate upon Śiva who dwells inside the body and should identify himself with him. Through this union one enjoys the bliss of Brahman. cf.

साक्षात्समरसेनैव देहमध्ये स्मरेच्छिवम् ।
एकीभावं समेत्येवं तत्र यद्रससम्भवम् ॥
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्साक्षात्समरसे स्थित: ।

Regarding the process of samādhi, N (I.33.141-143) states that one should make the mind steady in the object of contemplation till the state of contemplation, the state of being the object of contemplation and the state of contemplate cease altogether. Then results immortality by savouring of the nectar of knowledge. Constant contemplation leads to the realization of the non-difference (of the individual soul and the supreme soul). When the aspirant experiences ecstasy as in deep sleep, all the senses become subdued, and he is steady like the flame of the lamp in a place devoid of wind; that state is called samādhi. cf.

अचञ्चलं मन: कुर्याद्ध्येये वस्तुनि सत्तम ।
ध्यानं ध्येयं ध्यातृभावं यथा नश्यति निर्भरम् ॥ 141
ततोऽमृतत्वं भवति ज्ञानामृतनिषेवणात् ।
भवेन्निरन्तरं ध्यानादभेदप्रतिपादनम् ॥ 142
सुषुप्तिवत्परानन्दयुक्तश्चोपरतेन्द्रिय: ।
निर्वातदीपवत्संस्थ: समाधिरभिधीयते ॥ 143

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.62) and Ag. (376.1) define samādhi to be deep meditation in which the consciousness calm like the ocean of coagulated milk persists and the form itself vanishes. cf. Ś. Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 37.62 :

यदर्थमात्रनिर्भासं स्तिमितोदधिवत्स्थितम् ।
स्वरूपशून्यवद्धानं समाधिरभिधीयते ॥
cf. Ag. 376.1 :
यदात्ममात्रं निर्भासं स्तिमितोदधिवत्स्थितम् ।
चैतन्यरूपवद्ध्यानं तत् समाधिरिहोच्यते ॥

The G (I. Ācārakāṇḍa 44.5b, 11b; 49.37a; 238.16a) repeatedly tells us that samādhi is that state of mind when one identifies oneself with Brahman and abides in Brahman. cf.
अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिर्ब्रह्मणः स्थितिः ॥

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya, 30.19) calls samādhi as the restraint of Prāṇa and the mind in Hari out of extreme devotion towards him cf.
निरोधः प्राणमनसोरतिप्रेम्णा हरौ तु यः ।
स समाधिरिति प्रोक्तो योगिनामभिवाञ्छितः ॥

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikā 55.51b-53a) calls that state to be samādhi when one who has resorted to Dhāraṇā does not become separate from the Dhyeya even for half a moment and also does not think about anything else. cf.
ध्यानस्य लक्षणं चैतन्निमेषार्धमपि स्फुटम् ॥ 51
न पृथग्जायते ध्येयाद्धारणां यः समास्थितः ।
एवमेतां दुरारोहां भूमिमास्थाय योगवित् ॥ 52
न किंचिच्चिंतयेत्पश्चात्समाधिरिति कीर्त्यते ।

Following GŚ (94) and HP (VII.5), the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.126) defines samādhi as the identification of Jīvātman and Paramātman which results when the Prāṇa becomes stilled and the mind absorbed. cf.
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं यत्ससमाधिरिहोच्यते ॥

In the very next verse (41.127) Sk further explains it as follows :
यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
सनष्टसर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते ॥

i.e. When there is total identity of Jīvātman and Paramātman and exclusion of all thought, it is known as samādhi.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41.123-124) further borrows from Gorakṣa (GŚ 93,96) and describes samādhi by the time it consumes. cf.

शब्दादीनां च तन्मात्रा यावत्कर्णादिषु स्थिता।
तावदेव स्मृतं ध्यानं स्यात्समाधिरतः परम्॥
धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात्षष्ठिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिरिह भण्यते॥

i.e. So long as the five tanmātrās viz sound and the like persist in the ear, etc, so long it is called Dhyāna; thereafter begins samādhi; Dhāraṇā lasts for five nāḍīs Dhyāna sixty nāḍīs and (the restraint of Prāṇa for) twelve days means samādhi.

One who has thus accomplished samādhi i.e. identified oneself with God or struck communion with God would certainly reach the supreme Brahman. cf.

विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥ Vi. VI.7.33.
विनिष्पन्दसमाधिस्थः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ Ag.379.25b

In this stage of samādhi he should imagine that he is the Ātman, the supreme Brahman, the Truth, knowledge, the Infinite, the specific knowledge of Brahman, the Bliss, that he is That One, the Brahman without body or sense organs and free from mind, intellect, Mahat, ego etc; that he is the Eternal, Pure, the Intelligent, the Truth, Bliss and the One without the second, the Soul within the sun, the Unsevered (and continuous). By such thought he gets liberated from bondage. cf. G.I. Ācārakāṇḍa 49. 37b-40 :

अहमात्मा परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम्॥ 37
ब्रह्मविज्ञानमानन्दः स तत्त्वमसि केवलम्।
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्म अशरीरमनिन्द्रियम्॥ 38
अहम्मनोबुद्धिमहदहङ्कारादिवर्जितम्।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादियुक्तज्योतिस्तदीयकम्॥ 39
नित्यं शुद्धं बुद्धमुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम्।
योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्डितम्।
इति ध्यायन्विमुच्येत ब्राह्मणो भवबन्धनात्॥ 40

The G repeats the same above thought elsewhere cf. G.I. Ācārakāṇḍa 226.26-33 :

अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्थूलदेहविवर्जितम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जरामरणवर्जितम् ॥ 26
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः पृथिव्यामलवर्जितम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्वाय्वाकाशविवर्जितम् ॥ 27
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सूक्ष्मदेहविवर्जितम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्थानास्थानविवर्जितम् ॥ 28
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्गन्धमात्रविवर्जितम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः श्रोतत्वक्परिवर्जितम् ॥ 29
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः जिह्वाघ्राणविवर्जितम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्राणापानविवर्जितम् ॥ 30
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्व्यानोदानविवर्जितम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिरज्ञानपरिवर्जितम् ॥ 31
अहं ब्रह्म परं ज्योतिस्तुरीयं परमं पदम् ।
देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारवर्जितम् ॥ 32
नित्यशुद्धबुद्धमुक्तमहमानन्दमद्वयम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्ज्ञानरूपो विमुक्तये ॥ 33

The quintessence of the above that "this Ātman is the supreme Brahman and I am Supreme Brahman" constitutes the knowledge of Brahman which liberates one from the bondage of saṁsāra. He becomes Brahman. cf. Ag. 377.1 :

ब्रह्मज्ञानं प्रवक्ष्यामि संसारज्ञानमुक्तये ।
अयमात्मा परं ब्रह्म अहमस्मीति मुच्यते ॥

cf. also Ag. 377.23-24:

अयमात्मा परं ब्रह्म तद्ब्रह्म त्वमसीति च ।
गुरुणा बोधितो जीवो ह्यहं ब्रह्मास्मि ब्राह्मतः ॥ 23
सोऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्ड ॐ ।
मुच्यते सारसंसाराद् ब्रह्मज्ञो ब्रह्म तद्भवेत् ॥ 24

Aim of Yoga Realization

The ultimate aim of Yoga realization according to Mār (37.40-42) and Vā (I. 12.30) is union with Brahman. Thus the Mār states that the Yogī by means of the fire of Yoga, attains union with Brahman never to be distinguished from Brahman, like fire thrown into fire or water added to water. cf. Mār 37.40-42 :

यथाग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत् ।
तदाख्यस्तन्मयो भूतो न गृह्येत विशेषतः ॥
परेण ब्रह्मणा तद्वत्प्राप्यैक्यं दग्धकिल्बिषः ।
योगी याति पृथग्भावं न कदाचिन्महीपते ॥
यथा जलं जलेनैक्यं निक्षिप्तमुपगच्छति ।
तथात्मा साम्यमभ्येति योगिनः परमात्मनि ॥

The aim of Vā (I. 12.30 =K.II.8.12) also is union with Brahman. cf.

विदित्वा सप्तसूक्ष्माणि षडङ्गञ्च महेश्वरम् ।
प्रधानं विनियोगज्ञः परं ब्रह्माऽधिगच्छति ॥

The objective of Vi is the realization of the non-distinction of Ātman from Brahman. cf. Vi. VI.7.95-96 (=N.I.47.70-71):

तद्भावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना ।
भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यंतिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसंतं कः करिष्यति ॥

i.e. When the aspirant achieves emotional identity with the supreme self, he shall become non-different from Him. The difference is only due to ignorance. When the ajñāna, the root cause of differentiation is utterly destroyed who (in the world) will create the distinction of Ātman from Brahman?

The K (II.10.9-11) states that by constant meditation, one comes to realize that principle in which everything else merges. This union of the self with Maheśvara is called Sāyujya, nirvāṇa, kaivalya or vimukti (emancipation) cf. K. II. 10.9-11 :

साक्षादेव प्रपश्यन्ति स्वात्मानं परमेश्वरम् ।
नित्यानन्दं निर्विकल्पं सत्यरूपमिति स्थितिः ॥ 9

भजन्ते परमानन्दं सर्वगं यत्तदात्मकम्।
स्वात्मन्यवस्थिताः शान्ताः परेऽव्यक्ते परस्य तु ॥ 10
एषा विमुक्तिः परमा मम सायुज्यमुत्तमम्।
निर्वाणं ब्रह्मणा चैक्यं कैवल्यं कवयो विदुः ॥ 11

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.125 = HP VII.4) likens Samādhi to the union of salt and water. It states that just as salt when mixed with water loses its separate identity by dissolving in it, similarly the mind merges with the ātman which union is called samādhi. cf.

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते ॥

Elsewhere, the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.132-133) gives yet another illustration which brings out the state of union, communion or merger of the soul with Para Brahman. cf.

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि तद्भवेत्।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्र तन्मयतां व्रजेत् ॥

Just as ghee added to ghee remains to be ghee or milk added to milk remains milk, similarly the Yogī who merges with the Supreme Brahman loses his own separate identity and attains identity with the Supreme.

According to YS, the goal of Yoga is not union with Brahman as is stated by Mār, Vā, and some other Purāṇas nor the realization of the non-difference between the individual and Brahman as put by Vi (VI.7. 94-95 =N.I.48.70-71), but it is the establishment of the seer in his own essential and fundamental nature. cf.

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ YS.I.3.

Physical Symptoms of Progress in Yoga

Some of the Purāṇa texts provide a list of the physical symptoms of progress in Yoga of the aspirant. According to Mār (I. 36.63) and Vā (I. 11.60), they are strength, health, indifference to sensual objects, physical glow, pleasing and gentle voice, fragrance and reduction in the quantity of urine and faeces cf. Mār. I. 36.63 :

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥
cf. Vā.I.11.60:
सत्त्वं तथारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रभा सुस्वरसौम्यता च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगः प्रवृत्तिः प्रथमा शरीरे॥

The Vā (I.11.61) further adds that a vision of himself and the earth blazing forth and one entering the other is a sign of imminent Yoga accomplishment. cf.

आत्मानं पृथिवीञ्चैव ज्वलन्तीं यदि पश्यति।
कृत्वाऽन्यं विशते चैव विद्यात् सिद्धिमुपस्थितम्॥

The State of Samādhi

The state of Yogī in communion with God is likened to an oil lamp in a windless place, the flame whereof burns steadily upwards with serenity. He is like a rock which nothing can move. All the noises of conches, drums or other musical instruments do not cause any tremor in him. cf. Mb., Śāntiparvam. 304 .19-21:

निवाते तु यथा दीपो ज्वलेत्स्नेहसमन्वितः।
निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद्युक्तमाहुर्मनीषिणः॥ 19
पाषाण इव मेघोत्थैर्यदा बिन्दुभिराहतः।
नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम्॥ 20
शंखदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः।
क्रियमाणैर्न कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम्॥ 21

The Mār (36.64-65) gives a brief list of external characteristics of a Yogī who is in communion with God. cf.

अनुरागं जनो याति परोक्षे गुणकीर्त्तनम्।
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धेर्लक्षणमुत्तमम्॥ 64
शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य बाधा न विद्यते।
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता॥ 65

i.e. He is loved by the people and is praised for his virtues even in his absence; he does not frighten the beasts; he is not affected by extreme cold or heat and is not frightened by any one.

The YS (II.35) states that in view of the strict practice of ahiṁsā (non-injury) by the Yogī, mortal enemies in his presence abandon their enmity against each other. cf.अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ YS.II.35. Hence he does not frighten the beasts (as declared by Mār. supra). Legends are galore in the Epics and Purāṇas which describe the co-existence of the beasts in the hermitages of renowned sages.

Another sūtra of Patañjali, ततो द्वन्द्वानभिघातः (YS.II.48) states that the Yogī transcends the pairs of opposites such as heat and cold, etc. This view is repeated by Mār wherein it is stated that he is not affected by extreme cold or heat.

The Mb. (Sāntiparvan. 294.14-17) provides a longer list enumerating the external characteristics of a person in communion with God. cf.

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर ।
मनो बुद्धया स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ 14
स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्यादिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुधा विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ 15
न शृणोति प चाघ्राति न रस्यति न पश्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ 16
न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ 17

The above lines have been borrowed by B (135.54-57) with a little change here and there. The summary of the thought is as follows :

With his sense-organs and mind steady, he should be still like a rock or a pillar without tremor. Hence he is known to be in a state of Yoga. He does not hear or smell. He does not see anything. He is not aware of touch. His mind does not imagine anything. Like a log of wood he does not know anything. He is said to be in the primordial state and is called Yukta i.e. one who is yoked.

The Ś (Vāyavīya Saṁhitā, Uttarabhāga 37.64-66) has the following description of a Yogī in communion with God.

न शृणोति न चाऽऽघ्राति न जल्पति न पश्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ 64

न वाभिमन्यते किञ्चिद्बुध्यते न च काष्ठवत्।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ॥ 65
यथा दीपो निवातस्थः स्पन्दते न कदाचन।
तथा समाधिनिष्ठोऽपि तस्मान्न विचलेत्सुधीः ॥ 66

i.e. A person is said to be in samādhi when his soul is merged in Śiva. In this stage, he does not hear (anything), does not smell, does not speak, does not feel the touch and his mind does not think. He does not recognise anything nor does he understand anything as he is like a log of wood. Just as a lamp in a windless place does never flicker so also a person who is stable in samādhi does not swerve from it.

The Ag (376.2-4) gives a similar description cf.
ध्यायन्मनः सन्निवेश्य यस्तिष्ठेदचलः स्थिरः।
निर्वातानलवद्योगी समाधिस्थः प्रकीर्त्तितः ॥ 2
न शृणोति न चाऽऽघ्राति न पश्यति न रस्यति।
न च स्पर्शं विजानाति न सङ्कल्पयते मनः ॥ 3
न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवत्।
एवं ईश्वरसंलीनः समाधिस्थः स गीयते ॥ 4

i.e. A yogī is said to be in samādhi when in contemplation he merges his mind (in the object of contemplation) and keeps himself steady like a rock and like a lamp in a windless place. He does not hear (anything) nor smell, see, taste, or feel the touch; his mind does not think; he does not recognise anything nor does he understand anything. Such a person who has merged himself in God is known to be in samādhi.

The Sk (Māheśvarakhaṇḍa 55.54-59) describes the condition of a person in samādhi as follows :
शब्दस्पर्शरसैर्हीनं गन्धरूपविवर्जितम् ॥ 54
परं पुरुषं संप्राप्तः समाधिस्थः प्रकीर्त्तितः।
तां तु प्राप्य नरो विघ्नैर्नाभिभूयेत कर्हिचित् ॥ 55
समाधिस्थश्च दुःखेन गुरुणापि न चाल्यते।
शंखाद्याः शतशस्तस्य वाद्यन्ते यदि कर्णयोः ॥ 56
भेर्यश्च यदि हन्यन्ते शब्दं बाह्यं न विन्दति।
कशाप्रहाराभिहतो वह्निदग्धतनुस्तथा ॥ 57
शीताढ्येव स्थितो घोरे स्पर्शं बाह्यं न विन्दति।

रूपे गन्धे रसे बाह्ये तादृशस्य तु का कथा ॥ 58
दृष्ट्वा यः आत्मनाऽऽत्मानं समाधिं लभते पुनः ।
तृष्णा वाथ बुभुक्षा वा बाधेते तं न कर्हिचित् ॥ 59

A person is said to have settled in samādhi when he has realized the Supreme Being who is devoid of speech, touch, taste, smell and form. Having once attained samādhi, he is no more thwarted by obstacles; grief does not move him; his ears are deaf to all external sound may it be produced by innumerable conches or beatings of kettle- drums at the highest pitch; he is not aware of external touch, extreme cold or extreme heat, even if he is lashed by a whip or his body is burnt by fire. What to say about the form, smell and taste ? Having perceived the self through the self he gains samādhi again. Thirst and hunger do not affect him ever.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.128.130) again provides a brief description of the condition of a Yogī in samādhi. cf.

नाऽऽत्मानं परं वेत्ति न शीतं नोष्णमेव च ।
समाधियुक्तो योगीन्द्रो न सुखं न सुखेतरम् ॥ 128
काल्यते नैव कालेन लिप्यते नैव कर्मणा ।
भिद्यते न च शस्त्राद्यैर्योगी युक्तः समाधिना ॥ 129
युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टो हि कर्मसु ।
युक्तनिद्रावबोधश्च योगी तत्त्वं प्रपश्यति ॥ 130

i.e. in short, he who is in samādhi transcends the opposite pairs; he is not calculated by Kālanor bound by karma weapons do not cleave him either. With proper diet and proper behaviour in his actions, in sleep as well as in waking, the Yogī perceives the Essence.

Antarāyas and Upasargas

To a Yogī who thus persues self-realization, upasargas (obstacles) appear to thwart success in his pursuit. The Mār (37. 1-6a) and Vā (I. 12.1-4) warn the aspirant of the obstacles he might face in the form of his worldly desires such as for woman, reward of dāna, knowledge, riches, heaven, overlordship of gods, longevity (and rejuvination), power to walk in air, on the surface of water or through blazing fire or in the form of fruits of Śrāddha, dāna, observances of fasts and pūrta (public utility projects), worship of gods, etc performed by him. The Yogī must with effort retrieve his mind from such thoughts and direct it to contemplation on

Brahman whereby he would be freed from the obstacles. cf. Mār. 37. 1-6a :

उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दृष्टे ह्यात्मनि योगिनः।
ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ 1
काम्याः क्रियास्तथाकामान्मानुषानभिवाञ्छति।
स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं दिवम् ॥ 2
देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम्।
मरुत्प्रपतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ 3
श्राद्धानां सर्वदानानां फलानि नियमांस्तथा।
तथोपवासात्पूर्त्ताच्च देवताभ्यर्चनादपि ॥ 4
तेभ्यस्तेभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवाञ्छति।
चित्तमित्थं वर्तमानं यत्नाद्योगी निवर्तयेत् ॥ 5
ब्रह्मसंगिमनः कुर्वन्नुपसर्गात्प्रमुच्यते।
cf. Vā.I.12.1-4:
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि उपसर्गा यथा तथा।
प्रादुर्भवन्ति ये दोषा द्रष्टतत्त्वस्य देहिनः ॥ 1
मानुष्यान् विविधान् कामान् कामयेत ऋतुं स्त्रियः।
विद्यादानफलञ्चैव उपसृष्टस्तु योगवित् ॥ 2
अग्निहोत्रं हविर्यज्ञमेतत् प्रायतनं तथा।
मायाकर्म धनं स्वर्गमुपसृष्टस्तु कांक्षति ॥ 3
एष कर्मसु युक्तस्तु सोऽविद्यावशमागतः।
उपसृष्टन्तु जानीयाद् बुद्धया चैव विसर्जयेत् ॥
नित्यं ब्रह्मपरो युक्त उपसर्गात् प्रमुच्यते ॥ 4

i.e. A person who has realized the Essence may get afflicted by evil and may be enamoured of women in their courses and long for various human desires such as the fruit of imparting knowledge; he may desire to perform deceptive rituals such as the Agnihotra or Haviryajña (giving oblations into fire) and also may wish for wealth, heaven etc. In case he engages himself in such māyākārma (deceptive actions) then he comes under the control of Avidyā. Hence knowing that he is afflicted he should deliberately avoid it. Constant devotion to Brahman would relieve him from the afflictions.

The L. (I. 8. 115b-116) merely states that while practising yoga many antarāyas (obstacles) occur which thwart success of the performance.

It does not name the antarāyas but adds that these obstacles are annihilated by continued practice of Yoga or by means of devotion towards the teacher cf.

योगान्तरायास्तस्याऽथ जायन्ते युञ्जतः पुनः ॥ 115b
नश्यन्तेऽभ्यासतस्तेऽपि प्रणिधानेन वै गुरोः ॥ 116

When the series of obstacles subside on account of the constant concentration upon Brahman, other obstacles of the nature of sattva, rajas and tamas appear which are signs of attainment of siddhi. The Mār (37.7-14a) and Vā(I.12.5-13a) name five such upasargas as Prātibha (Pratibha according to Vā), Śrāvaṇa, Daiva (Devadarśana-Vā), Bhrama and Āvarta and describe them as follows :

When the meaning of the Veda, Kāvya and Śāsrta and all other lores like Śilpa become clear to a Yogī, it is known as Prātibha (Pratibhā-Vā) which is hindrance to Yoga accomplishment. Śrāvaṇa is the ability of a Yogī to hear the sounds from a distance of a thousand yojanās and to understand the meaning of the sound (clairaudience). Daiva is the power of vision of a Yogī in perceiving the eight celestials (the deities of the quarters?) around him. When the mind of a Yogī who has abandoned all customs, wanders without any support, it is known as Bhrama. Āvarta is the whirlpool of knowledge of a Yogī which might destroy the citta caught in it. cf. Mār. 37.6-13a:

उपसर्गैर्जितैरेभिरुपसर्गास्ततः पुनः ॥ 6
योगिनः संप्रवर्तन्ते सात्त्वराजसतामसाः ।
प्रातिभः श्रावणो दैवो भ्रमावर्तौ तथापरौ ॥ 7
पञ्चैते योगिनां योगविघ्नाय कटुकोदयाः ।
वेदार्थाः काव्यशास्त्रार्था विद्याशिल्पान्यशेषतः ॥ 8
प्रतिभान्ति यदस्येति प्रातिभः स तु योगिनः ।
शब्दार्थानखिलान्वेत्ति शब्दं गृह्णाति चैव यत् ॥ 9
योजनानां सहस्रेभ्यः श्रावणः सोऽभिधीयते ।
समन्तात्वीक्षते चाष्टौ स यदा देवयोनयः ॥ 10
उपसर्गं तमप्याहुर्दैवमुन्मत्तवद् बुधाः ।
भ्राम्यते यन्निरालंबं मनो दोषेण योगिनः ॥ 11
समस्ताचारविभ्रंशाद् भ्रमः स परिकीर्त्तितः ।

आवर्त इव तोयस्य ज्ञानावर्त्तो यदाकुलः ।। 12
नाशयेच्चित्तमावर्त उपसर्गः स उच्यते ।

The Vā (I. 12. 5-12) also names and explains the sāttva, rājasa and tāmasa upasargas as follows :

जितप्रत्युपसर्गस्य जितश्वासस्य देहिनः ।
उपसर्गाः प्रवर्त्तन्ते सात्त्वराजसतामसाः ।। 5
प्रतिभा श्रवणे चैव देवानाञ्चैव दर्शनम् ।
भ्रमावर्तश्च इत्येते सिद्धिलक्षणसंज्ञिताः ।। 6
विद्या काव्यं तथा शिल्पं सर्वं वाचावृतानि तु ।
विद्यार्थाश्चोपतिष्ठन्ति प्रभावस्यैव लक्षणम् ।। 7
शृणोति शब्दान् श्रोतव्यान् योजनानां शतादपि ।
सर्वज्ञश्च विधिज्ञश्च योगी चोन्मत्तवद्भवेत् ।। 8
यक्षराक्षसगन्धर्वान् वीक्षते दिव्यमानुषान् ।
वेत्ति तांश्च महायोगी उपसर्गस्य लक्षणम् ।। 9
देवदानवगन्धर्वान् ऋषींश्चापि तथा पितॄन् ।
प्रेक्षते सर्वतश्चैव उन्मत्तं तं विनिर्दिशेत् ।। 10
भ्रमेण भ्राम्यते योगी चोद्यमानोऽन्तरात्मना ।
भ्रमेण भ्रान्तबुद्धेस्तु ज्ञानं सर्वं प्रणश्यति ।। 11
वार्त्ता नाशयते चित्तं चोद्यमानोऽन्तरात्मना ।
वर्त्तनाक्रान्तबुद्धेस्तु सर्वं ज्ञानं प्रणश्यति ।। 12

Thus according to Vā, all learning literature, arts (and sculpture) and all other lores and essence of learning attend upon the Yogī. He has the power to hear sounds from a long distance. He becomes insane. If he sees yakṣas, rākṣasas, gandharvas and celestial beings and knows them, it is the sign of hindrance to spiritual progress. One should know him to be insane if he sees the gods, dānavas, gandharvas, ṛṣis and pitṛs all round. He flounders through delusion and all his knowledge is lost. His intellect gets confused.

Patañjali names the antarāyas as (1) vyādhi (disease), (2) styāna (dullness), (3) saṁśaya (doubt), (4) pramāda (carelessness), (5) ālasya (laziness), (6) avirati (hankering after objects) (7) bhrāntidarśana (delusion) (8) alabdhabhūmikatva (inability of achieving a stage) and

(9) anavasthitatva (instability) and adds that these nine cause the distraction of mind and hence they are the obstacles. cf. YS.I.30:

व्याधिस्त्यानसंशय-प्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

In the very next sūtra he lists some of the symptoms of a distracted condition of mind. They are duḥkha (pain; misery), daurmanasya (dejection), aṅgamejayatva (nervousness) and śvāsapraśvāsa (heavy breathing) cf. YS. I. 31:

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ॥

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā Uttarabhāga, 38.1-2) mixes these two lists and presents a list of ten antarāyas. The ten antarāyas are ālasya (idleness) tīvrāvyādhayaḥ (acute disorders), pramāda (blunder), sthānasaṁśaya (confusion about the spot), anavasthitacittatvam (unsteadiness of mind), aśraddhā (lack of faith), bhrāntidarśanam (illusion), duḥkha (miseries), daurmanasya (dejection) and viṣayeṣu lolatā (indulgence in sensual objects). cf.

आलस्यं व्याधयस्तीव्राः प्रमादः स्थानसंशयः ।
अनवस्थितचित्तत्वमश्रद्धा भ्रान्तिदर्शनम् ॥ 1
दुःखानि दौर्मनस्यं च विषयेषु च लोलता ।
दशैते युञ्जतां पुंसामन्तरायाः प्रकीर्त्तिताः ॥ 2

The ten antarāyas are further explained as follows : cf. Ś Vāyavīya-saṁhitā, Uttarabhāga. 38. 3-8 :

Ālasya (idleness) affects the Yogī in mind and body. Disorders are caused by the imbalance of the dhātus. They may also occur due to defective previous actions. Pramāda is the non-contemplation of the means of Yoga. Doubtfulness or confusion regarding spot is double perception "this or this". Anavasthiti is the inability to stabilize the mind, Aśraddhā is absence of piety on the path of Yoga. Bhrānti is mental misconception. Duḥkha is threefold viz ādhyātmika (spiritual) on account of ignorance, ādhibhautika (corporal) on account of previous actions and ādhidaivika (divine) caused by calamities such as thunderbolt, missiles, poison, etc. Daurmanasya is caused by frustration of desires. Lolatā (indulgence) is caused on account of fondness for diverse sensual objects. cf. Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38.3-8) :

आलस्यं अलसत्वं तु योगिनां देहचेतनोः ।
धातुवैषम्यजा दोषा व्याधयः कर्मदोषजाः ॥ 3

प्रमादो नाम योगस्य साधना नामभावना।
इदं वेत्युभयाक्रान्तं विज्ञानं स्थानसंशयः॥ 4
अप्रतिष्ठा हि मनसस्त्वनवस्थितिरुच्यते।
अश्रद्धा भावरहिता वृत्तिर्वै योगवर्त्मनि॥ 5
विपर्यस्ता मतिर्या सा भ्रान्तिरित्यभिधीयते।
दुःखमज्ञानजं पुंसां चित्तस्याध्यात्मिकं विदुः॥ 6
आधिभौतिकमंगोत्थं यच्च दुःखं पुरा कृतैः।
आधिदैविकमाख्यातमशन्यस्त्रविषादिकम्॥ 7
इच्छाविघातजं मोक्षं दौर्मनस्यं प्रचक्षते।
विषयेषु विचित्रेषु विभ्रमस्तत्र लोलता॥ 8

Whereas the Mār and Vā name and explain five upasargas as Pratibha, Śrāvaṇa, Daiva (Daiva-darśana), Bhrama and Āvarta, Patañjali explains them as intuitional hearing, touch, sight, taste and smell. cf. YS. III.36

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥

Thus Mār and Vā have a different connotation and conception of the above terms.

Although Patañjali like Mār and Vā considers them obstacles to success of samādhi, he also considers them to be powers when the mind is outward turned. cf. YS. III.37 :

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥

The Ś (Vāyavīyasaṁhitā, Uttarabhāga 38.10-14) names six Upasargas and explain them as follows :

प्रतिभा श्रवणं वार्ता दर्शनास्वादवेदनाः।
उपसर्गाः षडित्येते व्यये योगस्य सिद्धयः॥ 10
सूक्ष्मे व्यवहितेऽतीते विप्रकृष्टे त्वनागते।
प्रतिभा कथ्यते योऽर्थे प्रतिभा सो यथातथम्॥ 11
श्रवणं सर्वशब्दानां श्रवणे चाऽप्रयत्नतः।
वार्ता वार्तासु विज्ञानं सर्वेषामेव देहिनाम्॥ 12
दर्शनं नाम दिव्यानां दर्शनं चाऽप्रयत्नतः।
तथाऽस्वादश्च दिव्येषु रसेष्वास्वाद उच्यते॥ 13

स्पर्शनाधिगतस्तद्वद्वेदना नाम विश्रुता।

गन्धादीनां च दिव्यानां ... ॥ 14

i.e. Pratibhā, Śravaṇa, Vārtā, Darśana, Āsvāda and Vedanā are the six upasargas. They are the siddhis at the expense of Yoga. The correct perception of objects whether subtle, hidden by other objects or of the past situated far off, or not yet come (born) is called Pratibhā; Śravaṇa is the ability to hear all sounds without any effort. Vārtā is the knowledge of everything concerning all embodied beings; Darśana is the ability to see all divine objects without any difficulty. Similarly, Āsvāda is the ability to savour divine delicacies; Vedanā is the ability to feel divine touch and all divine fragrance.

The same text continues its account and lists the other achievements of the Yogī along with these Upasargas. cf. Ibid. 38.14b-17a :

...आब्रह्मभुवनाधिपाः ॥ 14

सन्तिष्ठन्ते च रत्नानि प्रयच्छन्ति बहूनि च।

स्वच्छन्दमधुरा वाणी विविधा स्यात्प्रवर्त्तते ॥ 15

रसायनानि सर्वाणि दिव्याश्चौषधयस्तथा।

सिद्ध्यन्ति प्रणिपत्यैनं दिशन्ति सुरयोषितः ॥ 16

योगसिद्ध्यैकदेशेऽपि दृष्टे मोक्षे भवेन्मतिः।

i.e. the Lords of all the worlds beginning from Brahmā wait for him offering him lots of gems and jewels. Speech which is sweet and eloquent pour out of his mouth. All aphrodisiacs and divine herbs are bestowed upon him by celestial damsels who pay him their homage. Though all this is only a fraction of the siddhis of Yoga, it will lead him turn to salvation.

The Ag (37b.7-9) states that as a result of these five or six antarāyas, viz Prātibha, etc the gods solicit him with offer of divine pleasures, the kings pay homage to him with the gift of land and the wealthy with offer of their riches; besides, the Veda and all other lores of śāstras and literature voluntarily attend upon him and he gains mastery over all aphrodisiacs and celestial drugs, arts, sculpture, etc. cf.

प्रार्थयन्ति च तं देवा भोगैर्दिव्यैश्च योगिनाम्।

नृपाश्च पृथिवीदानैर्धनैश्च सुधनाधिपाः ॥ 7

वेदादिसर्वशास्त्रं च स्वयमेव प्रवर्त्तते।

अभीष्टछन्दोविषयं काव्यञ्चास्य प्रवर्त्तते ॥ 8

रसायनानि दिव्यानि दिव्याश्चौषधयस्तथा।
समस्तानि च शिल्पानि कलाः सर्वाश्च विन्दति॥ 9

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.159-163) gives a long list of antarāyas (siddhis) which though indicating success in Yoga are actually harmful. Thus he hears news of happenings far off; events or objects far away are seen in front; he is able to travel long distances in a fraction of a second; gains knowledge of various unimagined śāstras; achieves great power of retention in memory; massive burdens become light; attains capability to become lean or stout, tiny or huge at a moment's notice; is able to transmigrate to other physical bodies; understands the speech of birds and beasts; emits divine fragrance from his body and utters divine speech; acquires celestial body and is sought after by celestial damsels. cf.

अन्तराया भवन्तीह योगिनो योगहानिदाः।
श्रूयते दूरगा वार्ता दूरस्थं दृश्यते पुरः॥ 159
योजनानां शतं यातुं शक्तिः स्यान्निमिषार्धतः।
अचिन्तितानि शास्त्राणि कण्ठपाठी भवन्ति हि॥ 160
धारणाशक्तिरत्युग्रा महाभारो लघुर्भवेत्।
क्षणं कृशः क्षणं स्थूलः क्षणमल्पः क्षणं महान्॥ 161
परकायं प्रविशति तिरश्चां वेत्ति भाषितम्।
दिव्यगन्धं तनौ धत्ते दिव्यां वाणीं प्रवक्ति च॥ 162
प्रार्थ्यते दिव्यकन्याभिर्दिव्यं धारयते वपुः।
इत्यादयोऽतरायाः स्युर्योगसंसिद्धिसूचकाः॥ 163

Some of these siddhis or antarāyas have been indicated by Patañjali in the Vibhūtipāda of YS. cf.

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। YS.III.41
कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ YS.III.42
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत् तद्धर्मानभिघातश्च॥ YS.III.45
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्॥ YS.III.46
बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥ YS.III.38

Like Vā (I. ch.12), the L also sets apart one full chapter (L.I.9) for a discussion on Antarāyas or Upasargas. The YS (I.27-28) recommends constant repetition of Praṇava and meditation on its meaning which would

result in the disappearance of all obstacles and turning inward of consciousness cf. YS.I.27-28

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ YS.I.27

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ YS.I.28

The Purāṇas advise the aspirant that the Upasargas which recur frequently should be overcome by constant meditation on Brahman. cf.

ब्रह्मसङ्गिमनः कुर्वन्नुपसर्गात्प्रमुच्यते ॥ Mār 37.6a

एतैर्नाशितयोगास्तु सकला देवयोनयः ॥ 37.13

उपसर्गैर्महाघोरैरावर्तन्ते पुनः पुनः ।

प्रावृत्य कंबलं शुक्लं योगी तस्मान्मनोमयम् ॥ 37.14

चिन्तयेत्परमं ब्रह्म कृत्वा तत्प्रवणं मनः ।

The above four lines of Mār. have been repeated by Sk. (Māheśvara, Kaumārikā 55.67b-69a). The Vā also recommends constant meditation on Brahman in order to be free from upasargas. cf.

नित्यं ब्रह्मधनो युक्त उपसर्गैः प्रमुच्यते । Vā.I.12.32a

To a Yogin who has conquered the vital breath, the Upasargas and passion, there remains only the Sārvakāmikī Dhāraṇā in the external body. Wherever he fixes his mind, he merges with it. He enters the elements and can even shake the three worlds. By the same Dhāraṇā he can even abandon his body and enter another. cf. Vā. I. 12.32-34a.

जितश्वासोपसर्गस्य जितरागस्य योगिनः ।

एका बहिः शरीरेऽस्मिन् धारणा सार्वकामिकी ॥ 32

विशेद्यदा द्विजो युक्तो यत्रयत्रार्पयेन्मनः ।

भूतान्याविशते वाऽपि त्रैलोक्यञ्चापि कम्पयेत् ॥ 33

एतया प्रविशेद्देहं हित्वा देहं पुनस्त्विह ।

The Yogī who by this procedure becomes detached and overcomes the subtle elements goes beyond the sphere of Prakṛti to Rudraloka. He withdraws himself from the positions of the devas, piśācas, rākśasas, gandharvas, Kubera, Indra, Soma, Prajāpati and Brahmā. Being permanently absorbed in Brahman, he acquires the power of going anywhere i.e. omnipresence. cf. Vā.I.12.35-40:

एतेन विधिना योगी विरक्तः सूक्ष्मवर्जितः ।

प्रकृतिं समतिक्रम्य रुद्रलोके महीयते ॥ 35

ऐश्वर्यगुणसंप्राप्तं ब्रह्मभूतन्तु तं प्रभुम्।
देवस्थानेषु सर्वेषु सर्वतस्तु निवर्तते ॥ 36
पैशाचेन पिशाचांश्च राक्षसेन च राक्षसान्।
गान्धर्वेण च गन्धर्वान् कौबेरेण कुबेरजान् ॥ 37
इन्द्रमैन्द्रेण स्थानेन सौम्यं सौम्येन चैव हि।
प्रजापतिं तथा चैव प्राजापत्येन साधयेत् ॥ 38
ब्राह्मं ब्राह्म्येन चाप्येवमुपामन्त्रयते प्रभुम् ॥
तत्र सक्तस्तु उन्मत्तस्तस्मात्सर्वं प्रवर्त्तते ॥ 39
नित्यं ब्रह्मपरो युक्तः स्थानान्येतानि वै त्यजेत्।
असज्यमानः स्थानेषु द्विजः सर्वगतो भवेत् ॥ 40

Almost the same views are found in Mār. in the following lines. cf. Mār. 37.24-25; 28-29 :

यस्मिन्यस्मिंश्च कुरुते भूते रागं महीपते।
तस्मिंस्तस्मिन्समासक्तिं संप्राप्य स विनश्यति ॥ 24
तस्माद्विदित्वा सूक्ष्माणि संसक्तानि परस्परम्।
परित्यजति यो देही स परं प्राप्नुयात्पदम् ॥ 25
सप्तैता धारणा योगी समतीत्य यदिच्छति।
तस्मिंस्तस्मिंल्लयं सूक्ष्मे भूते याति नरेश्वर ॥ 28
देवानामसुराणां वा गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
देहेषु लयमायाति संगं प्राप्नोति न क्वचित् ॥ 29

Aṣṭaiśvaryas or Aṣṭasiddhis

The Mār (37.30-35a) names and elaborates the aṣṭaiśvaryas (aṣṭasiddhis) or the eight supernormal powers which the Yogī acquires and which indicate his imminent liberation or nirvāṇa. cf.

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च तथापरम् ॥ 30
यत्र कामावसायित्वं गुणानेतांस्तथैश्वरान्।
प्राप्नोत्यष्टौ नरव्याघ्र परं निर्वाणसूचकान् ॥ 31
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतमोऽणीयाञ्छीघ्रत्वं लघिमा गुणः।
महिमाशेषपूज्यत्वात्प्राप्तिर्नाप्राप्यमस्य यत् ॥ 32
प्राकाम्यमस्य व्यापित्वादीशित्वं चेश्वरो यतः।
वशित्वाद्वशिमा नाम योगिनः सप्तमो गुणः ॥ 33

यत्रेच्छास्थानमप्युक्तं यत्र कामावसायिता।
ऐश्वर्यकारणैरेभिर्योगिनः प्रोक्तमष्टधा॥ 34
मुक्तिसंसूचकं भूप परं निर्वाणमात्मनः।

The eight super-natural (super-human) siddhis, aiśvaryas or powers are aṇimā (minuteness), laghimā (lightness), mahimā (grossness), prāpti (reach), prākāmya (irresistability), īśitva (overlordship), vaśitva (power to subdue) and kāmāvasāyita (power to pierce through anywhere). The acquisition of these eight siddhis by the yogī indicates the imminence of nirvāṇa or liberation.

The Vā has one whole chapter (Vā.I.ch.13) explaining these eight siddhis.

The Bhāg. (XI.ch.15) gives an account of the eighteen siddhis of which eight are considered important. cf. Bhāg. XI. 15.3-9a :

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः॥ 3
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥ 4
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिकामताः॥ 5
अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ 6
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथा संकल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहता गतिः॥ 7
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥ 8
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः।

What kind of siddhi is accomplished by a particular Dhāraṇā is also explained by the text in the above chapter. But the Bhāg also considers all these siddhis to be obstacles on the path of yoga. cf. Bhāg. IX. 15.33a :

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्॥

After explaining the ten Antarāyas and the six Upasargas, Ś (Vāyavīyasaṁhitā ch.38) names several other categories of siddhis viz Pārthiva, Āpya, Taijasa, Māruta, Aindhra/Ambara, Candramasa, Prājāpatya, Brāhma, Prākṛta (Vaiṣṇava), Puruṣa, Gaṇeśa and Īśvara. It is only that Yogī who spurns all these siddhis as worthless that would succeed in Yoga.

These siddhis according to Patañjali, are the results of birth, drugs, mantras austerities or samādhi.cf.

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ YS.IV.1.

The Bhāg (XI.15.34) holds that Yoga accomplishes all the siddhis which result from birth, drugs, austerities and mantras. cf.

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥

Yoga and Jñāna

The N (I. 33.55b) terms Yoga as Pure knowledge which leads to liberation.cf.

योगो ज्ञानं विशुद्धं स्यात्तज्ज्ञानं मोक्षदं विदुः ।

Ag (372.1) defines Yoga as knowledge of Brahma enlightenment (Brahmaprakāśakam jñānam).

Such clear and concentrated knowledge devoid of all conditioning factors can be acquired only by a Yogī who regularly practises Yoga. cf. Ś (Vāyavīyasaṁhitā .39.23):

ज्ञानं प्रसन्नमेकाग्रमशेषोपाधिवर्ज्जितम् ।
योगाभ्यासेन युक्तस्य योगिनस्येव सिध्यति ॥

The Trīśikhibrāhmaṇopaniṣad (19b-20a) states that knowledge springs forth from Yoga and Yoga thrives due to knowledge. A Yogī who is always engrossed in Yoga and Jñāna does not perish. cf.

योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते ॥
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति ।

The K (II.2.41) follows the above with the second half changed. cf.

योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥

i.e. knowledge sprouts up from Yoga and Yoga works through knowledge; nothing remains unaccomplishable to one equipped with Yoga and Jñāna.

According to Patañjali, from the practice of the aspects of Yoga, the impurities are destroyed giving rise to spiritual illumination which gradually leads to awareness of Reality. cf. YS. II.28 :

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥

Continuous practice or incessant effort has been recommended by Patañjali also. cf. YS. I.12 :

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥

The Sk (Kāśīkhaṇḍa, 41.42) advises that liberation or salvation is obtained by means of knowledge of Ātman and knowledge is not acquired without practice of Yoga. That Yoga becomes successful only after long practice. cf.

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि ।
स च योगं चिरं कालमभ्यासादेव सिध्यति ॥

Thus Ś (Umāsaṁhitā 28.22-23) avers that the wise must always cultivate Jñāna and Yoga. From such practice the siddhis are attained; Yoga also functions on account of practice; realization dawns by practice. Practice also leads to salvation. Hence the wise must constanly practise which is the cause of salvation.

तस्माज्ज्ञानं यथा योगमभ्यसेत्सततं बुधः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिर्योगोऽभ्यासात्प्रवर्त्तते ॥ 22
संवित्तिर्लक्ष्यतेऽभ्यासादभ्यासान्मोक्षमश्नुते ।
अभ्यासस्सततं कार्यो धीमता मोक्षकारणम् ॥ 23

The L (I.8.115a) avers that Yoga is accomplished by one's effort either in course of time or even in a brief period. cf.

प्रयत्नाद्वा तयोस्तुल्यं चिराद्वा ह्यचिराद् द्विजाः ॥

The period taken for success in Yoga depends upon one's earnestness in endeavour or in the intensity in the persuit thereof. cf. YS. I.21 :

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।

i.e. Samādhi is imminent to those whose desire is intensely strong.

L (I. 8.114) also holds that samādhi is achieved even by mere contact with those who have gained real knowledge. cf.

अथवा ज्ञानिनां विप्राः सम्पर्कादेव जायते ॥

Dakṣa is quite clear that Yoga cannot be acquired merely by resorting to forest, reflecting upon various treatises, by making gifts, observing vows, undergoing austerities, performing rituals, practising Padmāsana, fixing the eyes on the tip of the nose, study of various śāstras, by śauca, vow of silence, repetition of mantras or worship. Yoga becomes successful only by perseverance and constant practice thereof, by resolutely adhering to it all the while desisting despondency. cf. Dakṣa 7.4-5,7 :

नारण्यसेवनाद्योगो नानेकग्रन्थचिन्तनात् ।
व्रतैर्यज्ञैर्तपोभिर्वा न योगः कस्यचिद्भवेत् ॥ 4
न च पद्मासनाद्योगो न नासाग्रनिरीक्षणात् ।
न च शास्त्रातिरिक्तेन शौचेन भवति क्वचित् ॥ 5
... ...
अभियोगात्तथाभ्यासात्तस्मिन्नेव सुनिश्चयात् ।
पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगाः सिध्यन्ति नान्यथा ॥ 7

The Sk (Kāśīkhāṇḍa 41.43-45) has the same lines with a little change here and there. cf.

नारण्यसंश्रयाद्योगो न नानाग्रन्थचिन्तनात् ।
न दानैर्नव्रतैर्वापि न तपोभिर्न वा मखैः ॥ 43
न च पद्मासनाद्योगो न वा घ्राणाग्रवीक्षणात् ।
न शौचेन न मौनेन न मन्त्राराधनैरपि ॥ 44
अभियोगात्सदाभ्यासात्तत्रैव च विनिश्चयात् ।
पुनः पुनरनिर्वेदात्सिध्येद्योगो न चान्यथा ॥ 45

When the Yogī perceives all the beings as abiding in his own self and his own self abiding in all beings, then he realises Brahman cf. K. II. 2.31 (=B.128.22):

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

When the Yogī is in communion with the Supreme he does not perceive the diversity of living beings. He has become one with the Supreme Soul. He is then the Absolute. cf. K.II. 2.32

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवति केवलम्॥

When he sees the diversity of the beings as based in the Absolute and as evolved from that One, then he attains Brahman. cf. K. II. 2.34

यदा भूतपृथकग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

Just as the rivers and streams unite with the ocean (which indicates the identity and difference of the individual soul and Brahma) similarly the Ātman becomes one with the imperishable and unsullied Brahman. cf. K.II.2.37 :

यथा नदीनदा लोके सागरेणैकतां ययुः।
तद्वदाऽऽत्माऽक्षरेणासौ निष्कलेनैकतां व्रजेत्॥

The Bhāg. (XI. 29.12-14) also describes the Yogī in this supreme state as visualising the Lord abiding in all the manifested beings both internally and externally as well as abiding within himself. Thus he sees with equanimity a Brāhmaṇa or a low-caste person, a robber or one devoted to Brāhmaṇas, the sun or the spark of fire, a cruel person or one who is merciful. cf.

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरनावृतम्।
ईक्षेताऽऽत्मनि चाऽऽत्मानं यथा स्वममलाशयः॥ 12
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
समाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥ 13
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः।.14

B (128.20) also speaks of the same equanimity arrived at by a Yogī who has realized Brahman. cf

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

Hence the K (II.2.38-39) arrives at the following conclusion :

तस्माद्विज्ञानमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः।
अज्ञानेनावृतं लोको विज्ञानं तेन मुह्यति॥

तज्ज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्।
अज्ञानमितरत्सर्वं विज्ञानमिति मे मतम्॥

i.e. Hence perfect knowledge alone exists; neither the universe is real nor the cycle of rebirths; as perfect knowledge is covered by ignorance, the world thereby gets deluded. Perfect knowledge is pure, subtle, free from doubts and immutable. Everything else is ignorance. In my opinion this is vijñāna or perfect knowledge.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.47) adds : When the foremost of Yogīs perceives only Ātman and nothing else as distinct from Ātman, he becomes self-contented and is bound to merge with Brahman. cf.

अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।
आत्मारामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह॥

Actually it is Supreme Lord himself who binds the beings (paśus) with the noose of Māyā whereas he is the Lord (Paśupati). Again, it is he himself who liberates them cf. K.II.7.18-20 :

आत्मानः पशवः प्रोक्ताः सर्वे संसारवर्त्तिनः।
तेषां पतिरहं देवः स्मृतः पशुपतिर्बुधैः॥ 18
मायापाशेन बध्नामि पशूनेतान् स्वलीलया।
मामेव मोचकं प्राहुः पशूनां वेदवादिनः॥ 19
मायापाशेन बद्धानां मोचकोऽन्यो न विद्यते।
मामृते परमात्मानं भूताधिपतिमव्ययम्॥ 20

It is Māyā which is the root cause of the Kleśas viz avidyā, asmitā, rāga, dveṣa and abhiniveśa which bind the soul and this Māyā is the unmanifest Primordial Nature which is the Power that abides in Him. He is himself the Mūlaprakṛti, Pradhāna, Puruṣa or the evolutes Mahat etc. He is the Primordial Puruṣa who is the bondage, cause of bondage, pāśa (noose) as well as the Lord of the paśus. cf. K.II.7.29-32 :

अविद्यामस्मितां रागं द्वेषं वाभिनिवेशकम्।
क्लेशाख्यानचलान् प्राहुः पाशानात्मनिबन्धनान्॥ 29
एतेषामेव पाशानां माया कारणमुच्यते।
मूलप्रकृतिरव्यक्ता सा शक्तिर्मयि तिष्ठति॥ 30
स एव मूलप्रकृतिः प्रधानं पुरुषोऽपि च।

विकारा महदादीनि देवदेवः सनातनः ॥ 31
स एव बन्धः स च बन्धकर्ता स एव पाशः पशवः स एव।
स वेद सर्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ 32

According to N (I. 33.66-72a) it is only to those who are devoid of perfect knowledge that the universe appears to be diverse. To those who are endowed with perfect knowledge, the universe is but constituted of Brahman. He who is the One without attributes, of the nature of greatest bliss and the unchanging, appears to assume diverse forms due to difference in perception. This perception of diversity in the Ātman is on account of Māyā of the Māyin. Hence the seeker of salvation should banish the Māyā by means of his power of Yoga. Māyā is not of the nature of non-existence nor of existence; nor again is it a mixture of both. Its nature is inscrutable. It causes the idea of diversity. It is to be understood as ajñāna (wrong knowledge). One who can conquer Māyā is alone capable of getting rid of ignorance. The Eternal ParaBrahma is to be understood as true knowledge; that Supreme Soul is always present in the heart of the knowers. The Yogī destroys wrong knowledge through yoga. cf. N.I. 33.66-72a :

सम्यग्ज्ञानविहीनानां दृश्यते विविधं जगत्।
परमज्ञानिनामेतत्परब्रह्मात्मकं द्विज ॥ 66
एक एव परानन्दो निर्गुणः परतः परः।
भाति विज्ञानभेदेन बहुरूपधरोऽव्ययः ॥ 67
मायिनो मायया भेदं पश्यन्ति परमात्मनि।
तस्माद् मायां त्यजेद् योगान् मुमुक्षुर्द्विजसत्तम ॥ 68
नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया भेदबुद्धिप्रदायिनी ॥ 69
मायैवाज्ञानशब्देन बुद्ध्यते मुनिसत्तम।
तस्मादज्ञानविच्छेदो भवेद्वै जितमायिनाम् ॥ 70
सनातनं परं ब्रह्म ज्ञानशब्देन कथ्यते।
ज्ञानिनां परमात्मा वै हृदि भाति निरन्तरम् ॥ 71
अज्ञानं नाशयेद्योगी योगेन मुनिसत्तम।

When the non-difference between the soul and Supreme is realised, the bonds of the (individual) soul are snapped. cf. N.I. 33.60 :

यदा त्वभेदविज्ञानं जीवात्मपरमात्मनोः ।
भवेत्तदा मुनिश्रेष्ठ पाशच्छेदोऽपरात्मनः ॥

The B has long disquisitions on Brahmajñāna, the Yogī's realization of the Supreme and his behaviour with the other beings of the world. B (128.21-22) says:

It is the same Supreme Soul who has created all this and who inhabits all creation, mobile and immobile. When one perceives oneself abiding in all beings and all the beings abiding in one's own self then one realizes Brahman. cf.

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ 21
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ 22

The text repeats the same idea elsewhere. cf. B. 125.65b-66:

समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥ 65
एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः ।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्माभिवर्तते ॥ 66

The Bhāg. (III.28.42) concurs. cf.

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥

Actually the Bhāg (XI.19.21b) considers the thought that it is the Supreme who abides in all beings, to be the highest – higher than His worship. cf.

मद्भक्त पूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥

Portents of Death

The Śantiparvan of Mb. (305.8-18a) has a brief description of the ariṣṭas (portents) from which the Yogī can infer the approximate time of approaching death being within a year, six months, a week, six days or imminent. The Mār (40.1-38) and Vā (I. 19.2-33) give longer lists of signs of approaching death.

Patañjali states that knowledge of the time of death is gained by performing saṁyama on the two kinds of karma viz active and dormant or by performing saṁyama on the ariṣṭas (portents of death). cf.

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ YS.III.23

Other Purāṇa texts which include such lists are Ś (Umāsaṁhitā ch 25.1-28), BV(Gaṇeśakhaṇḍa 34.10-40) and Sk (Kāśīkhaṇḍa ch. 41). Among the Haṭhayoga texts, the VS (c. 1250 A.D) ch VII deals with the portents of death.

The Mār (ch. 40.1-38) description of the portents of death is sammarised below :

He who does not see the path of gods, the Dhruva (tip of nose) Śukra, the shadow of the moon and Arundhatī (tongue) does not live more than a year. He who sees the sun devoid of rays and the fire with rays would not live beyond eleven months. He who dreams of finding gold or silver in his own vomit, urine or ordure, would live only for two months. One who sees the spirits and fiends, cities of gandharvas and trees of golden hue would live only nine months. One who suddenly becomes stout or lean alternately, his extent of life is only eight months. When the foot-step gets cracked in mire or dung, at the front or back, he would live only for seven months. When a vulture, pigeon, owl, crow or any other carnivorous blue bird perches on the head it indicates that his life would not exceed six months. He who incurs injury from a flock of birds or from a shower of dung or sand, or finds one's shadow distorted, would live only four or five months. If he sees lightning in the southern quarter of a cloudless sky or the rainbow at night, he would live only for three months. He who does not see his own reflection in ghee, oil, water or mirror or sees himself headless, he would not live more than a month. He whose body stinks of a corpse or of a goat, should realise that he would live only for half a month. He who finds the chest and feet dry just as soon as he finishes bathing or feels thirsty immediately after drinking water, lives only ten days. Death is imminent to a person who dreams of singing and proceeding in the southern direction mounted on a chariot pulled by bears and monkeys. Similar is the fate of one who dreams of being led towards the south by a woman laughing and singing and clad in red or black garments. Having dreamt of a strong, laughing and nude Buddhist monk, death must be inferred as due any time. Death is immediate to a person who dreams of himself as soaked from head to foot in a pond of mire. If for ten consecutive nights one deams of hair, coal, ashes, serpents or a dry river, death

overtakes on the eleventh day. Death immediately overtakes him who dreams of dreadful monstrous and dark beings with weapons in their raised arms assault him with rocks. Same is the fate of one who sees at sunrise howling jackals approach him from any quarter. He whose heart pounds on account of hunger just after having taken food or the teeth commence chattering, his life is surely finished. He who is not sensitive to the smell of lamp, who experiences fear day and night and who does not see his own reflection in the eye of another, faces imminent death. Having seen the rainbow at night or the group of planets during day one should infer depletion of one's life. He whose nose becomes crooked or the ears are not on the same level, or the left eye overflows, his life is exhausted. From the face that has turned red and the tongue that has turned black, one must always infer that death is near. Death is also imminent to one who dreams of proceeding in the southern direction in a vehicle drawn by camels or asses. He who does not hear one's own (inner) sound when the ears are plugged or the light of whose eyes is lost does not live (any longer). He who dreams of finding no way out after falling into a chasm nor even able to stand up should infer that his life has terminated. He whose upturned eyes are not stable but turn red and constantly change, face becomes hot and navel cold is slated for a change of body. He who dreams of not being able to come out of the fire or water which he entered is at the fag end of his life. He who dreams of having been assaulted by cruel beings either during day or night would meet with death in seven nights. He who finds his own white garments turn red or black faces imminent death. The messengers of death are said to have arrived for a person whose conduct and behaviour turn unreasonably vicious. He who is disrespectful of and reviles the very same persons who are worthy of veneration, who does not worship gods, speaks ill of elders and preceptors and does not honour the parents, sons -in -law, Yogīs who are masters of real knowledge and others who are esteemed has neared death.

Dodging or Deceiving Death

Kālavañcana (Dodging or deceiving death) is another topic which has grabbed the attention of the Purāṇa and Haṭhayoga texts alike.

It means that a perfect Yogī is not overtaken by death; on the other hand he defies death and by means of constant practice pulls up the Prāṇa (Vāyu or Vital Airs) and leads it to Brahmarandhra through

which the Prāṇa exits to merge with the Supreme, at a time of his own choice.

The Mār (40.44-46) states that having inferred the time of death from the portents, the Yogī must overcome fear of death and adhere to the practice of Yoga on that particular day and having merged in Him give up even the functions of the mind. Then the Yogī realizes the Supreme Nirvāṇa which is beyond the realm and range of the senses and grasp of the intellect. cf. Mār. 40.44-46 :

ततस्त्यक्त्वा भयं सर्वं जित्वा यं कालमात्मवान् ।
तत्रैवावसथे स्थित्वा यत्र वा स्थैर्यमात्मनः ॥ 44
युञ्जीत योगं निर्जित्य त्रीन्गुणान्परमात्मनि ।
तन्मयश्चात्मना भूत्वा चिद्वृत्तिमपि संत्यजेत् ॥ 45
ततः परमनिर्वाणमतीन्द्रियमगोचरम् ।
यद्बुद्धेर्यन्न चाख्यातुं शक्यते तत्समश्नुते ॥ 46

To a Yogī who infers his time of death from the portents, the Vā recommends meditation on Omkāra which would liberate him from all bondage and lead him to Śiva cf. Vā.I. 19.40; 20.28-29 :

ततस्त्वापूरयेद्देहमोङ्कारेण समाहितः ।
अथोङ्कारमयो योगी न क्षरत्वक्षरीभवेत् ॥ I.19.40
इत्येदक्षरं ब्रह्म परमोङ्कारसंज्ञितम् ।
यस्तु वेदयते सम्यक् तथा ध्यायति वा पुनः ॥ I.20.28
संसारचक्रमुत्सृज्य मुक्तबन्धनबन्धनः ।
अचलं निर्गुणं स्थानं शिवं प्राप्नोत्यसंशयः ।
इत्येतद्वै मया प्रोक्तमोङ्कारप्राप्तिलक्षणम् ॥ I.20.29

Nādānusandhāna

Ś (Umāsaṁhitā ch. 26) recommends meditation on Śabdabrahma in order to ward off death. Accordingly it classifies nāda (sound) into nine varieties viz of (1) ghoṣa (soft consonant) (2) kāṁsya (bell-metal), (3) śṛṅga (horn), (4) ghaṇṭā (bell), (5) vīṇā (lute), (6) vaṁśa (flute), (7) dundubhi (drum), (8) śaṅkha (conch) and (9) meghagarjita (thunder); meditation on these brings various accomplishments to the Yogī. But the Yogī should, after eschewing all these sounds practise 'Tuṅkāra'. cf. Ś. Umāsaṁhitā. 26.40-41; 44-51:

घोषं कांस्यं तथा शृङ्गं घण्टा वीणादिवंशजान्।
दुन्दुभिं शंखशब्दं तु नवमं मेघगर्जितम्॥ 40
नवशब्दान्परित्यज्य तुंकारं तु समभ्यसेत्।
ध्यायन्नेवं सदा योगी पुण्यैः पापैर्न लिप्यते॥ 41
प्रथमं नदते घोषमात्मशुद्धिकरं परम्।
सर्वव्याधिहरं नादं वश्याकर्षणमुत्तमम्॥ 44
द्वितीयं नादते कांस्यस्तम्भयेत्प्राणिनां गतिम्।
विषं भूतग्रहान्सर्वान्बध्नीयान्नात्र संशयः॥ 45
तृतीयं नादते शृंगमभिचारि नियोजयेत्।
विद्विडुच्चाटने शत्रोर्मारणे च प्रयोजयेत्॥ 46
घंटानादं चतुर्थन्तु वदते परमेश्वरः।
आकर्ष्यस्सर्वदेवानां किं पुनर्मानुषा भुवि॥ 47
यक्षगन्धर्वकन्याश्च तस्याकृष्टा ददंति हि।
यथेप्सितां महासिद्धिं योगिनो कामितोऽपि वा॥ 48
वीणा तु पञ्चमो नादः श्रूयते योगिभिस्सदा।
तस्मादुत्पद्यते देवि दूराद्दर्शनमेव हि॥ 49
ध्यायतो वंशनादं तु सर्वतत्त्वं प्रजायते।
दुन्दुभिं ध्यायमानस्तु जरामृत्युविवर्जितः॥ 50
शंखशब्देन देवेशि कामरूपं प्रपद्यते।
योगिनो मेघनादेन न विपत्संगमो भवेत्॥ 51

i.e. the first sound 'ghoṣa' purifies the soul. It has the power of attracting and controlling beings. The second sound 'kāṁsya' paralyses living beings. It is an antidote to poison and neutralises the evil spirits and malevolent planets. The third sound viz 'śṛṅga' is employed in the black rites, in exorcising and destroying the enemies. The fourth sound viz 'ghaṇṭā' attracts even gods to say the least of human beings. The yakṣa and gandharva damsels attracted by that sound bestow great powers on the Yogī. The fifth sound 'vīṇā' is the sound always heard by the Yogīs. From it arises clairvoyance. Meditation on 'vaṁśanāda' brings knowledge of all principles. One who meditates on 'dundubhināda' becomes free from old age and death. 'Śaṅkhanāda' yields the ability to assume any desired form. By 'meghanāda' the Yogī wards off all adversity.

But to a Yogī who eschewing all these sounds, concentrates with single minded devotion on the 'tuṅkāra' form of Brahman, nothing is impossible. He becomes omniscient, sees everything and assumes any form. He is not affected by aberrations; in fact he is Śiva himself. cf. Ibid. 52-58 :

यश्चैकमनसा नित्यं तुंकारं ब्रह्मरूपिणम्।
किमसाध्यं न तस्यापि यथामति वरानने ॥ 52
सर्वज्ञस्सर्वदर्शी च कामरूपी व्रजत्यसौ।
न विकारैः प्रयुज्येत शिव एव न संशयः ॥ 53

Thus concentration on the 'tuṅkāra' (nāda) form of Brahman helps the Yogī conquer death and attain Śivahood.

The Haṭha texts call the process 'Nādānusandhāna' (HP. ch. VIII. 1-35) i.e. concentration or absorption in the Śabdabrahma or Nādabrahma.

Besides Nādānusandhāna the Ś (Umāsaṁhitā ch. 27) explains four additional techniques by resorting to which the Yogī can escape/cheat death and attain Śivahood.

Vāyusiddhi

The first technique is that of *Vāyusiddhi* i.e. the success over Vāyu. He who conquers the all pervading Vāyu which is situated in the heart (and kindles the fire) and which blows within and without, conquers the universe cf. Ibid 27.4-5 :

हृत्सो वायुस्सदा वह्नेर्दीपकस्सोऽनुपावकः।
सबाह्याभ्यन्तरो व्यापी वायुस्सर्वगतो महान् ॥ 4
ज्ञानविज्ञानमुत्साहः सर्वं वायोः प्रवर्तते।
येनेह निर्जितो वायुस्तेन सर्वमिदं जगत् ॥ 5

The Yogī who is intent on Dhāraṇā and Dhyāna should practise Prāṇāyāma like the blacksmith fills the bellows with air through its mouth and carries on its function. cf. Ibid. 27.6b-7 :

योगी योगरतः सम्यग्धारणा ध्यानतत्परः ॥ 6
लोहकारो यथा भस्त्रामापूर्य मुखतो मुने।
साधयेद्वायुना कर्म तद्वद्योगीसमभ्यसेत् ॥ 7

Thus the technique of performing Vāyu Siddhi seems to be through Bhastrikā, one of the eight types of Kumbhakas mentioned by HP. The performance of Bhastrikā is explained as follows. cf. HP.IV.51-56a:

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ 51
यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
यथा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण रेचयेत्॥ 52
वेगेन पूरयेत् सम्यक् हृत्पद्मावधि मारुतम्।
पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयित्वा पुनः पुनः॥ 53
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं शनैः॥ 54
यथोदरं भवेत् पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकामध्यमांगुलिभ्यां तथा दृढम्॥ 55
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम्।

i.e. Adopting Padmāsana correctly and keeping the neck and trunk erect, with mouth closed, one should exhale with effort and with sound through the right nostril in such a manner that the sensation is felt in the chest, throat and forehead. Then he should quickly inhale in the proper manner. Thus he repeatedly inhales and exhales quickly like the bellows of the blacksmith. Then he should inhale fully through the right nostril, hold the breath as before by closing the nose without using the middle and index fingers and exhale through the left nostril (cf. HP. pp.75-76).

The Ś (Umāsaṁhitā 27.9) adds that the retention of the breath should be followed by the chanting of Gāyatrī with its śiras (Oṁ) and Vyāhṛtis thrice. cf.

गायत्रीं शिरसा सार्द्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम्।
त्रिवारमायतप्राणाः प्राणायामस्स उच्यते॥

By the above practice the Yogī conquers old age and death, masters the vital airs and is able to travel in space. cf. Ibid. 27.13 :

योऽतंद्रितस्सदैकांते प्राणायामपरो भवेत्।
जरां मृत्युं विनिर्जित्य वायुगः खेचरीति सः॥

This is the technique of Vāyusiddhi by which the Yogī deceives death.

Tejassiddhi

The next technique explained by Ś (Ibid ch 27) is named *Tejassiddhi* i.e. success over 'tejas' meaning 'light ' or 'fire', situated between the eyebrows.

The Yogī having assumed a comfortable body posture at a place free from noise stokes the fire situated in between the eye-brows. When the Yogī succeeds in illuminating this brilliance, he is able to see in darkness without the help of the lamp. The Yogī should press the eyes with the fingers until he sees the star on which he meditates with concentration. Subsequently, while meditating, in darkness he sees the bright lustre of Śiva. The Yogī who sees this brilliance in the middle of his eyebrows becomes able to assume any form of his choice and sports as he wishes. cf. Ibid. 27. 16-20 :

स्थित्वा सुखासने स्वे शेते जनवचनहीनेषु।
शशिरवियुतया तेजः प्रकाशयन्मध्यमे देशे ॥ 16
वह्निगतं भ्रूमध्ये प्रकाशते यस्त्वतंद्रितो योगी।
दीपहीनध्वान्ते पश्येन्न्यूनमसंशयं लोके ॥ 17
नेत्रे करशाखाभिः किंचित्संपीडय यत्नतो योगी।
तारं पश्यन्ध्यायेन्मुहूर्तमर्द्धं तमेकभावोऽपि ॥ 18
ततस्तु तमसि ध्यायन्पश्यते ज्योतिरैश्वरम्।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमिन्द्रधनुष्प्रभम् ॥ 19
भ्रुवोर्मध्ये ललाटस्थं बालार्कसमतेजसम्।
तं विदित्वा तु कामांगी क्रीडते कामरूपधृक् ॥ 20

By repeated practice of the above, the Yogī gains various powers such as restraint over the senses, ability to enter other bodies (transmigration), the eight supernatural powers viz Aṇimā, etc, mental vision, clairaudience, perfect knowledge, invisibility, assuming any form and ability to travel through air cf. Ibid 27.21-22 :

कारणप्रशमावेशं परकायप्रवेशनम्।
अणिमादिगुणावाप्तिर्मनसा चावलोकनम् ॥ 21
दूरश्रवणविज्ञानमदृश्यं बहुरूपधृक्।
संतताभ्यासयोगेन खेचरत्वं प्रजायते ॥ 22

This is the Yogic technique of success over fire/light through which the Yogī cheats death and attains immortality. cf. Ibid. 27, 26 :

एष ते कथितः सम्यक्तेजसो विधिरुत्तमः।
कालं जित्वा यथा योगी चामरत्वं प्रपद्यते ॥ 26

Śītalī

The next technique described by Ś for overcoming death seems to be the one named as Śītalī kumbhaka in the Haṭha texts. The Ś (Ibid. 27. 28b-33) describes it as follows :

सुखासने यथास्थानं योगी नियतमानसः ॥ 28
समुन्नतशरीरोऽपि स बद्ध्वा करसंपुटम्।
चञ्च्वाकारेण वक्त्रेण पिबन्वायुं शनैश्शनैः ॥ 29
प्रस्रवन्ति क्षणादापस्तालुस्था जीवदायिकाः।
ता जिघ्रेद्वायुनादायामृतं तच्छीतलं जलम् ॥ 30
पिबन्ननुदिनं योगी न मृत्युवशगो भवेत्।
दिव्यकायो महातेजाः पिपासाक्षुद्विवर्जितः ॥ 31
बलेन नागस्तुरगो जवेन दृष्ट्या सुपर्णस्सुश्रुतिस्तु दूरात्।
आकुंचिताकुंडलिकृष्णकेशो गन्धर्वविद्याधरतुल्यवर्णः ॥ 32
जीवेन्नरो वर्षशतं सुराणां सुमेधया वाक्पतिना समत्वम्।
एवं चरन् खेचरतां प्रयाति यथेष्टचारी सुखितस्सदैव ॥ 33

i.e. the Yogī having assumed a comfortable body-posture at a proper place and with pure mind should keep the body erect and arms clasped together to form a cup. With the mouth (tongue) shaped like a (crow's) beak he should suck the wind slowly. Cosequently, the palate exudes life-giving water-drops. He should inhale daily the nectarine cool water whereupon he would never be overtaken by death. He gains a divine body, great brilliance and becomes free from hunger and thirst. He also gains strength of an elephant, speed of horse, keen eye-sight of garuḍa and clair audience. His hair becomes dark and curly and complexion that of Gandharvas and Vidyādharas. He lives a hundred divine years and in intellect becomes equal to Bṛhaspati. He is able to traverse in the sky or wherever he desires to and remains ever contented (For Śītalī cf Prāṇāyāma, supra p. 107)

Khecarī

The last technique prescribed by Ś (Umāsaṁhitā 27.35-36) for deceiving kāla is called as Khecarī Mudrā by the Haṭhayoga texts. The Ś gives only its bare outline. cf.

समाकुंच्याभ्यसेद्योगी रसनां तालुकं प्रति ।

किंचित्कालान्तरेणैव क्रमात्प्राप्नोति लंबिकाम् ॥ 35

ततः प्रस्रवते सा तु संस्पृष्टा शीतलां सुधाम् ।

पिबन्नेव सदा योगी सोऽमरत्वं हि गच्छति ॥ 36

i.e. the Yogī should by drawing in the tongue try to reach the roof of the palate. By continuous practice the tongue gradually reaches the uvula which exudes cool nectar. The Yogī who consumes this nectar becomes immortal.

Khecarī mudrā is already explained above under Mudrās and Bandhas. cf. ch. IV. Āsana pp. 81 ff and HP. pp.96-98.

Abandonment of body

A Yogī who has realized identity with the Supreme defies death. He gives up his body on his own volition at a time of his choice by resorting to samādhi. A brief description of his abandonment of the body has been given by Bhāg (II. 2.19b-21) cf.

स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदो ततोऽनिलं स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः ॥ 19

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मादुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।

ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत ॥ 20

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः ।

स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिर्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥ 21

i.e. The Yogī should press his anus (Mūlādhāra and Svādhiṣṭhāna) by means of his heels and raise up the vital airs gradually in the six spots one after the other. He should raise the vital air residing at the navel (Maṇipūra cakra) to the heart (Anāhata cakra); thence by the course of udāna he should take it to the region of the throat (Viśuddha cakra); thereafter with great concentration he should gradually lead it to the root of his palate and from there to the region between the eyebrows (Ājñācakra); with the seven outlets (of the breath) being closed, and being free from all desires he should wait for half a muhūrta and with fixed gaze pierce through the crown of the head (Brahma randhra), abandon the body and merge with the Supreme.

The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya, 30.23-30) gives a more substantial description of the abandonment of the body by a Yogī. cf.

आयास्यन्तं विहित्वैव सोऽन्तकालं च योगवित्।
स्वातन्त्र्येणैव देहं स्वं त्यजतीत्थं समाधिना ॥ 23
पार्ष्णिभ्यां गुदमापीड्य वायुं पादद्वयस्थितम्।
शनैः शनैः समाकृष्य मृत्युस्थानं नयत्यमुम् ॥ 24
मनसा केशवं ध्यायंस्तन्मनुं च षडक्षरम्।
जपंस्ततोऽमुं नयति वायुं स्थानं प्रजापतेः ॥ 25
ततो नाभिं च हृदयमुरः कण्ठं च योगवित्।
नयति भ्रूकूटिं वायुं वासुदेवपरायणः ॥ 26
एतेषु षट्सु स्थानेषु त्वेकैकस्मिन्पृथक् पृथक्।
योगी प्राणमनोऽक्षाणां निरोधं च विसर्जनम्।
तावदभ्यसति स्वस्य यावत्स्यात्तत्स्वतन्त्रता ॥ 27
जितं जितं विहायैव स्थानं याति परं परम्।
प्राप्तस्य स्थानकं षष्ठं तदभ्यासे श्रमो न हि ॥ 28
सप्तच्छिद्राणि रुद्ध्वाथ प्राणमक्षमनोयुतम्।
प्रापय्य तालु व्रजति ब्रह्मरन्ध्रं स योगवित् ॥ 29
मायामयपदार्थानां ततो हित्वैव वासनाः।
स वासुदेवैकमनास्त्यजति स्व कलेवरम् ॥ 30

i.e. A Yogī who has struck communion with the absolute, defies kāla (death). He abandons his body voluntarily by means of Samādhi. Having pressed the anus by both the heels, he gradually pulls up the Vāyu situated in the pair of feet and leads it to the region of death. Meditating upon Viṣṇu and repeating his six lettered mantra, he leads the vāyu to the region of Prajāpati (i.e. the Mūlādhāra, wherein Brahmā is the presiding deity). Thence the Vāyu is led to the navel, heart, chest, throat and the middle of the eyebrows throughout meditating upon Viṣṇu. The Yogī continuously practises the control and release of Prāṇa, Manas and the senses in everyone of these six regions one after the other until he attains perfection in the process and is able to freely move from the lower stage to the higher, successively conquering them one by one. When he reaches the sixth stage there is no need of putting any effort. Plugging the seven apertures (the three pairs consisted of eyes, ears and nostrils and the mouth) he leads the Prāṇa, manas and senses to the (roof of the) palate and thence resorts to Brahmarandhra (the aperture at the roof of the skull) through which the Prāṇa exits to merge with the Supreme. Being free from indulgence

towards the objects made up of Māyā he abandons his body with deep concentration on Vāsudeva.

The closing of the apertures (niruddhasaptāyatana Bhāg.II.2.21; Saptacchidrāṇi ruddhvātha - Sk. Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.29) mentioned by both the above texts is called as Ṣaṇmukhī (mudrā) by SSP (VI.88) and is described by HP.VIII.5 as follows :

श्रवणमुखनयनयुगलनासारोधनमेव कर्तव्यम् ।
शुद्धसुषुम्नासरणः स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥

Kāśī Yoga and Ṣaḍaṅga Yoga

The K (II.1.101-104) recommends stay in Vārāṇasī to the Brāhmaṇas, sinners or people of low origin and promises them salvation or liberation. For, a Brāhmaṇa who lives in Vārānasī till death, with his mind concentrated, attains the highest goal through the grace of the Lord. There the Supreme Being endows all the beings at the time of death with the highest knowledge by means of which they are liberated from bondage. Those who are devoted to him and perform all the duties enjoined upon them by their Varṇa and Āśrama attain knowledge in the same life and reach the abode of Śiva. Even the sinners or those of low origin, who reside in Vārāṇasī are liberated from repeated births by the grace of the Lord. cf.

वसेद् वामरणाद् विप्रो वाराणस्यां समाहितः ।
सोऽपीश्वरप्रसादेन याति तत् परमं पदम् ॥ 101
तत्रोत्क्रमणकाले हि सर्वेषामेव देहिनाम् ।
ददाति तत् परं ज्ञानं येन मुच्येत बन्धनात् ॥ 102
वर्णाश्रमविधिं कृत्स्नं कुर्वाणो मत्परायणः ।
तेनैव जन्मना ज्ञानं लब्ध्वा याति शिवं पदम् ॥ 103
येऽपि तत्र वसन्तीह नीचा वा पापयोनयः ।
सर्वे तरन्ति संसारमीश्वरानुग्रहाद् द्विजाः ॥ 104

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.167-170) makes it clear that there are only two ways leading to Nirvāṇa; either one casts off the body in Kāśī or else acquires this type of Yoga. Success in Yoga leading to salvation is difficult to achieve in one life in view of the fickleness of sense-organs, encroachment of the influence of Kali and the short span of life. That is why Viśveśvara, the ocean

of mercy, resides in Kāśī to bestow the high status on all beings. Salvation is easily attained by beings in Kāśī but not so easily elsewhere even through Yoga and other means. cf.

उभे एव हि निर्वाणवर्त्मनी किल कुंभज।
किं वा काश्यां तनुत्यागः किं वा योगोयमींदृशः॥ 167
चञ्चलेन्द्रियवृत्तित्वात्कलिकल्मषजृंभणात्।
अल्पायुषां तथा नृणां केह योगमहोदयः॥ 168
अत एव हि जन्तूनां महोदयपदप्रदः।
सदैव सदयावार्धिः काश्यां विश्वेश्वरः स्थितः॥ 169
काश्यां सुखेन कैवल्यं यथा लभ्येत जन्तुभिः।
योगयुक्त्याद्युपायैश्च न तथाऽन्यत्र कुत्रचित्॥ 170

The Śk (Kāśīkhaṇḍa 41.171-176) gives here three sets of figurative Ṣaḍaṅgas, the aṅgas (aspects) of which are different from the original six aspects viz āsana, prāṇāyāma, pratyāhāra, dhāraṇā, dhyāna and samādhi.

The union of one's own body (i.e. living at) with Kāśī is termed as perfect Yoga. Here no one is liberated so quickly by resorting to other means of Yoga. cf.

काश्यां स्वदेहसंयोगः सम्यग् योग उदाहृतः।
मुच्यते नेह योगेन क्षिप्रमन्येन केनचित्॥ 171

One who constantly resorts in Kāśī to this sort of Ṣaḍaṅga Yoga constituted of Viśveśvara, Viśālākṣī, the celestial river, Kālabhairava, the revered Duṇḍhi and Daṇḍapāṇi, attains the long Yogic slumber and imbibes nectar. cf. Ibid. 172-173

विश्वेश्वरो विशालाक्षी द्युनदी कालभैरवः।
श्रीमान्दुंढिर्दंडपाणिः षडंगो योग एष वै॥ 172
एतत्षडंगं यो योगं नित्यं काश्यां निषेवते।
संप्राप्य योगनिद्रां स दीर्घाममृतमश्नुते॥ 173

Another set of Ṣaḍaṅga is constituted of (the liṅgas of) Oṁkāra, Kṛttivāsāḥ, Kedāra, Triviṣṭapa, Vīreśvara and Viśveśa. cf. Ibid. 174

ॐकारः कृत्तिवासाश्च केदारश्च त्रिविष्टपः।
वीरेश्वरोऽथ विश्वेशः षडंगोऽयमिहापरः॥ 174

Another great Yoga of Ṣaḍaṅga is constituted of the confluences of Pādodaka i.e. Varaṇā and Asi (with Gaṅgā), Jñānoda (Jñānavāpī), Maṇikarṇikā, Brahmahrada and Dharmahrada. Anyone who resorts to this Ṣaḍaṅga Yoga in Vārāṇasi is never reborn. cf.

पादोदकासिसंभेदज्ञानोदमणिकर्णिकाः।
षडंगोऽयं महायोगो ब्रह्मधर्मह्रदावपि॥ 175
षडंगसेवनादस्माद्वाराणस्यां नरोत्तम।
न जातु जायते जन्तुर्जननीजठरे पुनः॥ 176

Another set of Yoga constituted of (six) mudrās and bandhas is also described. cf. Having ablutions in Gaṅgā is termed Māhāmudrā, the destroyer of great sins. By practising this mūdrā, one attains immortality. Wandering in the lanes of Kāśī is Khecarī mudrā. By practice of this mudrā one would certainly become khecara i.e. walker in space. Fleeing towards Vārāṇasī from regions around is the great Bandha called Uḍḍiyāna which leads to salvation. Receiving the water, arising from the ablutions of Viśveśa, on the head which is out of reach even to the gods is called the Jālandhara Bandha. Non-forsaking Kāśī even if surrounded by numerous difficulties is termed as Mūlabandha which strikes at the root of sorrows. (Nabhomudrā which is not mentioned here will complete the set of six Mudrās and Bandhas. For Mudrās and Bandhas cf. Supra pp.79-85.) cf. Sk. Kāśīkhaṇḍa 41.177-181 :

गंगास्नानं महामुद्रा महापातकनाशिनी।
एतन्मुद्राकृताभ्यासोप्यमृतत्वमवाप्नुयात्॥ 177
काशीवीथिषु संचारो मुद्रा भवति खेचरी।
खेचरो जायते नूनं खेचर्या मुद्रयानया॥ 178
उड्डीय सर्वतोदेशाद्यानं वाराणसीं प्रति।
उड्डीयानो महाबन्ध एष मुक्तै प्रकल्पते॥ 179
जलस्य धारणं मूर्ध्नि विश्वेशस्नानजन्मनः।
एष जालन्धरो बन्धः समस्तसुरदुर्लभः॥ 180
वृतो विघ्नशतेनापि यन्नकाशीं त्यजेत्सुधीः।
मूलबन्धः स्मृतो ह्येष दुःखमूलनिकृन्तनः॥ 181

Thus two types of Yoga viz. Saṣaḍaṅga (with six aṅgas) and Samudra (with Mudrā) have been explained which were propounded by

Śiva for salvation. Between the two Yogas, Kāśī is the best. By practising Kāśī Yoga one shall attain the excellent Yoga viz the identity of the soul with the Supreme. cf. Śk. Kāśīkhaṇḍa 41.182, 184 :

इति योगः समाख्यातो मया ते द्विविधो मुने।
सषडंगः समुद्रश्च मुक्तये शंभुभाषितः ॥ 182
उभयोर्योगयोर्मध्ये काशीयोगोयमुत्तमः।
काशीयोगं समभ्यस्य प्राप्नुयाद्योगमुत्तमम् ॥ 184

□□

CHAPTER X

CONCLUSION

Among the Mahāpurāṇas, the Mār. Vā, Vi, B, K, L, Bhāg, Ś, G, N, Ag and Sk discuss the doctrines of Yoga. The Sk has not only separate accounts of the system of Yoga in its Maheśvara, Vaiṣṇava and Kāśīkhaṇḍas but also has a few verses scattered in the Nāgarakhaṇḍa (chs 248, 262 and 263). The Nāgarakhaṇḍa in addition refers to the legendary birth of Matsyendranātha (the teacher of Gorakṣanātha) through a fish. cf. Sk Nāgarakhaṇḍa 263.56 :

यस्मान्मत्स्योदराज्ञातो योगिनां प्रवरोह्ययम् ।
तस्मात्तु मत्स्यनाथेति लोके ख्यातो भविष्यति ॥

Depending upon the material on Yoga presented by these texts, definite conclusions can be arrived at regarding the relative chronology of the texts.

Aṣṭāṅga, Yama and Niyama

Most of the Mahāpurāṇas agree with YS in that Yoga is constituted of eight (aṣṭāṇga) or six (ṣaḍaṅga) aspects, the latter without counting the Yamas and Niyamas. They not only refer to all the aṅgas of aṣṭāṅga Yoga in the same serial order adopted by Patañjali but also generally agree in the number of Yamas amd Niyamas being five and also mention the same Yamas and Niyamas. The terminology used in all these texts does not differ from that of the Pātañjala Yogasūtra.

But the Bhāg. mentions twelve Yamas and twelve Niyamas (p. 44 supra). The Yogopaniṣads and other Haṭha texts name ten each (supra. pp. 56-57).

The Mār and Vā differ from YS in several respects. They do not include Yama and Niyama among the aṅgas of Yoga (supra pp.36-37). They use the term 'vrata' to mean 'Yama'. Similarly the term used by Vā to mean 'aṅga' (of Yoga) is Dharma (supra. p. 36). It refers to the five Dharmas declared by Maheśvara to be Prāṇāyāma, Dhyāna, Pratyāhāra Dhāraṇa and Smaraṇa (ibid p.). The idea of Īśvarapraṇidhāna (or surrender to

God) of Patañjali is an advance made over the simple idea of smaraṇa or remembrance of God which is what is actually meant by the term smaraṇa. The Mār names Prāṇāyāma, Dhāraṇā, Pratyāhāra, Dhyāna (and Yoga) as the means of subduing Ātman. The nature of Vratas and Niyamas mentioned by these two texts differs from that of the Yamas and Niyamas of Patañjali and reminds us of the Vratas and Upavratas of BDS (supra. pp. 43 & 54).

The above Yoga portions of these two texts viz Mār and Vā which differ with the YS, indicate that during the compilation of these two texts viz. Mār and Vā, the Aṣṭāṅga Yoga of Patañjali (if at all it had already been reduced to a system) had not attained public esteem. Further these two texts name only three most important of the āsanas viz. Svastika, Padma and Arddha. The Mār and Vā show great affinity with regard to both idea and expression in the texts. There are several passages common to them. There are also instances of the Vā presenting revised and inflated versions of the Mār; some additional chapters dealing with Yoga are also found in the Vā (Vā has ten chapters on Yoga whereas Mār has only five). Thus Mār represents the oldest account of Yoga presented by the Purāṇas.

Īśvarapraṇidhāna

Just as Īśvarapraṇidhāna (concentration or surrender to God) is an advance over the simple idea of smaraṇa of Vā, the pūjā or arcana of later Purāṇas is an advance over Īśvarapraṇidhāna of Patañjali. For, the pūjā or arcana i.e. image worship not only requires additional material in the form of offerings to the deity but also includes acts mental, verbal and physical with unflinching devotion towards the chosen deity.

Patañjali does not specify any particular deity but Purāṇas such as Vi, B, K, L, Bh, Ś, G, N, Ag and Sk specify some or other form of Viṣṇu or Śiva as the object of meditation. The Sk in its Vaiṣṇavakhaṇḍa (Vāsudevamāhātmya ch.30) recommends worship of Viṣṇu (Vāsudeva) and substitutes Viṣṇupūjana in place of Īśvarapraṇidhāna. In Māheśvarakhaṇḍa in a spirit of religious syncretism it states that the object of contemplation and meditation could be Śiva, Viṣṇu, Sun, Brahmā or Devī and permits the aspirant total freedom of choice of the object according to one's temperament.

Āsanas

Patañjali names no āsanas. The Bhāg (II. 2.15) echos Patañjali's definition of āsana (supra p.74). The Mār and Vā name only three āsanas

without explaining the technique of their performance. It is only K which explains the technique of performing these three āsanas (supra p. 74). The Ś names eight āsanas without any explanation regarding their mode of performance. One of them is also called 'yatheṣṭam' i.e. any posture of one's liking (supra. p. 75). This perhaps was meant to embrace all āsanas which were in vogue (and perhaps which had no textual support). Among the Mahāpurāṇas it is the N that names the highest number of āsanas. It names thirty two āsanas, without explaining the technique of performing any. More than half of these are not found mentioned even in Haṭha texts such as the Haṭhapradīpīkā (1350 A.D) or Gheraṇḍasaṁhitā.

The Ṣaḍaṅgayoga of Sk (Kāśīkhaṇḍa ch. 41) profusely borrows from Gorakṣa and the Haṭha texts (see tentative list attached at the end of these concluding remarks). It names (Kāśīkhaṇḍa 41.136) five Mudrās mentioned by GŚ and HP. viz., Mahāmudra, Nabhomudrā, Uḍḍiyāna, Jālandhara and Mūlabandha which are characteristics of Haṭhayoga. Patañjali does not refer to Mudrās or Bandhas. In addition to the above mudrās, the Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.121) refers also to the Dhyānamudrā described by HP (VI.21). All these belong to the domain of Haṭhayoga (supra. p. 85).

Prāṇāyāma

Neither Patañjali nor any of the Haṭha texts speak of the four states (avasthācatuṣṭayam) of Prāṇāyāma mentioned by Mār viz. Dhvasti, Prāpti, Saṁvit and Prasāda (supra pp. 97ff). The Vā and L consider them to be the friuts or results of Prāṇāyāma (supra pp. 98-99). The Sk also refers to them (supra p. 100). Further Patañjali does not mention the three categories of Prāṇāyama viz Laghu, Madhyama and Uttama depending upon the time taken by them.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.83-89) explains the Nāḍīśodhana Prāṇāyāma which is not referred by Patañjali (supra. p. 105). The Ś (Umāsaṁhitā 27.29) and Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.105) refer ro Śītalī Prāṇāyāma (supra p. 107).

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.103-104) has also borrowed from Gorakṣa the process of Viparītakaraṇī which is termed as Pratyāhāra by GŚ. 55, 57-59 (supra p. 116), The entire concept of the Moon oozing the nectar and the sun swallowing it (supra. p. 117) is not known to the YS.

Dhāraṇā

Patañjali does not specify the objects (or regions) on which the mind is to be fixed. The Mār and other Purāṇas specify the spots on the body as well as external to it on which the mind is to be fixed. The Vi and Bhāg specify the form of Viṣṇu alone as the object of Dhāraṇā(supra. pp. 123-125) whereas Ś specifies Śiva and Sakti as objects of contemplation. The Sk (Vaiṣṇavakhaṇḍa, Vāsudevamāhātmya 30.17) recommends not only the mind but also the Prāṇa to be fixed on the form of Vāsudeva (supra p.) at places like nābhi and other spots. The Sk (Māheśvarakhaṇḍa, Kaumārikākhaṇḍa 55.44-45) recommends a more complicated process which involves contraction of anus, pulling up Prāṇa and gradually raising it and holding it along with the manas at the Brahmarandhra after successively penetrating the different lotuses situated at the various regions of the body (supra p. 126). This additional activity of raising the Prāṇa and holding it (along with the manas) at specified regions of the body is a characteristic feature of the Pañcabhūtadhāraṇā of Gorakṣa (supra. p. 130). Further, the doctrine of cakras (lotuses or padmas) situated at different regions inside the body is the realm of Tantras and Haṭhayoga.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.112-117) has borrowed the Pañcabhūta-dhāraṇā from GŚ (69-73) which is more specific about the process of Dhāraṇā. The spots or regions for Dhāraṇā are inside the body where the tattvas or elements are situated. They have their own particular shape, the presiding deity, colour and the characteristic letter (supra. p. 130ff).

The Mār and Vā also describe the Saptadhāraṇā viz of the five elements, ahaṅkāra and buddhi found in the Śāntiparvan of the Mb. (supra pp. 128-129).

The Mār and Vā also prescribe curative Dhāraṇās for the removal of physical disorders (supra. pp. 135-137). The Ag describes four abstruse tattvadhāraṇās which are curative in nature viz Āgneyī, Vāruṇī, Aiśānī and Amṛtātmikā. The other Major Purāṇas are silent over them. Patañjali does not refer to curative Dhāraṇās.

Dhyāna

For Patañjali, the object on which the mind was fixed (Dhāraṇā) continued as the object for Dhyāna as well. But almost all Purāṇas recommend Viṣṇu, Śiva or Parabrahman as the object of contemplation.

The Ś recommends the pair of Śiva and Śivā (Ambā) for Dhyeya. But contemplation on the embodied or gross form is to be resorted to only in the beginning because the greatest form which is formless cannot be grasped by the mind. Worship of gross form is resorted in order to gain stability of mind. When the mind becomes motionless in the gross form, it becomes stable in the subtle (Ś. Vāyavīyasaṁhitā 39.2). The Sk in a sustained effort of religious syncretism mentions Dhyeya as to be of unlimited variety including Śiva, Viṣṇu, Sun, Brahmā and Devī.

Some of the Purāṇa texts such as Vi and Bhāg advise the devotee to contemplate at first on the four armed form of Viṣṇu with all his attributes and ornaments and thereafter to concentrate on one of his respective limbs (supra. pp. 124-125).

The devotee may also imagine the deity as seated on the lotus of the heart (supra.p.152ff) or meditate upon the deity as seated in the different lotuses situated at different regions of the body (supra p. 154). Contemplation on Praṇava, advised by Patañjali (YS.I.27-28) is also recommended.

The Ś mentions six lotuses (with specific colour and letters constituting their petals and) situated at various regions of the body and also advises that the God and the Goddess shall be meditated in any of the lotuses of one's choice (supra p. 154).

Samādhi

Samādhi is that state in which the devotee is imbued with the Dhyeya – the state wherein he identifies himself with Brahman and abides in Him.

The Sk (Kāśīkhaṇḍa 41.123-124) describes the state of a Yogī in Dhyāna as in GŚ 93, 96. (supra p. 164).

The Sk defines samādhi as the identification of jīvātman and Paramātman (supra pp. 163-164) in which state there is no scope for any other thought.

The Ultimate aim of Yoga realization according to Mār and Vā is union with Brahman or merger of the soul with Para Brahman, never to be distinguished from Param Brahman, like fire thrown into fire, water

added to water, ghee added to ghee or milk added to milk (supra p. 166). But according to YS, the goal is kaivalya i.e. the establishment of the seer in his own essential and fundamental nature (supra p.167).

Siddhis

After explaining the ten Antarāyas and six upasargas, the Ś (Vāyavīyasaṁhita ch.38) gives a long list of many other categories of siddhis viz Parthiva, Āpya, Taijasa, Māruta, Aindra/Ambara, Cāndramāsa, Prājāpatya, Brāhma, Prākṛta (Vaiṣṇava), Puruṣa, Gaṇeśa and Īśvara which is an additional contribution of the text (supra p. 182).

Portents of Death

Patañjali states that the Yogī can ascertain the time of his death from the ariṣṭas or portents of death (YS.III.23). The Śāntiparvan of Mb. gives a brief descriptions of such portents. The Mār, Vā, BV, Ś and Sk (Kāśīkhaṇḍa ch. 42) provide lists of such portents though long or short.

How to defy Death?

To a Yogī who infers the time of his death from the portents, the Vā recommends meditation on Oṁkāra which after liberating him from all bondage would lead him to Śiva (supra p. 191). Ś recommends meditation on Śabdabrahma in order to ward off Death. It classifies Nāda (Śabda) into nine varieties viz ghoṣa, kāṁsya, etc. (supra pp. 191ff) meditation on which brings to the Yogī various accomplishments. But, it is only the practice of meditation on the 'Tuṁkāra' form of Brahman which leads him to Śivahood (supra p.193). The Haṭha texts call the above process Nādānusandhāna i.e. concentration or absorption in the Śabda Brahma or Nāda Brahma.

The Ś recommends four other practices by resorting to which one can defy death and attain Śivahood. They are (i) Vāyusiddhi achieved by means of Bhastrikā; (ii) Tejasssiddhi by concentration on the fire situated in between the eyebrows; (iii) (Āpassiddhi) by resorting to Śītalī Kumbhaka and (iv) Khecarīmudrā. All these practices are additional contributions of the Haṭha and Tantra texts from which the Purāṇa texts have possibly borrowed (supra. pp. 193-197)

Abandonment of Body

The Sk also explains as to how the Yogī casts off his body. The Yogī who has experienced communion with the supreme remains beyond the

clutches of Kāla. By constant practice he plugs the three pairs of apertures and the mouth with the fingers of the palm (Ṣaṇmukhī mudrā) and raises the Prāṇa from the feet to successively penetrate the six regions (six cakras) and thereafter to break through the Brahmarandhra and merge with the Supreme Void.

Among the Mahāpurāṇas, the Sk presents a wealth of additional information on Yoga which is not found in any of the other texts. Many of the verses dealing with Yoga in the Kāśīkhaṇḍa are traced to the Haṭha texts viz GŚ and HP. The following is a tentative list of such verses :

Sk. V:

41.59=GŚ 4
41.75 =GŚ 39; HP.IV.5
41.82 =GŚ 40
41.86=GŚ 45
41.89=HP.IV.27
41.90 =GŚ.42
41.91=GŚ 49
41.98=HP.IV.24
41.99=HP.IV.25
41.100=HP.IV.26
41.103b-104a=GŚ 58
41.104b-c=GŚ 59; HP.V.110
41.105=HP.V.54
41.107=HP.V.58
41.108=GŚ.64
41.109=GŚ.65
41.110=HP.V.60
41.111=GŚ 67
41.112=GŚ 68
41.117=GŚ 73
41.118=GŚ 74
41.121=HP.VI.21
41.123=GŚ 93
41.124=GŚ 96
41.125=HP.VII.4

Sk V:

41.126=GŚ 94; HP.VII.5
41.129=HP VII.8
41.136=GŚ 32; HP.V.11
41.137=HP.V.21
41.138-139=GŚ 33
41.141=HP.V.19
41.142=HP.V.20
41.143=GŚ 34; HP.V.37
41.144=HP.V.62
41.145=HP.V.63
41.146=HP.V.65
41.147=HP.V.91
41.148=HP.V.92
41.149=HP.V.99
41.150=HP.V.100
41.151=HP.V.79
41.152=HP.V.83
41.153=GŚ.26; HP.V.155
41.154=HP.V.157
41.155=HP.V.158
41.156=HP.V.159
41.157=HP.V.160
41.158=HP.V.161

From the above, it can be inferred that the Sk is heavily influenced by Gorakṣa and is also indebted to HP (1350A.D.) for its material on Yoga.

□□

APPENDIX

Cakras or Padmas

The Cakras, Padmas or Kamalas (lotuses) are said to be symbolic representations of the centres of spiritual activity in the human body. The outstanding features of the cakras as they have been understood by the Tāntrikas and the Nāthas are contained in the Ṣaṭcakranirūpaṇa (SCN) which is considered to be the most authoritative work on the subject of cakras. The title of the work itself suggests that the number of cakras is only six.

The salient features of the system of cakras as described by the SCN are as under :

In the space outside the meru (vertebral column or back-bone) placed on the left and right are the two nāḍīs viz Iḍā and Pingalā. In the middle is the Suṣumnā which extends from the middle of the kanda (bulb) to the head. The six cakras viz Mūlādhāra, Svādhiṣṭhāna, Maṇipūra, Anāhata, Viśuddha and Ājñā are placed along the length of the vertebral column.

(i) Mūladhāra

Attached to the mouth of the Suṣumnā is the Mūlādhāra cakra placed below the genitals and above the anus. It has four petals of deep red hue. Its head hangs downwards. On its petals are the four letters vaṃ, śaṃ, ṣaṃ and saṃ of shining colour of gold. There is the square region of pṛthvī with its bīja laṃ within. In the lap of this bīja dwells creator Brahmā. The deity Ḍākinī is the queen of this lotus. In the pericarp of this lotus is the lightning like triangle which is Kāmarūpa and is known as Traipura. Inside this triangle is Svayaṃbhū in the liṅga form with his head downwards. Over it shines the sleeping Kuṇḍalinī as fine as the lotus fibre, covering the mouth of Brahmadvāra by her own. Her shining, serpentine form makes three and a half coils around Śiva. Within it reigns dominant Parā, Śrī Parameśvarī. She is the receptable of that continuous stream of ambrosia which flows from eternal bliss.

INDEX OF TECHNICAL TERMS (I)

ह

INDEX OF TECHNICAL TERMS (II)

A

B

C

D

E

F

G

H

I

J

K

L

M

N

O

P

Q

R

S

T

U

V

W

Y

BIBLIOGRAPHY

A. Original Works :

1. Agni Mahāpurāṇam — Pub. Nag Publishers, 11 - U.A. (Post office bldg), Jawahar Nagar Delhi - 7

2. Aitareya Upaniṣad — Dasopanishads with the commentary of Sri Upanishad Brahmayogin Ed. by Pandits of the Adyar library under the supervision of Prof. G. Kunhan Raja Vols I & II Pub. Adyar library and Research Centre, Adyar, Madras 600 020. 1935-36

3. Atharva Veda Saṁhitā — Pub. Paropakariṇī Sabhā, Ajmer Vikram Samvat 2033 1976 A.D.

4. Bhāgavata Mahāpurāṇam — Pub. Gita Press, Gorakhpur. Seventh Edition Saṁvat 2045

5. Bodhāyana Dharmasūtra with the commentary of Govindasvāmi — Ed. Srinivasacharya. Govt. Oriental Library Series Mysore 1907.

6. Brahma Mahāpurāṇam — Pub. Nag Publishers, Delhi. 1985

7. Brahmāṇḍa purāṇam — Ed. J.L. Shastri. Pub Motilal Banarasidass, Delhi. 1973.

8. Brahmavaivarta Mahāpurāṇam — Pub. Motilal Banarasidass. First edition Part I (1984) Part II (1985).

9. Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad — Dasopanishads Vols I and II Pub. Adyar Library and Research Centre, Adyar, Madras 600020 1935-36.

10. Bṛhadyogiyājñavalkyasmṛti — Ed. Swami Kuvalayananda and Raghunath Shastri Pub. KSMYM Samiti, Lonavala 1951.

11. Chāndogya Upaniṣad — Dasopanishads Vols I and II Pub. Adyar Library and Research Centre Adyar, Madras 600 020. 1935-36.

12. Dakṣasmṛti — Smṛtīnām Samuccayaḥ Anandasram Sanskrit Granthavali no.48 Pune. Śake 1827. 1950 A.D.

13. Dasopanishads (with the commentary of Sri Upanishad Brahmayogin) Vols I and II — Ed. by Pandits of the Adyar Library under the supervision of Prof. G. Kunhan Raja. Pub Adyar Library and Research Centre. Adyar, Madras 600 020. 1935-36

14. Devī Bhāgavata Purāṇam — Pub. Manusukh Rai Mor, Calcutta. 1960.

15. Garuḍa Mahāpurāṇam — Pub Nag Publishers, Delhi 1984.

16. Gheraṇḍa Saṁhitā - A treatise on Haṭha Yoga. — Tr. by Sris Chandra Vasu Theosophical Publishing House, Adyar, Madras 1933.

17. Gorakṣaśatakam — Cr. ed. Swami Kuvalayananda and S.A. Shukla. Pub Kaivalyadhama S.M.Y.M Samiti, Lonavla 1958.

18. Haṭhapradīpikā of Svātmārāma (10 chaps.) with Yogaprakāśikā commentary by Bālakṛṣṇa — Ed. M.L. Gharote, Parimal Devnath Pub. The Lonavla Yoga Institute (India) A-7, Gulmohar Apartments, Bhangarwadi, Lonavla (India) 410401. First edition 2001

19. Kauṣītaki Brāhmaṇopaniṣad — Sri Rangaramanuja's "Svetasvatara-dyupanishad Purushasuktabhasya." with Introduction Tr. and Notes Ed. by Siromani Uttamur T. Viraraghavacharya. Sri Venkateshvara Oriental Institute, Tirupati 1955.

20. Kaṭha Upaniṣad — Dasopanishads Vols I and II Pub. Adyar Library and Research Centre, Adyar, Madras 600 020. 1935-36.

21. Kumbhaka Paddhati of Raghuvīra (Science of Prāṇāyāma)	Ed. by M.L. Gharote and Parimal Devanath. Pub. The Lonavla Yoga Institute (India), A-7 Gulmohar Apartment, Bhangarwadi, Lonavla (India) 410 401. First edition 2000.
22. Kūrma Purāṇa (with English Translation)	Cr. ed. by Anand Swarup Gupta Tr. Part I Ahibhushan Bhattacharya Part II Satkari Mukherji, Virendra Kumar Varma and Ganga Sagar Rai Pub. All India Kashi Raj Trust, Fort Ramnagar, Varanasi (India) 1972
23. Liṅga Purāṇam	Gurumaṇḍala Granthamālā no. 16. Pub Mansukhrai Mor, 5 Clive Row, Calcutta. First ed. Saṁvat 2017 1960 A.D.
24. The Mahābhārata Text as constituted in its critical edition	Pub. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. Vol I (1971); Vol 2 (1972); Vol 3 (1974); Vol 4 (1975)
25. Manusmṛti with the comm. Manvarthamuktāvali of Kullūkabhaṭṭa	Ed Narayan Rama Acharya Kāvyatīrtha. Pub. Nirnayasagar Press, Mumbai. 10th ed. Śake 1868 1946 A.D.
26. Mārkaṇḍeya Mahāpurāṇam	Pub Nag Publishers, Delhi. First ed. 1983.
27. Mastya Mahāpurāṇam (Text in Devnagari, Trans and Notes in English) Vol. I and II.	Pub. Nag Publishers, Delhi First ed. 1983.
28. Muṇḍaka Upanṣad	Dasopanishads Vols I and II Pub Adyar Library and Research Centre, Adyar. Madras 600 020 1935-36
29. Nāradīya Mahāpurāṇam	Pub Nag Publishers, Delhi 1984.
30. Padma Mahāpurāṇam Vols 1-4	Pub. Nag Publishers, Delhi 1984-85.
31. The Ṛg Veda Saṁhitā with the commentary of Sāyaṇācārya	Pub. Vaidik Samshodhan Mandal, Pune Vols I to V (1933, 1936, 1941, 1983, 1951).

32. Śaṅkhasmṛti	Smṛtīnāṁ Samuccayaḥ Anandasram Sanskrit Granthāvali No. 48 Pune Śake 1927 1905 A.D.
33. Śatapatha Brāhmaṇa in the Mādhyandina Śākhā.	Ed. Albrecht Weber Chowkhamba Granthamala No. 96 Chowkhamba Sanskrit Series office. Varanasi 1964.
34. Ṣaṭcakranirūpaṇa The Serpent Power	by Arthur Avalon. Pub Ganesh and Co., Madras Pvt. Ltd First ed 1919.
35. Siddhasiddhāntapaddhati A treatise on the Nātha Philosophy by Gorakṣanātha	Ed M.L. Gharate and G.K. Pai Pub. The Lonavla Yoga Institute, (India), Lonavla First ed 2005.
36. Śiva Mahāpurāṇam Parts I and II.	Pub. Nag Publishers, Delhi 1986
37. Skanda Mahāpurāṇam	Pub. Nag Publishers, Delhi Parts 1-7 1986-1987. Part 8 (Index) 1989.
38. Śvetāśvatara Upaniṣad	Śri Rangaramanujaś "Svetasvatara-dyyupanishad Purushasukta Bhāsya" with Introduction Tr. & Notes Ed. Siromani Uttamur T. Viraraghavacharya. Sri Venkateshvara Oriental Institute, Tirupati 1955
39. Taittirīyāraṇyakam Srimat-sāyaṇācāryaviracita Bhāsya-sametam Parts I and II.	Ānandāśrama Saṅskṛta Granthāvali No. 36, Pune Śālivāhanaśakābdaḥ 1903 1981 A.D.
40. Taittirīya Upaniṣad	Dasopanishads Vols I and II Pub. Adyar Library and Research Centre, Adyar, Madras 600 020 1935-36
41. Vājasaneyi Saṁhitā Śrīman mahīdharakṛta Vedadīpākhya bhāṣya sahitā	Ed. Albrecht Weber. Chowkhamba Sanskrit Granthamala 103. Chowkhamba Sanskrit series office. Varanasi - 1 1972.
42. Varāha Mahāpurāṇam	Cr. ed. by Anand Swarup Gupta Pub All India Kashiraj Trust, Varanasi 1981.

43. Vasiṣṭa Saṁhitā (Yoga Kāṇḍa). Cr. ed. Swami Kuvalayananda and Swami Digambarji (Eds in chief) and Pt R. G. Kokje and Tr into English by C.T. Kenghe and G.K. Pai Pub Kaivalyadhana S.M.Y.M Samiti, Lonavla (C.R) First ed. 1969.

44. Vāyu Mahāpurāṇam Pub Nag Publishers, Delhi - 7 1983

45. Yājñavalkyasmṛti Samitākṣarā Ed. by S. S. Setlur, Brahmavadin Press, Georgetown, Madras 1912.

46. Yogasūtras of Patañjali with the scholium of Vyāsa and the comm of Vācaspatimiśra Ed. Rajaram Shastri Bodas, Rev and Enlarged by the addition of the comm of Nagojibhatta by Vasudev Shastri Abhyankar Bombay Sanskrit and Prakṛt Series no. XLVI. 1917.

47. Yogopaniṣads with the comm. of Sri Upaniṣad Brahmayogin Ed. Pandit A. Mahadev Shastri Pub for the Adyar Library (Theosophic Society) Madras First Published 1920. Reprinted. 1983.

B. General Works:

Das Gupta S.N. History of Indian Philosophy Vol. III. Pub Motilal Banarasidass. First Indian edition Delhi 1975 Reprint, Delhi 2000.

Gharote M.L., V.K. Jha, Parimal Devnath & S. B. Sakhalkar (Eds.) Encyclopaedia of Traditional Āsanas, Pub. The Lonavla Yoga Institute (India) Lonavla 2006.

Kalyan, Gorakhpur (Publishers) - Kalyan Yogāṅka Spl. Issue Pariśiṣṭāṅka Bhadrapada 1992. September 1935.

Pai G.K. Cultural History from the Kūrma Purāṇa. Pub Sukrtindra O.R. Institute, Cochin 682002. 1975

Pusalker A.D. — Studies in Epics and Purāṇas of India. Pub Bharatiya Vidya Bhavan Chaupatty, Bombay 1955

Tripathi, Srikrishnamani — "Purāṇetihāsayoḥ Sāṅkhyayoga-darśana vimarśaḥ" Pub Sampoorna-nand Sanskrit Viśvavidyālaya, Varanasi. Śake 2001 (1979).

C. Translations :

1. Agni Purāṇa Part IV — Tr. and annotated by N. Gangadharan Ed, G.P. Bhat. AITM Series, Vol. 30. Pub Motilal Banarasidass, Delhi.

2. Bhāgavata Purāṇa — Tr. by G.V. Tagare Ed. J.L. Shastri AITM Series, Vols 7-11. Pub MLBD.

3. Brahma Purāṇa Part III — Tr. and annnotated by a Board of scholars AITM Series, Vol. 35, Pub MLBD.

4. Garuḍa Purāṇa Parts I and II — Tr. by a Board of scholars AITM Series vols 12-13 Pub. MLBD.

5. Liṅga Purāṇa Part I — Tr. by a Board of Scholars AITM Series Vol 5 Pub MLBD.

6. Nārada Purāṇa Parts I and II — Tr. and annotated G.V. Tagare AITM Series, Vols 15 and 16, Pub. MLBD.

7. Śiva Purāṇa Parts III and IV — Tr. by a Board of scholars AITM Series, Vols 3 and 4, Pub. MLBD.

8. Skanda Purāṇa Parts II, V, VI, VII, and X — Tr. and annotated by G. V. Tagare AITM Series, Vols 3 and 4., Pub MLBD

9. The Vāyu Purāṇa Part I. — Tr. and annotated by G.V. Tagare AITM Series, Vol. 37, Pub MLBD.

□□

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमके धर्मका वर्णन, योगमार्गका निरूपण

स्कन्दजी कहते हैं—मुने! इस प्रकार गृहस्थ आश्रममें धर्मपालनपूर्वक निवास करके जब सिरके बाल पक जायँ और मुँहपर झुर्रियाँ पड़ जायँ तब दूसरे आश्रमसे तीसरे आश्रम (वानप्रस्थ)-में प्रवेश करे एवं ग्रामीण विषय-भोगोंका त्याग करके पत्नीको पुत्रोंके संरक्षणमें सौंपकर या पत्नीको भी साथ ही लेकर वनमें जाय। मृगचर्म एवं पुराने वस्त्र धारण करे, मुनियोंके अन्नसे निर्वाह करते हुए प्रतिदिन अग्निमें आहुति दे, सिरपर जटा धारण करे। मूँछ-दाढ़ी न कटावे, नख और लोम धारण किये रहे तथा नित्य सायंकाल और प्रातःकाल स्नान करे। शाक और मूल-फल आदिसे जीवननिर्वाह करते हुए भी कभी पंचयज्ञोंका त्याग न करे। जल, मूल और फलकी भिक्षासे भिक्षुकों एवं अतिथियोंका सत्कार करे। किसीसे दान न ले। स्वयं ही दूसरोंको दान दे एवं मन और इन्द्रियोंको संयममें रखे। सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहे। वैतानिक अग्निहोत्रका विधिपूर्वक हवन करे। स्वयं लाये हुए मुनिजनोचित अन्नद्वारा देवताओंके लिये यज्ञभाग अर्पित करे। लसौड़ा, लसौहा, सहजन, धरतीका फूल, मांस और मधु— इन सबको कभी काममें न ले। आश्विन मासमें पहलेके संचित किये हुए मुनिअन्न (तिन्नीके चावल)-को भी त्याग दे। गाँवोंमें पैदा होनेवाले फल-मूल तथा हलसे जोतकर पैदा किये गये अन्नका कभी भोजन न करे। दाँतसे ही ओखलीका काम ले। दाँतोंसे ही चबाकर खाय अथवा पत्थरपर कूट ले। संग्रह उतना ही करे जो तत्काल खा-पीकर साफ हो जाय अथवा एक मासके लिये भोजनका संग्रह कर सकता है, अथवा तीन मास, छः मास या अधिक-से-अधिक बारह मासतकके लिये अन्न और फल-मूल आदिका संग्रह करे। प्रतिदिन एक बार केवल रातमें ही भोजन करे अथवा एक दिनका अन्तर देकर भोजन करे अथवा दो दिनका अन्तर देकर तीसरे दिनकी सन्ध्याको भोजन करे या चान्द्रायणव्रत करता रहे अथवा पंद्रह दिन या एक मासपर भोजन किया करे अथवा वानप्रस्थ पुरुष सदा फल-मूलका ही भोजन करते हुए तपस्यासे अपने शरीरको सुखावे और प्रतिदिन देवताओं तथा पितरोंको तृप्त करे। ऐसा सम्भव न हो तो अग्निदेवको अपने आत्मामें ही भावनाद्वारा स्थापित करके अपने लिये कोई भी आश्रम न बनाकर विचरता रहे और प्राणयात्राके लिये वनवासी तपस्वियोंसे भिक्षा माँग ले अथवा गाँवमेंसे ही भिक्षा माँगकर लावे और वनमें ही रहकर प्रतिदिन आठ ग्रास भोजन करे। इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित हुआ ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है। आयुका तीसरा भाग वानप्रस्थ-आश्रममें व्यतीत करके आयुके चौथे भागमें सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके संन्यास ले ले। यज्ञके द्वारा देवऋण, अध्ययनके द्वारा ऋषिऋण और तर्पण आदिके द्वारा पितृऋणको उतारे बिना पुत्रकी उत्पत्ति किये बिना तथा यज्ञोंका अनुष्ठान किये बिना संन्यास नहीं लेना चाहिये। इस लोकमें किसी भी प्राणीको जिससे थोड़ा भी भय न होता हो, उसे सब प्राणी यहाँ सदा

अभय प्रदान करते हैं। अग्नि और गृहसे रहित हो सदा अकेला ही विचरता रहे। मोक्षकी सिद्धिके लिये दूसरेकी सहायतासे रहित अकेला रहे। केवल अन्नकी भिक्षाके लिये गाँवमें जाना चाहिये। संन्यासी न तो जीनेकी इच्छा करे न तो मरनेकी ही। जैसे सेवक अपने स्वामीके आदेशकी प्रतीक्षा करता है वैसे ही संन्यासी मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता है। जो कहीं भी ममता नहीं रखता और सर्वत्र समताके भावसे युक्त रहता है, वृक्षके नीचे ही जो सो लेता है, वही मुमुक्षु इस लोकमें प्रशंसित होता है। प्रतिदिन ध्यान लगाना, बाहर और भीतरसे पवित्र रहना, भिक्षा लाना और नित्य एकान्तमें रहना—ये ही चार कर्म संन्यासीके हैं। इनसे भिन्न कोई पाँचवाँ कर्म नहीं है[1]। वर्षाके चार महीनोंमें संन्यासी कहीं विचरण न करे; क्योंकि उस समय यात्रा करनेसे नूतन बीजके अंकुरों और जीव-जन्तुओंकी हिंसा होती है। संन्यासी जीव-जन्तुओंको बचाते हुए चले, वस्त्रसे छानकर जल पीये, उद्वेगरहित वचन बोले, कभी किसीके साथ क्रोधपूर्ण बर्ताव न करे, अपने आत्माके साथ विचरे, किसीसे कोई अपेक्षा न रखे, अपने लिये कोई घर अथवा आश्रय न बनावे, सदा अध्यात्म-चिन्तनमें तत्पर रहे, केश और नख आदिका संस्कार न करे, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखे, भगवाँ रंगका वस्त्र पहने, दण्ड धारण करे, भिक्षाके अन्नका भोजन करे और अपनी प्रसिद्धि न होने दे। तुम्बी, काष्ठ, मिट्टी अथवा बाँसका पात्र संन्यासीके लिये उत्तम है। इनसे भिन्न किसी पाँचवीं वस्तुका पात्र नहीं होना चाहिये। संन्यासीको कभी तैजसपात्र (पीतल, काँसी आदिका बर्तन) नहीं ग्रहण करना चाहिये। 'यति यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ीभर भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है' यह सनातन श्रुति है। यदि एक दिन भी वह हृदयमें स्नेहभावसे (आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्रीको देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्मकल्पोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं[2]। वह केवल एक समय भिक्षाके लिये विचरण करे, उसमें भी विस्तार न करे। जब रसोईघरसे धुँआ निकलना बंद हो जाय, मूसलसे कूटनेकी आवाज न होती हो, चूल्हेकी आग बुझ गयी हो और घरके सब लोग खा-पी चुके हों तब संन्यासी गृहस्थके घर भिक्षाके लिये जाय। भिक्षाके विषयमें उसे सदा इसी नियमका पालन करना चाहिये। जो थोड़ा खाता, एकान्तमें रहता, विषयोंके लिये लोलुप नहीं रहता तथा राग-द्वेषसे मुक्त होता है वही संन्यासी मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जिसके घर अथवा आश्रममें कोई संन्यासी दो घड़ी भी विश्राम कर ले वह कृतार्थ हो जाता है। गृहस्थने मृत्युपर्यन्त जो पापसंचय किया है वह सब पाप संन्यासी एक रात उसके घरमें विश्राम करके ही भस्म कर डालता है।

बुढ़ापा सबको दबा लेता है, जिससे असह्य दुःख होता है। रोगकी पीड़ा भी सहनी पड़ती है। एक दिन इस शरीरको त्याग देना पड़ता है। पुनः गर्भमें आकर जीव अत्यन्त भयंकर क्लेश भोगता है। अनेक प्रकारकी योनियोंमें वह निवास करनेको विवश होता है। उसे कभी प्रियजनोंके वियोगका और कभी अप्रिय जनोंके संयोगका कष्ट प्राप्त होता है। अधर्मसे दुःखकी

१- ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। यतेश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१।२०)

२- वराटकं संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने। गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी॥

हृदि सस्नेहभावेन चेद्द्रक्ष्येत्स्त्रियमेकदा[?]। कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः॥

(स्क० पु०, का० पू० ४१।२५, २७)

?- 'चेत् रक्षेत्' ऐसा पदच्छेद करनेपर ऐसा अर्थ होगा कि यदि संन्यासी कामभावसे एक बार भी अपने हृदयमें किसी स्त्रीको रखे—उसका चिन्तन करे तो दो करोड़ ब्रह्मकल्पतक उसे कुम्भीपाकमें रहना पड़ता है।

उत्पत्ति होती है, फिर नरकमें निवास होता है और नाना प्रकारकी नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। कर्मदोषके कारण मनुष्योंकी अनेक प्रकारकी गति होती है। यह शरीर अनित्य है और परमात्मा नित्य हैं। इन सब बातोंको देखकर और इसपर भलीभाँति विचार करके, मनुष्य जहाँ कहीं भी जिस आश्रममें भी रहे, मोक्षके लिये प्रयत्न करता रहे। जो बिना पात्रके केवल हाथोंमें ही भिक्षा लेते हैं, वे करपात्री कहलाते हैं। उन्हें अन्य यतियोंकी अपेक्षा प्रतिदिन सौगुना पुण्य होता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष क्रमशः चारों आश्रमोंका सेवन करके द्वन्द्वोंसे रहित एवं असंग होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेका अधिकारी हो जाता है। खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंका वशमें नहीं किया हुआ मन उन्हें बन्धनमें डालनेका कारण होता है और उत्तम बुद्धिवाले पुरुषोंद्वारा वशमें किया हुआ वही मन रोग-शोकसे रहित मोक्षपद दे सकता है। श्रुति, स्मृति, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य जो कुछ भी वाङ्मय है, उसका तथा वेदोंके अनुवचनका ज्ञान प्राप्त करना और ब्रह्मचर्य, तपस्या, दम (इन्द्रियसंयम), श्रद्धा, उपवास तथा स्वाधीनता आदि साधन—ये सभी आत्मज्ञानके हेतु हैं। समस्त आश्रमवर्तियोंके द्वारा एकमात्र आत्मा ही जाननेयोग्य, श्रवण करनेयोग्य, मनन करनेयोग्य तथा यत्नपूर्वक साक्षात्कार करनेयोग्य है। आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है, किंतु वह आत्मज्ञान योगके बिना नहीं होता और योग दीर्घकालतक अभ्यास करनेसे ही सिद्ध होता है। न केवल वनकी शरण लेनेसे, न नाना प्रकारके ग्रन्थोंका चिन्तन करनेसे, न दानसे, न व्रतसे, न तपस्यासे, न यज्ञोंसे, न पद्मासन लगानेसे, न नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये रखनेसे, न शौचसे, न मौनसे और न मन्त्राराधनसे ही योग सिद्ध होता है। उत्साहपूर्वक लगे रहनेसे, निरन्तर अभ्यास करनेसे, दृढ़ निश्चयसे तथा बार-बार उसकी ओरसे अरुचि न होनेसे योगकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। जो सदा अपने आत्मामें ही क्रीडा करता है, आत्मामें ही रत रहता और आत्मामें ही पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करता है, उसके लिये योगसिद्धि दूर नहीं है। जो इस जगत्में आत्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखता, वह आत्माराम योगीश्वर यहीं परब्रह्मस्वरूप हो जाता है*। आत्मा और मनके संयोगको ही विद्वान् पुरुष 'योग' कहते हैं। किन्हीं-किन्हींके मतमें प्राण और अपान वायुका सम्यक् मिलन ही 'योग' है। अज्ञानियोंकी दृष्टिमें विषय और इन्द्रियोंका संयोग ही योग है। परंतु जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त है, उनसे ज्ञान और मोक्ष बहुत दूर हैं; क्योंकि जिसका रोकना अत्यन्त कठिन है, वह मनकी वृत्ति जबतक निवृत्त नहीं होती, तबतक योगकी चर्चा कैसे निकटवर्तिनी हो सकती है। जो अपने मनको वृत्तियोंसे शून्य करके उसे क्षेत्रज्ञ परमात्मामें लगाकर एकीभूत कर देता है और स्वयं मनकी आसक्तिसे मुक्त हो जाता है, वह योगयुक्त कहलाता है। समस्त बहिर्मुख इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके उन्हें मनमें स्थापित करे। फिर इन्द्रियसमुदायसहित मनको क्षेत्रज्ञ आत्मामें लगावे। सब भावविकारोंसे रहित क्षेत्रज्ञको परमानन्दस्वरूप ब्रह्ममें एकीभूत करे। यही ध्यान है और यही योग है। शेष जितनी बातें हैं, सब ग्रन्थकी विस्तारमात्र हैं। जो नित्य योगके अभ्यासमें लगा हुआ है, उसके लिये परब्रह्म परमात्मा स्वसंवेद्य (स्वानुभवैकगम्य) होता है। वह सनातन परब्रह्म सूक्ष्म होनेके कारण वाणीद्वारा अथवा किसी संकेतके द्वारा भी नहीं बताया जा सकता।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

* अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति। आत्मारामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। ७७)

और समाधि—ये योगके छः अंग हैं[1]। साधनके लिये जिससे स्थिरता एवं सुखपूर्वक बैठा जाय, वह आसन है। योगीके लिये सिद्धासन[2] शीघ्र योगसिद्धि देनेवाला है। इसके अभ्याससे शरीर प्रतिदिन दृढतर होता जाता है। योगवेत्ता पुरुष अपने दाहिने पैरको बायीं जाँघपर रखकर बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रखे तो उसे पद्मासन कहते हैं। इसे दृढ़तापूर्वक बाँधनेकी कलाको जाननेवाला पुरुष अपने दोनों हाथोंको पीठके पीछेसे लाकर दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़ ले। इस पद्मासनके अभ्याससे मनुष्यका शरीर सुदृढ़ होता है। अथवा जिस स्वस्तिक आसनसे बैठनेमें साधकको सुख मालूम होता हो, उसीसे बैठकर योगवेत्ता पुरुष योगका अभ्यास करे। जो स्थान सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सुख देनेवाला तथा मनको प्रसन्नता देनेवाला हो, जहाँ पुष्पहार एवं धूप आदिकी सुगन्ध छा रही हो, ऐसे स्थानमें बैठकर योगाभ्यास करे। साधक न तो अधिक भोजन करके, न भूखसे पीड़ित रहकर, न मल-मूत्रके वेगको रोककर कष्ट सहते हुए, न राहके थके होनेपर और न चिन्तासे व्याकुल होनेपर ही योगका अभ्यास करे। जितने समयमें एक ह्रस्व अक्षरका उच्चारण होता है, उतने समयको 'एक मात्रा' कहते हैं, ऐसी बारह मात्राओंका प्राणायाम निकृष्ट श्रेणीका माना गया है। इससे दूनी चौबीस मात्राओंका प्राणायाम मध्यम कहा गया है और पहलेसे तीन गुनी अर्थात् छत्तीस मात्राओंका प्राणायाम उत्तम बताया गया है। ये तीनों क्रमशः स्वेद, कम्प और विषाद उत्पन्न करनेवाले हैं। इनमेंसे प्रथम अर्थात् बारह मात्रावाले प्राणायामके द्वारा स्वेद (पसीने)-को जीते, द्वितीय अर्थात् चौबीस मात्रावाले प्राणायामके द्वारा कम्पको जीते और तृतीय—छत्तीस मात्रावाले प्राणायामके द्वारा विषादपर विजय पावे। इससे योगीका प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। क्रमशः सेवन करनेसे सिद्ध हुआ प्राण जहाँ योगीकी इच्छा होती है, वहाँ उसे ले जाता है। प्राणवायुको यदि हठपूर्वक रोका जाता है तो वह रोमकूपोंके मार्गसे निकल जाती है, देहको विदीर्ण करती है और कोढ़ आदि रोग पैदा कर देती है। अतः जैसे जंगलके हाथीको क्रमशः विश्वास दिलाकर उसे वशमें किया जाता है, उसी प्रकार प्राणवायुको धीरे-धीरे रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये। योगीके द्वारा क्रमयोगसे हृदयमें स्थापित किया हुआ यह प्राण धीरे-धीरे अनुकूल हो जाता है। छत्तीस अंगुलका हंस (प्राणवायु) दक्षिण—वाममार्ग (इडा-पिंगला नामवाली दो नाड़ियों)-से बाहर निकलता है। प्रयाण करनेके कारण उसे 'प्राण' कहते हैं। जब समस्त नाड़ी-चक्र शान्त होकर शुद्ध हो जाता है, तभी योगी पुरुष अपने प्राणोंको रोकनेमें समर्थ होता है। दृढ़तापूर्वक आसनपर बैठकर योगी यथाशक्ति चन्द्रनाड़ी—इडाके मार्गसे (नासिकाके वाम छिद्रद्वारा) प्राणवायुको भीतर भरे। तत्पश्चात् सूर्यमार्ग—पिंगला नाड़ी (नासिकाके दाहिने छिद्र)-से उसे बाहर निकाले। यह पूरक और रेचक नामवाला प्राणायाम कहलाता है। योगी पुरुष कुम्भक नामक प्राणायामके द्वारा चन्द्रबीजसे युक्त झरती हुई सुधाधाराके प्रवाहका ध्यान करते हुए तत्काल सुखका अनुभव करता है। तदनन्तर योगी सूर्यनाड़ी अर्थात् नासिकाके दक्षिण छिद्रके द्वारा प्राणवायुको खींचकर उदरगुफाको भरे और कुछ देरतक प्राणवायुको रोकनेके पश्चात् चन्द्रनाड़ी अर्थात् नासिकाके वाम छिद्रसे वायुको धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। उस समय प्रज्वलित अग्निपुंजके समान भगवान् सूर्यका हृदयमें ध्यान करता रहे। इस दक्षिण प्राणायामके द्वारा योगिराज परम कल्याणका भागी होता है। इस प्रकार तीन

१- आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। ५९)

२- मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रियके बीचमें बायें पैरका तलुआ तथा शिश्नके ऊपर दाहिना पैर और छातीके ऊपर चिबुक (ठोढ़ी) रखकर दोनों भौंहोंके मध्यभागको देखना सिद्धासन कहलाता है।

महीनेके अभ्यासके वाम, दक्षिण दोनों प्रकारके प्राणायामका सेवन करके जब समस्त नाड़ियोंको सिद्ध कर लिया जाता है, तब उस योगीको 'सिद्धप्राण' कहते हैं। नाड़ीकी शुद्धि होनेसे योगी अपनी इच्छाके अनुसार वायुको धारण करता है। पेटकी अग्निको उद्दीप्त करता है। उसे अनाहत नाद सुनायी पड़ने लगता है अथवा नादतत्त्वका साक्षात्कार होने लगता है और उसका शरीर नीरोग बना रहता है। शरीरमें स्थित वायुका नाम प्राण है। उसे रोकनेको ही आयाम कहते हैं। जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है, तब घण्टा आदि वाद्योंका महानाद सुन पड़ता है। फिर योगसिद्धि दूर नहीं रहती। नियमित प्राणायामसे समस्त रोगोंका नाश हो जाता है और उसके अनियमित अभ्याससे सब रोगोंकी उत्पत्ति होती है। प्राणवायुके व्यतिक्रमसे हिचकी, श्वास (दमा), कास (खाँसी), सिरदर्द, कर्णशूल तथा नेत्रपीड़ा आदि बहुतसे दोष प्रकट होते हैं। अतः थोड़ी-थोड़ी वायुका त्याग करे और थोड़ी-ही-थोड़ी वायुको खींचकर अपने भीतर भरे तथा नियमित वायुको ही रोकनेका प्रयत्न करे। ऐसा करनेसे योगवेत्ता पुरुषको सिद्धि प्राप्त होती है। सब ओर विषयोंमें स्वच्छन्द विचरती हुई इन्द्रियोंको किसी-न-किसी युक्तिसे विषयोंकी ओरसे समेटना 'प्रत्याहार' कहलाता है। जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार जो प्रत्याहारकी विधिसे अपनी सब इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेट लेता है, वह पापरहित हो जाता है। नाभिप्रदेशमें सूर्य और तालुस्थानमें चन्द्रमा निवास करते हैं। चन्द्रमा नीचेको मुख करके अमृतकी वर्षा करते हैं और सूर्य ऊपरकी ओर मुँह करके उस अमृतरसको अपना ग्रास बना लेते हैं। अतः ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे वह अमृत प्राप्त हो सके। ऊपर नाभि हो और नीचे तालु हो जाय; ऊपर सूर्य हों और नीचे चन्द्रमा हो जायँ। ऐसे साधनको 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहते हैं। यह अभ्याससे ही सिद्ध होती है। प्राणायामकी विधिको जाननेवाला योगी कौवेकी चोंचके समान किये हुए अपने मुखसे शीतल-शीतल प्राणधारक वायुका पान करे तो वह जरा-मृत्युसे रहित हो जाता है। जो अपनी जिह्वाको तालुके छिद्रमें रखकर ऊर्ध्वमुख हो अमृतपान करता है, वह छः मासके भीतर ही जरा-मृत्युसे रहित देवभावको प्राप्त हो जाता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जो योगी ऊपरकी ओर जिह्वा किये स्थिरतापूर्वक अमृतपान करता है, वह पंद्रह दिनमें मृत्युको जीत लेता है। जिह्वाके अग्रभागसे उसके मूलभागमें स्थित प्रकाशमान छिद्रको दबाकर जो अमृतमयी देवीका ध्यान करता है, वह छः महीनेमें कवि हो जाता है। जिस योगीका शरीर अमृतसे परिपूर्ण हो जाता है, वह दो ही तीन वर्षोंमें ऊर्ध्वरेता हो जाता है— उसके वीर्यकी गति ऊपरकी ओर हो जाती है, जो अणिमा आदि आठों सिद्धियोंके उदयकी सूचक है। जिस योगीका शरीर सदा अमृतकलासे परिपूर्ण रहता है, उसे यदि तक्षकनाग भी डँस ले तो उसपर उसके विषका प्रभाव नहीं पड़ता। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारसे सम्पन्न होकर धारणाका अभ्यास करे। मनको स्थिर करके अपने हृदयमें पृथक्-पृथक् पंचमहाभूतोंको जो धारण करना है, उसीको 'धारणा' कहते हैं।

'ध्यै चिन्तायाम्' इस धातुसूत्रके अनुसार **'ध्यै'** धातुका प्रयोग चिन्ता अर्थमें होता है। तत्त्वोंमें चित्तकी एकाग्रताको ही 'चिन्ता' कहते हैं। यह चिन्ता ही ध्यान है। ध्यान दो प्रकारका बताया गया है— सगुण और निर्गुण। रूप-रंग आदिके भेदसहित जो चिन्तन किया जाता है, वह सगुण ध्यान है और केवल तत्त्वका विचार निर्गुण ध्यान माना गया है। मन्त्रसहित ध्यानको सगुण और मन्त्ररहित ध्यानको निर्गुण समझना चाहिये। सुखद आसनपर बैठकर भीतर चित्तको और बाहर नेत्रको स्थिर करके शरीरको समभावसे रखना— यह ध्यानकी मुद्रा है, जो अत्यन्त सिद्धि

देनेवाली है। अश्वमेध और राजसूय यज्ञसे भी वह पुण्य नहीं मिलता, जिसे स्थिर आसनवाला योगी पुरुष एक बार ध्यान करके पा लेता है। जबतक श्रवण आदि इन्द्रियोंमें शब्द आदि तन्मात्राओंकी स्थिति बनी रहती है—उनकी स्फूर्ति होती रहती है, तभीतक ध्यानकी अवस्था मानी गयी है। इससे आगे समाधि है। पाँच दण्डतक चित्तका एकाग्र होना धारणा है, साठ दण्डतक चित्त एकाग्र हो तो उसे ध्यान कहते हैं और यदि बारह दिनोंतक मन ध्येय वस्तुमें एकाग्र रहा तो उसे समाधि कहते हैं। जैसे जल और नमकका मेल होनेपर उनमें एकता हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा और मनकी एकता समाधि कहलाती है। जब प्राणजनित चंचलता क्षीण हो जाती है और मन ध्येय वस्तुमें विलीन हो जाता है, उस समय जो समरसताका अनुभव होता है, उसीको यहाँ समाधि कहते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी जो समता होती है और जहाँ सब प्रकारके संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं उस स्थितिका नाम समाधि है। समाधिमें स्थित हुआ योगीश्वर न अपनेको जानता है न दूसरेको, उसे न सर्दीका अनुभव होता है, न गरमीका तथा उसे न तो सांसारिक सुखका बोध होता है और न दुःखका ही। समाधियुक्त योगीको न तो काल अपना ग्रास बना सकता है, न वह कर्मोंसे लिप्त होता है और न अस्त्र-शस्त्रोंसे उसके शरीरको खण्डित ही किया जा सकता है। जिसका आहार-विहार नियमित है, जिसकी कर्मविषयक चेष्टा भी नियमित है और जिसका सोना-जागना भी नियमित रूपसे ही होता है, वह योगी तत्त्वका साक्षात्कार करता है*। ब्रह्मवेत्ता पुरुष विज्ञानमय आनन्दस्वरूप ब्रह्मको ही तत्त्व मानते हैं। जिसका कोई दृष्टान्त नहीं है तथा जो मन और वाणीका अगोचर है उस आलम्बशून्य, निर्भय एवं नीरोग परब्रह्म परमात्मामें योगी पुरुष षडंगयोगकी विधिसे लीन होता है। जैसे घीमें छोड़ा हुआ घी घृत ही होता है और दूधमें मिलाया हुआ दूध दूध ही होता है, उसी प्रकार योगी ब्रह्ममें तन्मयताको प्राप्त होता है। योगी विभूति आदि जलहीन वस्तुओंसे शरीर-मर्दन करे। गरम जल और नमकको त्याग दे और सदा दूधका ही आहार करे। ब्रह्मचर्यका पालन करे, क्रोध और लोभको जीते तथा किसीसे भी द्वेष न करे। इस प्रकार एक वर्षतक निरन्तर अभ्यास करनेसे मनुष्य योगी कहलाता है। जो महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जलन्धर बन्ध और मूल बन्धको जानता है, वह योगी योगसिद्धिका भागी होता है। पूरक, कुम्भक और रेचक नामक प्राणायामसे नाड़ीसमूहको शुद्ध करना और चन्द्र तथा सूर्य नाड़ी—इडा और पिंगलाको जोड़ना तथा विकारके हेतुभूत रसोंको भलीभाँति सुखाना—इसको 'महामुद्रा' कहते हैं। बायें पैरसे जननेन्द्रियको दबाकर अपनी ठोढ़ीको वक्षःस्थलपर रखे और दोनों हाथोंसे फैले हुए दाहिने पैरको देरतक पकड़े रहे। फिर प्राणवायुसे अपने उदरको पूर्ण करके धीरे-धीरे उसे देरतक बाहर निकाले। यह महामुद्रा बतायी गयी है जो बड़े-बड़े पापोंकी राशिका विनाश करनेवाली है। इस प्रकार इडा नाड़ीद्वारा प्राणायामका अभ्यास करके फिर पिंगला नाड़ीमें उसका अभ्यास करे। जब पूरक आदिकी संख्या समान हो जाय तब मुद्राका विसर्जन करे। इसका अभ्यास हो जानेपर योगीके लिये पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं रह जाता है। उसके लिये सभी विकारोत्पादक रस नीरस हो जाते हैं। भयानक विष भी पीये हुए अमृतकी भाँति पच जाता है। जो महामुद्राका अभ्यास कर लेता है, उसके क्षय, कोढ़, बवासीर, वायुगोला और अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। यदि उलटकर गयी हुई जिह्वा कपालके छिद्रमें प्रविष्ट हो और दृष्टि दोनों भौंहोंके बीचमें स्थिर रहे तो खेचरी मुद्रा होती है। जो खेचरी मुद्राको

* युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टो हि कर्मसु। युक्तनिद्राविबोधश्च योगी तत्त्वं प्रपश्यति॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। १३०)

जानता है, वह बाणसमूहसे पीड़ित नहीं होता और न कर्मोंसे ही लिप्त होता है। उसको काल भी बाधा नहीं दे सकता। इसमें चित्त आकाशमें विचरता है और जिह्वा भी आकाशगत होकर चरती है। इससे इस मुद्राका नाम खेचरी है। सिद्ध पुरुषोंने इसका सेवन किया है। शरीरमें जबतक बिन्दु स्थित है, तबतक मृत्युका भय कहाँसे होगा और जबतक खेचरी मुद्रा बँधी हुई है, तबतक बिन्दु बाहर नहीं जाता।

महापक्षी (महाप्राण) दिन-रात उड़ता रहता है। उसीको इस मुद्राद्वारा बाँधा जाता है। इसलिये इसका नाम उड्डीयान बन्ध है। नाभिके ऊपर और उदरमें पश्चिमतान* धारण करे। यह उड्डीयान बन्ध कहलाता है। इसके सिद्ध हो जानेपर मनुष्य मृत्युका भी भय त्याग देता है। जो नाड़ियोंके समूहको, जिसके द्वारा कि शरीरान्तर्गत छिद्रोंका जल नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, बाँधता है, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है, जो कण्ठमें होनेवाले दुःखसमुदायका नाश करनेवाला है। कण्ठको संकुचित करके किये जानेवाले इस जालन्धर बन्धके सिद्ध होनेपर ललाट और तालुवर्ती चन्द्रमण्डलमें स्थित अमृत उदरकी अग्निमें नहीं गिरता और वायुका भी प्रकोप नहीं होता। दोनों एड़ियोंसे लिंगको दबाकर और अपानवायुको ऊपरकी ओर खींचकर गुदाको संकुचित करे। इसे मूल बन्ध कहते हैं। मूल बन्धका सतत अभ्यास करनेसे अपान और प्राणवायुकी एकता होती है, मल-मूत्रका नाश होता है और वृद्ध पुरुष भी तरुण हो जाता है। प्राण और अपानवायुके वशमें होकर चंचल हुआ जीव इडा और पिंगला नाड़ीके द्वारा नीचे-ऊपर दौड़ता रहता है। वह कहीं स्थिर नहीं हो पाता। जैसे रस्सीमें बँधा हुआ पक्षी कहीं उड़कर जाय तो भी उसे पुनः अपने समीप खींच लिया जाता है, उसी प्रकार तीनों गुणोंमें बँधा हुआ जीव प्राणायामके द्वारा खींचा जाता है। अपान प्राणको और प्राण अपानको अपनी ओर खींचता है। ये दोनों ऊपर स्थित हैं। योगवेत्ता पुरुष इन्हें परस्पर संयुक्त कर देता है। श्वास हकारकी ध्वनिके साथ बाहर निकलता है और सकारकी ध्वनिके साथ पुनः भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव सदा 'हंस-हंस' इस मन्त्रका जप करता रहता है। दिन-रातमें इक्कीस हजार छः सौ बार श्वासका आना-जाना होता है। अतः जीव उतनी ही बार 'हंस' मन्त्रका जप नित्यप्रति किया करता है। यह अजपा नामवाली गायत्री है जो योगियोंको मोक्ष देनेवाली है। इसके संकल्पमात्रसे मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।

योगीके योगमार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न आते हैं जो उसकी साधनामें हानि पहुँचानेवाले हैं। उसे दूरकी बातें सुनायी देती हैं, दूरका दृश्य अपने आगे प्रत्यक्ष दिखायी देता है, आधे पलमें सैकड़ों योजन जानेकी शक्ति आ जाती है, बिना पढ़े ही अथवा बिना स्मरण किये ही सब शास्त्र कण्ठस्थ हो जाते हैं, धारणाशक्ति बहुत बढ़ जाती है और महान् भार भी हलका प्रतीत होता है। वह क्षणमें दुबला, क्षणमें मोटा, क्षणमें छोटा और क्षणमें बड़ा हो जाता है। वह योगी दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाता है, पशु-पक्षियोंकी बातें समझ लेता है, अपने शरीरमें दिव्य गन्ध धारण करता है और मुखसे दिव्य वचन बोलने लगता है। दिव्यलोककी कन्याएँ उससे प्रार्थना करती हैं और वह दिव्य देह धारण कर लेता है। ये सब विघ्न निकटवर्तिनी योगसिद्धिके सूचक हैं। यदि इन विघ्नोंसे योगीका मन चंचल नहीं हुआ तो उससे आगेकी भूमिकामें पहुँचकर वह ब्रह्मादि देवताओंके लिये भी दुर्लभ परम पदको प्राप्त कर लेता है। अगस्त्यजी!

* दोनों हाथोंके अग्रभागसे जुड़े हुए दोनों पैरोंके तलुओंको पकड़कर पैरोंको आगेकी ओर फैलावे। उस समय उन दोनों पैरोंका मध्यभाग (घुटनेके समीप) जैसा दिखायी देता है, वैसी ही आकृति पेटमें भी बन जाय तो उसे पश्चिमतान धारण करना कहते हैं। इस क्रियामें प्राण सुषुम्ना नाड़ीमें बद्ध हो जाता है और पेट भीतरकी ओर दबकर पीठमें सटता है।

जिसे पाकर मनुष्य पुन: इस संसारमें नहीं लौटता और जिसकी प्राप्ति होनेपर शोकसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है, उस पदको योगी षडंगयोगकी साधनासे पा लेता है, परंतु इन्द्रियोंकी वृत्ति चंचल होनेसे और कलियुगमें पापके बढ़नेसे थोड़ी आयुवाले मनुष्योंको यहाँ योगका महान् अभ्युदय कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसीलिये करुणासागर भगवान् विश्वनाथ जीवोंको महोदय पद प्रदान करनेके लिये काशीपुरीमें विराजमान हैं। जीव काशीमें जिस प्रकार सुखसे कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं, उस प्रकार अन्य किसी स्थानमें योग, युक्ति आदि उपायोंके द्वारा भी नहीं पा सकते हैं, क्योंकि काशीपुरीसे अपने शरीरका संयोग करा देना ही उत्तम योग बताया गया है। इस संसारमें दूसरे किसी योगके द्वारा मनुष्यकी शीघ्र मुक्ति नहीं होती है।